गोपी-गीत

दार्शनिक विवेचन

प्रवचन : अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

(दार्शनिक विवेचन)

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी करपात्री महाराज

संकलन

श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशकीय

सकलशास्त्रपारावारीण द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन निगमागमपारदृश्वा परब्रह्मस्वरूप पूज्यपाद श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के गोपी-गीतविषयक प्रवचनों का संग्रह 'गोपी-गीत' सुधी सहृदय तथा भक्त पाठकों के लिए प्रकाशित कर हम अपने को अत्यन्त कृतकृत्य मान रहे हैं। पूज्य चरणों का श्रीमद्भागवत पर असाधारण स्वाध्याय था। इस महान् ग्रन्थ के वे सभी कोने झाँक आये थे। उनकी असाधारण अद्वैतनिष्ठा एवं तदनुसारिणी प्रतिभा उनके भक्त-हृदय के अन्तरतम को कभी बोझिल नहीं कर सकी। भगवद्विषयक तीव्र विरहजन्य ताप की ज्वाला में तप्त होकर भगवान् की ही शरण में अन्तिम परम विश्राम पाने की इच्छा से समुद्भूत (जीवात्माओं की) प्रायः समस्त चेष्टाओं को वे अपने प्रवचनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोहारी ढंगों से प्रस्तुत कर श्रोतृवृन्द के हृदय में सम्प्रयोग, विप्रयोग तथा उभयावस्था में भी रस का पोषण और उसकी सर्वथा स्वतन्त्रता (मोक्ष) को अत्यन्त सरल ढंग से स्थापित कर देते थे।

'रासपञ्चाध्यायी', 'भ्रमर-गीत', 'गोपी-गीत' एवं ऐसे ही अन्य मार्मिक प्रसंगों की मार्मिक व्याख्या एवं उनके स्वोपज्ञ 'भक्तिरसार्णव' अपने ग्रन्थ में भक्ति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों को प्रस्तुत कर समकालिक समालोचकों की दृष्टि में भक्ति को दसवें रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक 'गोपी-गीत' की संकलयित्री श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला महाराजश्री के शरण में आयीं। उनके शरण में आते ही इस महिला की बालकपन से ही रसानुगामिनी प्रतिभा निखर उठी। लेखनी कागज पर थिरकने लगी। 'मीराँ' और भक्त रैदास के जीवन तथा साहित्य के विषय में पद्माजी ने गम्भीर शोध-ग्रन्थ लिखे जिसे विद्वानों और भक्तों ने पूर्ण सम्मान दिया; 'मीराँ' संबद्ध ग्रन्थ पर वे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुईं। पूज्यपाद स्वामीजी महाराज के पास ही मेरा इनसे परिचय हुआ। इनके विशेष अनुरोध पर पूज्यवर ने 'श्रीमद्भागवत' के दो अंश 'गोपी-गीत' और 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन किया। 'गोपी-गीत' का प्रवचन तीन चातुर्मास्य में सम्पन्न हुआ, 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन एक ही चातुर्मास्य में सम्पूर्ण करते हुए उन्होंने यह कहा था कि 'समय बहुत कम है अन्यथा इस पर बहुत विशद व्याख्या हो सकती है।' पद्माजी ने सम्पूर्ण

प्रवचनों को टेप कर लिया था, जो उनके पास आज भी सुव्यवस्थित रखे हुए हैं। महाराजश्री के आदेश से ही इन प्रवचनों को लिपिबद्ध करके उन्हें प्रस्तुत रूप में दिखाया गया था। यह संकलन उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्हींके आदेश से इनको छपवाने की चर्चा भी चली।

अत्यन्त भक्तों की माँग थी कि गोपी-गीत प्रकाशित कर भ्रान्त मस्तिष्क को सही मार्ग प्रदर्शित किया जाय। अतः परमपूज्य श्रीचरणों द्वारा कथञ्चित् तीन चातुर्मास्यों में सम्पन्न किया हुआ गोपी-गीत का प्रवचन भ्रमर-गीत की संकलनकर्त्री श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला ने अत्यन्त मनोयोग से टेप कर उसकी प्रेस-कापी तैयार की। इन्हींके प्रयास से गोपी-गीत का कुछ अंश बहुत पहले प्रकाशित हुआ किन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से वह मध्य में ही रुक गया। साहस एवं आस्था की धनी महिला पद्मावतीजी इससे विरत नहीं हुईं। भ्रमर-गीत के प्रकाशन में अपना पूर्ण सहयोग देकर परमपूज्य चरणों में अपनी गुरुदक्षिणा समर्पण का इन्होंने प्रयास किया। आज पुनः उन्हींके सहयोग से गोपी-गीत भी सहृदय पाठकों के हाथों में आ रहा है। इसमें पद्मावतीजी ने बड़ा परिश्रम किया है।

पूज्यवर के ग्रन्थ को प्रकाशित कर जन-जन में प्रचारित करना भी एक महनीय पुण्यकार्य है। इससे महाराजश्री के महान् लोकोपकारी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी हो जायगी। हम पद्माजी को उनके इस कार्य के लिए हृदय से आशीर्वाद प्रदान करते हैं और पूज्यवर के प्रति उनकी निष्ठा के लिए उनके प्रति आभार भी व्यक्त करते हैं।

यह कार्य परमपूज्य चरणों के आशीर्वाद से ही सम्भव हो सका है। उन परमपावन चरणों में हम बार-बार अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हैं।

गोपी-गीत के प्रकाशन के परमपावन अवसर पर हम उन सभी लोगों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं जिन लोगों ने जाने-अनजाने अपना सहयोग इसमें प्रदान किया है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के श्री पुरुषोत्तमदासजी मोदी ने अपनी विशेष रुचि दिखाकर इस अनुपम ग्रन्थ-रत्न को मुद्रित कराया है। इसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं।

'न मोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः।
अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥'

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के दृढ़ आश्वासन के बल पर हम भगवान् श्रीराम से प्रार्थना करते हैं कि सहृदय एवं आस्तिक भक्तों में परमपूज्य-चरणों का साहित्य प्रचारित एवं प्रसारित होता रहे।

--मार्कण्डेय ब्रह्मचारी
श्री धर्मसंघ शिक्षा-मण्डल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

रामनवमी
संवत् २०४६

वक्तव्य

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज द्वारा 'श्रीमद्भागवत' के दशमस्कन्ध के अन्तर्गत प्राप्त 'गोपी-गीत' पर किये गये प्रवचनों का यह संकलन प्रकाशित हो रहा है, यह मेरे लिए अतिशय आनन्द का विषय है। साथ ही, विषय का गाम्भीर्य, वक्ता की ज्ञान-गरिमामण्डित महत्ता और अपनी नितान्त अज्ञता के कारण अत्यन्त संकोच भी हो रहा है।

उक्त प्रवचनों को पुस्तक-रूप में परिवर्तित करते हुए यत्र-तत्र किञ्चित् अनिवार्य परिवर्तन भी किये गये हैं। प्रवचन-काल में किसी विषय को सुस्पष्ट करने हेतु की गयी पुनरुक्ति को छोड़ भी दिया गया है तथापि विषयानुक्रम सर्वथा तदनुसार ही है; साथ ही सम्पूर्ण संकलन में महाराजश्री के भाव, भाषा एवं शैली का अक्षरशः अनुसरण किया गया है। फिर भी 'भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि पुरुष-स्वभाव-सुलभ' दोषों तथा मेरे अज्ञान के कारण बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयी होंगी! विद्वत्-वर्ग से मेरी करबद्ध विनम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत संकलन में जो भी त्रुटियाँ रह गयी हों उनके लिए क्षमा करते हुए मेरा मार्ग-प्रदर्शन भी करेंगे ताकि भविष्य में उन त्रुटियों का अपमार्जन भी किया जा सके।

आदरणीय भाई श्री मार्कण्डेयजी ब्रह्मचारी (धर्मसंघ विद्यालय, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी) जो लगभग चालीस वर्षों से महाराजश्री की सेवा में रहते हुए उनके लेखन-सम्बद्ध का कार्य करते रहे हैं, के विशिष्ट परिश्रम-साध्य सहयोग के कारण ही यह संकलन अपने प्रस्तुत स्वरूप में सम्भव हो सका है। उनके इस स्नेहाशीर्वादमय सहयोग के प्रति मैं सदा-सर्वदा सादर नतमस्तक हूँ।

भाईश्री पुरुषोत्तमदासजी मोदी (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी) के प्रति भी कृतज्ञ हूँ। मेरे वाराणसी में अनुपस्थित रहने पर भी उन्होंने जिस मनोयोग से पाठ की शुद्धता का पूरा ख्याल रखते हुए पुस्तक को प्रस्तुत सम्यक् रूप में प्रकाशित किया वह सराहनीय है। आशा करती हूँ कि उनका ऐसा ही सहयोग भविष्य में मिलता रहेगा।

अपनी बड़ी बहन श्रीमती सुलभादेवी गुप्ता के वात्सल्यमय सहयोग और पुत्रवत् चि० अनिलकुमार गुप्ता, चि० सुशीलकुमार गुप्ता, चि० चन्द्रशेखर गुप्ता और चि० अशोककुमार गुप्ता का स्नेहमय सहयोग भी मेरे लिए अविस्मरणीय है। पूज्य बहन के प्रति सादर नतमस्तक हूँ, पुत्रवत् चारों भाइयों की सदा वर्द्धनोन्मुख मंगल की करबद्ध प्रार्थना भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से करती हूँ।

विद्वत्-वर्ग से मेरी पुनः करबद्ध प्रार्थना है—

अज्ञान - दोषान्मतिविभ्रमाद् वा
यदर्थहीनं लिखितं मयात्र ।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयम्
क्रोधो न कार्यो ननु मानवोऽहम् ॥

—पद्मावती झुनझुनवाला

भूमिका

श्रीहरिः शरणम्

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

श्रीमद्भागवत कल्पवृक्ष के समान है। इसका भक्ति-प्रेमपूर्वक पाठ करके अपने अभीष्ट फल को प्राप्त किया जा सकता है। कल्पवृक्ष के पास जाकर फल चाहनेवाले को तद्विषयक इच्छा (प्रार्थना) जैसे अनिवार्य होती है, वैसे ही इस भागवत-कल्पवृक्ष के समीप अपने अभीष्टफल की प्राप्ति के लिये अपने चित्त की वृत्ति को प्रेममय बनाकर प्रगाढ अनुरागात्मिका भक्ति को प्रकट करना अनिवार्य है।

यह श्रीमद्भागवत, आत्मीय-परमसुहृत्, आप्त के समान वास्तविक हित की मन्त्रणा देनेवाला मन्त्री है। भवसागर में डूबते हुए लोगों का उद्धारक (तारक) है। संसाराटवी (महान् वन) में भ्रान्त होकर भटकनेवालों के लिये उनके श्रेयोमार्ग का विश्वस्त प्रदर्शक है।

श्रीमद्भागवत के अध्ययन से तत्त्वज्ञान होता है, किन्तु अनुरागात्मिका श्रीकृष्ण-भक्ति के बिना वह सहजगम्य नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान का मुख्य साधन श्रीकृष्ण-भक्ति ही है।

श्रीमद्भागवत समस्त सुख-सन्तोष-शान्ति, कल्याण का देनेवाला और 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक'—तीनों प्रकार के दुःखों (तापों) को नष्ट करनेवाला है।

श्रीमद्भागवत ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का अथाह (गंभीर) समुद्र है।

श्रीमद्भागवत के अध्ययन अथवा श्रवण से मनुष्य यह समझ पाता है कि प्रत्येक प्राणि में परमेश्वर का निवास है। यह ज्ञान जब मनुष्य को हो जाता है, तब अधर्म से उसका अभिनिवेश समाप्त हो जाता है। क्योंकि दूसरों को दुःखी करना अपने (स्वयं) को ही दुःखी बनाने के समान है। तब सच्चे धर्म में उसकी स्थिति सहजभाव से हो जाती है। उसका हृदय दया से आर्द्र हो जाता है। वह वास्तव में अहिंसक रहता है। परस्पर प्रेम और प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव स्थापित करने के लिये इससे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि मन की वृत्तियों को प्रेममय बनाना आवश्यक है। भगवच्चरणारविन्द में, भगवत्सौन्दर्य के दर्शन में, भगवान् के गुण-गणों के श्रवण-कीर्तन में तथा भगवान् की मधुरलीला के माधुर्य में जिनकी मनोवृत्ति प्रेममय हो जाती है, उनका मन सांसारिक सुखाभासों में नहीं उलझा करता। वे तो वास्तविक सुख-आनन्द की अभिलाषा किया करते हैं। जिसके मन का भाव प्रेममय हो जाता है, उसीको भगवान् अपना भक्त समझते हैं।

इस प्रेममयी भक्ति की महिमा को कहते हुए यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने सखा भक्तप्रवर उद्धव से कह रहे हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्याऽपेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

मेरे प्रति वृद्धिगत हुई भक्ति जिस प्रकार भक्त को मेरे समीप ले आती है उस प्रकार न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न दान ही उसे ला सकता है। मैं तो सत्पुरुषों का प्रिय आत्मा हूँ। एकमात्र श्रद्धापूर्ण भक्ति से ही मेरी प्राप्ति होना सुलभ है। अधिक क्या बताऊँ, कुत्ते का मांस खानेवाले चण्डाल को भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है। मनुष्य में सत्य, दया आदि से युक्त धर्म तथा तपस्या से युक्त विद्या भी हो, किन्तु मेरी भक्ति यदि न हो तो वे धर्म और विद्या, उनके हृदय को पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकते। मेरे प्रति प्रेम से जब तक शरीर पुलकित नहीं हो जाता, हृदय द्रवित नहीं हो उठता, आनन्दाश्रुओं की झड़ी नहीं लग जाती, तब तक अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है। भक्ति के आवेश में जिसकी वाणी गद्गद हो गई है, चित्त द्रवित हो गया है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी संकोच को त्यागकर ऊँचे स्वर से हरि-गुणों को गाने लग जाता है और कभी नाचने लगता है, वही मेरा भक्त स्वयं तो पवित्र होता ही है, साथ ही तीनों लोकों को भी पवित्र कर देता है।

भक्ति से भगवान् वश में हो जाते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि॥'

मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ और अस्वतन्त्र की तरह हूँ। मेरे साधुहृदय के भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है। मैं उन भक्तों का सदा ही प्रिय हूँ। हे ब्रह्मन्! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उनको अन्य किसीका आश्रय है ही नहीं। इसलिये अपने उन साधुस्वभाववाले भक्तों को छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी को ही। जो मेरे भक्त अपने पुत्र, कलत्र (स्त्री), घर, कुटुम्बीजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबको छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गए हैं; भला, उन भक्तों को मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जिस प्रकार सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को अपने वश में कर लेती है, वैसे ही अपने हृदय को मुझमें प्रेमबन्धन से बाँध रखनेवाले समदर्शी साधुपुरुष भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं। अधिक क्या कहूँ, वे मेरे प्रेमी साधुपुरुष मेरे हृदय हैं और मैं उन प्रेमी साधुपुरुषों का हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

भगवान् ने यहाँ तक कह दिया है—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

मैं उन भक्तों के पीछे-पीछे सदा इसलिये चलता रहता हूँ कि उनकी चरण-रज से पवित्र हो जाऊँ।

भक्ति की महिमा बड़ी अद्भुत है। भक्ति वह अनुपम वस्तु है कि वह जिसके पास होती है, वह जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है।

भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

परन्तु हे परन्तप अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे इस प्रकार से देखा जा सकता है, मेरे यथार्थस्वरूप को जाना जा सकता है तथा मेरे साथ एकीभाव को भी प्राप्त किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवत का दशमस्कन्ध तो भक्तिरस के अथाह सागर का ज्वार-भाटा-स्वरूप ही है। इस दशमस्कन्ध में भगवान् की विविध मधुर लीलाओं का वर्णन है, जो सहृदय भक्तों के हृदय को भक्तिरस से आप्लावित कर देता है। किन्तु इस संसार में कुछ ऐसे भी नर-पशु या नर-कृमि हैं, जिनके हृदय का निर्माण ब्रह्मा ने मानो पाषाण से किया होगा। वे भाग्यहीन नर-पशु भगवान् पर भी आक्षेप करके अपनी नरपशुता अथवा पाषाणहृदयता को प्रकट किया करते हैं।

उनके आक्षेप ये हैं—

जब कि भगवान् का अवतार सज्जनों के संरक्षणार्थ और दुर्जनों के संहारार्थ तथा धर्म के स्थापनार्थ होता है। अतः भगवान् को आदर्श के रूप में रखा जाता है। तब उनकी लीलाओं में चोरी, कपट, काम, रमण आदि के प्रसंग क्यों आते हैं ?

विद्याव्यासंग तथा श्रीकृष्ण की भक्ति-सुधारस का निरन्तर पान करनेवालों के मन में इस प्रकार के कुतर्क-तरङ्ग कभी उठते ही नहीं। श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीता के अनुशीलन से वे कुतर्क-तरङ्ग स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, भगवान् का प्रत्येक कार्य सभी के लिये आदर्शरूप है। जिसके शरण जाने पर अथवा जिसका नामस्मरण करने मात्र से साधारण प्राकृत मनुष्य में भी झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दोष नहीं रहते, तब प्रत्यक्ष भगवान् में उन दोषों की कल्पना करने का दुःसाहस भाग्यहीन नर-पशु के सिवा अन्य कर ही कैसे सकता है ?

भगवान् न कभी दुर्जनों को प्रोत्साहन देते हैं और न कभी धर्म की जड़ ही उखाड़ते हैं। वे स्वयं अपने श्रीमुख से कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वाँस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण अन्य लोग किया करते हैं । श्रेष्ठ पुरुष के प्रमाणित व्यवहार का आचरण ही अन्य लोग करते हैं । अतः हे अर्जुन ! यद्यपि मेरे लिये इस संपूर्ण त्रिलोकी में कुछ भी कर्तव्य करने को नहीं है एवं प्राप्तव्य कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मुझे प्राप्त नहीं है । तो भी मैं कर्म करता रहता हूँ । यदि मैं कर्म न करूँ, तो लोगों की बड़ी हानि होगी । क्योंकि हे अर्जुन ! मनुष्यमात्र मेरी कर्तव्यशीलता को देखकर ही अपने कर्तव्यपालन में तत्पर रहता है । यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगे। सभी लोग मुझे ही संकर करनेवाला कहेंगे और समस्त प्रजा का विनाशक मैं कहलाऊँगा । हे भारत ! कर्म में आसक्त रहनेवाला अज्ञानी पुरुष जैसे कर्म करता है, वैसे ही अनासक्त रहनेवाला विद्वान् ज्ञानी पुरुष भी लोगों के शिक्षणार्थ कर्म करता रहे ।

इस सन्दर्भ से स्पष्ट हो रहा है कि लोकशिक्षा में बाधक बननेवाला कोई भी अनैतिक कर्म भगवान् के द्वारा किया जाना कथमपि संभव नहीं है ।

श्रीमद्भागवत में प्रयुक्त काम, रमण, रति आदि शब्दों के कुत्सित अर्थों का मन में आना ही कुत्सित-मलिन हृदय होने का प्रमाण है । उनके निर्दुष्ट अर्थों का परिज्ञान प्राचीन प्रामाणिक व्याख्याओं से कर लेना चाहिये ।

भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से गीता में कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

जिनके चित्त, प्राण मुझमें ही लगे हुए हैं, जो निरन्तर मेरे ही गुणों की चर्चा परस्पर किया करते हैं, मेरी ही लीलाओं का वर्णन करते हुए सर्वदा प्रसन्न हुआ करते हैं, वे मुझ वासुदेव में निरन्तर 'रमण' करते हैं । निरन्तर मेरा ध्यान करनेवालों को और प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवालों को मैं तत्त्वज्ञान करा देता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ पहुँचते हैं ।

प्रथम श्लोक में साधनावस्था का वर्णन है। अभी साधक को भगवान् की प्राप्ति नहीं हुई है। द्वितीय श्लोक में साधक भक्त की मानसिक स्थिति का वर्णन है, जिसके फलस्वरूप उसे भगवान् की प्राप्ति बताई गई है। यहाँ मन की भावना से ही वह भगवान् को देखता है, सुनता है और रमण करता है। भक्त का भगवान् में यह रमण करना कुत्सित इन्द्रियों का कार्य नहीं है। यह परम पवित्र मानसिक भाव है। इसी मानसिक भाव से वह भगवान् का चिन्तन करता है, उनके स्पर्श का अनुभव करता है और उनके साथ भाषण करता है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् पर कुत्सित क्रियाओं का आरोप करना, अपनी ही कुत्सित क्रियाओं को उजागर करना है।

भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि अनेक भाव रहते हैं। ये सभी भाव समान कोटि के ही समझने चाहिये। अपने-अपने क्षेत्र में सभी भाव श्रेष्ठ हैं। जिस भक्त को जो भाव प्रिय हो उसके लिए वही भाव सर्वोत्तम है। हनुमान्-जी ने दास्यभाव को ही सर्वोत्तम समझकर उसे ही स्वीकार किया। वसुदेव-देवकी तथा नन्द-यशोदा ने वात्सल्यभाव को ही सर्वोत्तम समझकर उसे ही स्वीकार किया। राधारानी और गोपीजनों ने माधुर्यभाव को ही सर्वोत्तम समझकर उसे ही स्वीकार किया। इस माधुर्यभाव में प्राकृत साधारण लौकिक स्त्री-पुरुषों की तरह कामवासनाजनित अंग-संग आदि कोई कुत्सित क्रिया नहीं है। यह तो परम-पवित्र भाव है। भक्त अपने भगवान् को इस भाव में सर्वथा आत्मसमर्पण कर देता है और उन्हींके मधुर चिन्तन, मधुर नामस्मरण, मधुर भाषण, मधुर मिलन आदि में मग्न रहता है।

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म-परमेश्वर हैं। वे समस्त दोषों से सर्वदा और सर्वथा ही रहित हैं, वे समस्त कल्याणमय गुण-गणों से सर्वदा और सर्वथा सम्पन्न हैं। उनके नामस्मरणमात्र से उनके गुण उनकी लीलाओं के श्रवण-मनन-चिन्तन-कथन से ही मलिन-से-मलिन मनुष्य परम पवित्र हाकर दुर्लभ परमपद को प्राप्त हो जाता है। अतः साक्षात् उनमें किसी भी दोष की कल्पना कसे की जा सकती है? उनमें दोष की कल्पना करना अपने ही दोषों का उद्घाटन करना है।

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाव्याः कदाचन॥

कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण का जो लोग पूजन नहीं करते वे जीवित होते हुए भी मरे हुए (मृत) के तुल्य ही हैं, ऐसे लोगों से बात तक नहीं करनी चाहिए।

गोपियों के प्रेम की प्रशंसा भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने श्रीमुख से की

है। उद्धव जैसे ज्ञानी भक्तों ने मुक्तकण्ठ से उनके अनुपम प्रेम की सराहना की है। गोपियाँ यदि स्वैरिणी, कुलटा होतीं, तो भगवान् उनको प्रशंसा कैसे करते और क्यों उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त उनकी चरण-धूलि की कामना करते ? गोपियों की भक्ति सर्वथा अव्यभिचारिणी और अहैतुकी थी। उनका भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पवित्र भाव था। तदनुसार ही उनकी रासलीला भी अत्यन्त पवित्र थी। उनका चलना, बोलना, मिलना, नाचना, गाना सभी कुछ पवित्र था, आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण था। भगवान् की भक्ति की साधना करने पर काम-क्रोधादि दोषों का समूलोन्मूलन तक हो जाता है, तो भगवद्-भक्ति की आदर्शभूत गोपियों में कामादि दोषों की कल्पना करना अपने ही दूषित हृदय का परिचय देना है। उनका रास भगवान् के प्रेम का मूर्तरूप था। प्रेममय भगवद्-भक्ति की भागीरथी के पवित्र जल में स्नान किये बिना मनुष्य-जीवन सुख-शान्तिमय नहीं बन सकता।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का निरूपण किया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह नव प्रकार की भक्ति और दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति तथा ग्यारहवीं पराभक्ति है। भक्ति की प्रथम सीढ़ी बाह्योपासना है और दूसरी सीढ़ी आन्तरोपासना है।

पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—ये पाँचों भक्तिमार्ग के बहिरंग साधन हैं और स्मरण, आत्मनिवेदन ये अन्तरङ्ग साधन हैं और श्रवण तथा कीर्तन—ये दो बाह्यान्तर मिश्र साधन हैं। इन साधनों से बहिर्मुख वृत्ति को अन्तर्मुख किया जाता है। भक्ति का मुख्य लक्षण यही है कि भक्त की बहिर्मुख वृत्तियाँ लौकिक पदार्थों की ओर से हटकर अन्तर्मुख बन जायँ, जिससे वह मनोवृत्ति अपने भगवान् के आराध्यस्वरूप में विलीन हो सके। इस प्रकार अन्तर्मुख कराई गई मनोवृत्तियाँ संयम के द्वारा अपने कारण में लीन हो जाती हैं। प्रधानरूप से रहनेवाली अहं-वृत्ति को मूल स्वरूप में शमन कर देना ही भक्ति की पराकाष्ठा है। एवंच अहंकार-वृत्ति को अपने मूल कारणरूप भगवान् में विलीन कर देना ही आन्तरोपासना है।

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

परमेश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम का होना हो पराभक्ति है। सांसारिक पदार्थों के प्रति जो प्रेम होता है, उसे 'राग' कहते हैं। धनादि विषयों के प्रति जो प्रेम रहता है, उसे 'आसक्ति' कहते हैं। किन्तु 'भक्ति' तो परमेश्वर के प्रति रहनेवाले 'प्रेम' को ही कहा जाता है।

आजकल के शिक्षित कहलानेवाले दरिद्रवृत्ति के भाग्यहीन लोग 'भक्त' शब्द का दुरुपयोग करते दिखाई देते हैं। यह बेचारा बड़ा भक्त है, अर्थात् यह पुरुषत्व (पौरुष प्रयत्न) से हीन है अथवा पाखण्डी है। इस प्रकार से भक्ति का मजाक उड़ाते पाए जाते हैं। वास्तविक (यथार्थ) भक्ति को समझनेवाले बहुत थोड़े ही सात्त्विकवृत्तिवाले भाग्यवान् लोग होते हैं। यांत्रिकभक्ति करने-वाले लोग ही अधिक संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं।

साधनभक्ति के प्रभाव से मनुष्य क्या नहीं कर सकता, अर्थात् सब कुछ कर सकता है। विशुद्ध भक्ति और भगवच्चरणारविन्द में उत्कट प्रेम होने पर मनुष्य में दैवी ऐश्वर्य प्रकट होने लगता है। जो व्यक्ति केवल परमेश्वर को ही अपना सर्वस्व (सर्वेसर्वा) समझता है, वह असम्भव से असम्भव कार्य को सम्भव कर देता है। ध्रुव जैसा छोटा-सा बालक घने वन में अकेला बैठकर भगवद्भक्ति में तन्मय हो जाता है।

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥

ध्रुव की साधनाभक्ति से सम्पूर्ण त्रिलोकी कम्पित हो उठी। यह भगवद्भक्ति का पराक्रम है।

संसार में सभी लोगों की इच्छा दुःख (क्लेश) निवृत्ति की रहती है। आज के यांत्रिकयुग का मानव शारीरिक कष्ट से पीड़ित हो रहा है, अनेकविध चिन्ता, भय आदि मानस क्लेशों से सन्तप्त हो रहा है। कुछ लोग दुःख और क्लेश को अल्प समय तक ही सही भूल जाने के लिये मादक द्रव्यों का सेवन करने लगे हैं। किन्तु नशे की खुमारी उतरते ही बेचारे अधिक दुःखी हो जाते हैं। उनका शरीर जर्जर हो जाता है, मन और बुद्धि शिथिल हो जाती है। कुछ लोग वाद्य, संगीत अथवा यन्त्रादि बाह्य साधनों से दुःख-क्लेश का विस्म-रण करना चाहते हैं, किन्तु उससे भी अल्पकाल के लिये ही विस्मरण हो पाता है। जिनका अन्तःकरण निरन्तर सन्तप्त और व्याकुल होता रहता है, उनको तो ये बाह्योपचार एक क्षण भी शान्ति नहीं दे सकते। मादक पदार्थ के सेवन से कुछ देर के लिये दुःख को भुलाया जा सकता है, किन्तु भूत के समान दुःख पुनः सवार हो जाता है। जीवन की समस्त चिन्ताओं से, समस्त क्लेशों से और विपत्तियों से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो भक्तिरसायन का ही सेवन करना होगा। इसके समान सस्ती, सुलभ अन्य महौषधि विश्व में नहीं है।

'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'

यह स्मरणभक्ति ही समस्त विपत्तियों (क्लेशों) का समूल नाश कर देगी। जब मन भगवान् के चरणारविन्द में शरणागत होकर तन्मय हो जायगा तब जगत् और उससे होनेवाले क्लेशों की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार अपने आराध्यदेव में मन को विलीन कर देने से देह-गेह की भी सुध नहीं रहेगी। उस अवस्था में पहुँच जाओगे जहाँ सुख-शान्ति और परमानन्द की सतत वर्षा होती रहती है।

प्रेममयी भक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन विरह में ही होता है। एक समय की बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने नन्दबाबा और यशोदामैया तथा अपने सखा-सखियों को अपना कुशल समाचार देने और उनके कुशल समाचार ले आने के लिये अपने परम सखा उद्धवजी को व्रज में भेजा।

भक्तशिरोमणि उद्धवजी ने व्रज में आकर व्रजवासियों के साथ कई मास बिता दिये। प्रतिदिन-प्रतिक्षण ही सबके साथ श्रीकृष्ण की चर्चा में जीवन के दिन सफल होते रहे। तदनन्तर एक दिन जब मथुरा लौटने के लिये उद्धवजी रथ में बैठे, तब उन्होंने सभी से पूछा—भगवान् कृष्ण से आपका क्या सन्देश कहूँ ?

तब 'नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः' नेत्रों से आँसुओं की धारा सतत बह रही है, ऐसी स्थिति में नन्दबाबा आदि लोग आकर कहने लगे— 'आप भगवान् को हमारी ओर से यह कहना—

'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः'

हमारे मन की वृत्तियाँ आपके चरणारविन्द में सर्वदा लगी रहें।

और—

'वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नाम्'

हमारी वाणी आपके नामस्मरण में सदा लगी रहे।

और—

'कायस्तत्प्रह्वणादिषु'

हमारी काया (देह) आपको प्रणाम करने में सदा लगी रहे।'

इस प्रकार जीवनभर की भलाई के पथस्वरूप मन, वचन और काया के सुधार की माँग कर चुकने पर उद्धवजी ने पूछा—बस ? या और भी कुछ कहना है ? तब उन्होंने कहा, अभी और कहना बाकी है।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानैर्मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

ईश्वरेच्छा से कर्मचक्र के द्वारा घुमाए हुए हम लोग जहाँ कहीं भी हों, वहाँ-वहाँ, इस जन्म में हमने जो मङ्गलमय आचरण किये हों अथवा दान किये हों, उनके फलस्वरूप हमारी बुद्धि सर्वदा ईश्वर कृष्ण में बनी रहे।

भक्तों को भगवत्प्रेम का उन्माद, वियोग-संयोग दोनों अवस्थाओं में होता रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रहनेवाली, श्रीकृष्ण से विहार करनेवाली द्वारिका की श्रीकृष्ण-पत्नियों का मन भगवान् की लीला में इतना तन्मय हो जाता है कि उन्हें स्मरण ही नहीं रहता कि हम श्रीकृष्ण के समीप हैं। एक ही समय उन्हें कभी दिन की प्रतीति होती है, कभी रात्रि की। वे न जाने क्या-क्या बोल रही हैं—

हे पक्षी ! तू इस समय इस नीरव निशीथ में क्यों जग रहा है ? इस विलाप का क्या अर्थ है ? क्या श्रीकृष्ण की मुसकान और चितवन ने तुझ पर भी जादू डाल दिया है ? हे चकवी ! तू आँखें बन्द करके किसे प्रणय का आमन्त्रण दे रही है ? क्या तू भी हमारे समान ही श्रीकृष्ण के चरणों पर समर्पित की हुई पुष्पमाला को पहनना चाह रही हो ? रे समुद्र ! तू क्यों गरज रहा है ? दिग्-दिगन्त को प्रतिध्वनित कर देनेवाली तुम्हारी गम्भीर ध्वनि का क्या तात्पर्य है ? क्या श्रीकृष्ण ने हमारी ही भाँति तुम्हारा भी कुछ छीन लिया है ? अरे चन्द्रमा ! तेरी क्या दशा हो रही है ? आज रजनी को तू अपने करों से रंग उड़ेलकर क्यों नहीं रँग देता ? क्या तू भी श्रीकृष्ण की मीठी-मीठी बातों में आकर अपना सर्वस्व खो चुका है ? हे मलयानिल ! हमने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी तुम हमारे अंग-प्रत्यंग का स्पर्श करके हृदय को क्यों गुदगुदा रहे हो ? उसे तो यों ही श्रीकृष्ण की तिरछी चितवन ने टूक-टूक कर दिया है। अरे घनश्याम के समान श्यामल मेघ ! तू तो उनका सखा है न ? उनका ध्यान करते-करते तू भी ऐसा ही हो गया है। ये तेरी बूँदें नहीं, तेरे प्रेम के तेरे आँसू हैं। अब क्यों रोता है ? उनसे प्रेम करने का फल भोग ले। अरे पर्वत ! तुम्हारे इस गम्भीर, मौन और अचञ्चल स्थिरता का यही अर्थ है न, कि तुम हमारी ही भाँति अपने शिखरों पर उनके चरणों का स्पर्श चाह रहे हो ? नदियो ! क्या तुम वियोगिनी हो ? हाँ, तभी तो तुम हमारी ही भाँति कृश हो रही हो। अरे हंस ! आओ, आओ, तुम्हारा स्वागत है। इस आसन पर बैठो, दूध पीयो, कहो उनका कुशल-मंगल—अच्छे तो हैं ? वे क्या कभी हमारा स्मरण करते हैं ? हम वहाँ नहीं जायेंगी। क्या वे हमारे पास नहीं आयेंगे ?

उसी तरह गोपियों का हृदय और उनका प्रेम अनिर्वचनीय है। वे गोपियाँ प्रेममय हैं, श्रीकृष्णमय हैं, अमृतमय हैं। उनका हृदय, उनका प्रेम, उनके भाव

का अमृतमय स्रोत कभी-कभी स्वयं वाणी के द्वारा बाहर निकल आता है। वे जब बोलना चाहती हैं, तब बोला नहीं जाता, जब मौन रहना चाहती हैं, तब बोल जाती हैं। उनके दिव्य भाव दर्शनीय ही हैं—

हे सखी ! जब सायंकाल हो जाता है, गायें व्रज में आने लगती हैं, उनके पीछे-पीछे ग्वाल-बालों के साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण और बलराम व्रज में प्रवेश करते हैं, तब उनकी स्नेहभरी चितवन का रस जो लेता है, उसीका जीवन सफल है। उसीकी आँखें धन्य हैं। कितना विचित्र वेष रहता है उनका— आम्र-मंजरियाँ, कोमल-कोमल पल्लव, पुष्पों के स्तबक और कमलों की माला ! गोप-बालकों के बीच में गाते हुए वे एक श्रेष्ठ नट के समान जान पड़ते हैं। गोपियो ! जिस वंशी की ध्वनि सुनकर वापियों को रोमाञ्च हो आता है, उनमें कमल खिलने लगते हैं, वृक्षों से आँसू बहने लगते हैं, उनसे मद की धारा बहने लगती है। उस बाँसुरी ने कौनसी तपस्या की है ? उलटे वह तो गोपियों का अधिकार छीन लेती है, अर्थात् श्रीकृष्ण के अधरों की सुधा पी जाती है। हो-न-हो, उसका कोई महान् पुण्य अवश्य है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तब उसीके स्वर में ताल मिलाकर मयूर नृत्य करने लगते हैं, वन्य हिंसक जीव भी अपना स्वभाव त्यागकर प्रेम में मुग्ध हो जाते हैं। उनके चरण-चिह्नों से चर्चित वृन्दावनधाम सम्पूर्ण भूमण्डल के यश का विस्तार कर रहा है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तब हरिनियाँ अपने पतियों के साथ प्रेमभरी चितवन से उनके विचित्र वेष को देखकर सम्मान करती हैं। वे पशु होने पर भी धन्य हैं। उनका मधुमय संगीत और उनके मधुर मनोहर रूपलावण्य का अवलोकन कर दिव्य देवांगनाएँ अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं, मूर्च्छित हो जाती हैं। गौएँ अपने कानों को खड़ा करके उस पीयूषरस का पान करती हैं। बछड़े अपने मुँह में लिये हुए दूध को न उगल पाते हैं और न निगल ही सकते हैं, उनके हृदय में होते हैं—श्रीकृष्ण और आँखों में आँसू। वन के पक्षी लतावेष्टित तरुओं की रुचिर शाखाओं पर बैठे-बैठे आँखें बन्द करके मूक होकर श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुना करते हैं। नदियाँ कमलों के उपहार के साथ उनके चरणों का स्पर्श करती हैं। मेघ जलबिन्दुओं से पुष्पवर्षा करता हुआ उनका छत्र बन जाता है। गोवर्धन आनन्दोद्रेक से फूलकर उनकी सेवा करता है। चर अचर हो जाते हैं और अचर चर हो जाते हैं। धन्य है श्रीकृष्ण की लीला ! चलो, हम भी देखें।

गोपीजनवल्लभ वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य-मधुर-रसमयी लीलाओं का रहस्य अवगत करने का सौभाग्य विरले ही लोगों को होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी चिन्मयी होती

है। सच्चिदानन्द रसमय साम्राज्य के परम उन्नत स्तर में यह लीला हुआ करती है। कभी-कभी तो ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न महात्मा लोग भी इस लीला-रससुधासिन्धु की बूँद का आचमन तक नहीं कर पाते। भगवान् श्रीकृष्ण की इस परमोज्ज्वल दिव्य लीला का यथार्थ प्रकाश तो भगवान् की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी ही और तदंगभूता प्रेममयी गोपियों के ही हृदय में होता है और वे ही उन्मुक्त बन्धन होकर भगवान् की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीला का आस्वादन करती हैं। क्योंकि ये ही श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीकृष्णरसभावितमति हो चुकी थीं। गोपियों का तन, मन, धन सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में समर्पित हो चुका था। वे संसार में जी रही थीं—एकमात्र श्रीकृष्ण के लिये। घर में रहती थीं—श्रीकृष्ण के लिये। घर के सारे काम-काज करती थीं—श्रीकृष्ण के लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धि में श्रीकृष्ण के सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्ण के लिये ही, श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिये ही, श्रीकृष्ण की निज सामग्री से ही श्रीकृष्ण को पूजकर, श्रीकृष्ण को सुखी देखकर वे अपने को सुखी समझती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटने के समय से लेकर रात्रि में सोने तक वे जो कुछ भी करती थीं वह सब अपने आराध्य/प्रियतम श्रीकृष्ण के लिये ही करती थीं। यहाँ तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमय होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में ही वे श्रीकृष्ण की शान्त व मधुरलीला देखती और अनुभव करती थीं। रात को दही जमाते समय श्यामसुन्दर की मधुर छबि का ही ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्ण के लिये। उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीके पर रखूँ जितने पर श्रीकृष्ण के हाथ आसानी से पहुँच सकें, फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओं को साथ में लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घर में पदार्पण करें, माखन लें और लुटावें और आनन्द-मग्न होकर मेरे आँगन में नाचें और मैं किसी कोने में छिपकर उनकी लीला को अपनी आँखों से देखकर जीवन को सफल कर सकूँ और अचानक ही उन्हें पकड़कर हृदय से लगा लूँ।

गोपियों का तो सर्वस्व श्रीकृष्ण भगवान् का था ही, सम्पूर्ण जगत् ही उनका है। वे भला किसकी चोरी करें। चोर तो वास्तव में वे लोग हैं, जो भगवान की वस्तु को अपनी मानकर ममता-आसक्ति में फँसे रहते हैं और दण्ड के पात्र होते हैं। वास्तव में गोपियों ने प्रेमाधिक्य के कारण उन्हें प्रेम का नाम 'चोर' कहकर पुकारा है। क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधना से ही स्पष्ट हो जाती

है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्ण के साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन, प्राण, सम्पूर्ण आत्मा श्रीकृष्ण-मय हो जाय। शरत्काल में उन्होंने श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि की चर्चा आपस में की थी। हेमन्त के पूर्व ही अर्थात् भगवान् के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्ष के मास में उन्होंने अपनी साधना आरंभ कर दी थी। विलम्ब को वे सहन नहीं कर पा रही थीं। शीतकाल में वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नान के लिये जातीं, उन्हें अपने शरीर की भी परवाह नहीं थी। बहुत-सी कुमारी गोपबालाएँ एक साथ हो जातीं। उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वर से श्रीकृष्ण का नाम-संकीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिबान्धवों से संकोच नहीं होता था। वे घर में भी हविष्यान्न का ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्ण के लिये इतनी व्याकुल हो गई थीं कि उन्हें माता-पिता तक का संकोच नहीं होता था। वे भगवती देवी की वालुकामय मूर्ति को विधिवत् बनाकर उसकी पूजा और मन्त्रजप करती थीं। अपने इस कार्य को सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व सब कुछ भगवान् के चरणार-विन्द में सर्वथा अर्पण कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण ही हमारे प्राणों के स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही।

वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति पूर्णसमर्पण के रूप में परिणत हो जाती है। उसीको चीरहरण की लीला के द्वारा बताया गया है।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृति के एकमात्र अधीश्वर हैं। समस्त क्रियाओं के कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वे ही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है, जो उनके सामने न हो। वे भगवान् ही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। सम्पूर्ण विश्व के वे ही 'आत्मा' हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदि के रूप में मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं।

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पाठ करते रहने पर यह रहस्यमय तथ्य समझ में आता है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को जानती थीं, पहचानती थीं। वेणु-गीत, गोपी-गीत, युगलगीत और श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियों के अन्वेषण में इस बात को कोई भी पवित्र भाव का व्यक्ति समझ सकता है।

श्रीमद्भागवत में रासलीला के पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की परम अन्तरंगलीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और

ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्री राधारानी के साथ होनेवाली भगवान् की दिव्यातिदिव्य क्रीड़ा इन अध्यायों में कही गई है। 'रास' शब्द का मूल 'रस' है और 'रस' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही है—'रसो वै सः' कहा गया है। जिस दिव्य-क्रीड़ा में एक ही 'रस' अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का आस्वादन करे, एक रस ही रससमूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे—उसका नाम 'रास' है। इस रासपञ्चाध्यायी के अन्तर्गत इकतीसवाँ अध्याय 'गोपी-गीत' के नाम से प्रसिद्ध है। यह भागवतसारसर्वस्वरूप ही है। गोपियाँ अपने प्रिय श्रीकृष्ण को खोजती हुई उन्हें बुला रही हैं, गोपबालाएँ सोचती हैं कि हम लोग आनन्दकन्द-परमानन्द-व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की वेणु-ध्वनि से मंत्रमुग्ध हुई-सी उनके समीप खिंची चली आईं, वैसे ही वे भी हमारे इस गीत से आकृष्ट होकर हमें दर्शन देने आएँगे, अतएव उन्होंने अपना 'गीत' आरम्भ किया। इस गोपी-गीत में सुबोधिनीकार के कथनानुसार उन्नीस प्रकार की गोपियाँ हैं। उन्होंने अपने-अपने अधिकारानुसार १९ प्रकार की स्तुति की है। उसके परिणामस्वरूप भगवान् प्रसन्न होकर गोपियों के समक्ष प्रकट हो गए।

श्रीमद्भागवत के रहस्यवेत्ता श्रीधरस्वामी की अद्वैतमतपरक प्रामाणिक व्याख्या सर्वत्र प्रसिद्ध और आदरणीय है। कतिपय सम्प्रदायाचार्यों का अन्यान्य विषयों में उनसे मतैक्य न रहने पर भी 'भक्ति' के विषय में सभी आचार्यों का उनसे मतैक्य है, भक्तिरस के विषय में सभी आचार्य श्री श्रीधरस्वामी को उत्कृष्ट आदरदृष्टि से देखकर उनका सम्मान करते हैं।

भक्ति और ज्ञान दोनों ही अन्तरंग भाव हैं, अतएव वे अन्तरंग में रहनेवाले परमेश्वर का साक्षात् स्पर्श करते हैं। इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले कर्म 'ज्ञान' अथवा 'भक्ति' के सहायक होकर ही भगवत्प्राप्ति के साधन होते हैं। कर्म प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—निष्काम, सकाम और निरर्थक। निरर्थक कर्मों का उपयोग कहीं भी नहीं होता। सकाम कर्म दो प्रकार के होते हैं—शास्त्रानुकूल और शास्त्रप्रतिकूल। शास्त्रप्रतिकूल कर्म इस लोक में कुछ दिनों तक के लिये सफल हो सकते हैं, परन्तु भविष्य में परिणाम अच्छा नहीं है। शास्त्रानुकूल सकाम कर्मों से इस लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति तो होती है, किन्तु भगवत्प्राप्ति नहीं हो पाती। भगवत्प्राप्ति तो निष्कामकर्म से ही होती है, जो सर्वदा सात्त्विक और शास्त्रानुकूल ही होते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् के लिये किये जानेवाले कर्मों को ही निष्काम कर्म माना है। भगवदर्थरहित कर्म किसी काम के नहीं। श्रीमद्भागवत में तो भगवदर्थ कर्मों को 'कर्म' ही नहीं माना है, उन्हें

निर्गुण कहा है। वे तो 'भक्ति' के ही अन्तर्गत होने से स्वयं भक्तिस्वरूप ही हैं। भगवत्प्राप्ति के लिये अनेक साधन बताये हैं, उन सब साधनों में से सर्व-साधारण के लिये और अधिकारभेद से रहित तथा सर्वकालोपयोगी भगवन्नाम के जप (स्मरण) का आश्रय करना ही सुसाध्य है। इससे भी भगवत्प्रसाद, भगवत्प्रेम और साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है।

हम पहले कह चुके हैं कि कतिपय गीत भी भागवत में उपलब्ध होते हैं। जब मन अपनी व्यथा, अन्तर्वेदना और अनुभूति को अपने भीतर संवरण नहीं कर पाता, धैर्य का बाँध टूट जाता है, तब अपने-आप ही—किसीको सुनाने के लिये नहीं—जो उद्‌गार निकलते हैं, उन्हें 'गीत' नाम से कहा जाता है। वे गीत संसार की कटुता के अनुभव से, ज्ञान से, विरह से, प्रेम से, प्रेम करने की इच्छा से, विरह की संभावना से अथवा अन्य कारणों से भी हृदय के द्वारा उमड़ पड़ते हैं—एकान्त में भी, लोगों के सामने भी, किसीकी अपेक्षा न करके भी और किसीको सम्बोधित करके भी, परन्तु ऐसे प्रसंग बहुत अल्प हैं और जितने हैं, उनमें अधिकांश गोपियों के ही हैं। गोपियाँ तो प्रेम, विरह की मूर्तिमान् स्वरूप ही हैं। इन गोपियों के गीतों को पढ़कर एक बार पत्थर का हृदय भी पिघल सकता है। ये गोपियाँ जिसके विरह से व्याकुल होकर तड़प रही हैं, वह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का एक-एक अंग, पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्ण का पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण की सभी इन्द्रियों से सभी कार्य हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है। उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथों से देख सकते हैं, आँखों से चल सकते हैं। श्रीकृष्ण का सभी कुछ श्रीकृष्ण होने के कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसी कारण उनकी रूपमाधुरी नित्य-वर्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। अतः उनकी रासलीला को काम-क्रीड़ा कहना जघन्य पाप है। वह उनकी सांकल्पिक दिव्यलीला है। जैसे सृष्टि के आरंभ में 'स ऐक्षत एकोऽहं बहुस्याम्'—भगवान् के ईक्षणमात्र से जगत् की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रास के प्रारंभ में भगवान् के प्रेममय वीक्षण से शरत्काल की दिव्य रात्रियों की सृष्टि होती है। चाँदनी, विविधपुष्पसमृद्धि, शीतल-मन्द-सुरभित पवन आदि समस्त उद्दीपन-सामग्री भगवान् के द्वारा वीक्षित है, लौकिक नहीं। गोपियों ने अपने मन को भगवान् श्रीकृष्ण के मन में मिला दिया था, उनके पास स्वयं मन न था। तब श्रीकृष्ण ने विहार के लिये नवीन दिव्य मन की सृष्टि की। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की यही योगमाया है,

जो रासलीला के लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मन का निर्माण किया करती है। और उस पर भी श्रीकृष्ण की मोहक बाँसुरी बजती है। भगवान् कृष्ण की बाँसुरी जड़ को चेतन और चेतन को जड़, चल को अचल और अचल को चल, विक्षिप्त को समाधिस्थ और समाधिस्थ को विक्षिप्त बनाती ही रहती है। गोपियाँ तो वैराग्य की प्रतिमूर्तियाँ थीं, उन्हें सांसारिक किसी पदार्थ की कामना नहीं थी। वे तो भगवान् के चरणों पर सर्वथा समर्पित हो चुकी थीं। भगवान् की बाँसुरी सुनकर वे ऐसी चल दीं, जैसे हिमालय से निकलकर समुद्र में गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदी की धारा चल देती है। उसे कोई रोक नहीं सकता। गोपियों के आने पर उनके हृदय को और अधिक निर्मल बनाने की दृष्टि से अथवा विप्रलंभ के द्वारा उनके भाव को और अधिक पुष्ट करने के लिये, अथवा साधारण प्राकृत लोगों के उपदेशार्थ, अथवा गोपियों के अधिकार-प्रकाशनार्थ भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों से कुछ समय तक वार्तालाप करते रहे। गोपियाँ श्रीकृष्ण को अन्तर्यामी, योगेश्वर, परब्रह्म के रूप में जानती थीं। सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी ह्लादिनीशक्तिरूपा, आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्ति से उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियों से जो आत्म-क्रीड़ा की है, इस दिव्यक्रीड़ा का ही नाम 'रास' है। इसमें न कोई जड़ शरीर था और न प्राकृत अंग-संग था। यह था चिदानन्दमय भगवान् का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाम में सर्वदा होता है।

वियोग ही संयोग का पोषक होता है। अभिमान और मद ही भगवान् की लीला में बाधक बनता है। तथापि भगवान् की दिव्य लीला में दिव्य मान और दिव्य मद भी इसलिये हुआ करते हैं कि उनसे लीला में रस की और अधिक पुष्टि हो। भगवान् की इच्छा से ही गोपियों में लीलानुरूप मान और मद का संचार होते ही भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए। हृदय में लेशमात्र भी मान और मद के रहते हुए वह व्यक्ति भगवान् के सम्मुख रहने का अधिकारी नहीं है। भगवान् के समीप रहने पर भी वह उनका दर्शन नहीं कर पाता। भक्त के उत्कट प्रेमभाव को देखकर वे उनके मान और मद को दूर कर देने के लिये अनुग्रह कर ही देते हैं। विरहजनित तड़पन में गोपियाँ मद और मान से रहित होकर विशुद्ध प्रेम को जब प्रकट करने को तत्पर हो गई और फूट-फूट-कर रोने लगीं—

> इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
> रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥

गोपियाँ रातभर उस महान् वन में भगवान् श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती फिरीं और सब

प्रयत्न करके थक गईं, फिर भी उनका कहीं पता न लगा, तो घबड़ाकर उनके प्रेम में फूट-फूटकर रोने लगीं, उसी समय तत्काल—

'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः'

उन गोपियों को प्रेम से रोती देखकर भगवान् से न रहा गया और अन्धकार में छिपे हुए भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत मुस्कराते हुए प्रसन्नवदन से उनके सम्मुख आकर खड़े हो गए।

ये परमभागवत गोपियाँ गोपियाँ हो थीं, उनसे जगत् के किसी प्राणी की तिलमात्र भी तुलना नहीं की जा सकती। गोपियों के शरीर-मन-प्राण सभी कुछ श्रीकृष्णमय हो गये थे।

उनके प्रेमोन्माद का यह गीत 'गोपी-गीत' नाम से प्रसिद्ध है। यह गीत गोपांगनाओं के प्राणों का प्रत्यक्ष प्रतीक है। आज भी यह भगवद्-भक्तों को भावमग्न करके श्रीकृष्ण के लीलालोक में पहुँचा देता है। सरसहृदय से पाठ करनेमात्र से ही गोपियों की महत्ता तथा उनके उच्चस्तरीय अधिकार, उनकी भक्तिप्रवणता का ज्ञान पवित्र अन्तःकरणवाले व्यक्तियों को हो जाता है।

गोपियों के अलौकिक प्रेमोन्माद को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके। उनके सामने 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' के रूप से प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया कि गोपियो ! मैं तुम्हारे प्रेममय भाव का चिरऋणी हूँ। यदि मैं अनन्तकाल तक भी तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होने का प्रयोजन तुम्हारे चित्त को दुखाना नहीं था, प्रत्युत तुम्हारे प्रेम को और अधिक उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।

ऐसे परमपवित्र प्रेम की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए गीत की व्याख्या, उसका मार्मिक रहस्य बताना जिस-किसीका काम नहीं है। उसे तो वैसा ही भक्ति-रसाप्लावित, वीतराग, वैराग्यसाम्राज्यसिंहासनारूढ़ श्रीकृष्णानुगृहीत महान् पुरुष ही अपनी पवित्र रसमयी वाणी से अभिव्यक्त कर सकता है।

इस युग में एकमात्र महापुरुष, परम तीव्रवैराग्यसम्पन्न, धर्मसम्राट्, साक्षात् शुकावतार, पूज्यपाद, प्रातःस्मरणीय श्री १०८ करपात्रस्वामिचरण ही गोपी-गीत जैसे लोकोत्तर गीत के रहस्य की अपनी वैदुष्यपूर्ण रसमयी वाणी से अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो सकते हैं।

हमारे आराध्यचरण महाराज श्रीस्वामीजी ने भक्तजनकल्याण की कामना से समय-समय पर जो प्रवचन दिये, उन्हींका प्रकाशन इस ग्रंथ के रूप में महाराजश्रीचरणों के परम कृपापात्र तथा उच्चकोटि के विद्वान्, सर्वशास्त्र-निष्णात श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी ने बड़े मनोयोग और वैदुष्य के साथ किया

है जिसे पढ़कर पवित्रान्तःकरण के भक्त लोग अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह को प्राप्त होंगे, यह मेरा विश्वास है।

मेरे आराध्य गुरुचरण, पूज्यपाद, प्रातःस्मरणीय श्रीकरपात्रस्वामिचरणों की हार्दिक अनुपम अनुकम्पा के फलस्वरूप ही विद्वन्मूर्धन्य श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी के मुख से मुझे गोपी-गीत जैसे लोकोत्तर भावपूर्ण ग्रन्थ पर भूमिका लिखने की आज्ञा प्राप्त हुई। उनकी अनुल्लंघनीय आज्ञा को वरदान मानकर मैं अपनी अल्पतम बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिख सका, वह महाराजश्री के आशीर्वाद का ही पवित्र फल है। अन्त में हे गुरुदेवचरण! मुझ जैसे अपने दीन-हीन-मूढ़ शिष्य को अपने अमोघ कृपापूर्ण आशीर्वाद देकर अपना वरदहस्त मेरे शिर पर रखकर मेरा उद्धार कर दें, यही प्रणामपूर्वक भक्तिपुरःसर प्रार्थना है।

इति शुभम्।

—गजाननशास्त्रि मुसलगांवकरः

गोपी-गीत

प्रवचन

स्वामी करपात्री जी महाराज

श्रीहरिः

श्री गोपी-गीत

प्रवेशिका

'श्रीमद्भागवत महापुराण' के दशम स्कन्ध का इकतीसवाँ अध्याय 'गोपी-गीत' नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त भावपूर्ण गीत है; जितना ही अधिकाधिक इसके पठन-पाठन, श्रवण-मनन एवं अर्थानुसन्धान में प्रवृत्त हुआ जाय उतना ही इसके लोकोत्तर दिव्य रस की अधिकाधिक उपलब्धि होती है।

श्री सनातन गोस्वामी कहते हैं कि गोपाङ्गना-जनों के गीत का अर्थ एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा ही जान सकते हैं। 'कृष्णैकगम्यो वागर्थः' गोपाङ्गनाओं का यह वागर्थ एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा ही गम्य है। जिन रहस्यात्मक वाक्यों का अर्थ केवल अपने रहस्यज्ञ को ही जताना अभीष्ट हो उसको इतर जन भी जानने का प्रयास करें यह सर्वथा अनुचित है एतावता गोपाङ्गनाओं के वागर्थ का वर्णन करना भी एक प्रकार से उनके प्रति अपराध ही है। हमारे इस अपराध को जानते हुए भी वे देवियाँ, व्रजसीमन्तिनी-जन हम पर अनुग्रह करें। श्री गोपाङ्गना-जनो के अनुग्रह से श्री श्रीधर स्वामी ने इस गीत का अभिप्राय समझा।

गौड़-सम्प्रदाय के सभी आचार्य अद्वैतवाद एवं मायावाद के सम्बन्ध में श्री श्रीधर स्वामी से कुछ विप्रतिपत्ति रखते हुए भी भक्ति-रस के सम्बन्ध में उनका अत्यन्त सम्मान करते हैं। 'पीतश्रीगोपिकागीतसुधासारमहात्मनाम् श्रीधरस्वामिनां किञ्चिदुच्छिष्टमुपचीयते' अर्थात् महात्मा एवं महापुरुष श्री श्रीधर स्वामी ने गोपिका-गीत-सुधा-सार का पान किया; उनके उच्छिष्ट रस का हम संचयन करते हैं।

आचार्यगण का कथन है कि गोपाङ्गना-जनों ने इस अभिलाषा से कि जैसे हम लोग आनन्दकन्द, परमानन्द, व्रजचन्द्र, श्रीकृष्ण के वेणु-निनाद से मंत्र-मुग्ध हो उनके सन्निधान में व्रज तक खीची चली आयी हैं वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र भी हमारे इस गीत से आकृष्ट होकर हमको दर्शन देंगे, अपना गीत प्रारम्भ किया। 'गोपी-गीत' के अन्त में ३२वें अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्टतः ही कहा गया है—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

अर्थात्, आनन्दकन्द, परमानन्द, व्रजचन्द्र, साक्षात्-मन्मथमन्मथ, श्रीकृष्ण-चन्द्र उन व्रज-वनिताओं का दुःख अपहरण करते हुए उनके मध्य में आविर्भूत हुए। अस्तु, आचार्यगण कहते हैं कि जैसे इस गीत के माहात्म्य से गोपाङ्गना-जनों के लिए भगवत्-दर्शन सुलभ हो गया वैसे ही जो भी इस गीत का श्रद्धा-भक्ति-समन्वित-श्रवण मनन करेंगे अथवा विवेचन में प्रवृत्त होंगे उनके लिए भी नन्दनन्दन, श्री नवलकिशोर श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन सुलभ हो जाएँगे।

व्रजधाम का विस्तार बहुत अधिक है। व्रज-साहित्य के अनुसार 'मध्ये गोवर्धनं यत्र' गोवर्धन पर्वत के चतुर्दिक् प्रसारित भूमि-खण्ड ही श्रीमद् वृन्दावन-धाम है जो व्रजधाम से उदव्याप्त है। व्रजधाम की स्तुति से ही गोपाङ्गनाएँ अपने गीत का प्रारम्भ करती हैं। श्री नन्दनन्दन, व्रजकिशोर के प्रेम में विभोर भावुकों का सर्वस्व श्री व्रजतत्त्व महामहिम, अलौकिक एवं अपार वैभवशाली तथा प्रकृति-प्राकृत-प्रपंचातीत है। भक्तजन भगवत्-प्राप्ति की आकाङ्क्षा से इस भगवत्-धाम की प्रदक्षिणा करते हैं। गोपाङ्गनाएँ भी स्तवन द्वारा ही व्रजधाम की वाणीमय परिक्रमा करती हैं।

●

गोपी गीत

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

अर्थात्, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे श्याम-सुन्दर ! आपके जन्म के कारण स्वभावतः महामहिम व्रजधाम पूर्वापेक्षा एवं सर्वापेक्षा अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है क्योंकि वैकुण्ठवासिनी भगवती इन्दिरा भी आपकी सेवा के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में यहाँ सतत आश्रयण कर रही हैं तदपि हम **'त्वदीयत्वाभिमानिन्यः, त्वयि धृतासवः'** व्रज-वनिताएँ आपके विप्रयोगजन्य सन्ताप से सन्तप्त हो अत्यन्त क्षीण हो इतस्ततः भटकती हुई भी आपके निमित्त ही प्राण-धारण की हुई हैं। हे दयित ! आविर्भूत होकर हमें देखो।"

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः' जैसी उक्ति से गीत का प्रारम्भ होता है। **'जयति'** शब्द द्वारा गोपाङ्गनाएँ अभीष्ट-प्राप्ति एवं विघ्न-निवृत्ति हेतु मंगलाचरण करती हैं।

उपर्युक्त उक्ति में प्रयुक्त **'अधिकं'** शब्द सापेक्ष अर्थ-द्योतक है एतावता इस उक्ति का तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव के कारण व्रजधाम **"पूर्वतोवा, सर्वतोवा, श्री वैकुण्ठादपि वा अधिकं यथा स्यात् तथा जयति'** अर्थात् व्रजधाम पूर्वापेक्षा, सर्वापेक्षा तथा वैकुण्ठधाम की भी अपेक्षा अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। किंवा, **'अधि सर्वतः कं सुखं यथा स्यात्तथा जयति'** अर्थात्, सर्वाधिक सुख व्रजधाम में ही हो रहा है अतः व्रजधाम विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

उपासना के अन्तर्गत नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों का ही विशिष्ट महत्त्व है। मान्य है कि जैसे लीला हेतु भगवान् श्रीमन्नारायण विष्णु का अवतरण होता है, वैसे ही, वैकुण्ठधाम का भी अवतरण होता है। अवतरण का अर्थ है ऊँचे से नीचे उतरना; गोलोकधाम में अथवा स्वस्वरूपभूत परमानन्द सुधा-सिन्धु में विराजमान स्वप्रकाश, पूर्णतम पुरुषोत्तम, प्रभु श्रीमन्नारायण जीवा-नुग्रहार्थ संसार में अवतीर्ण होते हैं। जैसे कोई राजाधिराज शाहंशाह चक्रवर्ती सम्राट् नरेन्द्र बन्दियों के कल्याणार्थ यदा-कदा कारागार में भी अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही, अविद्या-काम-कर्ममय संसार में अविद्या-काम-कर्मातीत, सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्राणियों के कल्याणार्थ अवतीर्ण होते हैं; साथ ही, उनके स्वस्वरूप-भूत-सुधासिन्धु, गोलोकधाम का भी जीव-कल्याणार्थ आविर्भाव होता है अतः

व्रजधाम रूपान्तर से साक्षात् गोलोकधाम ही हैं। जैसे व्यवहारतः नेत्र-गोलक को ही नेत्र संज्ञा दी जाती है तथापि वस्तुतः नेत्र तो नेत्र-गोलक-निहित-अतीन्द्रिय होता है, वैसे ही, व्रजधाम में व्रजतत्त्व अन्तर्निहित होता है। व्रजतत्त्व सन्निहित व्रजधाम का वास्तविक स्वरूप प्राकृत नेत्रों का नहीं अपितु विशिष्ट-उपासना-संस्कृत दृष्टि का गोचर है। अन्य मत यह भी है कि व्रजधाम व्रज-गोलक नहीं अपितु साक्षात् व्रजतत्त्व ही है तथापि उसका वास्तविक स्वरूप प्रकृति-प्राकृत विकारयुक्त नेत्रों से अद्रष्टव्य है। सामान्य दृष्टि से जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश प्राकृत-जगत् में उपलब्ध हैं वही व्रज-जगत् में भी उपलब्ध हैं तथापि उपासना-संस्कार-संस्कृत दृष्टि से ही व्रजधाम की अलौकिकता एवं विलक्षणता का अनुभव संभव है। प्रबोधानन्द सरस्वती कहते हैं, '**यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिदघनतामुपैति**' अर्थात्, व्रजधाम में प्रवेश करने मात्र से ही प्रत्येक प्राणी तत्क्षण सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन हो जाता है। जैसे लवण पर्वत में डाली हुई प्रत्येक वस्तु सैन्धव-लवण में परिवर्तित हो जाती है, किंवा, जैसे पारद निर्घर्षित गन्धक पारद-रूप ही हो जाती है, वैसे ही, व्रजधाम में सन्निविष्ट प्रत्येक तत्त्व तत्क्षण शुद्ध ब्रह्म सद्घन, चिद्घन, आनन्दघनस्वरूप हो जाता है। शाहंशाह अकबर से सम्बन्धित एक कथा है; हरिदास स्वामी के प्रति शाहंशाह अकबर विशेष श्रद्धायुक्त थे; शाहंशाह द्वारा बारम्बार सेवा हेतु विनीत प्रार्थना किए जाने पर हरिदास स्वामी ने उनको कोसीघाट के टूटे हुए कोने की मरम्मत करवाने की आज्ञा दी; इस आज्ञा को शिरोधार्य कर शाहंशाह कोसीघाट गए; वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि कोसीघाट कोई साधारण पाषाणमय घाट नहीं अपितु दिव्यातिदिव्य रत्नों से विनिर्मित है। इस अनुभव से चमत्कृत हो शाहंशाह हरिदास स्वामी के यहाँ लौट आए और उनको अपना अनुभव कह सुनाया। भागवत-वाक्य है—

यत्पाद पांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो, धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१२।१२)

अर्थात्, धृतात्मा, संयमी, योगीन्द्र, मुनीन्द्रों के लिए भी व्रजधाम की पांशु दुर्लभ है। इतना ही नहीं, विभिन्न भावयुक्त दृष्टि से स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी विभिन्नतः प्रतीत होते थे; दुर्योधनादि की दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का मात्र लौकिक प्राकृत स्वरूप ही स्फुरित होता था जब कि अर्जुनादि भक्तों के हृदय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रकृति-प्राकृत-प्रपंचातीत, अलौकिक परमेश्वर स्वरूप का प्रादुर्भाव होता था। तात्पर्य कि व्रजधाम का वास्तविक दिव्य

स्वरूप विशिष्ट उपासना संस्कार-संस्कृत दृष्टि का ही विषय हो सकता है। इसी तरह भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र की अवतरण भूमि, अवधधाम की दिव्यता भी प्रसिद्ध है; वह भी सामान्य दृष्टि का विषय नहीं है।

वस्तुतः पूर्णानुराग-रस-सार-सरोवर समुद्भूत रस-सार-सरोज ही व्रज है; व्रजसीमन्तिनी गोपाङ्गनाएँ ही सरोज-किञ्जल्क हैं; परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ही इन किञ्जल्कों का पराग है; नित्य निकुञ्जेश्वरी, वृषभानुदुलारी राधारानी ही इस पराग की मकरन्द हैं। एतावता व्रजधाम स्वभावतः ही उत्कर्ष को प्राप्त है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'व्रजः इदानीं तव जन्मना अधिकं पूर्वतः अधिकं यथा स्यात् तथा जयति'** अर्थात्, हे श्यामसुन्दर! स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त व्रजधाम आपके जन्म के कारण पूर्वापेक्षा अब विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के व्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूप में जन्म से अर्थात् प्रकट प्रकाश होने पर तो बाहुल्येन सभी प्राणियों का उत्कर्ष भासमान होता है।

'जयति ते अधिकं जन्मना व्रजः' में प्रयुक्त 'अधिकं' जैसे सापेक्ष पद-प्रयोगात् 'सर्वतो अधिकं' अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है। **'संकोचका-भावात्'** संकोचक के प्रत्यक्ष अभाव में सर्वात्मक तुलना ही लक्षित होती है अतः उपर्युक्त पद का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे श्यामसुन्दर! आपके जन्म से व्रजधाम सर्वातिशायी उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है'। भागवत-वाक्य है—

वृन्दावनं सखि! भुवो वितनोति कीर्ति यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।

(श्रीमद्भा० १०।२१।१०)

अर्थात्, हे सखि! वृन्दावनधाम के कारण सकल धरित्री-मण्डल की लोकोत्तर कीर्ति विस्तीर्ण हो रही है क्योंकि इस भूमि-खण्ड को ही देवकी-सुत व्रजेन्द्र-नन्दन, कृष्णचन्द्र के व्यवधानशून्य निरावरण चरणारविन्दों का संस्पर्श प्राप्त हो रहा है। ब्रह्मा-रुद्रादि देवाधिदेव भी जिन भगवान् के पादारविन्द-रज-संस्पर्श की सदा कामना करते हैं, उन्हींके पादुकादि व्यवधानशून्य निरावरण चरणार-विन्दों का संस्पर्श वृन्दावनधाम की भूमि को प्राप्त होता है। इस मंगलमय संस्पर्श का ही चमत्कार है कि वृन्दावन की भूमि रोमाञ्च-कंटकित हो रही है। वृन्दावनधाम की भूमि में जो विविध वृक्ष, लता, गुल्म एवं तृणादि उद्गत हैं वे ही मानों उद्‌दृप्त रोमाञ्चावलियाँ हैं। जैसे किसी रसिक को अपनी प्रियतमा के पादारविन्द-संस्पर्श से, किंवा जैसे गोपाङ्गना-जनों को अपने मदनमोहन, व्रजेन्द्र-

नन्दन, श्यामसुन्दर के चरणाम्बुज-संस्पर्श से लोकोत्तर आनन्दोद्रेक होता है वैसे ही इस भूमि को भी भगवान् के पादत्राणादि व्यवधान-शून्य चरणारविन्द-संस्पर्श से लोकोत्तर आनन्दोद्रेक हो रहा है।

'आनन्द-वृन्दावन-चम्पू' नामक ग्रन्थ के अनुसार '**वृन्दावनं, वृन्दायाः वनं**' अथवा '**वृन्दस्य-गुणसमूहस्य अवनं रक्षणम् यस्मात् तत् वृन्दावनं**' अथवा '**सकल-गुण वृन्दस्य अवनं, वृन्दावनं**' जहाँ सकल गुणों का रक्षण हो वह वृन्दा-वन, किंवा जो अचिन्त्य अनन्त कल्याण-गुण गणों का धाम हो वह वृन्दावन, किंवा जालन्धर-दैत्य-पत्नी जिसके अनुराग से अत्यन्त उत्सुक होकर भगवान् पूर्णतम पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन प्रभु ने भी छद्मवेश धारण किया उस परमा-नुरागिणी तुलसी-स्वरूपा, भगवद्भक्ति-स्वरूपा वृन्दा का यौवनरूप वन, वृन्दा-वन। जैसे अनुरागिणी प्रियतमा को अपने प्रियतम के संस्पर्श से लोकोत्तर आनन्दोद्रेक होता है वैसे ही वृन्दावनधाम को भी इस समय लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो रहा है। भगवत्-पादारविन्द-निवासिनी लक्ष्मी की शोभा, प्रभा से संयुक्त हो वृन्दावनधाम स्वयं ही आनन्दधाम बना हुआ सम्पूर्ण भू-मण्डल की कीर्ति को विस्तीर्ण कर रहा है।

यदा-कदा अन्य सम्बन्ध से भी कथंचित् सम्बन्धित-तत्त्व का लोकोत्तर माहात्म्य बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, '**सैल हिमाचल आदिक जेते, चित्रकूट गुण गावहिं तेते।**' (मानस अयो० १३७।७) एक कथा है; एक बार विन्ध्य ने हिमाचल की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष-प्राप्ति-हेतु अधिकाधिक बढ़कर सूर्य का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। घबराकर देवताओं ने महर्षि अगस्त्य से रक्षा-हेतु प्रार्थना की। देवताओं से प्रार्थित महर्षि अगस्त्य विन्ध्य पर गए; विन्ध्य ने अति लघु स्वरूप धारण कर महर्षि के चरणों में प्रणिपात किया; महर्षि ने आशीर्वाद देते हुए आज्ञा दी 'जब तक मैं न लौटूँ, तब तक तुम ऐसे ही रहना।' तदनन्तर महर्षि अगस्त्य सह्यादि पर्वत के सन्निधान में तपस्यारत हो गए फलतः विन्ध्य के वांछित उत्कर्ष-प्राप्ति में विघ्न उपस्थित हो गया। रामावतार के अवसर पर अनन्त कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक, परमात्मा प्रभु रामचन्द्र के चित्रकूट-निवास के कारण वही विन्ध्य बिना श्रम के ही विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो गया क्योंकि चित्रकूट विध्न्य का ही अंश है। अत्यधिक श्रम करने पर भी विन्ध्य उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो सका परन्तु राघवेन्द्र रामचन्द्र के निवास के कारण बिना श्रम ही सर्वाति-शायी माहात्म्य को प्राप्त हो गया। '**विन्ध्य मुदित मन सुख न समाई। श्रमु बिनु, बिपुल बड़ाई पाई।**' (मानस अयो० १३७।८) इसी तरह वृन्दावनधाम में ही अज, परात्पर परब्रह्म प्रभु का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव हुआ अतः वृन्दावनधाम के प्रसंग से

सम्पूर्ण धरित्री-मण्डल को श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द का संस्पर्श प्राप्त हुआ; अस्तु वृन्दावनधाम से संश्लिष्ट एवं संसृष्ट होकर धरित्री-मण्डल भी सौभाग्य-शाली हो गया, धन्य-धन्य हो गया।

धरित्री-मण्डल के वृक्ष, लता एवं तृणोद्गति में भगवत्-संस्पर्श-जन्य रोमांच की कल्पना करती हुई गोपाङ्गनाएँ धरित्री से प्रश्न करती हैं,

'किन्ते तपः क्षिति कृतं बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥'

अर्थात्, धरित्री बहन! तुमने ऐसी कौन महत् तपस्या की है जिसके कारण तुम्हें मदनमोहन, श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन के पादारविन्द का संस्पर्श प्राप्त हुआ? धरित्री ने उत्तर दिया, सखि! तुम्हारे व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर तो कुछ ही समय पूर्व आविर्भूत हुए परन्तु हमारे अंग-प्रत्यंग में तो यह रोमाञ्चरूप वृक्ष-लता-दूर्वादि तो प्राचीनकाल से ही विद्यमान हैं; एतावता हमारे इस रोमाञ्चोद्गम का कारण तुम्हारे श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द का संस्पर्श कदापि नहीं हो सकता। अस्तु, तुम्हारी यह कल्पना व्यर्थ है। गोपाङ्गना-जन पुनः कहती हैं, हे सखि! मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द-संस्पर्श के बिना यह लोकोत्तर आनन्दोद्रेक कथमपि सम्भव नहीं, वामनावतार के प्रसंग में अथवा उससे भी पूर्व वाराहावतार के प्रसंग में तुमको जो भगवत्-संस्पर्श प्राप्त हुआ, उसीके फलस्वरूप तुमको यह रोमाञ्च हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने वराह-वपु धारण कर रसातल में निमग्न धरित्री का उद्धार किया उस परिरम्भणजन्य आनन्दोद्रेक के कारण ही तुम रोमाञ्च-कंटकित हो रही हो। '**आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन**' हे धरित्री बहन! इस अद्भुत रोमाञ्चोद्गति का एकमात्र कारण भगवत्-संस्पर्श ही हो सकता है; और यह संस्पर्श निस्सन्देह किसी पुण्य-पुञ्ज का ही फल है अतः हम तुमसे पूछती हैं कि वह कौन तपस्या है जिसका यह लोकोत्तर फल तुम्हें प्राप्त हुआ है ताकि हम भी तुम्हारी जैसी तपस्या कर भगवत्-चरणारविन्द-संस्पर्श का, श्रीकृष्ण-परिम्भण का सौभाग्य प्राप्त करें।

लोकोत्तर सौभाग्यशालिनी होने पर भी गोपाङ्गनाएँ कभी धरित्री के सौभाग्य पर तो कभी नील-नीरधर घनश्याम में चमकती दामिनी को देखकर उसकी सौभाग्यातिशयता पर मुग्ध हो कहने लगती हैं,

'तडितः पुण्यशालिन्यो याः सदा घनजीवनाः।
तेन सार्द्धं व्यदृश्यन्त नादृश्यन्त च तं विना॥'

अर्थात्, हे सखि! यह तड़ित्, यह दामिनी बड़ी ही सौभाग्यशालिनी है। यह अपने प्रियतम घनश्याम के वक्षःस्थल पर ही विचरण करती हुई सदा दृष्टि-

गोचर होती है। नील-नीरधर के दर्शन न हों तो दामिनी के दर्शन भी कदापि संभव नहीं। इस घनश्याम-निर्भर तड़ित् के प्रति ईर्ष्यालु व्रजवनिताएँ आकांक्षा करती हैं कि हमारे अस्तित्व भी व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन श्यामसुन्दर से संश्लिष्ट हों तथा उनके ही प्राकट्य पर निर्भर हों।

मेघ-श्याम-संवलित तड़ित् से गोपाङ्गना-जन पूछती हैं, हे आलि ! हे सखि ! हे तड़ित् ! यह बताओ कि तुमने किस पवित्र काल में, किस पवित्र देश में, किस पवित्र क्षेत्र में कौन पवित्र तपस्या की और कितनी की? यह लोकोत्तर सौभाग्य जो तुमको प्राप्त हुआ है बिना तपस्या के सम्भव नहीं। ये जो नील-नीरधर श्यामघन अम्बुधर हैं ये तो हमारे श्यामसुन्दर के उरस्थल तुल्य हैं। भगवान् के वक्षस्थल तुल्य इस गम्भीर नील-नीरधर पर तुम सदा विराजमान रहती हो, सदा ही उसके संग रमण करती हो। हे तड़ित् ! तुम बड़ी सौभाग्य-शालिनी हो, धन्य-धन्य हो ! इसलिए हमें भी बताओ, हम भी तुम्हारे जैसा तप करें, तुम्हारा जैसा ही सौभाग्य प्राप्त करें। भाव-विभोर गोपाङ्गनाएँ ऐसी अनेक कल्पनाएँ करती रहती हैं। विशेष भावोत्कर्ष-प्राप्त भक्त-हृदय में ही ऐसी असाधारण भाव-लहरियाँ उत्थित होती हैं; भगवत्सान्निध्य-प्राप्त भक्त को ही भगवत् संस्पर्श एवं दर्शन अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होता है। जैसे किसी रंक को चिन्तामणि की प्राप्ति दुर्लभ प्रतीत होती है, वैसे ही लोकोत्तर सौभाग्यशालिनी राधारानी को भी कृष्ण-दर्शन एवं संस्पर्श अत्यन्त ही दुर्लभ प्रतीत होता है।

श्रीमन्नारायण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के निरावरण चरणाविन्द के संस्पर्श का सौभाग्य वृन्दावनधाम को ही प्राप्त हुआ; गोवर्धन-पर्वत के चतुर्दिक् विस्तृत विशाल भूमिखण्ड ही वृन्दावन-धाम है; **'मध्ये गोवर्द्धनं तत्र।'** यह वृन्दावन-धाम भी व्रज-धाम से उद्व्याप्त है। भावुकों ने **'व्रजे वने, निकुञ्जे च श्रेष्ठ-मत्रोत्तरोत्तरम्'** जैसी कल्पना की है; तदनुसार व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र, वृन्दा-वनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र एवं नित्यनिकुञ्जमन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप उत्तरोत्तर पूर्ण, पूर्णतर एवं पूर्णतम मान्य हैं। पूर्णतम स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र के निरावरण चरणारविन्द-संस्पर्श के सौभाग्यातिशय को प्राप्त कर व्रज-धाम 'पूर्वतोवा सर्वतोवा' अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

उपासना के अन्तर्गत नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों का ही विशेष महत्त्व है; सम्पूर्ण धामों में भी व्रजधाम सर्वाधिक शीर्ष स्थानीय है; **'सर्वेषां धाम्नां कं शिरः स्थानीयं'** संसार के समस्त पुरी एवं धामों में व्रजधाम ही अग्रगण्य है। **'काश्यादिपुर्यो यदि सन्तु लोके तेषां तु मध्ये मथुरैव धन्या।'** काशी आदि

पुरियों में मथुरा ही विशेष धन्य है। काशीपुरी की बड़ी महिमा है क्योंकि **'मरणं यत्र मंगलं'** काशीपुरी में मृत्यु मोक्षप्रद **है** परन्तु मथुरा में **'या जन्म मौञ्जी धृति मृत्यु दाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम'** जन्म, मौञ्जी-बन्धन, मृत्यु आदि विशेष संस्कारों में से किसी एक का हो जाना भी कल्याणप्रद है अतः मथुरापुरी ही विशेषतः महामहिम है।

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः' पद का तात्पर्य कुछ विद्वानों के मतानुसार यह भी है कि व्रजधाम वैकुण्ठधाम की अपेक्षा भी अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। वैकुण्ठधाम में अनन्त-ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति, वैकुण्ठेश्वरी भगवती, लक्ष्मी एका हैं अतः उनको अपने प्राण-वल्लभ श्रीमन्नारायण, भगवान् विष्णु की सेवा के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती किन्तु व्रजधाम मे लक्ष्मी-तुल्य अनेकानेक गोपाङ्गनाएं हैं। **'श्रिय कान्ताः'** इत्यादि वचनों से सुस्पष्ट हो जाता है कि व्रजधाम को प्रत्येक कान्ता साक्षात् श्रीस्वरूपा हैं। व्रजधाम में वैकुण्ठाधिपति भगवान् श्रीमन्नारायण भगवान् विष्णु स्वयं ही व्रजेन्द्रनन्दन, नवलकिशोर, गोपिकावल्लभरूप में सूत्रधार-संचालित-दारुयंत्रवत् स्वानुरागिणी गोपालियों का अनुवर्तन कर रहे है; एतावता, स्वभावतः ही परम-प्रेयसी, परम-साध्वी, पति-परायणा, वैकुण्ठेश्वरी इन्दिरा भी अपने प्राणधन, प्राणनाथ का अनुसरण करती हुई स्वयं भी हीनभाव, दास्यभाव से व्रजधाम में निरन्तर आश्रयण कर रही है। यहां शंका की जा सकती है कि संभवतः वैकुण्ठेश्वरी इन्दिरा विशेषतः महामहिम व्रजधाम की शोभा निरखने हेतु ही व्रज में आश्रयण कर रही हैं। यह शंका सर्वथा निराधार है क्योंकि वैकुण्ठधाम का ऐश्वर्य अद्वितीय है; साथ ही साथ, किसी भी अपूर्व शोभा के निरीक्षण हेतु निरन्तर आश्रयण सर्वथा अवांछनीय है। **'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'** जैसी उक्ति से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वैकुण्ठेश्वरी इन्दिरा निरन्तर व्रजधाम में हीनभाव, दास्यभाव से ही आश्रयण कर रही हैं। यह भी कहा जा सकता है कि वैकुण्ठनाथ श्रीमन्नारायण विष्णु ही व्रजधाम में अवतरित हुए हैं अतः पति-परायणा, भगवती, वैकुण्ठेश्वरी इन्दिरा भी अपने प्राणनाथ का अनुगमन करती हुई व्रजधाम की श्रीवृद्धि हेतु ही व्रज का निरन्तर आश्रयण कर रही हैं। परन्तु **'श्रयते'** पद, आत्मने पद का प्रयोग **'स्वात्म सौभाग्यातिशयं सूचयति'** अपनेही सौभाग्यातिशय का ही सूचक है यतः आश्रयण क्रिया का फल स्वात्मगामी है। अस्तु, वैकुण्ठेश्वरी भगवती इन्दिरा का व्रजधाम में सतत आश्रयण व्रजधाम की श्रीवृद्धि का हेतु न होकर सौभाग्यातिशय के आविर्भाव हेतु ही है। गीत के आरम्भ में प्रयुक्त 'जयति' पद प्रयोग की भी सार्थकता इसी अर्थ में सम्भव है।

जिस व्रजधाम में प्रवेश करने मात्र से ही **'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति'** प्राणी मात्र सच्चिदानन्दघनत्व को प्राप्त हो जाता है वह व्रजधाम स्वयं आनन्दघनस्वरूप है इसमें किसी प्रकार की भी विप्रतिपत्ति संभव नहीं। व्रजधाम का महत्त्वातिशय स्वभावतः सिद्ध है अतः इस उत्कर्ष-वृद्धि से व्रज का महत्त्व नहीं बढ़ता अपितु उन गुणगणों का गुणत्व ही प्रत्यक्ष हो उठता है। अस्तु, जैसे निरतिशय बृहत् स्वरूप ब्रह्म भी जीवानुग्रहार्थ षड्भग एवं षड्भगोपलक्षित अनन्तानन्त कल्याण-गुण-गणों को अंगीकार कर लेते हैं, वैसे ही, स्वभावतः आनन्दघनस्वरूप व्रज-धाम भी भक्तानुग्रहार्थ ही उत्कर्षरूप गुण को प्राप्त होरहा है। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतींगना।'** (विष्णुपुराण ६।५।७४) अर्थात् जिनमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री एवं ऐश्वर्य ये छहों गुण सम्पूर्णतः विद्यमान हों वे ही भगवान् हैं। संपूर्ण गुणगणों का प्रयोजन स्वाश्रय में आनन्दातिशय एवं महत्त्वातिशय का आधान तथा सर्व-प्रकार के अनर्थ का निवर्हण ही है। भगवान् निरतिशय ब्रह्मस्वरूप हैं **'निरतिशयं बृहत् ब्रह्म'** अनन्त-पद-समभिव्याहृत, अनन्त ब्रह्म हैं अतः गुण-गणों द्वारा उनमें महत्त्वातिशय एवं आनन्दातिशय का आधान अथवा अनर्थ का निवर्हण होगा यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देव-शिरोमणियों को प्राप्त आनन्द भी इस अनन्त-आनन्द-सिन्धु का बिन्दु-मात्र है; इस बिन्दु का उद्गम स्थान अचिन्त्य, अनन्त, ब्रह्मानन्द-सुधा-सिन्धु, परमानन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं, **'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।'** अर्थात्, मैं निर्गुण निरपेक्ष हूँ; गुण-गण अपनी गुणत्व-सिद्धि हेतु ही मुझे भजते रहते हैं। इसी तरह **'भूषणानां-भूषणानि अङ्गानि यस्य सः'**। भगवान् के मंगलमय श्रीअंग ही भूषणों के भी भूषणस्वरूप हैं तथापि स्वानुग्रहवशात् तत्-तत् अलंकारों की अलंकारिता-सिद्ध्यर्थ ही भगवान् उनको अंगीकार कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, कौस्तुभ मणि द्वारा दीर्घकाल तक तप किये जाने पर भगवान् ने उस पर अनुग्रह कर उसको अपने कण्ठ में धारण कर लिया। 'उत्तर-मीमांसा' का सिद्धान्त है कि उपासक भगवान् के जिस-जिस विशिष्ट गुण-गण संयुक्त स्वरूप की उपासना करता है तत्-तत् गुण-गण को ही फलस्वरूप प्राप्त भी करता है। एतावता भक्तों के अनुग्रहार्थ ही भगवान् तत्-तत् गुण-गण एवं अलंकारों को धारण कर लेते हैं। इसी तरह, स्वभावतः महत्त्वातिशय को प्राप्त व्रजधाम भी भक्तानुग्रहार्थ ही उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है; इस उत्कर्ष से ही भक्तों को माधुर्यानुभव होता है यद्यपि अप्रकट प्रकाश में भी भगवान् का व्रज में व्रजस्थ शक्तियों के साथ नित्य-विहार होता है।

जो उपासक व्रजधाम के इस उत्कर्ष का अधिकाधिक ध्यान, मनन एवं चिन्तन करेंगे उनके सम्पूर्ण दोषों का निबर्हण होगा तथा उनमें दिव्यातिदिव्य गुणों का आधान होगा; साथ ही उनको अधिकाधिक भगवदनुग्रह एवं भगवत्-सान्निध्य प्राप्त हो सकेगा। वैकुण्ठाधीश्वरी, भगवती इन्दिरा के व्रजधाम में शश्वद् आश्रयण के कारण कैमुतिकन्यायतः समस्त गुणों के अधिष्ठातृ देवताओं का भी तत्तद्गुणों के साथ व्रज का सेवन सिद्ध हो जाता है। **'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ॥'** (श्रीमद् भा० ५।१८।१२) जहाँ यत्किंचित् मात्रा में भी भक्ति विद्यमान है वहीं सम्पूर्ण गुणों के साथ देवगण विराजते हैं। अस्तु, भक्त-समूहास्पद व्रज में तत्रापि भगवदाविर्भाव के कारण व्रज-धाम की महिमा स्वतः ही सर्वाधिक एवं अवर्णनीय है। व्रज-वनिताएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर ! दिए तले ही अंधेरा है। भक्तानुग्रहार्थ ही व्रजधाम उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है; भगवत्-दर्शनाकांक्षा से ही व्रजधाम का आश्रयण होता है। व्रजस्थ श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन ही सर्वातिशयी महत्त्वपूर्ण है।' व्रजवासी कहते हैं, **'विपिन राज सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहार'** 'देवाधिदेव इन्द्र, वरुणादिक भी आपके दर्शन हेतु व्रजधाम में ही पधारते हैं फिर भी हम व्रजवासिनी, परमानुरागिणी, परम प्रेयसी व्रजाङ्गनाएँ आपके दर्शन से भी वंचित हैं ! हे श्यामसुन्दर ! क्या यह न्यायोचित है ?'

सिद्धान्त है कि गंगा-जल साक्षात् ब्रह्मद्रव है एतावता गंगा-जल में ज्ञान-वैराग्य-उत्पादन की क्षमता है। इसी तरह यमुना-जल साक्षात् अनुराग-द्रव, प्रेम-द्रव है; प्रेम ही द्रवीभूत हो यमुना-जल रूपमें प्रवहमान हो रहा है एतावता यमुना-जल एवं व्रज-रज में प्रेम-संवरण की अद्भुत क्षमता मान्य है। यमुना-जलावगाहन से देह का प्राकृतत्व बाधित हो जाता है साथ ही अलौकिकता, रसात्मकता एवं भगवत्-स्वरूप-प्राप्त्यर्थ-योग्यता आविर्भूत होती है। प्रसिद्ध है कि अन्यान्य तीर्थ-स्थलों में जन्म-जन्मान्तर तपस्या करने पर भी भगवद्-भक्ति दुर्लभ ही रहती है परन्तु मथुरा-पुरी में एक रात्रि पर्यन्त निवास मात्र से ही हृदय में भक्ति का बीज जम जाता है जो समय पाकर वृद्धिगत होकर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो जाता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि 'श्यामसुन्दर ! व्रजधाम के संसर्ग, आवास मात्र से ही भगवद्-दर्शन एवं प्राप्ति सुलभ हो जाती है तदापि हम अनुरागिणी एवं प्रेयसी व्रज-वनिताएँ आपके दर्शन से भी वंचित हैं, हे मदनमोहन ! क्या यह दीपक तले अंधेरा नहीं है ? क्या यह सर्वथा अनुचित नहीं है ?'

'जयति ते अधिक' जैसी उक्ति का यह तात्पर्य भी हो सकता है कि

व्रजस्थ-प्राणी की जय सदा-सर्वदा ही होती है, तथापि अब आपके आविर्भाव के कारण व्रजधाम-निवासी विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि :

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥

(महाभारत, अनुशासन पर्व, १४९।१३१)

अर्थात्, वासुदेव के भक्तों का अशुभ कदापि नहीं होता; उनमें जन्म, जरा, व्याधि, भय एवं मृत्यु आदि दोष कदापि संभव नहीं होते ।

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥ (म० भ० १३।१४९।३३)

अर्थात्, भगवान् पुरुषोत्तम के भक्तों में क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि दोष अथवा अन्य किसी प्रकार का कोई भी अशुभ कदापि नहीं आ सकता ।

लाभस्तेषां, जयस्तेषां, कुतस्तेषां पराजयः ।
येषां इन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥

(गरुड़पुराण १।२२२।१३)

अर्थात्, जिनके हृदय में इन्दीवर श्यामसुन्दर विराजमान हैं उनकी सदा जय होती है; वे सदा ही लाभान्वित होते हैं; उनका पराभव कदापि संभव नहीं । व्रजवासी स्वभावतः ही भक्त हैं, इन्दीवर श्यामसुन्दर उनके व्रजस्थ, हृदयस्थ हैं अतः उनकी पराजय, उनका पराभव कभी संभव नहीं ।

'व्रजः सदा जयत्येव तव जन्मना तु अधिकं यथास्यात्तथा जयति' स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त व्रजधाम आपके आविर्भाव के कारण वैकुण्ठधाम से भी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है । वैकुण्ठधाम में प्रभु की अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोत्पादकता, सर्वेश्वरता, सर्वशक्तिमत्ता एवं परमेश्वरता का ही प्राकट्य है अतः वहाँ ऐश्वर्य संकुचित हृदय में भगवान् के प्रति ममत्व की पूर्णाभिव्यक्ति हो ही नहीं पाती । व्रजधाम में भगवान् की माधुर्य-शक्ति का ही अधिकाधिक प्रस्फुरण हुआ है; माधुर्यपूर्ण-स्वरूप में ही अनुराग सम्भव है क्योंकि प्रेमोत्कर्ष में कुछ धृष्टता आ ही जाती है । अतिशय अनुराग के कारण संकोच एवं भय का पूर्णतः तिरोधान तथा ममत्वपूर्ण अभिन्नता का प्रस्फुरण हो जाता है ।

कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली में भगवान् श्रीकृष्ण के विराट्-स्वरूप को देखकर उनका प्रिय सखा अर्जुन भी भयभीत हो क्षमा-याचना करने लगता है ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं, हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ११।४१)

अर्थात्, हे भगवन् ! हे प्रभो ! आपके इस महत् रूप को न जानकर मैंने

आपको अपना सखा समझते हुए स्नेहाधिक्यवशात् 'हे कृष्ण', 'हे सखा', 'हे यादव' आदि असत्कारसूचक सम्बोधनों से सम्बोधित किया; 'मैं अपराधी हूँ, क्षम्य हूँ !'

व्रजधाम में भगवान् श्रीकृष्ण का बाल-सहचर, श्रीदामा तो मात्र इतना ही अनुभव करता है कि कृष्ण हमारा सखा है, वह भी गोपाल है गाय चराता है, हम भी गोपाल हैं गाय चराते हैं, हम दोनों मिलकर खेल खेलें; मैं हार गया, मैं घोड़ा बना; वह हार गया, वह घोड़ा बने। 'श्रीमद्भागवत' में स्पष्ट उल्लेख है—'**उवाह कृष्णो: भगवान् श्रीदामानं पराजित:**' (१०।१८।२४) पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को कन्धे पर बिठाया। श्रीदामा के अनुरागमय हृदय में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यपूर्ण-स्वरूप की कल्पना भी नहीं उठती; श्रीदामा भगवान् श्रीकृष्ण के केवल माधुर्यपूर्ण-सख्य का ही अनुभव कर पाता है। भगवान् की ऐश्वर्य-शक्ति के विकसित होने पर यह माधुर्य-पूर्ण-लीला संकुचित हो असम्भव हो जाती।

गोलोक-धाम एवं वैकुण्ठधाम में भगवान् की सर्वेश्वरता प्रत्यक्ष प्रख्यात रहती है। इन धामों में अनन्त-ब्रह्माण्ड की महाधिष्ठात्री ऐश्वर्य-शक्ति स्वयं ही पूर्णत: व्यक्त रहती है; ब्रह्म-रुद्र इन्द्रादि देवगण भी करबद्ध हो श्रीमन्नारायण का सतत संस्तवन करते रहते हैं। साकेतधाम, द्वारकाधाम एवं मथुराधाम में ऐश्वर्य-शक्ति के साथ ही साथ माधुर्य-शक्ति का भी सम्मिश्रण होता है। यही कारण है कि इन धामों में भगवान् के शंख, चक्र, गदा एवं पद्मधारी चतुर्भुज स्वरूप का ही दर्शन होता है और समय-समय पर अनेक अलौकिक ऐश्वर्यपूर्ण कार्यों का भी अनुभव होता है। व्रजधाम में ऐश्वर्यभाव का सर्वथा तिरोधान हो जाता है अत: व्रजधाम में ही माधुर्य-भाव की पूर्णाभिव्यक्ति संभव होती है। भक्ति-मार्गानुयायी के लिए सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु का माधुर्य-पूर्ण स्वरूप ही सर्वातिशायी है।

सनातन गोस्वामी ने एक अत्यंत सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ श्लोकात्मक छन्दोबद्ध है। इस ग्रन्थ में एक गोपालसखा की कथा है। भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का गोपाल नामक एक सखा था। निस्संकोच निर्भर अनुराग का, शुद्ध स्नेह का प्रादुर्भाव कहाँ सम्भव है यह जानने के लिए उत्सुकता-वशात् सखा गोपाल वैकुण्ठधाम, गोलोकधाम आदि लोक-लोकान्तरों में गया। वैकुण्ठधाम में वैकुण्ठनाथ भगवान् का अनन्त ऐश्वर्य, महामहिम वैभव, अतुलित प्रताप अनन्त यश छाया हुआ था; रुद्र-ब्रह्मादि देवगण तथा सनकादिक-शुकादिक महर्षिगण उनका संस्तवन कर रहे थे; अनन्त ब्रह्माण्ड की अनन्य-अधि-

ष्ठात्री, भगवती, महालक्ष्मी भी श्रीमन्नारायण की आराधना में निरन्तर संलग्न थी; जय-विजय, नन्द-सुनन्द आदि पार्षद भी सावधान होकर भगवान् की सेवा में संलग्न थे। इस अतुलित ऐश्वर्य से चकित हो सखा गोपाल ने वहाँ के अन्तरंग व्यक्तियों के सम्मुख अपनी जिज्ञासा रखी। वे सब भगवान् श्रीमन्नारायण की अनन्त महिमा एवं अनन्त ऐश्वर्य की स्तुति करते हुए भी प्रेमोत्कर्ष के प्रसंग में व्रजधाम की ही प्रशंसा करने लगते। वे लोग अपने ऐश्वर्याभिभूत हृदयों के कारण वैकुण्ठधाम अथवा गोलोकवासी भगवत् चरणारविन्दों के संस्पर्श की भी कल्पना नहीं कर सकते थे। उद्धरण है—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिम् हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठः॥

(श्रीमद्भा० ३।२।२१)

अर्थात्, अतिशयता एवं समता से रहित भगवान् असाम्यातिशय हैं; स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तथा आधि-भौतिक, आधि-दैविक एवं आध्यात्मिक तीनों जगत् के ईश्वर हैं, अधीश्वर हैं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर, आप्तकाम, पूर्णकाम हैं, '**स्वेनैव राजते इति स्वराट् आत्मा, तस्य भावो याथात्म्यं स्वाराज्यं स्वाराज्यमेव लक्ष्मीः स्वाराज्यलक्ष्मीस्तया आप्तसमस्तकामः।**' अर्थात्, स्वाराज्यरूपी लक्ष्मी अर्थात्, स्वस्वरूप से देदीप्यमान एवं स्वस्वरूप से अवेद्य जो अपरोक्ष स्व-प्रकाश भगवत्-सत्ता है वह स्वाराज्य है; उस स्वाराज्य रूपी लक्ष्मी के कारण जो आप्तकाम समस्तकाम है। प्रस्तुत प्रसंगानुसार केवल मात्र '**किरीट कोट्या**' अंश की ही व्याख्या वांछित है। नियमानुसार आचार्यगण के पाद-पीठ की ही पूजा होती है। अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक परमात्मा, सर्व-शक्तिमान् प्रभु के चरणारविन्द रत्न-मय पाद-पीठ पर विराजमान हैं। भगवान् के चरणाम्बुरूह अतिशय कोमल हैं तथा देवगणों के मुकुट-किरीट अत्यन्त कठोर हैं एतावता विशेष सतर्कता-सावधानी के साथ नियमबद्ध होकर मुकुट-किरीट के अग्रभाग से ही पाद-पीठ मात्र का संस्पर्श करते हुए नमस्कार करना पड़ता है; '**किरीटकोट्येडितपादपीठः**' नमस्कार करते हुए असंख्य मुकुट-किरीट के अग्रभागों द्वारा रत्न-जटित पाद-पीठ के संस्पर्श से जो शब्द होता है वही मानो भगवत्-संस्तवन है। अस्तु, जो रस गोलोकधाम अथवा वैकुण्ठधाम में सर्वथा अप्राप्य है वह व्रजधाम में सहज प्राप्त है। अवधधाम में भी भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र वृक्ष के नीचे और उनके भक्त बन्दर लोग वृक्ष के ऊपर बैठे हुए हैं। अपने उत्कर्ष एवं भक्तजनों के अपकर्ष को सर्वथा विस्मृत कर उनसे तादात्म्य-भाव स्थापित कर

लेना ही अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर प्रभु के सौशील्य की महिमा है। तादात्म्य-भाव स्थापित होने पर ही प्रेम-निर्भरता का भाव उमड़ने लगता है।

पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर ॥

(श्री वाल्मीकि रामायण ६।१८।२३)

अर्थात्, इच्छा मात्र से ही अंगुल्या-निर्देश के द्वारा ही अखण्ड-भूमण्डल के सम्पूर्ण दैत्य-दानवादि का संहार करने में समर्थ हैं तथापि स्वसौशील्यवशात् कह भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र हनुमान् के प्रति कहते हैं : और

'सुन सुत तोहिं उऋण में नाहीं, देख्यो कर विचारि मनमाही।'

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्-दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥

(श्री वाल्मीकि रामायण ७।४०।२३)

अर्थात्, हे कपे! तुम्हारे किये गये प्रत्येक उपकार के बदले मैं अपने प्राणों को भी दे दूँ तो भी तुम्हारे ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता। इस उक्ति से विशुद्ध स्नेहाभिव्यक्ति अपनी चरम-सीमा को पहुँच जाती है। राघवेन्द्र रामचन्द्र अथवा मथुरानाथ, द्वारकानाथ आदि स्वरूप ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों ही भावों से संयुक्त हैं परन्तु व्रजेन्द्रनन्दन, नित्य निकुञ्जमन्दिराधीश्वर, श्यामसुन्दर, श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूप में विशुद्ध रूप से माधुर्यभाव का ही प्रस्फुटन हुआ है। विशुद्ध माधुर्यपूर्ण भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य ही व्रजधाम की विशेषता है; इस विशेषता के कारण ही व्रजधाम विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

भगवान् अज हैं, उत्पत्ति स्थिति एवं लय से परे हैं तथापि अपनी मंगलमयी लीला-शक्ति से अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। वेद-वाक्य है, **'अजायमानो बहुधा विजायते'** जो वस्तुतः अजायमान है जो कदापि उत्पद्यमान नहीं है वह भी **'सम्भवाम्यात्ममायया'** अघटित घटना-पटीयसी मंगलमयी शक्ति द्वारा बहुधा वराह, वामन, राम एवं कृष्ण आदि अनेक स्वरूपों में प्रकट होते हैं। अज, अव्यक्त, अनन्त, सच्चिदानन्दघन भगवान् का अपनी अघटित घटना-पटीयसी, भास्वती शक्ति द्वारा प्राकट्य ही उनका दिव्य जन्म है। अनादि-काल से प्राणी अपने ही जन्म-कर्म का वर्णन, श्रवण एवं चिन्तन करता आ रहा है, लौकिक-कर्मों का अधिकाधिक चिन्तन अधिकाधिक कर्म-बन्धन एवं तज्जनित जन्म-मरण-शृंखला का कारण बन जाता है किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म एवं

कर्म के अधिकाधिक श्रवण, मनन तथा चिन्तन से सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों का समूल उन्मूलन हो जाता है—वह मुक्तिप्रद होता है। श्रीमद् भगवद्गीता-वाक्य है :—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४।९)

अर्थात् हे अर्जुन! जो मेरे दिव्य जन्म एवं कर्मों का श्रवण, मनन एवं चिन्तन करते हैं वे लौकिक कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाते हैं। एतावता परात्पर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र के व्रजधाम में आविर्भाव के कारण सम्पूर्ण संसार का मंगल हो रहा है; संसार के मंगल का हेतु बनकर व्रजधाम विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म मथुरा में ही हुआ था तथापि उनका लालन-पालन व्रज में, व्रजेन्द्र नन्दराय एवं यशोदारानी के मंगलमय अंक में हुआ अतः व्रजधाम का ही उत्कर्ष विशेष बढ़ा। भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरास्थ-आविर्भाव के कारण भी व्रजधाम का ही उत्कर्ष बढ़ा। '**व्रजो जयति सदैव किन्तु तव जन्मना अधिकं जयति**' स्वभावतः सर्वातिशयी उत्कर्ष को प्राप्त व्रजधाम भी भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव के कारण विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

'**श्रयते इन्दिरा शश्वदत्र हि।**' पद का एक अन्वय '**यया इन्दिरा अति श्रयते**' भी हो सकता है और '**जयति ते अधिकं जन्मना व्रजः**' पंक्ति में प्रयुक्त '**अधिक**' शब्द संयुक्त कर '**अत्र शश्वद् अधिकं श्रयते**' भी सम्भव है। अनन्त ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री वैकुण्ठेश्वरी भगवती इन्दिरा व्रजधाम में अधिकाधिक रह रही हैं। वैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीमन्नारायण विष्णु व्रजधाम में श्रीकृष्णस्वरूप में अवतरित हुए हैं अतः पतिपरायणा, सती साध्वी, वैकुण्ठेश्वरी भगवती इन्दिरा भी अपने पति का अनुसरण करती हुई व्रजधाम में ही निरन्तर अधिकाधिक आश्रयण करती हैं एतावता व्रजधाम का ऐश्वर्य प्रतिक्षण संवर्द्धमान है। गोधन, सर्वातिशायी उत्कृष्ट धन है; '**गोमये वसते लक्ष्मीः।**' मान्य है कि गोबर में लक्ष्मी का वास है। गोबर ही खाद बनता है; उत्तम खाद से उत्तम खेती होती है; अन्न-धन से ही देश समृद्ध होता है। भागवत-वाक्य है, '**तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्**' (भाग० १०।५।१८) भगवान् श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव-काल से ही व्रजधाम की समृद्धि अनन्त प्रकार के धन-धान्य एवं विविध प्रकार के ऐश्वर्य '**अनपेक्षमाणापि**' व्रजवासियों द्वारा अनपेक्षित होते हुए भी स्वभावतः सतत संवर्द्धमान होते रहें। भगवती लक्ष्मी स्वभावतः ही उदासीन का वरण करती हैं। समुद्र-मन्थन के प्रसंग से महालक्ष्मी का आविर्भाव हुआ। लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये सभी उत्सुक

हो उठे। अन्ततोगत्वा यह निश्चय किया गया कि लक्ष्मी स्वयं ही जिसका वरण कर ले वही उनको प्राप्त कर सकता है। अपने सुकोमल हस्तारविन्दों में अरविन्दमाला लिये हुए भगवती लक्ष्मी उपस्थित देव-समुदाय पर दृष्टि घुमाती हुई विचार करने लगीं—कोई ऐश्वर्यादि युक्त होते हुए भी कामादि दोषाक्रान्त है; कोई अचिन्त्य, अनन्त कल्याण गुण-गण-संयुक्त तथा सर्वनिरपेक्ष स्वयं शिव होते हुए भी अमंगल वेषधारी है, कोई परम सुमंगल होते हुए भी अत्यन्त निरपेक्ष है, **'सुमङ्गलः कश्चन काङ्क्षते हि माम्'** (श्री० भा० ८।८।२२) वह मेरी आकांक्षा ही नहीं करता। श्रीमन्नारायण ही पूर्णतम, पुरुषोत्तम, आप्त-काम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, सर्वगुण-सम्पन्न, सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न, परम सुमंगल हैं तथापि सर्व-निरपेक्ष भी हैं। भगवती महालक्ष्मी ने अपनी वरमाला उन्हींके गले में डाल दी। भगवान् श्रीमन्नारायण ने भी उनको अत्यन्त स्नेह व सम्मान के साथ अपने वक्षःस्थल में निःसपत्न स्थान दिया। भगवान् विष्णु की वामावर्त सुवर्ण-वर्णा रोमराजि भगवती लक्ष्मी की ही स्वरूपभूता है। **'हारहास-उरसि स्थिर विद्युत्'** हार-हास विद्युत् उपमावाली महालक्ष्मी सदा ही श्रीमन्नारायण के वक्षःस्थल पर विराजमान रहती हैं। तात्पर्य है कि सदा सर्वदा श्रीमन्नारायण के वक्षःस्थल पर रहनेवाली, वैकुण्ठधाम की एका-स्वामिनी, अनन्तानन्त ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री, महालक्ष्मी स्वयं ही विनय-विनम्रा हो व्रजधाम में अधिकाधिक श्रयण कर रही हैं। एतावता स्वभावतः ही व्रजधाम अनन्त धन-धान्य से तथा व्रजवासी-जन अनन्तानन्त शक्तियों से परिपूर्ण हो रहे हैं अतः व्रजधाम विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है, व्रजधाम का प्रत्येक प्राणी परम पुरुषार्थ को प्राप्त हो रहा है, जंगल में भी मंगल हो रहा है। **'सर्वेषामेव मङ्गलं जातं परम् दैवहतानां अस्माकमेव महद्दुःखमेतद्'** तब भी दैवहत हम व्रजाङ्गनाएँ आपकी परम अनुरागिणी एवं परम प्रेयसी होते हुए भी परम दुःखिनी हैं। तत्रापि, अधिक दुःख की बात यह है कि आप सर्वज्ञ, शिरोमणि एवं परम दयालु होते हुए भी हमारे दुःख का निवारण नहीं करते। दयालु भी जिसके प्रति कठोर हो जाय, सर्वज्ञ भी जिसके लिये ज्ञानहीन हो जाय उसके दुर्भाग्य के पारावार को कौन जान सकता है? हे दयित! **'दृश्यताम् प्रत्यक्षीभूय'** आप प्रत्यक्ष होकर हमारे इस दुःख को देखें। ऐसा न हो कि आपके विप्रयोगजन्य तीव्र सन्ताप से सन्तप्त हो हम आपके मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्ण की विरहजन्य वेदना से अत्यन्त संतप्ता होती हुई भी गोपाङ्गनाएँ उनसे अपने दुःखनिवारण हेतु नहीं अपितु केवल प्रत्यक्षीभूत होने के लिए ही प्रार्थना करती हैं क्योंकि भगवान् परदुःखकातर हैं;

अतः एक बार प्रत्यक्ष होकर गोपाङ्गनाओं के असीम दुःख का अनुभव कर लेने पर वे अवश्य ही स्वभावतः उसका निवारण कर देंगे।

'तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते' हे श्यामसुन्दर! हम आपकी सखियाँ आपके दर्शन से वंचित होकर आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से सन्तप्त हो रही हैं। हे मदन-मोहन! आविर्भूत होकर हमारे कष्ट का अनुभव तो करो। सहसा ही, गोपाङ्गनाएँ अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उनसे प्रश्न कर रहे हैं कि 'हे गोपाङ्गनाओ! केवल मात्र तुमसे ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व से ही हमारा सख्य है।' वेद-वाक्य हैं,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात्, एक वृक्ष पर शोभन पंखयुक्त दो पक्षी, हंस निवास करते हैं। इन दोनों में साजात्य एवं सख्य सम्बन्ध भी है। तात्पर्य कि इस शरीररूपी एक ही वृक्ष पर जीवात्मा एवं परमात्मारूपी दो हंस निवास कर रहे हैं। दोनों में परस्पर सख्य एवं साजात्य तथा तादात्म्यभाव है—परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पालक सखा और जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् पोषित सखा है। दोनों ही सर्वदा संग रहते हैं तथापि परमात्मा-सखा पुष्कर-पत्र-इव सदा असंग हो रहता है। **'असंगोनहि सज्यते'** (बृ० उ० ३।९।२६) परमात्मा असंग है, पुष्कर-पत्रवत् निर्लेप है। शंकराचार्य कहते हैं, **'उदासीनः स्तब्धः सत तमगुणः संगरहितः। भवांस्तातः कातः परमिहभवेज्जीवनगतिः॥'** अर्थात्, हे प्रभो! आप अनन्त ब्रह्माण्ड-नायक हैं। आप ही हमारे पिता हैं तथापि आप सर्वदा निःसंग, उदासीन, स्तब्ध, निर्गुण, निर्विकार हैं। हे तात! इस स्थिति में पुत्रों की गति अवश्य ही अत्यन्त शोचनीय होगी। हे तात! आप हममें प्रेम न करें तथापि हमारे हृदय में जो आपका निवास-स्थान है सदा ही विराजमान रहे। आपके विराजमान रहने से भी हमारा परम कल्याण हो जायगा। जिस हृदय में सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परमात्मा प्रकट हो जाते हैं उसके सम्पूर्ण दुःख-दारिद्र्य का स्वभावतः ही समूल उन्मूलन हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

"मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आई बहु चोरा।"

अर्थात्, हे प्रभु! हमारा हृदय यद्यपि वस्तुतः आपका ही निवास-स्थान है तथापि वहाँ बहुत से चोर घुस आए हैं।

"नहिं माने विनय निहोरा, नाथ करहिं बरजोरा।
कहैं तुलसीदास सुनु रामा, लूटहिं तस्कर तव धामा॥"

हे नाथ ! तस्कर हमारे अनुनय-विनय को नहीं सुनते; हे राम ! वे तुम्हारे ही भवन को लूटे ले रहे हैं।

"चिन्ता मोहि यह अपारा, अपजस नहिं होय तुम्हारा।"

हे नाथ ! हम तो दुःखी हैं ही; हमें एक चिन्ता सर्वाधिक सता रही है; हमारी एकमात्र चिन्ता है कि कहीं तुम्हारा अपयश न हो।

जीवात्मा के प्रति परमात्मा की असंगता का तात्पर्य यह है कि अनात्मा किंवा जड़ जगत् किंवा प्रकृति और प्राकृत-प्रपञ्च एवं प्रकृति-प्राकृत-विकार से परमात्मा असंश्लिष्ट है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा का असाधारण सम्बन्ध है। अद्वैतवाद के अनुसार **'युज्यतेऽनेनेतियुक् सम्बन्धः समानः अविशेषः युक् तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो ययोस्तौ।'** जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का तादात्म्य संबंध है। जैसे समुद्र एवं तरंग का अथवा कटक-मकुट या कुण्डल एवं सुवर्ण का अथवा महाकाश एवं घटाकाश का तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे ही परमात्मा एवं जीवात्मा का भी तादात्म्य, अविच्छेद्य, अभेद सम्बन्ध है। तुलसीदास कहते हैं, 'कहियत भिन्न न भिन्न' अथवा **'सो तैं तोहि ताहि नहि भेदा। वारि बीचि जिमि गावहिं वेदा।'** शंकराचार्य कहते हैं,

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"

अर्थात्, हे नाथ, यथार्थतः आपमें और हममें कोई भेद है ही नहीं तथापि समुद्र की तरंग की तरह हम भी आपके हैं। परमात्मा एवं जीवात्मा के इस तादात्म्य एवं अभिन्न सम्बन्ध के रहते हुए भी उनमें प्राधान्याप्राधान्य भाव-विवक्षा है। जैसे समुद्र एवं तरंग में तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए समुद्र प्रधान है और तरंग गौण है **'क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।'** जैसे समुद्र की ही तरंग होती है, तरंग का समुद्र कदापि नहीं होता, वैसे ही परमात्मा प्रधान और जीवात्मा गौण है। गौण होते हुए भी जीवात्मा स्वभावतः ही परमात्मा का तरंगवत् अभेद्य, अभिन्न अंश है तथापि जन्मजन्मान्तर के संस्कारवशात् प्राणी अपने को कर्ता एवं भोक्ता मानने लगता है, फलतः वह अपने आनन्दमय शुद्ध स्वरूप से विमुख हो अनेकानेक कर्मफलों से बाधित हो जाता है। इस विपरीत दिशा में प्रवाहित भाव-धारा को पुनः मूलोन्मुखी बना लेना ही भगवत्-प्रपत्ति, भगवत्-शरणागति है। प्रपत्ति अर्थात् पूर्णतः प्रतिष्ठा-प्राप्ति। जीवात्मा के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार से युक्त स्वत्व को निर्विकार, विशुद्ध, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परमात्मा में पूर्णतः प्रस्थापित कर देना, समर्पित कर देना ही भगवत्-प्रपन्नता है।

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।।"
(वाल्मी० रामा० ६।१८।३३)

अर्थात्, स्वभावतः ही जीवमात्र परमात्मा का परमांतरंग, परम घनिष्ठ है तथापि भगवत्-प्रपत्ति, भगवत्-शरणागति अनिवार्यतः अपेक्षित है। मधुसूदन सरस्वती ने शरणागति के तीन प्रकार कहे हैं **'तस्यैवाहं ममैवासौ, सोऽहम् इत्येव।'** अर्थात् मैं उसका हूँ, वह मेरा है अथवा मैं ही वह हूँ ये तीनों ही भाव भगवत्-प्रपत्ति, भगवत्-शरणागति के अन्तर्गत आते हैं। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, **'मैं सेवक रघुपति पति मोरे, अस अभिमान जाहि जनि भोरे।'** इन्हीं भावों से प्रेरित गोपाङ्गनाएँ भी भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा को कभी मेरे प्राण-वल्लभ, मेरे प्राणनाथ, मेरे प्रियतम आदि सम्बोधनों से पुकारती हैं तो कभी अपने को ही उनकी प्रेयसी, प्रियतमा, सखी आदि कहने लगती हैं। 'गीत-गोविन्द' में वर्णन है **'मधुरिपुरहमिति भावन शीला'** भाव-विभोर राधारानी कह उठती है, 'देखो सखी, मैं ही तो कृष्ण हूँ।' भृंगी-कीटन्यायतः ऐसे कथन सर्वतः तथ्य ही हैं। जैसे भृंगी कीट का ध्यान करते-करते कीट ही हो जाती है वैसे ही राधारानी भी श्रीकृष्णचन्द्र का निरन्तर चिन्तन करते-करते श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप ही हो जाती हैं, उनसे अभिन्न एवं तादात्म्य भाव को प्राप्त हो जाती हैं। गोस्वामीजी कहते हैं,

"आनन्द सिन्धु मध्य तव बासा, बिनु जाने कत भरत पियासा।"

अथवा

"बरफ पूतरी सिन्धु बिच, बदति पियास पियास।"

जैसे बरफ की पुत्तलिका, स्वयं ही उसी जल से निर्मित होते हुए भी पानी में निरन्तर निवास करते हुए भी अज्ञानवशात् प्यास से व्याकुल रहती है वैसे ही आनन्द-सिन्धु परमात्मा से अभिन्न, अभेद्य एवं तादात्म्य होते हुए भी अज्ञ जीवात्मा परमात्मा से वियोग का अनुभव करते हुए दुःखी रहता है। परमात्मा में अपने सर्वस्व का पूर्ण रूप से अर्पण कर देने पर कोई भिन्न सत्ता ही नहीं रह जाती। अतः सहज ही चिन्ता का आधार एवं विषय दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। यह उत्कृष्टाति-उत्कृष्ट भावना सर्वकल्याणकारिणी है। ऐसी सर्वोत्कृष्ट भावनाएँ सहसा ही नहीं बन जातीं अतः सर्वप्रथम बौद्धिक प्रयास द्वारा चिन्तन एवं मनन अनिवार्य है। निरन्तर विचार करते रहो कि हे प्रभो! हम आपके हैं, हमारा-आपका कोई नाता जुड़ जाय। **'मोहि तोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।'** अथवा **'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।'** (श्री० भ० गी० ९।१८) अर्थात्, प्रभु ही गति, भर्ता, स्वामी, सुहृद्, साक्षी एवं आधार हैं। जीवात्मा और परमात्मा में विविध सम्बन्ध हैं। सूरदास कहते हैं,

"जीव हौं तू ब्रह्म; दीन हौं तू दयालू।
तू दानी हौं भिखारी, हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारो।"

जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच अनेकानेक सम्बन्धों में जो कोई भी मान्य हों अन्ततोगत्वा सबका लक्ष्य **'तवाऽस्मि'** की सुदृढ़ अनुभूति ही है। नागोजी भट्ट कहते हैं **'अभयं सर्वभूतेभ्यः तात्कालिकं च आत्यन्तिकं च।'** अर्थात्, एक बार भगवत्-शरणागति, भगवत्-प्रपत्ति का भाव सुदृढ़ हो जाने पर भगवदीयत्वाभिमान जागरूक हो जाने पर सम्पूर्ण भयों से तात्कालिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जनन-मरणाविच्छेद-लक्षणा संसृति से निर्भीक हो जाना ही आत्यन्तिक निवृत्ति है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे दयित ! त्वदीयत्वाभिमान ही सर्वश्रेष्ठ, सर्व-कल्याणकारी एवं सर्व प्रकार के भयों से तात्कालिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र कारण है। तथापि हम आपकी परमानुरागिणी, परम प्रेयसी, त्वदीयत्वाभिमानिनी, 'तावकाः' व्रजवनिताएँ आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से सन्तप्त हो इतस्ततः भटक रही हैं। **'निषेव्य सरितां पत्युस्तटीं पक्षिगणश्चरन्। यत् पिबेत् सरसस्तोयं तद्धि लज्जा महोदधेः।'** अर्थात्, महोदधि के तीर पर रहनेवाले पक्षीगण को भी जल पीने के लिये किसी सरोवर के तीर पर ही जाना पड़ता है। अहो ! समुद्र के लिये यह कैसी लज्जा की बात है ? हे प्रभो ! हम व्रजाङ्गनाएँ भी आप अनन्त-ब्रह्माण्डनायक परात्पर, परब्रह्म, प्रभु की प्रेयसी सखियाँ होते हुए भी आपके मुखारविन्द के दर्शन से वंचित रहें, आपके पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका का दर्शन भी हमारे लिये अत्यन्त दुर्लभ हो जाय, आपके दामिनी-द्युति-विनिन्दक पीताम्बर का दर्शन भी सम्भव न हो, आपके सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधा-जल-निधि स्वरूप के रसास्वादन से वंचित रहें यह कहाँ तक न्यायोचित है ? हे दयित ! महोदधि के तीर पर रहने-वाले पक्षीगण की तरह ही हम भी दिशा-विदिशाओं में आप ही को खोजती हुई इस अन्धकारमयी रात्रि में गहनवनों में भटकती हुई गम्भीर विपज्जाल में फँस गयी हैं। हे प्रभो ! क्या यह आपके लिये अशोभनीय नहीं है ? **'विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतम्।'** विष-वृक्ष का आरोपण करने पर उसका भी छेदन कोई नहीं करता। हे सखे ! आपसे मिलन की हमारी इस आशा-कल्प-लता को तो स्वयं आप ही ने कात्यायनी-अर्चन के अनन्तर वरदान देकर सम्बलित किया। **'इमाः क्षपा मया रंस्यथ'** इन क्षपाओं में, इन दिव्य ब्रह्म रात्रियों में तुम्हें हमारा संगम प्राप्त होगा, तुम ब्रह्म-संस्पर्श को प्राप्त करोगी, तुम्हें ब्रह्म-तादात्म्यप्राप्ति होगी; तुम्हें ब्रह्म-रति, परमात्म-रति, आत्मरति

पूर्ण रूप से प्राप्त होगी। इस प्रकार से वरदान देकर आपने ही हमारे हृदय की आशा-कल्पलता का अभिसिंचन एवं अभिवर्द्धन किया परन्तु अब अपने दर्शनों से भी वंचित कर आप स्वयं ही उस कल्पलता का छेदन कर रहे हैं। क्या यह न्यायसंगत अथवा उचित है ? हे प्रभो ! केवल आपके दर्शन की लालसा से ही हम अपने प्राणों को भी धारण कर पा रही हैं।

गोपाङ्गनाजनों का सम्पूर्ण जीवन ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति तत्सुख-सुखित्व-भाव प्रधान है। अपने प्रियतम, प्राणधन, श्यामसुन्दर का सुख ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। उनके सम्पूर्ण असन, वसन एवं भूषण भी श्रीश्यामसुन्दर के ही मनोरंजनार्थ हैं। शेषावतार का भी यही सिद्धान्त है। भगवान् शेषी हैं, जीवमात्र शेष हैं; भगवान् सर्वांगी हैं, प्राणी-मात्र उनके अंग हैं, उपकरण हैं। भगवान् को शेषी और अपने-आपको शेष जानते हुए भगवत्-चरणों में पूर्ण समर्पित हो जाना ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'दिक्षु तावकाः त्वयि धृतासवः त्वां विचिन्वते'** हे दयित ! भीषण कान्तार में आपको खोजती हुई, भटकने के कारण परिश्रान्त-क्लान्त तथा आपके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संत्रस्त, त्वदीयाभिमानिनी और तुमसे स्वीकृता **'तावकाः'** हम व्रज-वनिताएँ अत्यन्त दुःखित हो रही हैं। हे श्यामसुन्दर ! आप प्रत्यक्ष होकर हमारी इस दारुण स्थिति का अनुभव करें। आपके प्राकट्य से ही हमारे दुःखों का अन्त हो जायगा। हे दयित ! यदि आपको स्तावकत्व ही तुष्टिकर हो तो हम **'तावकाः'** तुम्हारी होते हुए भी **'स्तावकाः'** स्तुति करनेवाली भी हो रही हैं। आपको स्तुति प्रिय है अतः हम आपकी प्रेयसीजन आपकी स्तुति करती हुई वन-वन में आपको खोजती हुई भटक रही हैं। भगवान् जिसको एक बार स्वीकार कर लेते हैं उसकी उपेक्षा कदापि नहीं करते। एक कथा है—एक बार किसी गोपाङ्गना ने कहा, 'हे श्यामसुन्दर ! तुम्हारे नूपुर बजते हैं जिसके कारण हमारे घर के लोग सास-ननान्दा आदि सतर्क हो जाती हैं अतः तुम इन नूपुरों को उतार दो।' भगवान् ने कहा, 'हे सखी ! तुम स्वयं ही खोल दो इन नूपुरों को।' वह सखी ज्यों ही नूपुर खोलने को उद्यत हुई वैसे ही एक अन्य सखी वहाँ आ पहुँची और कहने लगी, 'हे सखी ! यह क्या अनर्थ कर रही हो ? जिस किसीको भी एक बार भगवत्-चरणारविन्दों का आश्रय प्राप्त हो जाता है वह कदापि उनसे विलग नहीं हो सकता। यदि तुम इन नूपुरों को हटा दोगी तो फिर यही परम्परा चल पड़ेगी। अतः हे सखी ! इन नूपुरों को कदापि न खोलना।' तात्पर्य कि एक बार भगवान् द्वारा स्वीकृत हो जाना ही भक्त का परम सौभाग्य है। गोस्वामी कहते हैं, **'एक बार कहहुँ नाथ**

तुलसिदास मेरो।' गोपाङ्गनाएँ भी कह रही हैं—"श्यामसुन्दर ! **'तावकास्त्वयि'** हम तो तुम्हारी ही हैं, साथ ही तुम्हारे द्वारा स्वीकृता भी हैं। **'त्वदीयत्वाभिमानवत्यः वयं गोपीजनाः'** हमें अभिमान है कि हम आपकी हैं।" गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, **'मैं सेवक, रघुपति पति मोरे, अस अभिमान जाय जनि भोरें।'** मैं भगवान् का हूँ यह भाव ही भगवदीयत्वाभिमान, त्वदीयत्वाभिमान है। एक सन्त थे; उनका कहना था कि लौकिक चक्रवर्ती नरेन्द्र का पुत्र होकर व्यक्ति गौरव का अनुभव करता है परन्तु अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् के पुत्र होने का गौरव भुला देता है; वेदवाक्य है **'अमृतस्य पुत्राः'** (ऋ० सं० १०।१३।१) अमृत अर्थात् अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक, परमात्मा, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्; **अमृतस्य पुत्र**, अर्थात् भगवान् का पुत्र। वस्तुतः गौरव तो प्रभु का पुत्र होने में ही है।

श्रीमद्भागवत में ही 'वेणुगीत' के प्रसंग में कहा गया है,

"गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥"

(भाग० १०।२१।९)

गोपाङ्गनाओं को यह जानकर कि दामोदर की अधर-सुधा पर हमारा ही अधिकार है विशेष दर्प हो गया; उनके इस अभिमान के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए; इस परित्याग के कारण उनके दर्प का दमन हो गया। अतः अब वे कह रही हैं, हे **दयित** ! **'तावकाः वयं'** हम आपकी हैं, त्वदीयत्वाभिमानिनी हैं, एतावता स्वभावतः ही आपके विप्रयोगजन्य तीव्र-ताप से संत्रस्त हैं। **'दयित'** जैसे सम्बोधन द्वारा वे अपने प्रति भगवान् के हृदय में भास्वती भगवती अनुकम्पा शक्ति के आविर्भाव की स्पृहा प्रदर्शित करती हैं। वे अनुभव करती हैं कि मानो भगवान् श्रीकृष्ण उनको उपालम्भ दे रहे हैं।

"कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके, यदि भवति न तस्य विरहः, सति विरहे को जीवति।"

अर्थात्, कहते हैं संसार में कैतवरहित प्रेम संभव नहीं होता; यदि कदाचित् सम्भव भी हो जाय तो उसमें विप्रलम्भ नहीं होता—यदि कदाचित् विप्रलम्भ भी हो जाय तो कौन जीवन-धारण कर सकता है? इसका उत्तर देती हुई वे कह रही हैं, **'त्वयि धृतासवः'** हे श्यामसुन्दर ! हमारे प्राण आपमें ही निहित हैं अतः प्रयाण भी नहीं कर सकते अन्यथा अवश्य ही स्थिर न रह पाते। आपमें निहित होने के कारण अपने प्राणों पर भी हमारा अधिकार नहीं रह गया है।

"यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।"

(श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

उक्त श्लोक प्रसंग में भी गोपाङ्गनाओं की उक्ति है, **'भवदायुषाम्-भवानेव-आयुर्यासां ता भवदायुषस्तासां भवदायुषां ।'** विधाता ने प्राण तो हमें दिए परन्तु हमारी आयु आपके हाथों में दे दी । अतः अत्यन्त सन्त्रस्त होते हुए भी प्राण हमारे शरीर से निकल नहीं पाते; अथवा **'त्वयि धृतासवः'** आपके मंगलमय मुखचंद्र के दर्शन की आकांक्षा एवं आपके लोकोत्तर सौगन्ध्य, सौरस्य, सौन्दर्य, माधुर्य-सुधा-जलनिधि स्वरूप का रसास्वादन करने की अभिलाषा के कारण ही हमारे प्राण हमारे शरीरों में स्थिर रह पा रहे हैं अन्यथा अवश्य ही प्रयाण कर जाते ।

रूढ, अधिरूढ, मोहनाख्य, मदनाख्य एवं महाभाव आदि प्रेम की अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं । रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी तो स्वयं ही महाभावावतार-स्वरूपा हैं । कहते हैं, कहाँ ये उत्कृष्ट भाव जो धृतात्मा, संयमी, मुनीन्द्र, योगीन्द्र के उपयुक्त हैं और कहाँ ये व्यभिचार-दोष-दुष्टा वनचरी गोपालीगण । ऐसे वर्णन प्रातिभासिक हैं; भगवत्-महिमा का वर्णन ही इनका लक्ष्य है । ऐसे वर्णन इस बात का प्रमाण हैं कि अत्यन्त निकृष्ट कोटि की इन वनचरी वनिताओं द्वारा भी प्रेमपूर्वक भजे जाने पर अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक अनन्त-अचिन्त्य-गुण-गणों के एकमात्र आस्पद, अघटित-घटना-पटीयान्, स्वप्रकाश, परात्पर परब्रह्म, परमेश्वर प्रभु भक्तों के अपकर्ष एवं अपने उत्कर्ष को विस्मृत कर भक्त-भावानुसार ही उनका अनुवर्तन करते हैं । गीता-वाक्य है, **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।** (४।११) वस्तुतः भगवदीयत्वाभिमानिनी ये वनचरी व्रजवनिताएँ भगवान् शुक एवं उद्धव द्वारा भी वन्दनीय हैं । उद्धव कहते हैं,—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥"

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

अर्थात्, मैं इन गोपाङ्गनाओं के पाद-पंकज-रज का संस्पर्श करनेवाले, वृन्दावनधाम के तृण, गुल्मलता, दूर्वादिकों में से कुछ भी बन जाऊँ ।

जीव-मात्र पंच-भूतात्मक पंच-कंचुकों से आवेष्टित हैं। मायाभिभूत प्राणी स्वभावतः ही अपने दुष्कर्म को बाह्य जगत् से प्रावरित रखने का अटूट प्रयास तो करता ही है, साथ ही, स्वयं अपने भी अन्तस्तल से अपरिचित रहना चाहता है। व्यामोहजन्य इस आवरण के कारण ही प्राणी अपने को सर्वाधिष्ठान, सर्वव्याप्त, सर्वज्ञ के समक्ष भी पर्यवेष्टित रखने का निष्फल प्रयास करता है। सिद्धान्त है कि यमपुरी में जीव द्वारा किए गए पुण्य-पाप का निर्णय पंचभूतों के अधिष्ठाता देवगणों की साक्षी पर आधारित रहता है क्योंकि प्राणी का कोई भी कर्म इन देवगणों से प्रावरित नहीं रह पाता; एतावता प्राणीमात्र का आत्यन्तिक कल्याण इसीमें है कि वह अपने को सर्वान्तर्यामी के सम्मुख पूर्णतः निरावृत कर दे। स्वयं अपने-आपको पूर्णतः निरावृत कर देना ही भगवदीयत्वाभिमान किंवा प्रपत्ति, शरणागति है। जब प्राणी अपने को भगवान् के सम्मुख निरावृत कर देता है, जब उसमें भगवदीयत्वाभिमान उद्भूत होता है तब सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ स्वप्रकाश प्रभु भी उसके पंच-कंचुकरूप आवरण का छेदन कर उसको अपने विशुद्ध स्वरूप का दर्शन करा देते हैं। सर्वान्तर्यामी के सम्मुख निरावृत जीवोपस्थिति ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा गोपियों के चीर-हरण किए जाने का रहस्य है। बाह्य एवं अन्तः सम्पूर्ण कल्मषों को हटा देने पर ही परात्पर प्रभु से तादात्म्य अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

गोपाङ्गनाएँ कुल-वधू हैं। परम पतिव्रता, साध्वी, सती, कुलाङ्गना के लिए स्वभाव-सुलभ सहज लज्जा का लोकोत्तर महत्त्व होता है; किसी भी कुलाङ्गना के लिए लज्जा का त्याग मरण से कोटिगुणाधिक दारुण दुःखदायक हो जाता है; इस दुस्सह दुःख को सहकर भी गोपाङ्गनाएँ अपने श्यामसुन्दर के समक्ष निरावृत रूप से उपस्थित हुईं; मानो अनन्त-ब्रह्माण्डनायक, अखिलेश्वर, परात्पर, पूर्णतम, पुरुषोत्तम, परमात्मा, श्रीकृष्णचन्द्र के सान्निध्य में जीव ही निरावृत होकर निश्चलभाव से उपस्थित हुआ। अतिशय सौभाग्यशाली है वह प्राणी जिसने भगवत्-सन्निधान में, अपने अन्तर्यामी के सन्निधान में अपने को सर्वथा अनावृत कर दिया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति तत्-सुख-सुखित्व एवं तादात्म्यभाव के कारण ही गोपाङ्गनाएँ वंदनीय हैं।

अत्यन्त ममत्व-भाववाली कुछ गोपाङ्गनाएँ सदा ही मानभरी रहती हैं; इनके अनुग्रह की सतत वांछा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी करते हैं। वे मानिनी नायिकाएँ कहती हैं—**"यासां अस्माकं जन्मना ते प्रिय अधिकं जयते, शश्वत् इन्दिरा चापि श्रयते, ताः तावकाः धृतासवः त्वां विचिन्वते इति**

धृत्यतां।" हे श्यामसुन्दर! मदन-मोहन! हम गोपाङ्गनाओं के जन्म से ही व्रजधाम अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। महाज्ञानी उद्धव भी गोपाङ्गना-पाद-पंकज-रज-संस्पर्श हेतु हो वृन्दावन-धाम के वृक्ष, लता, गुल्म, अथवा तृण भी बन जाने के लिए विशेषतः उत्कण्ठित हो उठते हैं। व्रजधाम में वैकुण्ठाधिपति भगवान्, श्रीमन्नारायण विष्णु स्वयं हो व्रजेन्द्रनन्दन, व्रजचन्द्र, नवल-किशोर गोपीजन-वल्लभ रूप में सूत्रधार-संचालित दारु-यंत्रवत् व्रज-वनिताओं का अनुसरण कर रहे हैं। एतावता स्वभावतः ही वैकुण्ठ धाम की परम-प्रेयसी, परम-साध्वो, पति-परायणा, इन्दिरा भी अपने प्राणधन, प्राणनाथ का अनुसरण करती हुई उनकी सेवा के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में यहाँ विराजमान है। अपने से अधिकाधिक उत्कृष्ट गोपाङ्गना-जनों की विद्यमानता के कारण स्वयं भगवती इन्दिरा को भी अपने भगवान् श्रीमन्नारायण को सेवा के उपयुक्त अवसर को प्रतोक्षा करते हुए व्रज में सदा निवास करना पड़ रहा है। अहो, जिसके कृपा-कटाक्ष की प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते रहते हैं वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री, महालक्ष्मी इन्दिरा भो जहाँ सेविका रूप से रहने के लिए लालायित हों उस सर्वोच्च विराजमान व्रजभूमि का अद्भुत ऐश्वर्य निश्चय ही अवर्णनीय है। एतावता हमारे ही जन्म के कारण व्रजधाम अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।

एक बहु-प्रसिद्ध आख्यान है। रुक्मिणो की मंगल-शय्या पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से हठात् **'हे राधे'** जैसा उद्गार प्रकट हो जाता था। किसो भी स्त्री के सम्मुख उसकी सपत्नी का सोत्कण्ठ, सस्नेह स्मरण उसके लिये अवश्य ही सन्ताप-विशेष का कारण होता है ऐसा समझकर बचाते हुए भी, संकोच करते हुए भी भावना के अतिशय उद्रेक में, स्वप्न-स्थिति की असावधानी में यदा-कदा भगवान् के अधरों पर राधारानी का नाम आ हो जाता था। प्रसंगवशात् किसी अन्य के द्वारा भी राजेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, राधारानी के उल्लेखमात्र से भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुख से एक दीर्घ उष्णोच्छ्वास निकल ही जाता, वृषभानु-दुलारी राधारानी के नाम-स्मरण मात्र से ही भगवान् को रोमाञ्च हो जाता, उनकी आँखें आनन्दाश्रु परिपूरित हो जातीं और वे गद्गद हो उठते। इतना ही नहीं, राधारानी की अंतरंग सखियों ललिता, विशाखा, रंगदेवी, स्वदेवी के स्मरण मात्र से भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र रोमाञ्चित हो उठते। राधारानी को इस अद्भुत महिमा, इस लोकोत्तर उत्कर्ष का अनुभव करतो हुई अनन्त ब्रह्माण्ड की महाशक्ति रुक्मिणी, परम सुन्दरो, परम गुणशालिनी सत्यभामा एवं परस्पर उत्तरोत्तर गुणशालिनो जाम्बवती, कालिन्दी आदि अष्ट पटरानियाँ भी राधारानी एवं

उनकी अंतरंग सखी-वृन्द के दर्शनों के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो तदर्थ भगवान् से प्रार्थना करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी उनको उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा का आदेश देते हुए आश्वासन दिया। कुछ समय बाद ही खग्रास सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में मेला लगा। इस मेले में देश के कोने-कोने से जनता एकत्रित हुई। व्रजवासी भी आये, नन्द-यशोदा आए, व्रज-वनिताओं के साथ राधारानी भी पधारीं। वसुदेव-देवकी पधारे, रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी आदि अष्ट पटरानियों एवं षोडश सहस्र रानियों को साथ ले भगवान् श्रीकृष्ण भी पधारे। गोपाङ्गनाएँ कृष्ण-दर्शन के लिए व्याकुल थीं, श्रीकृष्णचन्द्र की पटरानियाँ गोपाङ्गनाओं के दर्शनों के लिए उत्सुक थीं एतावता मिलन-वेला निर्धारित की गई। इसी समय रासेश्वरी राधारानी की संदेश-वाहिका गोपिका आई; उसके अतुलित तेज एवं सौन्दर्य को देखकर रुक्मिणी, सत्यभामा आदि अष्ट-पटरानियाँ उस सखीविशेष को ही राधारानी समझ स्वागतार्थ अग्रसर हुईं। अष्ट पटरानियों को स्वागतार्थ अग्रसर होते देखकर आगन्तुका सखी संकुचित हो कहने लगी, 'महारानियो, आपका स्वागत है; मैं तो राधारानी की दासी की भी दासी हूँ।' यथार्थतः व्रजवनिताएँ वृषभानु-नंदिनी, रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्ण प्राणेश्वरी भगवती राधारानी की कायव्यूहरूपा, रश्मिरूपा एवं अंगोपांगभूता हैं एतावता उनके भी अनन्त वैभव, सौन्दर्य, माधुर्य तथा लावण्य एवं लोकोत्तर अतुलित तेज को देखकर महाभागा रुक्मिणी, सत्यभामा आदि अष्ट पटरानियाँ भी बारम्बार मुग्ध हो गईं। सखी-परिकर के आगमन के अनन्तर राधारानी पधारीं। श्रीकृष्णचन्द्र एवं राधारानी के युगलरूप दर्शन से अहंकार एवं अज्ञान का समूल उन्मूलन तथा अनन्य अनुराग का अंकुर उद्भूत होता है।

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, **'यासां अस्माकं जन्मना व्रजो जयति'** हे श्यामसुन्दर! हम गोपाङ्गनाओं के कारण ही व्रजधाम इस विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है, **'शश्वत् इन्दिराऽपि अत्र श्रयते'** हम लोगों के जन्म के कारण ही वैकुण्ठेश्वरी भगवती इन्दिरा भी यहाँ सतत आश्रयण करती हैं; एतावता व्रजधाम की शोभा प्रभा, आभा, कांति एवं श्री स्वभावतः निरन्तर वृद्धिगत होती रहती है तथापि हम तो आपको खोजती हुई दिशा-विदिशा में भटकती हुई संत्रस्त हो रही हैं। क्या यह असंगत नहीं?

हे दयित! **'हितं वदामः'** हम तो आपके हित का ही कहती हैं। जिन गोपाङ्गनाओं के कारण आपके व्रजधाम का उत्कर्ष हो रहा है वे ही आपके विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से संतप्त हो रही हैं। 'दिक्षु' प्रत्यक्ष होकर इस दृश्य को देखो।

सिद्धान्त है कि सम्पत्ति, समृद्धि एवं लक्ष्मी-प्राप्ति की सार्थकता यही है कि सम्पूर्ण स्वजन, परिजन, प्रियजन एवं सम्पूर्ण सुहृद्वर्ग निर्दुःख हो जायँ, परम-प्रसन्न हो जायँ। 'मार्कण्डेय पुराण' में एक प्रसंग है; देवी मदालसा अपने पुत्रों को उपदेश देती हुई कह रही हैं, 'हे पुत्र ! तुम धन-धान्य प्राप्त कर अपने सुहृद्-वर्ग को सदा आनन्दित करते रहना क्योंकि धन-धान्य का परम फल यही है कि सम्पूर्ण सुहृद्-स्वजन निर्दुःख हों अन्यथा वह धन-धान्य, वह सम्पत्ति-समृद्धि सब निरर्थक हो जाता है।' गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे प्राणधन ! हे प्राणनाथ ! आपकी समृद्धि अतुलित है, आप सम्राट्, विराट् चक्रवर्ती नरेन्द्र हैं, आपका व्रज भी लोकोत्तर शोभा, आभा, प्रभा को प्राप्त हो रहा है तथापि हम तो आपके विप्रयोगजन्य तीव्र संताप से संत्रस्त हो इतस्ततः भटक रही हैं। हे दयित ! **'दृश्यताम् समृद्धि-वैयर्थ्यम् आगत्य'** आकर अपनी समृद्धि की व्यर्थता को ही देख लो। **'दिक्षु'** प्रत्यक्ष होकर इस दृश्य को देखो।

'त्वयि धृतासवः, त्वयि धृताः असवः' हमारे प्राण आपमें समर्पित हो चुके हैं। हमारा बाह्यकरण एवं अन्तःकरण दोनों आपमें ही नियोजित हैं। हमारे श्रोत्र, स्वर, घ्राण, नेत्रादि इन्द्रियों सहित बुद्धि और मन भी सदा-सर्वदा आपमें ही आयोजित हैं। आपके गुण-श्रवण में हमारे श्रोत्र, आपके ही गुण-गणवर्णन में हमारे स्वर, आपके ही परमपावन चरित्र के चिन्तन में हमारी बुद्धि आपके मुखारविन्द-दर्शन की लालसा में हमारा मन सदा-सर्वदा संलग्न रहता है; यही कारण है कि अत्यन्त कातर होते हुए भी, अत्यन्त सन्तप्त होते हुए भी हमारे प्राण बाहर निकल नहीं पाते; आपकी विरहजन्य इस रिक्तता के रहते हुए भी इसमें मृत्यु का प्रवेश नहीं होने पाता। जनकनंदिनी जानकी भी अपने प्राणनाथ, राघवेन्द्र रामचन्द्र के वियोग से सन्तप्त हो मृत्यु की कामना करती हैं तथापि न तो उनके प्राण ही निकल पाते हैं न मृत्यु का ही प्रवेश हो पाता है। **'नाम पाहरू दिवस-निसि ध्यान तुम्हारा कपाट, लोचन निज पद यन्त्रिका, प्राण जाहिं केहि बाट।'** प्राण बाहर जा नहीं सकते क्योंकि ध्यानरूप कपाट अहर्निश लगे रहते हैं, बन्द रहते हैं। **'ध्यानं मनसा सह सर्वेन्द्रियाणां पिधान'** मनसहित सर्वेन्द्रिय रूप द्वार को लगा देना, ढँक देना ही ध्यान है। द्वार के बन्द हो जाने पर उसके बाहर अथवा भीतर किसीकी भी गति क्योंकर सम्भव हो सकती है ? अतः हमारे प्राण भी निकलने में असमर्थ हैं। आपके मुखारविन्द का दर्शन ही इस चक्षु-उपलक्षित सर्वेन्द्रिय रूप द्वार को खोलने की कुञ्जिका है। यह कुञ्जिका भी हमसे दूर आप ही के पास है। अतः न तो यह द्वार खुल ही पाते हैं न हमारे प्राण बाहर निकल ही पाते हैं। इतने पर भी आपके नाम रूप **'पाहरू'** द्वारपाल

अहर्निश पहरा दे रहे हैं । **'प्राण जाहिं केहि बाट'** ये प्राण किस रास्ते से बाहर जायँ ? यही एकमात्र कारण है कि आपके वियोगजन्य दारुण दुःख से अतिशय पीड़ित होते हुए भी प्राण बाहर जाने में असमर्थ हैं, विवश हैं । हमारी यह देह तो आपके विरह-ताप की अतिशयता से जल रही है तथापि प्राण सुरक्षित हैं; वे नहीं जलते क्योंकि आप ही उनका अधिष्ठान हैं । इन प्राणों की सुरक्षा का एक और भी कारण है । समुद्र में उन्मज्जन, निमज्जन करते हुए क्रीड़ा करने का आपको अभ्यास है अतः आप स्वयं ही अपने वियोगजनित दुःख-कातर हमारे अन्तःकरणार्णव में क्रीड़ा करना चाह रहे हैं । आपकी क्रीड़ा-स्थली बने रहने के कारण ही यह विरहातुर प्राण विनाश को प्राप्त नहीं हो पाते ।

सिद्धान्त है कि मानव-शरीर से सुख-दुःख-भोग की एक सीमा है । इस सीमा का अतिक्रमण होने पर प्राण अवश्य ही इस शरीर को त्याग देते हैं । मानव-शरीर के द्वारा इन्द्रलोक का विशिष्ट सुख तथा यमलोक का भयंकर त्रास दोनों को ही झेलना असम्भव है । जैसे नीम में निवास करनेवाले कीड़े के लिये मिश्री के माधुर्य का अनुभव कदापि सम्भव नहीं या जैसे विष्ठा-भोगी शूकर का विशिष्ट सुस्वादु पक्वान्न का स्वाद कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता वैसे ही मानव-शरीर से ऐन्द्रलोक के लोकोत्तर दिव्य-सुखों का अनुभव भी कदापि सम्भव नहीं होता । अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, चातुर्मास, दर्शपूर्णमास आदि क्रिया-कलापों के बारम्बार अनुष्ठान से मानव-शरीर एवं अन्तःकरण को दिव्य, लोकोत्तर, सुखोपभोग के अनुकूल उच्चस्तरीय बनाया जा सकता है । योगभाष्यकार कहते हैं, **'भोगमनु विवर्धते कौशलम् इन्द्रियाणाम्'** उच्चस्तरीय भोग के अभ्यास के कारण इन्द्रियों का कौशल भी तदनुसार ही उच्चस्तरीय बन जाता है । इसी तरह यमलोक की यातनाओं को सहन करने के लिए यातनामय शरीर आवश्यक होता है । कल्पना करें कि किसी प्राणी को उसके अपराध के लिए यह दण्ड दिया गया है कि उसे विषम विषसम्पृक्त-अग्निमय-तैल-कटाह में दीर्घावधि तक बैंगन की तरह भूना जाए । अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट बड़े-से-बड़ा पहलवान भी खौलते हुए तेल के इस कड़ाहे में एक क्षण के लिये भी जीवित नहीं रह सकता । मानव-शरीर से इस भयंकर यातना का भोग कदापि शक्य नहीं; तदर्थ यमलोकान्तर्गत यातनामय शरीर ही आवश्यक है । यातनामय शरीर की ही यह विशेषता है कि भयंकरातिभयंकर त्रास को भोगते हुए भी विशिष्ट प्रतिबन्ध के कारण प्राणी मरता नहीं । इसी तरह विषम-विषसम्पृक्त-अग्निमय-तैल-कटाह-तुल्य आपके विरहजन्य तीव्र त्रास को भोगते हुए भी हमारे प्राण आपमें ही प्रस्थापित होने के कारण निकल भी नहीं पाते ।

कहा जाता है कि 'विष्णु-पुराण' में शिव की और 'शिव-पुराण' में विष्णु की निन्दा है। नीलकण्ठ लिखते हैं, कोई एक कौतुकी पति अपनी मुग्धा भार्या को कुपित कर उसके रोषजन्य कुटिल-भृकुटी-विलास का आनन्द प्राप्त करने के हेतु अपने घर के कुत्ते का वही नाम रख लेता है जो उसके साले का नाम है। कुत्ते का नाम ले-लेकर वह गृहस्वामी उसको बहुत गालियाँ देता है। उसके इस कौतुक से अपरिचित वह मुग्धा भार्या क्रोधित हो जाती है; रोष से उसकी भृकुटी कुटिल हो जाती है। उपर्युक्त कथा के व्याज से नीलकण्ठ महोदय, विष्णु एवं शिव-पुराणों में प्राप्त परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते इन उल्लेखों के तात्पर्य का स्पष्टीकरण करते हैं। अविवेकी प्राणी के मन में क्षोभ उत्पन्न कर उसकी एक निष्ठा को सुदृढ़ करना ही ऐसे उल्लेखों का आशय है। वस्तुतः न तो 'शिव-पुराण' में विष्णु की निन्दा है न 'विष्णु-पुराण' में शिव की निन्दा है। 'विष्णु-पुराण' में विष्णु कार्य-कारणातीत शुद्ध-ब्रह्म हैं तो 'शिव-पुराण' में शिव कार्य-कारणातीत शुद्ध-ब्रह्म हैं। जैसे कौतुकी पति द्वारा घर के कुत्ते को साले के नाम से पुकारे जाने पर भी गाली कुत्ते को ही दी जाती है वैसे ही कार्य-ब्रह्म को कहीं शिव और कहीं विष्णु का नाम देकर कह दिया गया है कि अमुक के भजने से नरक मिलता है। उपर्युक्त उल्लेखों में प्रयुक्त नरक शब्द का तात्पर्य ब्रह्मलोक से ही है।

महाभारत में एक कथा—अपने एक जापक पर प्रसन्न होकर भगवती गायत्री प्रकट हुई और कहा, **'वरं ब्रूहि'** वर माँगो। उस साधक ने कहा, 'माता! मैं अल्पज्ञ नहीं जानता कि श्रेयस्कर क्या है अतः आप ही कृपा कर उचित वर दे दें।' भगवती ने वरदान दिया कि 'जो नरक गायत्री-जापकों को होता है वह तुझे नहीं होगा।' यह कैसी विडम्बना है? यहाँ सहसा ही सन्देह हो जाता है कि क्या गायत्री-जापक को नरक होता है? कदापि नहीं। यहाँ नरक का अर्थ है ब्रह्मसुख की तुलना में निम्नवर्गी स्वर्गादि लोक। **'तस्य स्थान वरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः।'** (महाभारत, शान्तिपर्व १९८।११) माता के इस वरदान का आशय है कि गायत्री-जापक को ब्रह्मलोकादि में कहीं नहीं अटकना पड़ेगा; वह अधिष्ठान-तत्त्व के साक्षात्कार से ब्रह्मलोक पहुँच जायगा। कार्य-कारणातीत परब्रह्म-सान्निध्य की तुलना में ब्रह्मलोक भी नरकतुल्य ही है। जैसे स्वयंवरा कन्या जिसका वरण कर लेती है उसको ही अपने विशुद्ध स्वरूप का दर्शन कराती है वैसे ही भगवान् भी जिसको चाहें उसके लिए ही अपने विशुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं, **'जेहि चाहहुँ तेहि देहुँ जनाई।'** स्वयंवरा कन्या अपनी रुचि के अनुकूल वर-विशेष का ही वरण करती हैं; स्वयंवरा कन्या स्थानीय भगवान् के लिए

तो प्राणी मात्र समानतः प्रिय हैं; **'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'** ऋग्वेद का कथन है, **'अमृतस्य पुत्राः।'** (ऋ० सं० १०।१३।१) प्राणी मात्र अमृत, अनन्त, अनादि, परात्पर परब्रह्म के पुत्र हैं। अस्तु, विशिष्ट-गुण-गण ही भगवत्-वरेण्यता का आधार है। भगवत्-वाक्य है—**'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (श्री० भ० गी० ९।२९) जो मुझे भक्तिपूर्वक भजता है उसको मैं भी भजता रहता हूँ। एतावता जो स्वाश्रमानुसार धर्मानुष्ठान करते हुए मनसा-वाचा-कर्मणा भगवत्-चरणारविन्दों में आत्मसमर्पण करता है भगवान् उसका ही वरण कर उसके लिए ही अपने विशुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देते हैं। तात्पर्य कि भगवदुन्मुख होने पर ही जीव में भगवत्-वरेण्यता प्रादुर्भूत होती है।

"तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥"

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

अर्थात्, भगवत्-प्राप्ति हेतु किसी विशेष क्रिया-कलाप की आवश्यकता नहीं होती अपितु भास्वती भगवत्-अनुकम्पा की प्रतीक्षा मात्र ही करनी पड़ती है। यह प्रतीक्षा, यह बाट जोहना ही सर्वाधिक दुस्साध्य तप है। शबरी का बाट जोहना सुप्रसिद्ध है।

मतंग महर्षि के कथन पर अनन्त विश्वास करती हुई शबरी जीवन-पर्यन्त भगवदागमन की प्रतीक्षा करती रही; भगवत्-सम्मिलन की आशा सँजोए जीवन-पर्यन्त पलक-पाँवड़े बिछाए रही।

'मया तु सञ्चितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ॥
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्॥'

(वा० रा० ३।७४।१७-१८)

प्रतिदिन अपने आँगन को लीप-पोतकर सजा-सँवारकर भगवान् के बैठने योग्य बना देती और पम्पा-तीर से मीठे-मीठे फल लाकर रखती। और तब अपलक नेत्रों से भगवत्-दर्शन की राह देखती रहती। शबरी के भावुक हृदय पर निराशा-पिशाची का अधिकार कदापि नहीं हो पाया। अन्ततोगत्वा भगवान् शबरी के घर पधारे; उसके द्वारा संगृहीत फलों को विशेष रुचि के साथ स्वीकार किया। इसी तरह गोपाङ्गनाएँ भी शान्त एवं एकाग्र चित्त से निमेषोन्मेष-विवर्जित नयनों से निर्वृत्तिक होकर तन्मय होकर भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करती हैं। इस प्रकार बाट जोहने जैसा दुस्साध्य तप करते हुए प्राणी में निर्वृत्तिक-तन्मयता उद्बुद्ध होती है; निर्वृत्तिक-तन्मयता ही

समाधि का स्वरूप है। **निमेषोन्मेष-विवर्जित** निर्वृत्तिक शान्त, एकान्त, एकाग्र, तन्मय चित्त से प्रभु के मंगलमय आगमन की प्रतीक्षारूप साधना करनेवाले मुक्ति-पद के भिक्षुक नहीं, अपितु दायभागी होते हैं। **'मुक्तिपदे स दायभाक्।'** (श्रीमद्भा० १०।१४।८) मंगलमयी भास्वती भगवदनुकम्पा की प्रतीक्षा ही अन्तिम साधन है; इस प्रतीक्षारूप साधन के लिए ही विशेष प्रयास अपेक्षित है। जन्म-जन्मान्तरों के अनेकानेक कर्मजन्य संस्कारवशात् जीव स्वभावतः प्राकृत-प्रपञ्चरत रहता है एतावता प्रभु वरेण्य गुण से रिक्त ही रहता है। कदाचित् जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज के कारण प्रभु का मंगलमय अनुग्रह प्राप्त होने पर जीव में भगवदीयत्वाभिमान उदित हो जाता है; भगवदीयत्वाभिमान ही भगवद्-वरेण्य गुण है। जीव एवं सर्वेश्वर प्रभु द्वारा परस्पर वरण अन्योन्याश्रित है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ भी प्रार्थना कर रही हैं, 'तावकाः त्वयि धृतासवः' हे मदन-मोहन ! श्यामसुन्दर ! हम आपकी हैं; त्वदीयत्वाभिमानिनी हैं; आपको खोजती हुई इस वन-प्रान्तर में इतस्ततः भटकती हुई अत्यंत संत्रस्त हो रही हैं। हे दयित ! 'दृश्यताम्' प्रत्यक्ष होकर हमारी इस दशा को देखो।

इस श्लोक का एक अर्थ यह भी है कि **'गवां स्थानं व्रजः देहः'** गो का आवास-स्थान, गोपद किंवा गोष्ठ ही व्रज है; गोपद-वाच्य इन्द्रियों का आवास-स्थान यह शरीर ही व्रज है जो इस समय **'तव जन्मना, तव आविर्भावेन अधिकं जयति।'** आपके आविर्भाव से विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। जिसके हृदय में निरातिशय, निर्विकार निर्गुण, परात्पर, परब्रह्म प्रभु का आविर्भाव हो गया उस गोस्वामी को विशेष महिमा होती है, **'गवां इन्द्रियाणाम् अधिपतिः'** गोपद-वाच्य इन्द्रियों को मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु आदि अन्तः एवं बाह्य-करणों को सर्वथा नियंत्रित रखनेवाला ही गोस्वामी है। **'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः'** भूति-कामी आत्मज्ञ की पूजा करें; आत्मज्ञ की पूजा से सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति होती है। एतावता **'तव जन्मना व्रजः अधिकं जयति'** आपके प्राकट्य के कारण ही इन्द्रियों के आवास-स्थान इस देहरूप व्रज की महिमा विशेषतः अभिवृद्धिगत है। **'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'** इन्दिरा, मूर्तिमती शोभा स्वयं ही यहाँ सतत आश्रयण कर रही हैं अतः यह जड़ देह भी शोभायुक्त हो गया। **'तेन त्वया भगवता सर्वाधिष्ठानेन सर्वान्तर्यामिणा दृश्यताम् विद्वदनुभव-विषयी भूयताम्'** वह सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी आप ऐसे गोस्वामी विद्वद्वरों के लिए गोचर, प्रत्यक्ष हो जाओ।

भागवत में कहा गया है, **'नोदतिष्ठत्तदा विराट्'** (श्री० भा० ३।२६।६३-६९) **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** (ऐ० उ० १।२।४) अग्नि, वायु आदि के अभिमानी सम्पूर्ण देवगण उस विराट् में प्रविष्ट हुए, तथापि वह उठा नहीं। उस विराट् में प्रवेश कर प्राण ने पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार चौदह रूप धारण किए तदपि वह विराट् उठा नहीं। **'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत'** (ऐ० उ० १।३।१२) तब कपाल की सीमा का भेदन करते हुए परात्पर-प्रभु उस विराट् में प्रविष्ट हुए; तत्क्षण वह विराट् उठ खड़ा हुआ। जैसे सम्पूर्ण कल-पुर्जों के सम्यक्तः प्रस्थापित होने पर भी कोई उत्कृष्टाति-उत्कृष्ट कारखाना भी विद्युत्-संपर्क-रहित होकर क्रियाशील नहीं हो सकता वैसे ही वह विराट् पंच-तत्त्वों के अभिमानी देवगण एवं चौदह रूपों में विभक्त प्राणों के रहते हुए भी विद्युत्-संपर्क-रिक्त कारखाने की तरह ही क्रियाशील न हो सका; परन्तु विद्युत्स्थानीय प्रभु-परात्पर का संपर्क होते ही तत्क्षण क्रियाशील हो गया। एतावता आपके आविर्भाव के कारण ही इन्द्रियों का आवासस्थान यह जड़ देह, गोष्ठ किंवा व्रज अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। आपका अनुसरण करती हुई इन्दिरा, अघटित-घटना-पटीयसी-मंगलमयी-माया शक्ति भी इस देह, गोष्ठ किंवा व्रज में सतत आश्रयण कर रही हैं अतः देह, व्रज की शोभा, आभा, प्रभा, कांति एवं दान्ति पूर्णतः प्रस्फुटित हो रही हैं। **'जासु सत्यता ते जड़ माया भास सत्य इव।'** आपकी सत्ता के कारण ही जड़ माया भी सत्यवत् प्रतीत हो रही है; आपकी सत्ता के कारण ही जड़ माया में भी ऐश्वर्य एवं माधुर्यरूप चमत्कृति प्रत्यक्षतः भासित हो रही है।

'दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।' हे सर्वेश्वर! आप उन विद्वानों के लिए प्रत्यक्ष हो जावें। **'के ते विद्वांसः? ये त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।'** हे प्रभो! आप उन विद्वानों के लिए जो आपमें ही अपने प्राण एवं अन्तःकरण को धारण कर आपका ही अनुसन्धान कर रहे हैं प्रत्यक्ष हो जावें। **'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।'** (श्री० भ० गी० १०।९) जो भक्त निरंतर भगवद्-स्वरूप का ही चिन्तन-मनन करते हैं, जिनके हृदय सदा ही भगवद्दर्शन हेतु उत्कंठित रहते हैं, जिनके प्राण, अन्तःकरण, अन्तरात्मा, सदा ही भगवत्-सान्निध्य हेतु लालायित रहते हैं ऐसे अपने अन्तः एवं बाह्य-करण तथा प्राणों को आपमें समर्पित कर आपका अनुसन्धान करनेवाले विद्वद्वर के लिए आप प्रत्यक्ष हो जावें। यह अनुसन्धान ही सर्वातिशय महत्त्वपूर्ण है; इस अनुसन्धान की अपनी विशेष शैली है। तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है—

'तस्माद्वा एतस्मात् अन्नरसमयात् अन्योऽन्तरआत्मा प्राणमयः' (तै० उ०

२।२) **'तस्माद् वा एतस्माद प्राणमयात् अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः'** (तै० उ० २।३) **'तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः'** (तै० उ० २।४) **'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरआत्मा आनन्दमयः'** (तै० उ० २।५) **'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।'**

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) सत्य ज्ञान एवं अनन्त आनन्द-स्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही सर्वाधिष्ठान हैं; इस ब्रह्म से ही आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप और अप से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ उद्भूत हुईं। इन औषधियों से अन्न एवं अन्न से पुरुष, आत्मा से यह देहादि क्रमेण उद्भूत हुए। यद्यपि **'आत्मनः आकाशः'** (तै० उ० २।१) कह दिया गया है तदपि यहाँ अघटित-घटना-पटीयसी माया-शक्ति के द्वारा सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** स्वर्गकामी अग्निहोत्र करें ऐसा कहा जाता है तथापि अग्निहोत्र का तात्कालिक फल स्वर्ग-प्राप्ति नहीं, अपितु तज्जन्य अपूर्व है। अग्निहोत्र के सम्पूर्ण होते ही कार्याव्यवहितोत्तर-क्षण में कार्य घटित नहीं होता। अग्निहोत्र सम्पूर्ण हो गया तथापि स्वर्ग-प्राप्ति कालान्तर में ही होगी। एतावता जैसे **'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं द्वारत्वम्'** अर्थात् अग्निहोत्रादिजन्य अपूर्व के द्वारा ही अग्निहोत्रादि स्वर्ग का जनक बनता है वैसे ही **'मायया महदादिकक्रमेण आकाशः सम्भूतः।'** आत्मा से अघटित-घटना-पटीयसी मंगलमयी मायाशक्ति द्वारा ही महदादिकक्रम से सम्पूर्ण प्राकृत-प्रपञ्च प्रस्फुटित होता है। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै० उ० २।६) अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड, इस सम्पूर्ण चराचर विश्व-रूप घट को बनाकर परात्पर प्रभु स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गए। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है **'आत्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि'** (छा० उ० ६।३।२) उसने आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी का निर्माण किया अथवा तेज, अप एवं अन्नरूप तीन देवताओं का निर्माण कर स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गया; तात्पर्य यह कि अपने से समुद्भूत जगत् में ब्रह्म व्याप्त हो गया। जैसे **'जातेऽङ्कुरे कथमिहोपलभेत बीजम्'** वट-बीज अपने समुद्भूत वट-वृक्ष में लीन हो जाने पर भी उस वृक्षविशेष में ही अनुस्यूत रूप से दृष्टिगोचर होता है वैसे ही नाम-रूप-व्याकरण-कर्ता, सर्वाधिष्ठान, परात्पर परब्रह्म, परमेश्वर प्रभु भी अपने से ही समुद्भूत विश्व-प्रपञ्च में प्रविष्ट हो जाने पर भी उस प्रपञ्च के अन्तर्गत ही अनुस्यूत रूप से प्रतिभासित होते हैं। विश्व-प्रपंचलीन सर्वाधिष्ठान परात्पर प्रभु के अनुसन्धान में प्रवृत्त होने पर क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष का अनुभव होता है। आनन्दमय कोष में ही सर्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्दघन, स्वप्रकाश, शुद्ध ब्रह्म

प्रतिष्ठित है। जगत् के सम्पूर्ण आनन्द, मोद-प्रमोद सविशेष हैं अतः उनमें वैषम्य है, वैविध्य है तथापि उन सबका अधिष्ठान एकमात्र स्वप्रकाश, विशुद्ध परब्रह्म ही है। **'जो आनन्द-सिन्धु सुख-राशि, सीकर तें त्रैलोक्य सुपासि।'** जो आनन्द-सिन्धु है, सुखराशि है, जिसका क्षुद्रातिक्षुद्र सीकर कण भी ब्रह्मादिदेव शिरोमणियों को आनन्द प्रदान करनेवाला है, वह ब्रह्म ही **'पुच्छम् प्रतिष्ठा'** सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान है। **'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'** (श्री० भ० गी० २।६१) संपूर्ण इन्द्रियों को संयत कर, मन, बुद्धि एवं प्राणों को संयत कर आत्मलीन होकर भगवत्-परायण हो जाना ही भगवदनुसन्धान का स्वरूप है। ऐसे **'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते'** विद्वद्वर के लिए आप प्रत्यक्ष हो जावें। **'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद संतमेनं ततो विदुः'** (तै० उ० २।६) जो ऐसे सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, सर्वेश्वर ब्रह्म को जान लेते हैं वे ही परमपूज्य संत हो जाते हैं। **'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।'** (तै० उ० २।६) ब्रह्म नहीं है ऐसा समझनेवाले असत् हो जाते हैं। ईश्वर-विमुख का समूल नाश हो जाता है, भक्त एवं संतजन सदा-सर्वदा सर्वत्र संपूज्य होते हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे श्याम-सुन्दर! मदन-मोहन! व्रजधाम का उत्कर्ष वैकुण्ठादपि अधिकाधिक हो रहा है तथापि हम व्रज-वनिताओं के लिए आपका दर्शन दुर्लभ ही हो रहा है। ज्योतिर्वित् दैवज्ञ गर्गाचार्य के कथन को सार्थक करने के लिए भी आपके दिव्य-स्वरूप का प्राकट्य होना ही चाहिए। आपके इस दिव्य प्राकट्य से हम व्रज-वनिताएँ भी वैकुण्ठवासिनी नारियों के तुल्य हो जावेंगी। अतः आपका प्राकट्य ही सर्वथा वांछनीय है।

इस श्लोक का निवृत्ति-पक्षीय अर्थ भी है; वाणीमात्र, विशेषतः वेद-लक्षणा-वाणी, श्रुतियाँ, गोपदवाच्य हैं; एतावता मन्त्र-ब्राह्मणात्मक-शब्द-राशि भी गोष्ठ किंवा व्रज-पद-वाच्य हैं। गोपद-वाच्य-श्रुतियों का आवास-स्थान वेद-राशि ही गोष्ठ किंवा व्रज है। वेद-राशि, व्रज स्वभावतः ही उत्कर्ष को प्राप्त है। वेद-राशि-भिन्न संसार के सम्पूर्ण ग्रन्थ पौरुषेय हैं अतः उनमें पुरुषाश्रित प्रमाद, विप्र-लिप्सा-करणापाटवादि दूषणों के कारण अप्रामाण्य सम्भव है; वेद-राशि अपौरुषेय हैं अतः पुरुषाश्रित समस्त दोषों से मुक्त हैं एतावता प्रमाण है। अस्तु, गोष्ठ किंवा व्रज-पद-वाच्य वेद-राशि स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त है।

वेदार्थ का साक्षात्कार न होने तक तादृक उत्कर्ष पूर्णतः उद्भासित नहीं हो पाता। भागवत में एक श्लोक है **'सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्व-स्वरूपो बभौ।'** (श्री० भा० १०।१३।१९) सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च विष्णुमय है। वेद-राशि, उपनिषद् एवं पुराणों में सर्वत्र ही ऐसे वचन प्राप्त हैं। 'विष्णुपुराण' का

वाक्य है **'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः'** सम्पूर्ण भूत भी विष्णु ही हैं, सम्पूर्ण भुवन भी विष्णु ही हैं। भगवान् विष्णु अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक, अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुण-गणों के आस्पद, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दघन, सर्वोपद्रव-विवर्जित परमानन्दघन हैं और विश्व-प्रपञ्च जड़, शेषात्मक, दुःखात्मक, अनेकात्मक, अनन्तोपद्रव-युक्त शोकद्रव है, एतावता अनुभव-विरुद्ध एवं असम्मानित होने के कारण **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** जैसी उक्ति में अप्रामाण्य की प्रतीति होने लगती है। तथ्य है कि **'नहि शब्द शतमपि घटं पटयितुमीष्टे।'** सैकड़ों शब्द सम्पूर्ण शब्द भी घट को पट नहीं बना सकते। अस्तु वेदार्थ के सम्यक् बोध हेतु यदा-कदा वेद-वाक्य में भी लक्षणा आवश्यक हो जाती है। उदाहरणार्थ एक वेद-वाक्य है, **'कृष्णलान् श्रपयेत्।'** कृष्णलों को पकावें। यवाकार सुवर्ण-खण्ड ही कृष्णल हैं; रूप-रस विपरिवृत्ति ही पकाना है; कृष्णलों का रूप-रस-विपर्यय कदापि सम्भव नहीं अतः **'कृष्णलान् श्रपयेत्'** जैसे शत वेद-वाक्य भी निरर्थक ही प्रतीत होने लगते हैं। अस्तु लक्षणा द्वारा ही **'कृष्णलान् श्रपयेत्'** का तात्पर्य समझना होगा। **'उष्णीकरणे लक्षणा'** अर्थात् श्रपण का लक्षण है उष्णीकरण में। एतावता **'कृष्णलान् श्रपयेत्'** का गौणार्थ हुआ कि यवाकार सुवर्ण-खण्ड कृष्णलों को उष्ण करो। इसी तरह **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** जैसे कथन का अर्थानुभव भी लक्षणा के आधार पर ही सम्भव है। अस्तु **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** जैसी उक्ति का तात्पर्य है कि भगवान् विष्णु ही चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप हैं। श्रीमद्भागवत में एक कथा आती है;

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥
(श्रीमद्भा० १०।१२।२)

ग्वाल-बाल अपने-अपने सहस्राधिक संख्यात बछड़ों को कृष्ण के असंख्यात बछड़ों के साथ मिलाकर उनके साथ खेलने चले। ऐसे समय में ब्रह्मा द्वारा संपूर्ण ग्वाल-बालों का उनके बछड़ों सहित अपहरण कर लिए जाने पर भगवान् कृष्ण स्वयं ही भूषण वसन अलंकारादि सर्वोपकरण सहित सम्पूर्ण ग्वाल-बाल मण्डली एवं बछड़ों के चेतनाचेतनात्मक रूप में प्रकट हो गये। भागवत-वाक्य है—

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।१९)

परात्पर प्रभु श्रीकृष्ण ने जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण रूपों में प्रकट होकर 'विष्णुमयं जगत्' जैसी उक्ति को प्रमाणित कर दिया। यहाँ शंका होती है कि व्रज की चार कोस भूमि में सम्पूर्ण व्रजवासी-जन, अनेकानेक गोपाङ्गनाएँ तथा उनके महलादिक, अनेकानेक आवश्यक उपकरणों के साथ ही साथ प्रत्येक गोप-बालक के सहस्राधिक गाय-बछड़े तथा भगवान् श्रीकृष्ण के असंख्यात गाय-बछड़े क्योंकर समा सके ? इस शंका का समाधान यही है कि परात्पर प्रभु परमेश्वर की योगमाया के द्वारा असम्भव भी सम्भव हो जाता है। परब्रह्म का अघटित-घटना-पटीयान् स्वात्मयोग ही योगमाया है। जैसे स्वप्न के अन्तर्गत सूक्ष्माति-सूक्ष्म नाड़ियों में जगत्-प्रपञ्च दृश्यमान होता है वैसे ही भगवान् की योगमाया द्वारा व्रजधाम में यह अपूर्व चमत्कार सम्भव हुआ।

वस्तुतः सूक्ष्म जगत् ही मूल तत्त्व है; इस मूल तत्त्व, सूक्ष्म जगत् का प्रसरण ही स्थूल जगत् है। पुण्डरीकाकार-हृत्-पिण्ड के मध्य में दहर आकाश है। **'यावान् वा अयमाकाशः'** बाह्याकाश की तरह ही हृत्-पुण्डरीकान्तर्गत दहरा-काश भी अत्यन्त विस्तृत है। इस दहराकाश में ही सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च सूक्ष्म-रूप से विद्यमान है। श्रीमद्भागवत में परात्पर परब्रह्म के इस अघटित-घटना-पटीयान् स्वात्मयोग को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। नन्दगेहिनी यशोदा रानी भी अपने बालक पुत्र श्रीकृष्ण के मुखारविन्द में सम्पूर्ण व्रज के साथ ही साथ अपने को और स्वयं बालक कृष्ण को भी देखकर भयभीत हो विचारने लगती हैं। **'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः'** (१०।८।४०) अर्थात् यदि प्रतिबिम्बन्यायानुसार ही श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द में विश्व-प्रपञ्च दृष्ट हो रहा है तो भी दर्पण में स्वयं दर्पण कदापि प्रतिबिम्बित नहीं होता; साथ ही, इस घटना में आसुरी, तामसी अथवा दैवी-माया की भी कल्पना सम्भव नहीं अतः निश्चय ही मेरे इस बालक में जो ये सब चमत्कार हैं वे सब उसके ही औत्पत्तिक अघटित-घटना-पटीयान्-स्वात्मयोग के कारण ही सम्भव हो रहे हैं। परब्रह्म प्रभु के इस अघटित-घटना-पटीयान्-स्वात्मयोग के द्वारा ही सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक विश्व-प्रपञ्च की प्रतीति हो रही है। एतावता **'विष्णुमयं जगत्'** ही तथ्य है तथापि भगवत्-प्राकट्य का अभाव होने पर इस तथ्यपूर्ण अभिव्यक्ति का भी गौणार्थ हो जाता है, उसमें असम्भावना एवं अप्रामाण्य-दोष आ जाता है। **'न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः।'** अर्थात् जो उत्पादन-काल में ही हत हो गया हो उसका संत्राण सम्भव नहीं। एतावता **'तव जन्मना व्रजोऽधिकं जयति।'** हे प्रभो ! आपके आविर्भाव से इस दोष का सम्पूर्णतः परिष्कार हो गया; स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त गोष्ठ किंवा

व्रज-पद-वाच्य, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद-राशि प्रभु के प्रत्यक्षीकरण से अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। चित्सुखाचार्य कृत मंगलाचरण है—

'स्तम्भाभ्यन्तर गर्भभाव निगद व्याख्यात तद्वैभवो
यः पञ्चानन पाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः।
प्रह्लादाभिहितार्थं तत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः॥'

प्रह्लाद अपने भगवान् को सर्व-व्यापी, सर्व-स्वरूप कह रहा है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु क्रुद्ध है; वह प्रमाण चाहता है। वादी के प्रति किसी पदार्थ की सिद्धि परार्थानुगमन द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के आधार पर की जा सकती है। भक्त प्रह्लाद ने प्रतिज्ञा की; भक्त-वत्सल भगवान् ने भक्तानुग्रहार्थ प्रकट होकर प्रमाण दिया. पाषाणखण्ड से जिसमें सूच्यग्र का भी प्रवेश सम्भव नहीं, अणु-परमाणु का प्रवेश सम्भव नहीं, सिंहाद्रिचूड़ामणि के रूप में आविर्भूत होकर भगवान् ने अपनी सर्व-व्यापकता एवं सर्व-स्वरूपता विश्वात्मता को सिद्ध कर दिया। एतावता आपके आविर्भाव से स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त वेद-राशि अधिकाधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रही है। **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गी० १५।१५) सम्पूर्ण वेदों का एकमात्र वेद्य, **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** सब वेद जिस परमतत्त्व का निरूपण करते हैं; **'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' 'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्। इत्यस्यां हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥'** (श्री० भा० ११।२१।४२) वेद किसका विधान करते हैं? वेद किसका अभिधान करते हैं? वेद किसका अनुवाद करते हैं? वेद किसका निषेध करते हैं? वेद किसका अवशेष करते हैं? **'इत्यस्यां हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन।'** इसका रहस्य भगवान् से भिन्न कोई नहीं जानता। अन्ततोगत्वा कहते हैं **'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्। एतावान् सर्ववेदार्थः'** (११।२१।४३) वेद मेरा ही विधान एवं अभिधान करते हैं; साथ ही संपूर्ण अनात्म पदार्थों का अपोहन कर मेरा ही अवशेष रखते हैं, यही सम्पूर्ण वेदार्थ है। वेदार्थ-स्वरूप, वेद-वेद्य, वेदों के महातात्पर्य का विषयीभूत, सच्चिदानन्द, परात्पर, परब्रह्म ही श्रीकृष्ण-स्वरूप में व्रजधाम में नन्दगेहिनी यशोदारानी के मंगलमय अंक में आविर्भूत हुआ। भक्त कहता है—

'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां, मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां, श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्।
शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टं
धूली धूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

परममिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥'

अर्थात्, निगमाटवी के भयंकर वीथी-जाल में, स्वर, क्रम, पदादि का निरन्तर अभ्यासरूप भ्रमण करनेवाले परिश्रम-क्लान्त, नितान्त-खिन्न जनो ! हमारे उपदेश को भी सुनते जाओ। इस दुर्गम वेदाटवी में अत्यन्त दुर्लभ संचारानन्तर आप लोगों को जो वेदार्थरूप फल प्राप्त होता है वही व्रजधाम में यशोदारानी के आँगन में उलूखल से बँधा हुआ है। श्रुतियों का वह गुप्त वित्त ही परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में यशोदा के आँगन में धूलि-धूसरित होकर नृत्य कर रहा है। गोपाङ्गनाओं का विशुद्ध प्रेम ही यदुवंशियों के लोकोत्तर परम सौभाग्य-मूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में प्रादुर्भूत हुआ है। निराकार, निर्विकार, परात्पर परब्रह्म ही श्यामरूप में प्रस्फुटित हो रहा है—जाओ, उसको पकड़ लो।

रामावतार भी वेदार्थावतार ही है—

'वेद-वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षात् रामायणात्मना ॥'

अर्थात्, वेद-वेद्य, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में अवतरण हुआ; साथ ही महर्षि वाल्मीकि के मुखारविन्द से रामायण-रूप में शतकोटि प्रविस्तर श्लोक-संयुक्त रामायण-रूप में वेदों का भी अवतरण हो गया। सिद्धान्त है कि वेद-राशि एवं वेदार्थ का साथ ही साथ अवतरण होता है।

एतावता, **'अपौरुषेयत्वेन अपास्तसमस्तपुन्दोषस्य अधिष्ठानभूतस्य वेद-वेद्यस्य निगमागम महातात्पर्यविषयीभूतस्य ब्रह्मणस्तव जन्मना आविर्भावेन अधिकं यथास्यात् तथास्य'** अपौरुषेय होने के कारण पुरुषाश्रित समस्त दोषों से सर्वथा मुक्त स्वभावतः उत्कर्ष को प्राप्त वेद-राशि वेदान्त-वेद्य, वेद के महा-तात्पर्य विषयीभूत परात्पर परब्रह्म के प्राकट्य से प्रामाण्य-गुण-संयुक्त होकर पूर्वतो वा सर्वतो वा विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रही है।

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

पूर्वतो वा सर्वतो वा अधिकाधिक उत्कर्ष के कारण ही वेदों की अतुलित शोभा हो रही है।

'दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।' जो अपने त्वक चक्षु श्रोत्रेन्द्रियादि को एकाग्र कर अपना अन्तरात्मा, अन्तःकरण एवं प्राण-सर्वस्व

को आपमें ही समर्पित कर आपको ही भज रहे हैं, आपका ही अनुसन्धान कर रहे हैं, उनके लिए आप प्रत्यक्ष हो जावें।

भगवत्-कथन है—

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥' (गीता १०।९)

'आसुप्ते रामृतेःकालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।' जब तक निद्रा अथवा मृत्यु न आ जाय तब तक निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन में ही संलग्न रहो। भगवत्-वरेण्य गुण-गणों का संचयन ही सम्पूर्ण धर्मानुष्ठानों का प्रमुख फल है यद्यपि अर्थ-प्राप्ति भी आनुषंगिक फल है। **'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः। कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।'** (श्रीमद्भा० १।२।९, १०) अर्थ-प्राप्ति का भी मुख्य-फल धर्मार्जन एवं गौण-फल काम है। उद्देश्य-भेद से कार्य में भी भिन्नता बन जाती है। जो श्रेष्ठ जन अपने तन-मन को आपमें ही अर्पित कर निरन्तर आपके लोकोत्तर गुण-गणों का श्रवण एवं मनन करते हैं, जो सर्वदा आपके स्वरूप का ही चिन्तन करते हैं, जो आपके दिव्य स्वरूप के दर्शन की लालसा से ही प्राणों को धारण किये हुए हैं, ऐसे 'तावकाः त्वां विचिन्वते' जनों के लिए आप प्रत्यक्ष हो जावें, स्वानुग्रहवशात् प्रकट हो जावें।

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि। जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥' (श्रीमद्भा० १०।१४।२९) आपके चरणाम्बुजद्वन्द्वप्रसादलेश से अनुगृहीत प्राणी ही आपकी महिमा को जान सकता है। अन्यथा चिरकाल तक अतिशय परिश्रम के साथ अन्वेषण करने पर भी आपका परिचय सर्वथा असम्भव ही है।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥'
(कठोप० १।२।२२)

जब तक आप स्वयं कृपा कर दर्शन देना स्वीकार न करें तब तक प्रवचन, धारणा-शक्तिमती मेधा एवं बहुधा श्रवण आदि किसी भी उपाय से आपका दर्शन संभव नहीं होता। अतः **'दिक्षु'** आप प्रत्यक्ष होकर उनको देखें।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

अर्थात्, हे वरद ! हे सुरतनाथ ! हम आपकी अशुल्क-दासिका हैं। शरद्-कालीन जलाशय मध्यस्थित सर्वोत्कृष्ट सरसिज के कर्णिकान्तर निहित श्री के सौन्दर्य को भी चुरा लेनेवाली अपनी दृष्टि से आपने हमें आहत किया है; क्या यह दृशावध, दृष्टि द्वारा वध हनन नहीं है ?

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को सम्बोधित करती हुई गोपाङ्गनाएँ 'वरद' तथा 'सुरतनाथ' जैसे सम्बोधनों का प्रयोग करती हैं। वरद अर्थात् सर्वप्रकार के अभीष्ट-दाता; प्राणी निरन्तर विभिन्न कामनाएँ करता रहता है परन्तु सर्वेश्वर सर्वज्ञ भगवान् की आराधना से ही अभीष्ट-सिद्धि सम्भव है अतः भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही 'वरद' वरदाता हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंधात्मक सम्पूर्ण सम्भोग ही सुरत है; सुरत के अधिपति ही 'सुरतनाथ' हैं; भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही सुरतनाथ हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे वरद ! हे सुरतनाथ ! वरद के द्वारा सम्पूर्ण अभीष्टों की सिद्धि तथा सुरतनाथ द्वारा सम्पूर्ण सुरत की प्राप्ति होना ही उचित है परन्तु आप द्वारा तो हम अशुल्क-दासिकाओं का हनन ही हो रहा है। आपके लोकोत्तर कल्याण गुण-गणों एवं अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य पर मुग्ध होकर हम आपके हाथों बिना मूल्य ही बिक गयी हैं। साधारणतः दासिका क्रीता होती हैं; गोपाङ्गनाएँ अपने को अक्रीता दासिकाएँ कह रही हैं; अशुल्क-दासिका का तात्पर्य है अधम-दासिकाः। जीव गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी के मतानुसार गोपाङ्गनाएँ अपने प्रति अशुल्क-दासिका जैसे विशेषण प्रयोग द्वारा अपने दैन्य को ही अभिव्यक्त कर रही हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि 'वरद' एवं 'सुरतनाथ' के द्वारा भी हम अशुल्क-दासिकाओं का वध ही किया जा रहा है; वध भी ऐसा जो केवल दृष्टि-मात्र से किया जा रहा हो। आपकी यह दृष्टि 'चोरिका' भी है, आप स्वयं भी चौराग्रगण्य हैं; **'चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि'**। अति दुर्लंघ्य दुर्ग का उल्लंघन कर अत्यन्त निगूढ़ वस्तु अथवा साधु के धन को भी चुरा ले जाना ही चोर-शिरोमणि का विशेष गुण है; आपकी दृष्टि में ये सब गुण विशेषतः विद्यमान हैं।

'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।' शरद्कालीन स्वच्छ सरोवर के मध्यस्थित श्रेष्ठ कमल-कर्णिकान्तर निवासिनी श्री को सुरक्षित रखने

के हेतु वह 'साधुजात', उत्कृष्ट कमल, यह समझते हुए कि शोताधिक्यवशात् क्रीड़ा-प्रसंग से भी शरद्-कालीन अगाध सरोवर में आपका प्रवेश न होगा, उसके मध्य में उत्पन्न हुआ; इतने पर भी भयभीत हो वह सरसिज-सम्राट अपने चारों तरफ सैकड़ों कमलरूप रक्षकों को स्थिर कर स्वयं भी सहस्रपत्रयुक्त हो सावधान हो गया; कमल-नाल तथा पत्र में उत्पन्न कंटक ही मानों उस सरसिज-सम्राट् के शस्त्रास्त्र हैं। इतने पर भी **'चौरजारशिखामणिः'** जैसी आपकी ख्याति से आतंकित उस सरोज-सम्राट् ने अपनी श्री का अपनी कर्णिका में मानों अपने उदर में छिपा लिया; तब भी आपकी दृष्टि ने कमल-कोष-निवासिनी श्री का अपहरण कर ही लिया। दुर्लंघ्य दुर्ग का उल्लंघन कर अति निगूढ़ वस्तु को चुरा लेने में आप सिद्धहस्त हैं; आपकी दृष्टि भी ,चौरिका' है।

'साधुजातः सम्यक्तया जातः सरसिजः तस्य उदरे या श्रीः शोभा तां मुष्णाति इति श्री मुट्तया दृशा अशुल्का दासिकाः निघ्नतः' साधुजात कमल-कोष-निवासिनी श्री का अपहरण करनेवाली अपनी दृष्टि से आपने हम अशुल्क-दासिकाओं का हनन किया है; **'नेह किं वधः ?'** क्या यह हनन नहीं है ? हे मदनमोहन ! आपके इन अत्यन्त सुन्दर नेत्रों द्वारा मोहित हुई हम गोपाङ्गनाएँ अब आपके दर्शन से भी वंचित होकर विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संतप्त मृतप्राय हो रही हैं; क्या यह आप द्वारा हमारा वध नहीं है ?

'सुरतनाथ' अर्थात् **'सुष्ठु रतानां नाथः, उपतापकः, सुरतानां नाथः'** जो आपमें सुरत है, जिनकी आपमें सुष्ठु रति हैं वे ही सुरत हैं। साधारणतः सम्पूर्ण सांसारिक प्राणी पुत्र-कलत्र वित्तादिक अनात्मा में ही रमण करते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज प्रस्फुटित होने पर ही कोई एक सौभाग्यशाली भगवत्-स्वरूप में सम्यक्तया रत हो पाता है; **'सुष्ठु शोभनं परं ब्रह्म तत्र ये रमंते ते सुरताः'** भगवत्-तत्त्व ही परम शोभन, परमोत्कृष्ट है; इस परमोत्कृष्ट तत्त्व में सम्यक् रति ही सुष्ठु-रति है; ब्रह्मज्ञानियों की आत्म-क्रीड़ा ही सुष्ठु-रति है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही इस सुष्ठु-रति में सम्यक् तथा संलग्न जनों के अधिपति हैं; गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे सुरतनाथ ! साधारणतः भी किसी प्राणी को क्लेश पहुँचाना अनर्थ करना है; फिर स्वयं सुरतनाथ द्वारा हम सुरत जनों को विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप से सन्तप्त करना तो सर्वथा ही असंगत है।

'नाथ' शब्द का अर्थ है अन्तर्यामी; अन्तर्यामी अर्थात् प्रेरक। अपनी मंगलमयी दृष्टि द्वारा जो सुरत के प्रेरक हैं वे ही सुरतनाथ हैं। सामान्यतः सुरत शब्द प्रेयसी-प्रेयान् के निगूढ़तम सम्बन्ध का वाचक ही होता है। सर्वमान्य

है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गोपाङ्गनाओं के प्रेयान् तथा गोपिकाएँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की प्रेयसीजन थीं, अतः प्रेयसी-प्रेयान् का सहज सम्बन्ध भी स्पष्ट भासित हो जाता है। स्थितिविशेष में वास्तविकता के असंदिग्ध बोधहेतु गम्भीर विश्लेषण अनिवार्य है। सम्पूर्णतः प्रेम परिपूर्ण, निरावरण, निगूढ़ संबंध ही सुरत है। प्रेमोत्कर्ष ही व्यवधानशून्यता का मूल-मंत्र है; जितना ही अधिकाधिक प्रेमोत्कर्ष होगा उतना ही अधिकाधिक व्यवधान-राहित्य स्वतः होता जाता है। जिस तरह लौकिक प्रेयसी-प्रेयान् के निगूढ़तम-सम्बन्ध-हेतु भी व्यवधान-निराकरण अनिवार्य हो जाता है उसी तरह सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी, श्रीकृष्णचन्द्र-सम्मिलन हेतु भी सम्पूर्ण व्यवधान-निराकरण अनिवार्य है। श्रीकृष्णचन्द्र ही समस्त जीवों के अन्तरात्मा हैं अतः समस्त प्राणियों के निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम के आस्पद हैं। शुद्धाद्वैतवादानुसार भी जगत् ब्रह्ममय है तथापि मायाजन्य आवरण से आवृत है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निरावरण, परात्पर परब्रह्म हैं; परमानन्दघन भगवान् से भिन्न होकर परमार्थ सत्य का कोई अस्तित्व नहीं; जैसे वायु आदि क्रम से आकाश के द्वारा समुद्भूत घटरूप उपाधि से आकाश में महाकाश एवं घटाकाश दो भेद हो जाते हैं वैसे ही परमात्मा से समुद्भूत उपाधियों द्वारा ही चैतन्यानन्दघन भगवान् में भी जीव और परमेश्वर दो भेद हो जाते हैं। जीवात्मा पंच-कंचुकों से आवृत है; पिता-माता के शुक्र-शोणित सम्मिलन समुद्भूत, अन्नमय-कोष ही शरीर है। शरीर ही प्रथम कोष है। द्वितीय कोष प्राणमय है; प्राणमय कोष में ही मन एवं पञ्च कर्मेन्द्रियाँ अधिष्ठित हैं। तृतीय कोष मनोमय है; मनोमय कोष के अनन्तर विज्ञानमय कोष है; इसमें बुद्धि एवं पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ अधिष्ठित हैं। पञ्चम कोष है आनन्दमय; आनन्दमय कोष में ही प्रिय, मोदाः, प्रमोदाः आदि अधिष्ठित हैं। जीवात्मा इन पञ्चकोषों रूप कंचुकों से आवेष्टित है एतावता अन्तःकरण उपलक्षित पञ्चकोष, पञ्च-कंचुकों से निरावृत होने पर ही **'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'** रूप पञ्चकोषातीत शुद्धस्वरूप, सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी, परात्पर परब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, श्रीकृष्णचन्द्र में सम्मिलन सम्भव है। 'श्रीमद्भागवत' में एक कथा है; जिस समय महाभारत-संग्राम के अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र हस्तिनापुर से श्री द्वारिका पधारे उस समय प्रोषित-भर्तृका, द्वारिकावासिनी श्रीकृष्ण-पट्टमहिषी-गण प्रिय-सम्मिलन हेतु आसन एवं आशय से उठ चलीं। **'उत्तस्थुरारात्सहसासनाऽऽशयात्।'** तात्पर्य कि श्रीकृष्णचन्द्र प्रेयसी-गण का देशकृत-व्यवधान निराकरण-हेतु आसन से तथा वस्तुकृत-व्यवधान निवारणहेतु आशय से अभ्युत्थान हुआ। **'आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः।'** आसन-शब्द से अन्तःकरण जो समस्त कर्म-वासनाओं का आलय है, विवक्षित है। आशय पंचकोश का उपलक्षण है;

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण प्रेयसी-गण आशयोपलक्षित पंचकोष कंचुक-समावृत-स्वरूप को प्रिय-सम्मिलन में बाधक समझकर उस पंचकोषात्मक-आवरण से पृथक् होकर, निरावृत होकर, प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र सम्मिलन हेतु अग्रसर हुईं। यह सम्पूर्णतः निरावृत-सम्मिलन ही गोपाङ्गनाओं का भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ सुरत-सम्बन्ध है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ गोपाङ्गनाओं का सम्बन्ध जल एवं तरंगवत् है। नन्ददास कहते हैं **'तरंगन वारि ज्यौं'** अन्य सम्पूर्ण सम्मिलन में यत्किंचित् भेद रह ही जाता है परन्तु जल एवं तरंग का सम्बन्ध सर्वथा अभिन्न है; जैसे तरंग के अणु-परमाणु में, कण-कण में जल ही जल भरपूर है वैसे ही गोपाङ्गनाओं के अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण, रोम-रोम परात्पर परब्रह्म, पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूपमय है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं; **'गिरा अर्थ जल वीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न, बंदउँ सीताराम पद जिनहि परमप्रिय खिन्न'** अर्थात् उन सीता तथा श्रीराम के जो वाणी एवं अर्थ किंवा जल एवं तरंगवत् अभिन्नतः सम्बद्ध हैं चरणारविन्दों में नमन करता हूँ। कालिदास भी कहते हैं **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।'** शब्द और अर्थ की तरह अभिन्न पार्वती एवं परमेश्वर की वन्दना करता हूँ। वैयाकरण भी शब्द और अर्थ के तादात्म्य सम्बन्ध को मानता है। वेदान्त-सिद्धान्त है कि **'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता। संवित् सैवेह संविच्च संविदेषा स्वप्रभा (पंचदशी)।'** अनादि, अनन्त, अखण्ड, नित्य-प्रबोध सत्ता ही संविद् है। भगवान् सच्चिदानन्द हैं। सत् अर्थात् अत्यन्त अबाध सत्ता; चित् अर्थात् अत्यन्त अखण्ड नित्य-प्रबोध; आनन्द अर्थात् सर्वोपद्रवविवर्जित-स्वात्मा। अर्थोपलक्षित सम्पूर्ण जगत् सदानन्द का परिणाम है; सम्पूर्ण शब्द चिदानन्द का परिणाम है। सत् में जो स्वप्रकाशत्व है वही उसकी संवित्रूपता है; संवित् में जो अत्यन्ताबाध्यता है वही उसकी सद्रूपता है तथा सद् संवित् में जो सर्वोपद्रव-रहितता है वही आनन्दरूपता है। अस्तु, शब्द और अर्थ मूलतः एक ही हैं। **'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्'** तदभिन्नाभिन्न में तदभिन्नता ही होती है। यही **'तरंगाभिन्न समुद्र, समुद्राभिन्न तरंगान्तर'** अर्थात्, समुद्र से अभिन्न तरंग, अथवा एक तरंग का दूसरो तरंग से अभिन्नता न्याय है। वस्तुतः प्रत्येक तरंग का अन्य तरंग से तथा समुद्र से अभिन्न सम्बन्ध है तथापि बाह्यतः भिन्नता की प्रतीति होती है। कहा जाता है, **'सविता गोभी रसं भुङ्क्ते'** अर्थात्, सूर्यनारायण अपनी रश्मियों द्वारा धरित्री का भोग करते हैं; तात्पर्य कि धरित्री का रस सूर्यनारायण में लीन हो गया। भोक्ता द्वारा भोग्य का आत्मसात् कर लिया जाना ही भोग है। भोक्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का भोग्य गोपाङ्गनाओं से तादात्म्य हो जाना, जीवात्मा का सर्वाधिष्ठान पर-

मात्मा से सर्व-प्रकारेण व्यवधानराहित्य, तादात्म्यापत्ति स्थापित कर लेना ही सम्यक् भोग, सम्भोग किंवा सुरत है। आचार्यगण-मतानुसार गोपाङ्गना पद जीव-वाच्य है। इसीलिए कहा जाता है कि गोपाङ्गनाभाव बिना भगवत् पद-प्राप्ति, मुक्ति सम्भव नहीं। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई॥'

(रा० मा०, अयो० का० ७।६)

'प्राणनाथ तुम बिन जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥'

(रा० मा०, अयो० का० ६५।६)

जैसे चन्द्रमा से चन्द्रिका, सूर्यनारायण से प्रभा, अथवा समुद्र से तरंग का अभिन्न सम्बन्ध है, वैसे ही परमात्मा से जीव का भी अभिन्न सम्बन्ध है। तद्यथा **'प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचिद् वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मनासम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।'** (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।२१) अर्थात् जैसे कोई सती, साध्वी प्रेयसी प्रियतमा दीर्घ कालान्तर विदेश से लौटकर आए हुए अपने प्राणधन, प्रिय पति का आलिंगन कर आनन्दोद्रेक से विह्वल हो अन्य सम्पूर्ण बाह्य ज्ञान को भूल जाती है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा का आलिंगन कर सम्पूर्ण संसार को भूल जाता है। वस्तुतः ये सम्पूर्ण उदाहरण केवल संकेतमात्र हैं। परमात्मा एवं जीवात्मा के अभिन्न सम्बन्ध-बोध-हेतु जल एवं तरंग, चन्द्र एवं चन्द्रिका, भानु एवं प्रभा के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं; अथवा सर्वविध व्यवधानशून्य लौकिक प्रेयसी-प्रेयान् सम्बन्ध से भी उदाहरण दिया जाता है तथापि ये सम्पूर्ण उदाहरण सीमित हैं अतः अपर्याप्त हैं।

अविद्या काम-कर्म के वशीभूत जीव स्वयं अपने-आपको परमात्मा से विमुक्त एवं भिन्न मान बैठता है।

'जब ते जीव हरि ते बिलगानो, तब ते देह-गेह निज मानो।
मायाबस स्वरूप बिसरायो, तेहि भ्रमते दारुन दुख पायो॥'

तथा

'आनन्द-सिन्धु मध्य तव बासा, बिनु जाने कत मरसि पियासा।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा, बारि-बीचि इव गावहिं वेदा॥'

(रा० मा०, अ० का० ११०।५)

आदि अनेक ऐसे वाक्य हैं। परमानन्द-रसार्णव-भगवान् में बर्फ-पुतली की तरह निमग्न जीव अपने प्रियतम को भूलकर अनन्त क्लेशों में निमग्न हो सन्तप्त हो रहा है। शास्त्र तथा आगमों के प्रबोधन से ही अज्ञान-विस्मरण एवं विभ्रम

की निवृत्ति होती है। 'श्रीमद्भागवत' में एक पुरंजन-पुरंजनी आख्यान है। जीवरूप पुरंजन मायावश अपने परम अन्तरंग सखा को भूलकर बुद्धि-पुरंजनी का अत्यंतानुरागी हो अनवरत उसीके चिन्तन में तन्मय हो गया। उस समय पुण्य-परिपाक से पतिरूप गुरु की आराधना से संतुष्ट होकर श्री हंसरूपधारी भगवान् प्रकट हुए तथापि पुरंजनी में आसक्त जीव-रूप पुरंजन अपने सनातन सखा को न पहचान सका। पुरंजन के फलोन्मुख पुण्य-पुंज एवं स्वानुग्रहवशात् भगवान् ने उसको अपने विशुद्ध स्वरूप का दर्शन एवं उपदेश दिया।

'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥'

(श्रीमद्भा० ४।२८।६२)

मैं ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप हूँ, तुम मुझसे पृथक् नहीं हो, मैं ही तुम और तुम ही मैं हूँ। परमात्मा के साथ अपने इस अभिन्न सम्बन्ध को भूल जाने से ही जीव अनेकार्थमूलक संसृति-चक्र में भटकता रहता है।

'बृहदारण्यक' का कथन है कि सुषुप्ति-काल में जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता है। दृष्टान्त है—**'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते।'** (छांदो० ६।८।२) जैसे सूत्र में बँधा शकुनि पक्षी दिशा-विदिशा में भ्रमण करता हुआ परि-श्रान्त हो विश्रान्ति के लिए पुनः बंधन-सूत्र के आश्रय-काष्ठ का ही समा-श्रयण करता है वैसे ही नाना प्रकार के कर्मों से परतन्त्र होकर जीव जाग्रत् एवं स्वप्न की अवस्थाओं में स्वाश्रयभूत प्रभु से वियुक्त होकर भिन्न-भिन्न विषयों में भटकता हुआ पुनः विश्रान्ति के लिये जाग्रत् एवं स्वप्न के हेतु-भूत अविद्या-काम-कर्मों के क्षीण होने पर भगवान् का ही अवलम्बन करता है। श्रुतियों ने जीव को प्रभु का अंश कहा है। **'यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः।'** (बृहदारण्यको० २।१।२०) अर्थात् जैसे अग्नि से विस्फुलिंग का निर्गम होता है उसी तरह परमात्मा से ही सम्पूर्ण लोक एवं जीवों का निर्गम होता है। जैसे महाप्रलय में समस्त प्रपञ्च समष्टि ब्रह्म में विलीन हो जाता है वैसे ही सुषुप्ति में भी समस्त प्रपञ्च का विलयन श्रुति ने कहा है। अतः सुषुप्ति में उपाधियों के विलीन हो जाने पर जीव परमात्मा से मिलता है। जैसे जब तक जल सावरण एवं द्रुत रहता है तब तक उसकी चंचलता एवं मलिनता से प्रतिबिंब भी चंचल एवं मलिन प्रतीत होने लगता है वैसे ही जब तक अन्तःकरण निद्रारूप आवरण से रहित रहता है

तब तक उसमें प्रतिबिम्बित चिदानन्द-तत्त्व भी उसकी व्याकुलता एवं मलिनता से व्याकुल एवं मलिन-सा रहता है। यही बात **'ध्यायतीव लेलायतीव'** इस श्रुति में कही गई है। जिस समय अविद्या परिणाम अन्तःकरण अविद्यामय हो जाय या निद्रारूप गाढ़ आवरण से आवृत हो जाय उस समय जैसे जल में सावरण एवं घनीभूत भाव में प्रतिबिम्ब बिम्ब ही हो जाता है ठीक वैसे ही सुषुप्ति में जीव परमात्मा से मिल जाता है। इस तत्कालीन तादात्म्य के कारण उस जीव में उस समय विशेष में किसी प्रकार के अनर्थ का योग नहीं होता। श्रुति का कथन है, **'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति।'** (छा० ६।८।१) **'स्वपिति'** क्रिया **'स्वप्'** धातु के लट्-लकार का रूप है। **'अपिधानं पिधानं'** के समान अकार का लोप हो जाता है **'स्वम् अपीतो भवति तस्मात् स्वपिति'** ऐसा श्रौत निर्वचन है। अर्थात् सुषुप्ति-काल में जीवात्मा सत्पदवाच्य परमात्मा के साथ सम्पन्न हो जाता है।

जिस जीव को एक दिन भी निद्रा न आई हो वह व्याकुल हो उठता है और प्रजागर दोष के निवारणार्थ सहस्रों उपचार करता है। निद्रा-राहित्य से सन्तप्त जीव को दिव्यातिदिव्य सौख्य-सामग्रियाँ प्राप्त होने पर भी निरर्थक ही प्रतीत होती हैं; यहाँ तक कि उनकी प्रतीति भी उसके लिए दुःसह हो उठती है और सब कुछ त्यागकर वह केवल गाढ़ निद्रा प्राप्त करने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठता है। क्या यह निष्प्रपञ्च-अद्वैत-सुख की महत्ता नहीं है? सर्व-सौख्य-सम्पन्न द्वैत-दर्शन से उद्विग्न होकर अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् भी विश्रांति के लिए अद्भुत अद्वैत-सुख का समाश्रयण करते हैं। अस्तु द्वैत में चाहे जितना भी सुख जहाँ भी जैसे भी प्राप्त हो वह संपूर्णतः निष्प्रपञ्च अद्वैत-ब्रह्म-सुख की अपेक्षा न्यून ही नहीं अपितु दुःखरूप भी है।

कहा जाता है कि सौन्दर्य-माधुर्यादि गुण-सम्पन्न, सगुण, साकार, भगवान् में ही आनन्द है; अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, निराकार, निर्विकार, परमात्मा पाषाणवत् शुष्क है; उसमें सुख का लेश भी नहीं है। विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आनन्द सर्वत्र ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगंध एवं अदृश्य है। प्रेमास्पद में प्रेम के उत्कर्ष से आनन्दोद्रेक होता है; आनन्दोद्रेक से सम्पूर्ण जगत् का विस्मरण हो जाता है। ऐसे ही सुषुप्ति-काल में प्राज्ञ परमात्मा के सम्मिलन-जन्य आनन्द से प्रपञ्च का विस्मरण एवं सप्रपञ्च ब्रह्म में सातिशय प्रेम उद्भूत होता है। सुषुप्ति में सावरण ब्रह्मानन्द की ही प्राप्ति होती है। जैसे मेघ-समावृत सूर्य ही मेघ का अवभासक है वैसे ही अज्ञान से समावृत अज्ञान का प्रकाशक निष्प्रपंच-अद्वैत स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मा है जो सुषुप्ति-काल में

जोव को मिलता है। जागर के अन्त में और सुषुप्ति के पूर्व तथा सुषुप्ति के अन्त और जागर के पूर्व में कुछ क्षण निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह शुद्ध निर्दृश्य, चिद्रूप, अखंडभान का दर्शन होता है। जैसे लक्षणा-ज्ञान एवं परिचय के लिए अन्य दृश्य की ओर से दृष्टि व्यावर्तनपूर्वक तत्परता से प्रयत्न करने पर स्पष्ट-रूपेण ध्रुव का परिचयपूर्वक दर्शन होता है ठीक इसी तरह सदा ही सुषुप्ति एवं जागर के अन्त में यद्यपि सभी को निर्दृश्य शुद्ध-दृक्-रूप, स्वयं-प्रकाश, अखण्ड-भान का दर्शन होता है तथापि परिचयपूर्वक सुस्पष्ट साक्षात्कार नहीं हो पाता। तत्परतापूर्वक उसीके साक्षात्कार से जीव सदा के लिए बन्धन-मुक्त हो जाता है।

सुषुप्ति-काल में अविद्या-काम-कर्म-विशिष्ट जीव सबीज ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करता है। भगवान् योगमाया-समावृत हैं, जीवात्मा वासनायुक्त है; **'नाहम् प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'** अतः जाग्रत् एवं स्वप्न-अवस्था के हेतुभूत अविद्या-काम-कर्मवशात् वासना के पुनः उद्भूत होने पर सुषुप्ति-दशा भंग हो जाती है। निरावरण, परात्पर परब्रह्म सम्मिलन हेतु जोव के स्वयं सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त हो अग्रसर होने पर ही व्यवधानरहित ब्रह्म सायुज्य संभव हो सकता है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों ही उपाधि संयुक्त अवस्थाएँ हैं। माता-पिता के शोणित-शुक्रजन्य स्थूल शरीर, बहिर्मुख मन, इन्द्रियाँ एवं बुद्धि जाग्रत अवस्था की, अर्द्ध-निद्रा अर्ध-विलीन मन स्वप्नावस्था की तथा अविद्या सुषुप्तावस्था की उपाधियाँ हैं। **'अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृतिः।'** अविशुद्ध सत्त्व-प्रधान-भूत जो प्रकृति है वही अविद्या है। सर्वोपाधि-विवर्जित, अखण्ड बोध, अनन्त चिद्-प्रकाश सत्ता ही निरावरण ब्रह्म है। निरावरण ब्रह्म ही तुरीय-तत्त्व है। निरावरण सच्चिदानन्द तुरीय-तत्त्व ही रूपान्तर से तुरीयातीत-तत्त्व भी कहा गया है।

परिचय एवं अनुभव के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती। सुषुप्ति-काल में प्राप्त सावरण-ब्रह्म-सम्मिलनजन्य आनन्दानुभव जीवात्मा को निरावरण ब्रह्म-सायुज्य-हेतु प्रेरित करता है। जीवात्मा का निरावरण परब्रह्म-सम्मिलन अभिव्यक्त करने हेतु ही द्वारकास्थ पट्टमहिषी-गणों का दृष्टान्त दिया जाता है। वे पट्ट-रानियाँ भी देशकृत-व्यवधान-निराकरण हेतु आसन से और वस्तुकृत-व्यवधान-निवारण हेतु आशय से उठकर श्रीकृष्ण-परमात्मा-सम्मिलन हेतु अग्रसर हुईं। गोपाङ्गनाओं की महिमा तो द्वारकास्थ पट्टरानियों से सहस्र गुणाधिक है; द्वारकास्थ पट्टरानियाँ अत्यन्त सौभाग्यशालिनी होते हुए भी इन प्रेम-विह्वला गोपालियों के भाग्य को सिहाती रहती हैं। उनके इस लोकोत्तर अद्भुत सौभाग्य को प्राप्त करने के लिए ललचाती रहती हैं। वस्तुदृष्ट्या गोपाङ्गनाएँ साक्षात्

परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण-भगवान् की शक्ति-स्वरूपा ही हैं। समुद्र एवं तरंग, चन्द्र एवं चन्द्रिका, भानु एवं प्रभा आदि अचेतन संश्लेष हैं अतः अपेक्षाकृत बहिरंग हैं; गंगाजल एवं उसकी शीतलता, पवित्रता, मधुरता का सम्बन्ध संपूर्णतः अन्तरंग है अतः इनसे रहित गंगाजल की कल्पना भी संभव नहीं; इसी तरह गोपाङ्गनाएँ परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दसिंधु की तरंग हैं; माधुर्यसार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री, रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, वृषभानुनंदिनी राधारानी ही इस आनन्दकन्द परमानन्द सुधा-सिन्धु की अन्तरंग हैं। आनन्द-सुधा-सिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र तथा आनन्द-सुधा-सिन्धु-माधुर्य-सर्वस्व-सार नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी का सर्वव्यवधानशून्य तादात्म्यापत्ति ही सुरत है। यहाँ सुरत शब्द से किसी प्रकार का पाशविक सुरत विवक्षित नहीं है। एतावता 'सुरतनाथ' पद-प्रयोग से यही विवक्षित है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे श्यामसुन्दर! मदन-मोहन! आप ही सर्व-प्रकार के सम्भोग-सुख के अधिपति सुरतनाथ हैं; आपकी ही अनुकम्पा से सम्पूर्ण लौकिक सुख-सम्भोग प्राप्त होते हैं। ऐतरेयोपनिषद् का वाक्य है **'एषह्येवानन्दयाति'** सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश भगवान् ही लौकिक प्राणियों के लिए शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गन्धात्मक संपूर्ण आनन्द को प्रदान करते हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे श्यामसुन्दर! आप सम्पूर्ण सुखों के दाता हैं तदपि आपको किञ्चिन्मात्र भी प्रयास नहीं करना पड़ता; 'दृशा सुरतनाथ' केवल मात्र दृष्टि से ही आप सम्पूर्ण आनन्द को प्रदान करते हैं। भगवान् सत्य-संकल्प हैं; उनके संकल्पमात्र से सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। **'निःश्वसितमस्य वेदावीक्षितमेतस्य पंचभूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः।'** भगवान् का सहज श्वास ही अनन्त विद्याओं के उद्गम-स्थल, मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद-राशि-स्वरूप में प्रस्फुटित हुआ। **'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी, सो प्रभु पढ़ यह कौतुक भारी।'** भगवान् का वीक्षण ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का मूल पंच-महाभूत स्वरूप में प्रस्फुटित हुआ; भगवान् के स्मित से ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड प्रफुल्लित होकर प्रत्यक्ष हो गए और भगवान् के नेत्रनिमीलन कर लेने पर समस्त विश्व का प्रलय हो गया। कहावत है—**'छूछी भरे भरी ढरकावै जब चाहे तब फेर भरावै।'** गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे श्यामसुन्दर! आप तो दृशैव वाञ्छा कल्पतरु हैं; दृष्टिमात्र से ही सम्पूर्ण वाञ्छाओं की पूर्ति करनेवाले हैं। आप ही सुरतनाथ, सर्व-सम्भोगाधिपति हैं; आप ही अनन्त ब्रह्माण्ड के ब्रह्मादिक देवशिरोमणियों को भी दिव्यातिदिव्य सुख प्रदान करते हैं तथापि हम गोपाङ्गनाएँ जिन्होंने आपमें ही अपने सर्वस्व को समर्पित कर दिया है सुरत-सुख से वंचित हो दुःखिनी ही हैं। हे श्यामसुन्दर! आपकी प्रेयसी, प्रियतमा होते हुए

भी हम व्रजसीमन्तनी-जन आपके सुरत-सुख से वंचित हैं; दीपक तले ही अँधेरा है।

उपर्युक्त उक्ति का '**सुष्ठु शोभना रतिः सुरतिः, सा अस्ति यस्य स सुरतः तत् संबुद्धौ हे सुरत।**' अर्थ भी किया जा सकता है। '**सुष्ठु शोभना रतिः**' अर्थात् भोगापवर्ग कामधेनुः जिसके मंगलमय पादारविन्द की रति, प्रीति, अनुरक्ति ही सुष्ठु-शोभना हैं भोगापवर्ग कामधेनु है। 'नाथ' शब्द ईश्वरवाचक है; अतः 'सुरत-नाथ' अर्थात् सुरत के प्रेरक। सुरतनाथ का एक अर्थ सुरत-याचक भी है। साधक की अभिलाषानुसार ही विभिन्न सम्बोधनों का प्रयोग किया जाता है; भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिपति हैं, आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, सर्वाभीष्ट-दाता, सबके सर्व मनोरथों को पूर्ण करनेवाले हैं। धर्ममार्गानुसार भगवान् के धर्म-पालक, धर्मज्ञ, ब्रह्मण्य, यज्ञपते आदि, अध्यात्म ज्ञानमार्गानुसार ज्ञाननिधे, योगेश्वर, सुव्रत आदि विभिन्न सम्बोधन हैं। पूजा के लिए लक्ष्मीपते, जगत्पते आदि अनेकानेक सम्बोधन व्यवहृत होते हैं। सुरतनाथ सम्बोधन का सुरत के प्रेरक जैसा अर्थ भगवदीय ऐश्वर्य का अभिव्यञ्जक और 'सुरत के याचक' जैसा अर्थ माधुर्यभाव का प्रेरक है। माधुर्य-भावानुसार आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम को भी सकाम मान लिया जाता है। श्रीमद्भागवत-कथन है, '**भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।**' षड्-भगयुक्त, अचिन्त्य, अनन्त, कल्याण-गुण-गणों के आस्पद भगवान् ने अपनी अघटित-घटना-पटीयसी, मंगलमयी, माया-शक्ति के द्वारा मन बनाया तात्पर्य कि आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम में भी सकामता आरोपित की गयी। '**ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै।**' उस सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, परात्पर-परब्रह्म प्रभु को भी प्रेम-विभोर गोपालियों ने छछिया भरि छाछ पर नाच नचा दिया; '**तद् वशो दारुयन्त्रवत्**' सूत्रधार के संकेत पर नाचती कठपुतली की तरह ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सर्वेश्वरता, सर्वनायकता, सर्वशक्तिमत्ता को भुलाकर गोपालियों के इशारों पर नाच रहे हैं। एतावता गोपाङ्गनाएँ आनन्दकन्द, परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण के प्रति सुरतनाथ, सुरत के याचक जैसा सम्बोधन करती हैं। श्रीकृष्ण न केवल याच्ञा ही करते हैं, अपितु रागातिशय में नवनीत-चौर्य जैसा कर्म भी करते हैं। भक्त कहता है—

> **'प्रथयति नवनीतचौरतां ते व्रजयुवतीजनजारतां जनो यः।**
> **वितरसि निजरूपमीश! तस्मै स्वकृतधिया परि गोपनाय नूनम्॥'**

अर्थात्, हे कृष्ण! जो तुम्हारी नवनीत-चौर्य एवं व्रज-युवती-जन जार लीला को गाता है उसको तुम शीघ्र ही अपना रूप प्रदान कर देते हो। परन्तु यह

स्वरूप-दान अपने कृत्यों को छिपाने के लिए दी गई घूस, उत्कोचमात्र है। ऐसी माधुर्यपूर्ण लीला-दृष्टि से ही भगवान् श्रीकृष्ण, सुरत के याचक, सुरतनाथ हैं। एतावता भगवान् श्रीकृष्ण सुरत के प्रेरक भी हैं, सुरत के याचक भी हैं। भगवदनुकम्पा-वशात् ही प्राणी में भगवत्-सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठा उद्भूत होती है। एक कथा है। किसी एक चातुर्मास्य में अनेकानेक ऋषि-महर्षि कहीं किसी एक स्थान पर एकत्रित हुए; उनके यहाँ एक दासी रहा करती थी; इस दासी का पुत्र, नारद भी अपनी माता के संग ही ऋषि-महर्षियों की सेवा में लगा रहता था। चातुर्मास्य के सम्पूर्ण होने पर ऋषि-महर्षि-गण उत्तराखण्ड की ओर चले गये। अनायास प्राप्त हुए इस सत्संग के कारण बालक नारद के कोमल हृदय में भगवद्-भक्ति के संस्कार उद्भूत हुए; संयोगवशात् उनकी माता का भी देहान्त हो गया; अस्तु, सर्व-विनिर्मुक्त हो बालक नारद भगवद्-ध्यान में तल्लीन हो गया।

'ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन् मे शनैर्हरिः ॥'

(श्रीमद्भा० १।६।१७)

अर्थात्, भगवान् के पाद-पंकजों का ध्यान करते हुए बालक नारद के हृदय में उत्कण्ठा का अतिशय उद्रेक हुआ जिसके कारण उनके कण्ठ गद्गद हो गये और नेत्रों से आनन्दाश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। ऐसे समय में भक्त-हृदय में भगवान् के दिव्य स्वरूप का प्रस्फुरण हो गया, भक्त को भगवान् का साक्षात्कार, भगवत्-स्वरूपानुभूति हुई। **'आनन्द सम्प्लवेलीनो नापश्यमुभयं मुने।'** भगवान् के आविर्भाव के कारण ऐसे आनन्द-समुद्र का जिसमें सम्पूर्ण अन्तः एवं बाह्य जगत् का विलीनीकरण हो गया, प्रस्फुरण तो हुआ तथापि वह दिव्य स्वरूप कुछ ही क्षणों में विलुप्त हो गया; अब तो नारद अत्यन्त व्याकुल हो तड़फड़ाने-रोने लगे। नारद को अत्यन्त व्याकुल देखकर आकाशवाणी हुई **'हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् न मां द्रष्टुमिहार्हति। अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।'** (श्रीमद्भा० १।६।२२) हे नारद! अब इस जन्म में तुझे मेरा दर्शन न हो सकेगा। सम्पूर्ण कषाय-दोषों के उन्मूलन न हो जाने की अवधि तक मेरा दर्शन दुर्लभ ही है। **'सकृद्यत् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।'** (श्रीमद्भा० १।६।२३) भगवत्-सम्मिलन में तुम्हारी कामना को प्रबलतम कर देने के लिए ही मैंने एक बार तुम्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्य-पूर्ण दिव्य-स्वरूप का बोध करा दिया। जैसे वंशी में लगे बडिश से आकर्षित मीन स्वतः ही जाल में खिंची चली आती है वैसे ही एक बार एक क्षण के लिए भी प्रभु के अनन्त सौन्दर्य-माधुर्ययुक्त

आनन्दमय लोकोत्तर दिव्य-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर मीनोपलक्षित जीव भगवत्-सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठावशात् खिंचा चला आता है; इस जाल में फँसकर जीव सर्व-बन्धन-विनिर्मुक्त हो जाता है।

'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'
(तैत्ति० उप० २।७)

अर्थात्, यदि परमानन्द-स्वरूप भगवान् भक्त के हृदय में किसी न किसी काल में, किसी न किसी रूप में प्रकट न हों तो उनके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप को कौन सह सकता है ? **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'** बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी को भगवत्-प्राप्ति होती है। जब तक किसी प्रकार का परिचय अथवा आस्वादानुभव न हो तब तक आकर्षण असम्भव है। यह परिचय एवं आस्वादानुभव हो भगवत्-प्रेरणा, भगवदनुग्रह है। इसलिए कहा गया है— **'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्॥'** (श्रीमद्भा० १।५।१९) मुकुन्द-सेवी अन्य जनों की तरह संसृति-चक्र में नहीं फँसता। **'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥'** (श्रीमद्भा० १०।२।३२) अर्थात्, हे अरविन्दाक्ष! आपके चरणारविन्दों में प्रीति न होने के कारण विमुक्तमानी भी अविशुद्ध-बुद्धि है। सम्यक्-ज्ञान न होने पर ज्ञानाभास के प्रभाव से मान सम्भव हो जाता है परन्तु जो वस्तुतः ज्ञानी नहीं है वह सर्वदा ही विमुक्तमानी रहता है। गोस्वामीजी कहते हैं—**'प्रेम-भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कतहुँ कि जाई।'** प्रेम-भक्ति-स्वरूप-जल से धोये बिना अभ्यंतर-मल कदापि नहीं छूटता। **'छूटै मल कि मलहिं के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए।'** (रामच० मानस ७।२७।४) जैसे जल को बिलोकर मक्खन प्राप्त करने का प्रयास सर्वथा निरर्थक होता है वैसे ही भगवद्-विषयक अनुरक्ति से रहित हो विमुक्तमानी भी अविशुद्ध-बुद्धि तथा ज्ञान-मान-मत्त हो जाते हैं। **'अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः'** (श्रीमद्भा० १०।२।३२) ऐसा ज्ञान-मान-मत्त ही प्रभु-चरणारविन्दों का अनादर करता है। **'आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः।'** (श्रीमद्भा० १०।२।३२) जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-परिपाक-वशात् दिव्यातिदिव्य सुर-दुर्लभ-पद को प्राप्त कर लेने पर भी विमुक्तमानी अविशुद्ध-बुद्धि पतित हो जाता है।

'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'
(श्रीमद्भा० १०।२।३३)

भगवत्-चरणारविन्द का अनुरागी कदापि पतित नहीं होता; वह तो सदा ही विघ्नराजों के अधिपति के भी सिर पर पैर रखता हुआ भय-रहित होकर विचरता है।

भगवत्-चरणारविन्द-विमुख प्राणी संसृति-चक्र में आबद्ध हो अनेकानेक क्लेश का भागी होता है परन्तु मुकुन्द-सेवी संसृति-चक्र-विनिर्मुक्त हो जाता है क्योंकि **'स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः।** (श्रीमद्भा० ११५।९) जिसको क्षणभर के लिए भी श्री अंग के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य का अनुभव हो गया वह मुकुन्द-चरणारविन्दों के उपगूहन की स्मृति में ही सदा निमग्न रहता है क्योंकि एक बार ऐसा रसग्रह हो जाने पर दुनिया के इतर सम्पूर्ण रस नीरस प्रतीत होने लगते हैं। विधान है :—

'विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः।'
(श्रीमद्भा० १२।६।३२)

अनात्म-भावनाओं को त्यागकर अनन्य सौहार्द, अनन्य अनुरागपूर्वक हृदय से भगवान् के मंगलमय पाद-पंकज का क्षण-प्रतिक्षण उपगूहन करो। जैसे कोई रंक चिन्तामणि को प्राप्त कर सदा-सर्वदा विशेष सतर्कतापूर्ण उसकी सँभाल में खोया रहता है उसी तरह भगवद्-चरणानुरागी भी भगवद्-पाद-पंकजों के उपगूहन के रस के आनन्द का क्षण-प्रतिक्षण स्मरण करता हुआ सदा ही उसीमें खोया रहता है। अतः भगवद्-चरणारविन्द उपगूहन रसास्वाद में निरन्तर निमग्न प्राणी अन्य जनों की तरह संसृति-चक्र से कदापि आबद्ध नहीं हो सकता। भगवत्-कृपावशात् ही भगवद्-पाद-पंकज उपगूहन का रसास्वादन सम्भव है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं **'त्वयैव सुरतिः इच्छा अस्मिन् मनसि ताविता'** हे श्यामसुन्दर! मदनमोहन! आपने ही हमारे हृदय में भगवद्-स्वरूप-सम्भोग की इच्छा उद्भूत की; आपका अनुग्रह न होने पर भगवद्-सम्मिलन की इच्छा कदापि उद्भूत न हो सकती थी। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं **'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः सर्वं कुर्वन्ति भगवन्तं न भजन्ति'** स्वभाव से दुष्ट जीव अन्य सम्पूर्ण लौकिक क्रियाकलाप करता है परन्तु भगवत्-स्मरण में प्रवृत्त नहीं होता। भगवत्-प्रेरणा से ही जीव में भगवदनुराग उद्भूत हो सकता है। उपनिषद् का सिद्धान्त है **'यमेवैष वृणुते'** इसकी व्याख्या करते हुए श्री रामानुजाचार्यजी कहते हैं **'एष परमात्मा यं साधकं वृणुते स्वकीयत्वेन स्वीकरोति'** अर्थात्, जैसे स्वयंवरा कन्या जिसको स्वकीयत्वेन स्वीकार कर लेती है उसी को अपने विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान कराती है वैसे ही जिस साधक को सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान प्रभु स्वकीय भाव से स्वीकार कर लेते हैं उसको ही अपने विशुद्ध

स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। **'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥'** (श्री० भ० गी० १८।५५) सम्पूर्ण रूप से गुणविभूतियुक्त तत्त्वरूप भगवद्-स्वरूप का दर्शन, परिज्ञान उसको ही होता है जिसको भगवान् ने स्वकीय-भाव से स्वीकार कर लिया है। **'यस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'** (मुण्डकोपनिषद् ३।१।३) उस वरण को ही भगवान् अपना आत्मा, अपना तनु, अपना स्वरूप-दर्शन देते हैं; वह वरण ही अन्यतम, अनन्त-घन, निर्विकार भगवद्-स्वरूप का दर्शन पा सकता है। स्वयंवरा कन्या के लिए किसी व्यक्ति-विशेष-विषयक भावोद्रेक सहज ही है परन्तु परात्पर परब्रह्म प्राणी मात्र में समभाव रखते हैं; भगवत्-कथन है, **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥'** (गीता ९।२९) प्राणी-मात्र में मुझे समभाव है, न मेरा कोई प्रिय है न द्वेषी; जो मुझे भक्तिपूर्वक भजता है मैं भी उसको भजता हूँ। दूसरी व्याख्या शंकराचार्यजी करते हैं, **'एष साधकः यं परमात्मानं वृणुते'** अर्थात्, जब साधक प्रभु का वरण कर लेता है तो उस वरण के आधार पर ही प्रभु भी उस साधक का वरण कर लेते हैं। जीव अनादि है; जीव एवं भगवान् का सम्बन्ध भी अनादिकाल से चला आया है; इस अनादि प्राग्भाव के ध्वस्त हो जाने पर घट-पटादि की उत्पत्ति होती है। पूर्व-पूर्व भगवद्-वरण से उत्तरोत्तर भगवदनुग्रह की प्राप्ति होती है, एतावता उभय में हेतुहेतु-मद्भाव बन जाता है। पूर्ण भगवदनुकम्पावश ही जीव में भगवद्वरेण्य गुणगणों का आविर्भाव होता है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे मदन-मोहन! आप ही हमारे सुरत के प्रेरक हैं; आप ही ने हमसे सुरत की याच्ञा भी की; नायक द्वारा सुरत का याच्ञा करने पर नायिका की कामना भी उत्कट हो जाती है। अनन्त ब्रह्माण्ड-नायक परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी, वृषभानु-दुलारी राधारानी एवं उनकी परमान्तरंगा गोपाङ्गनाओं से सुरतयाच्ञा की अतः उनमें भी उत्कट कामना उद्भूत हुई। इस उत्कट कामना को भी आप ही ने **'वरदानेन दृढीकृता'** वरदान द्वारा दृढ़ीकृत किया है।

मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में भगवान् का आविर्भाव अयोध्या में हुआ। राजा दशरथ ने रामचन्द्र को युवराज-पद पर अभिषिक्त करने का आयोजन किया; ऋषियों और देवताओं के सम्मिलित षड्यन्त्र के कारण राघ-वेन्द्र रामचन्द्र के राज्य-सिंहासनारोहण का मंगल आयोजन सफल न हो सका; अपने पिता राजा दशरथ द्वारा कैकेयी को दिये गये वचनों का परिपालन करने हेतु राघवेन्द्र रामचन्द्र ने सम्पूर्ण राज्योचित श्रृंगार को त्यागकर जटा एवं वल्कल धारण कर वन की ओर प्रस्थान किया। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के मुखार-

विन्द की शोभा, आभा, प्रभा, कान्ति सर्वथा अम्लान थी; **'प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।'** (रामचरितमानस २ श्लो० २) सिंहासनारोहण समारोह को सुनकर जिसमें प्रसन्नता उद्भूत नहीं हुई और वनवास के कारण जिसमें म्लानता नहीं आई ऐसे अकृत्रिम, अचिन्त्य, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य-सुधा-जलनिधि भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्य पर मुग्ध हो, दण्डकारण्य-निवासी, वल्कलधारी, अब्भक्ष, वायुभक्ष, फलाशी ऋषि-महर्षिगण भी उनके आलिंगन के लिए अत्यन्त व्याकुल हो कह उठे **'आलिंगाधामो भगवन्तम् ।'** मर्यादा-पुरुषोत्तम विग्रह में ऋषि-महर्षियों की इस अभिलाषा की पूर्ति असम्भव थी अतः भगवान् राधवेन्द्र रामचन्द्र ने उनको अपने लीला-विग्रह कृष्णावतार में स्वालिंगन-प्रदान का वरदान दिया। विष्णूपनिषद् का उल्लेख है कि भगवत्-स्वरूप-सम्मिलन के लिए उत्कण्ठित महर्षिगण ही भगवदादेशानुसार गोपाकन्याओं के रूप में उत्पन्न हुए। महाप्रलय-काल में भगवान् योग-निद्रा में विश्राम करते हैं; विश्व-रचना के पूर्व वेद-ऋचाओं एवं मंत्रों की अधिष्ठात्री शक्तियाँ, श्रुतियाँ भगवान् से प्राकट्य हेतु प्रार्थना करती हैं। सूरदास कहते हैं **'वेद ऋचा होइ गोपिका, हरि सौं कियो बिहार ।'** तात्पर्य कि विशेष भगवदनुकम्पावशात् ही उत्तम अधिकारियों में भगवद्-सम्मिलन सुख की उत्कट कामना जागरित होती है। सामान्यतः प्राणी लौकिक सुख-सम्भोग-कामना में ही लिप्त रहता है; **'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा'** बाह्य विषयों में जिसका अन्तःकरण असक्त हो गया है, जो वैषयिक सुख-सम्भोग से विरक्त हो गया है ऐसे प्राणी में भगवद्-सम्मिलन-सुख की उत्कट कामना उद्भूत होती है। श्रीमद्गीता-वाक्य है—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥'

(गीता ५।२२)

अर्थात्, विषयेन्द्रिय प्रयोगजन्य सम्पूर्ण लौकिक सुख परिणामतः दुःखमय हैं अतः बुध प्राणी उनका त्याग कर ब्रह्म-रति की ही कामना करता है। **'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् । स ब्रह्मयोग युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥'** (श्री० भ० गी० ५।२१) लौकिक विषयों से उपरत, आत्मरत, विवेकी ही ब्रह्म-सम्मिलन-सुख को प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु, श्रीकृष्ण-स्वरूप-सम्मिलन की उत्कट कामनावश दण्डकारण्यवासी ऋषि-महर्षिगण एवं वेद-ऋचाओं ने गोप-कन्या रूप धारण किया।

'गोपाल-चम्पू' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि जैसे आकाश में चन्द्रमा के उदय होते ही सरोवरस्थिता कुमुदिनी प्रफुल्लित हो उठती है वैसे ही नन्द-

भवन में परमानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव से गोपबालाएँ प्रफुल्लित हो उठीं। जन्मान्तर-संस्कारवशात् ये गोप-बालिकाएँ जन्म से ही कृष्णचन्द्रानुरागिणी हुईं; बाल्यकाल में ही इनके अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण एवं रोम-रोम कृष्णमय हो गये। जहाँ अंग-प्रत्यंग में सांग-श्यामांग समाविष्ट हों वहाँ अनंग-सन्निवेश का अवकाश ही कहाँ ? श्रीकृष्ण-मिलन की अत्यन्त उत्कट कामना से वशीभूत हो इन गोप-कन्याओं ने कात्यायनी-अर्चन किया। भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए, गोप-कन्याओं के परिधान का हरण किया। जैसे प्रज्वलित काष्ठसमूह में निक्षिप्त काष्ठखण्ड में अग्नि स्वभावतः ही व्यक्त हो जाती है वैसे ही शुद्ध, निरावरण परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से संस्पृष्ट परिधानों को धारण कर उन गोप-बालाओं ने अनायास ही ब्रह्म-संस्पर्श सुख का अनुभव किया; फलतः उनमें श्रीकृष्ण-सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठा का लोकोत्तर विकास हुआ।

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे श्यामसुन्दर ! आप ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक सम्पूर्ण सुख-सम्भोग के अधिपति हैं, आप ही हमारी सम्भोग-सुख-कामना के प्रेरक हैं; और आप ही ने सम्भोग-सुख की याच्ञा कर हमारी कामना को अभिवृद्धिगत किया है; कात्यायनी-व्रत प्रसंग से '**मयेमारंस्यथ क्षपाः; इमा रात्रयः, क्षपाः इमा क्षपा मया रंस्यथः**' इन रात्रियों में तुम हमारे संग रमण करोगी; ऐसा वरदान देकर आपने ही हमारी कामनाओं को दृढ़ीभूत किया; आपके द्वारा वरदान में दी गयी वही अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-पूर्ण दिव्य ब्राह्मी रात्रियाँ मूर्तिमती हो प्रत्यक्ष हो रही हैं; आप द्वारा प्रदत्त वरदान के कारण भी हे वरद ! हम गोप-कन्याओं के लिए आपका प्राकट्य होना ही चाहिए।

'**एष उ भामनो शोभनानि कर्मफलानि नयनीति प्रापयतीति भामनो**'; शोभन कर्मफलों को प्राप्त करानेवाला भगवान् ही भामनो है, भगवान् ही वामनी है, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् भगवान् ही शुभाशुभ कार्य के फल-दाता हैं। प्रकृति जड़ है; अतः अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों से तथा प्रत्येक प्राणी के अनेकानेक जन्म-कर्म से अज्ञ है। अत्यन्त अल्पज्ञ जीव स्वयं अपने ही अपरिगणित जन्म-कर्म से अनभिज्ञ है। फलतः प्रकृति एवं जीव दोनों ही कर्म-फल-दाता होने में समर्थ नहीं। स्वयं कर्म भी कर्म-फल-दाता होने में समर्थ नहीं। देह, मन, बुद्धि एवं अहंकार के विभिन्न क्रिया-कलाप ही कर्म हैं। अस्तु कर्म जड़ है अतः शास्त्रोक्त क्रिया-कलाप से अज्ञ हैं। परिशेषात् परमेश्वर प्रभु ही एकमात्र कर्म-फल-दाता हैं तथापि स्वतन्त्र रूप से फल-दाता भी न होने के कारण वैषम्य-दोष से सर्वथा मुक्त हैं। '**कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करे सो तस फल चाखा।**' अतः सापेक्ष कर्म की सार्थकता निर्विवाद है। एतावता शब्द, स्पर्श,

रूप, रस तथा गन्धात्मक सम्पूर्ण लौकिक सुखों के भी प्रेरक भगवान् हैं तथा ब्रह्म-संस्पर्श की कामना के भी प्रेरक भगवान् ही हैं अतः स्वप्रकाश, सर्वाधिष्ठान प्रभु ही सम्पूर्ण रति के प्रेरक **'सुरतनाथ'** हैं।

एक कथा है। कोई गोपाङ्गना अपने सिर पर दही भरी मटकी रखे हुए सन्ध्या-वेला तक नन्द-भवन के ही चारों ओर डोलती रही; यह देख नन्दरानी ने उसको बुलाकर पूछा, "क्यों, सखी! क्या तुम्हारा दही नन्द-भवन में ही बिकता है? क्या तुम्हारे घर तुम ही एक सयानी हो?" अभी नन्दरानी गोपाङ्गना को उलाहना दे ही रही थीं कि बालकृष्ण दौड़ते हुए आकर उससे लिपट गये; गोप-बाला कृतार्थ हो गयी। तात्पर्य कि गोपालियाँ निरन्तर श्रीकृष्ण में ही तन्मय रहती हैं। भक्तजन कहते हैं—

रत्नाकरस्तव गृहं, गृहिणी च पद्मा।
किं देयमस्ति भवते, भुवनेश्वराय॥
आभीर-वाम-नयनाहृतमानसाय।
दत्तं मनो यदुपते! कृपया गृहाण॥

(रहीम-रत्नावली)

अर्थात्, हे प्रभो! अनन्तानन्त रत्नों का आकर, रत्नाकर क्षीर-समुद्र आपका निवास-स्थान है, ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी पद्मा आपकी गृहिणी है, आप स्वयं अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं। हम आपको क्या दे सकते हैं? हे भगवन्! मैं अपना मन आपको समर्पित करता हूँ। आप मेरा मन ले लें क्योंकि आभीर-बालाओं ने आपके मन को चुरा लिया है। वेद-वाक्य है—

'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।'

(मुण्डक० २।१।२)

भगवान् अप्राण, अमना, शुभ्र एवं पर अक्षर से भी पर हैं। अमना भगवान् ने रास-क्रीड़ा हेतु **'मनश्चक्रे'** मन बनाया परन्तु गोपाङ्गनाओं ने उस मन को भी चुरा लिया अतः हे प्रभो! मैं अपना मन ही आपको प्रदान करता हूँ। **'भावप्रियो भगवान्'** अतः भक्त अपना मन भगवान् को समर्पित करके कृतकृत्य हो जाता है।

अस्तु, आप्त-काम, पूर्ण-काम, परम-निष्काम आत्माराम प्रभु भी भक्तानुग्रहार्थ, भक्त-वांछा प्रदानार्थ अनाप्त-काम, सकाम हो कहीं नवनीत-चौर्य करते हैं तो कहीं नाच-नाचकर दधि-याचना करते हैं तो कहीं सुरत-याचना करते हैं। भगवत् सम्मिलन-सुख की उत्कट उत्कण्ठा को उद्भूत कर देना ही ऐसी सम्पूर्ण लीलाओं का एकमात्र उद्देश्य है।

'श्रीमुषादृशा' गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे श्यामसुन्दर ! आपने अपने निरतिशय सुन्दर तीक्ष्ण नेत्रों से हमें आहत किया है । इस दृशा-वध से हम संत्रस्त हैं । आपके नेत्रों ने शरद्कालीन, स्वच्छ, शीतल, अगाध जलाशय में उत्पन्न साधुजात-सरसिज-कर्णिकान्तर-निवासिनो-नवनवायमान श्री का हरण कर लिया; आशय कि आपके नेत्र-कमलों में तापनोदकता, शोतलता, सरसता, परमाह्लादकता एवं लोकोत्तर सौन्दर्यादि गुण-गण विद्यमान हैं तथापि हमारे लिए स्वभाववेपरीत्य हो गया है । **'जारत विरहवंत नरनारी, विषसंयुत कर निकर पसारी।'** जैसे अमृत से परिपूर्ण होते हुए भो यह गरल-बन्धु चन्द्रमा विष-संयुत-तुल्य कर-निकर को फैलाकर विरहवन्त नर-नारियों को जलाता है वैसे ही आप भो अपनी मंजुल-कोमल दृष्टि से हमारा दृशा-वध कर रहे हैं । श्रोमद्भागवत का कथन है—

'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छंत् ।'

(१।१५।१५)

अर्थात्, दृष्टि से हो शत्रुदल के वोरों के मन, तेज, बल एवं आयु को खींच लिया । वल्लभाचार्य कहते हैं कि वास्तव में प्रभु को दृष्टि हो सर्व-धातुकी है । श्रीमद्भागवत का कथन है कि भगवान् का अन्तररूप पुरुषरूप है तथा बाह्यरूप कालरूप है । भगवान् पुरुषरूप से सबके अमृतत्व के कारण एवं कालरूप से सबकी मृत्यु के कारण हैं । **'पूर्षु शेते इति पुरुषः ।'** अर्थात्, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, नर-नारी आदि विभिन्न शरीररूपी पुर में शयन करनेवाला ही पुरुष है । सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सर्वाधिष्ठान अन्तरात्मा पुरुषरूप से साक्षात्कृत होकर अमृतत्व प्रदान करते हैं । परोक्षित कहते हैं—

'वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥

(श्रीमद्भा० १०।१।७)

जो पुरुषरूप से अमृतत्व देनेवाले हैं और कालरूप से मृत्यु को देनेवाले जो माया से मनुष्यवत् प्रतीत हो रहे हैं उनके दिव्य वोर्यों का वर्णन करो । भगवान् **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठोपनिषद्) हैं, सकल विरुद्ध धर्माश्रय हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है **'तत्त्वेवभयं विदुषोऽमन्वानस्य** (२।७) **'स एव मविदितो न भुनक्ति'** (बृ० उ० १।४।१५) जो विद्वान् भगवान् को प्रत्यक्ष चैतन्याभिन्न स्वरूप में नहीं देखता, जिसने अन्तरात्मा रूप में सर्वान्तरात्मा प्रभु का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया उसके लिए वही देव अविदित होकर पालन नहीं करता अपितु **'महद् भयं वज्रमुद्यतं'** उद्यत वज्र के तुल्य महत् भय का कारण बन जाता है ।

'भीषास्माद्वातः पवते भीषो देति सूर्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'
(तै० उ० २।८)

पवन, सूर्य तथा इन्द्र भी उससे भयभीत हो सदा गतिमान् रहते हैं; उसके भय से मृत्यु भी डरती है। **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'** (तै० उ० २।९) जिसने उसका साक्षात्कार कर लिया है, प्रत्यक्ष आत्मस्वरूप से जान लिया है उसके लिए भय का कोई कारण ही नहीं रह जाता, वह सबका आत्मा हो जाता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादिदेव शिरोमणियों का आनन्द उस आनन्द का एक तुषार, एक कणमात्र है। **'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणं'** जो व्यापारवान् होकर असाधारण कारण हो वही करण है। अस्तु, भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न ज्ञान के असाधारण कारण अथवा करण हैं। करण कर्ताधीन है। अस्तु, करण में कर्ता के अनुकूल स्वभाव-वैपरीत्य भी हो जाता है। यही कारण है कि आपकी दृष्टि स्वभावतः अत्यन्त सुकुमार, सुन्दर, सरल, शीतल, मंजुल एवं आह्लादक होते हुए भी सर्वहारी एवं सर्वघातकी हो रही है। हे श्यामसुन्दर! आप कर्ता हैं, **'स्वतन्त्रः कर्ता क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितः अर्थः'** जो क्रिया में स्वातन्त्र्येण विवक्षित है वही कर्ता है। आप पूर्णतः स्वतन्त्र हैं अतः आपमें स्वभाव-वैपरीत्य नहीं होना चाहिए। आप तो सुरतनाथ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक सम्पूर्ण सम्भोग के प्रेरक एवं दाता हैं, न कि छेदक; निश्चय ही, आप द्वारा सम्पूर्ण सम्भोग की प्राप्ति ही होनी चाहिए। वस्तुतः गोपाङ्गनारूप श्रुतियाँ उपनिषद् के सिद्धान्तों को उपनिषद् की भाषा में ही कह रही हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण कर्मफल-दाता हैं अतः सुरतनाथ हैं।

श्रुति का कथन है, **'तदैक्षत एकोऽहम् बहुस्याम्'** अर्थात् परमात्मा ने ईक्षण किया कि एक मैं बहुत हो जाऊँ। ईक्षण एवं अहं का यह उल्लेख अहं तत्त्व एवं महत् तत्त्व का द्योतक है। कार्य के निर्माण हेतु ज्ञान एवं अहंकार दोनों की ही आवश्यकता होती है। समष्टि-तत्त्व को बुद्ध्यारूढ़ करने के लिए प्रथम व्यष्टि-तत्त्व का ही अवलम्बन करना पड़ता है। श्रुति का कथन है, **'स एकाकी न रेमे'** अर्थात् एकाकी होने के कारण उस पुरुष को अरति हुई। एतावता अब भी प्राणियों को एकाकी होने पर रमण, आनन्द नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्यक्ष व्यष्टि जाग्रत् अवस्था एवं स्थूल शरीराभिमानी विश्व में समष्टि स्थूल प्रपञ्चाभिमानी वैश्वानर की एवं स्वप्नावस्था तथा सूक्ष्म शरीराभिमानी प्राज्ञ में समष्टि अज्ञान-रूप कारण शरीराभिमानी कारण-ब्रह्मरूप अव्यक्त की दृष्टि

कही गयी है। इससे विपरीत विराट् में विश्व-दृष्टि नहीं कही गयी क्योंकि समष्टि अप्रत्यक्ष है। जैसे स्वल्प परिमाणवाले दीप्तिमान् अग्नि को देखकर अखण्ड ब्रह्माण्ड व्यापक दीप्तिमान् अग्नि की कल्पना की जाती है वैसे ही अनुभूत व्यष्टि अज्ञान, ज्ञान तथा अहंकार से समष्टि अज्ञान, महत्तत्त्व एवं अहंतत्त्व का भी बुद्धि में आरोहण होता है। समस्त तत्त्व क्रमशः परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं और परमात्मा में ही लीन भी हो जाते हैं। सुषुप्ति में भी प्रपञ्च का लय प्रतीत होता है। **'सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते'** (श्री० भा० ११।३।३९) सुषुप्ति-अवस्था में रहनेवाला आत्मा ही ब्रह्म है। **'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'** जो समष्टि ब्रह्माण्ड में होता है वही व्यष्टि पिण्ड में भी होता है। **'मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥'** (श्री० भ० गी० १४।३) भगवान् ने अपनी जाया, सत्-तम-रज की साम्यावस्था प्रकृतिरूप योनि में गर्भाधान किया; अचेतन प्रकृति चिदाभास से युक्त होकर चेतित हो गयी। जैसे लोह-खण्ड अग्नि के सम्पर्क से अग्निमय हो जाता है वैसे ही जड़ प्रकृति भी चिदाभास सम्भोग से चिन्मयी हो गयी। तात्पर्य यह कि प्रकृति से ब्रह्म का सम्मिलन होने पर महत्तत्त्वादि क्रम से विश्व-प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! आप ही सम्पूर्ण सम्भोग के प्रवर्तक हैं। श्रीमद्‌भागवत-शब्द हैं **'कामस्तु वासुदेवांशः'** (१०।५५।१) काम वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण का अंश है अर्थात् पुत्र है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षान्मन्मथ हैं। देश-काल वस्तु-कृत परिच्छेद-रहित तत्त्व ही अनन्त ब्रह्म है; **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० उ० २।१।१) तथापि जैसे स्वभावतः मधुर इक्षु-दण्ड के फल में लोकोत्तर माधुर्य अथवा मलयाचलोत्पन्न चन्दन-वृक्ष के पुष्प में लोकोत्तर सौरभ स्वाभाविक है वैसे ही तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण पर अभिव्यक्त परब्रह्म के माधुर्यादि की अपेक्षा स्वयं अपनी ही परमाह्लादिनी लीला-शक्ति पर अभिव्यक्त भगवत्-स्वरूप के सौन्दर्य-माधुर्यादि अत्यन्त विलक्षण हैं। यही रस का विशेष उल्लास है।

जिस समय शुद्ध परब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से कोटि-काम-कमनीय मनोहर श्रीकृष्णमूर्ति में प्रादुर्भूत हुआ उस समय प्रपंचातीत प्रत्यागभिन्न परमात्म-तत्त्व में निष्ठा रखनेवाले मुनीन्द्र-योगीन्द्र के मन भी अनायास उस भगवन्मूर्ति की ओर आकृष्ट हो गये। जिस प्रकार सूर्य को दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर उसमें जो विचित्रता प्रतीत होती है वह केवल नेत्रों से देखने पर प्रतीत नहीं होती उसी प्रकार लीलाशक्त्युपहित सगुण ब्रह्म-दर्शन में जो आनन्दानुभव होता है वह अशेष-विशेष-शून्य शुद्ध परब्रह्म के साक्षात्कार में भी नहीं होता।

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि की सोइ आवा।
सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द-चकोरा।
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।
(मानस, बा० का०)

अथवा,

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तम् सञ्चिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावत् बलात् स्फुरति हन्त ! हृदन्तरे मे गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥

अथवा,

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते यद् ब्रह्म सौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

इत्यादि सहस्रों वचन इस प्रकार के हैं जिनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि निराकार, निर्विकार, सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्म में पूर्णतः परिनिष्ठित, आत्मकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, आत्माराम ब्रह्मविद्वरिष्ठ जन भी सगुण, साकार व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात्कार कर उस मधुर, मनोहर, मंगलमय मूर्ति में तन्मय हो गये; यही रसोल्लास का चमत्कार है। जैसे, ज्वार आने पर समुद्र उद्वेलित हो जाता है उसी प्रकार अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के योग से सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पूर्णतम पुरुष में जब विशेष रूप से रसोल्लास होता है तब वही रस-महासमुद्र होकर उद्वेलित हो उठता है। इस उद्वेलित रस-महासमुद्र का अत्यन्त अद्भुत चमत्कार है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र के माधुर्यामृत का, श्रीअंग के लावण्यामृत का तथा पादारविन्द के सौगन्ध्यामृत का रसास्वादन आदि सम्पूर्ण उसी उच्चकोटि के सम्भोग के अन्तर्गत आते हैं। यही कामरूप तृतीय पुरुषार्थ है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार '**स एकाकी न रेमे**' अतः '**द्वितीयम् ऐच्छत्**' और स्वयं ही दो विभिन्न रूपों में प्रादुर्भूत हुआ, '**एकं ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्**' एक ही ज्योति राधा और माधव दो रूपों में प्रादुर्भूत हुई। '**त्रिपुरा-रहस्य**' सिद्धान्तानुसार वहीं एक ज्योति राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी भगवती जगज्जननी कामेश्वरी पराम्बा ललिता एवं राजराजेश्वर कामेश्वर स्वरूप में प्रादुर्भूत हुई। बृहदारण्यक में प्राप्त शतरूपा एवं मनु की कथा इसी भाव की द्योतक है; शतरूपा ने क्रमेण अनेक रूप धारण किये; मनु भी क्रमेण तत् तत् रूप धारण करते गये। पूर्णानुराग समुद्भूत सरोज ही व्रजधाम है; इस केशर का पराग है आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र और इस पराग की मकरन्द रस हैं श्री रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधा-रानी। अतः एक ही रस, सरोज-स्वरूप

वृन्दावन धाम, सरोज केशरस्वरूप अनन्तानन्त गोपाङ्गनाएँ, केशर (पराग) स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र एवं पराग-मकरन्द-रसस्वरूप राधारानी आदि विभिन्न रस-स्वरूपों में उल्लसित हुआ; इन सब रसों में वृन्दावन धाम ही मुख्य है; श्रीमद् व्रजधाम स्वयं ही महान् रस है, यमुना साक्षात् अनुराग-द्रव है, गोवर्द्धन पर्वत साक्षात् प्रेम-पुञ्ज है; इसी तरह राधा-कुण्ड, कृष्ण-सरोवर आदि भी रस-विशिष्ट ही हैं तथापि उनके तत् स्वरूप का दर्शन विशिष्ट भगवदनुगृहीत व्यक्तियों को ही हो सकता है। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तथा राधारानी एवं गोपाङ्गनाओं के सम्पूर्ण हास-विलास-परिहास भी विभिन्न रस ही हैं; उपर्युक्त सम्पूर्ण रसों का समूह ही रास है **'रसानां समूहो रासः।'** इस रस-समूह में भी सावरण एवं निरावरण दो भेद हैं। वस्तुतः निरावरण में भी लीला-हेतु स्वेच्छया वैष्णवी-माया द्वारा ब्रह्मस्वरूप समावृत हो जाता है परन्तु वैष्णवी-माया द्वारा लीला-विशेष-विकास-हेतु उपयोगी भेद का ही स्फुरण होता है। **'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः'** (श्री० भा० १०। ८।४०) अपने पुत्र बालकृष्ण के मुख में सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च का दर्शन कर यशोदा रानी को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दिव्य स्वरूप का प्रबोध हो गया। वे विचार करने लगीं, 'अरे! यह तो सर्वाधिष्ठान, सर्व-शक्तिमान्, सर्वेश्वर, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक प्रभु हैं और मैं अत्यन्त तुच्छ मोहग्रसिता नारी इनको अपना पुत्र मानकर छड़ी दिखा रही हूँ।' भयभीता माता के प्रकम्पित हाथों से छड़ी छूट गई। अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी भगवान् श्रीमन्नारायण श्रीकृष्ण की सेवा के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में सतत व्रज का आश्रयण करती हैं। बालक कृष्ण को माता की छड़ी से भयभीत होते देख-कर ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी को अवसर प्राप्त हो गया; ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति के प्राकट्य से बालक कृष्ण के मुख में सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च प्रतिभासित हो उठा।

व्रजधाम की लीलाएँ माधुर्य-भावप्रधान हैं। ऐश्वर्यभाव माधुर्य-रस का विघातक है; भगवदैश्वर्य के प्राकट्य से माधुर्य-भाव-पूर्ण लीलाएँ सर्वथा असम्भव हो जाती हैं अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने तत्क्षण **'वैष्णवी व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेह-मयीं विभुः'** (श्री० भा० १०।८।४३) वात्सल्यभाव-प्रधान पुत्र-स्नेहमयी वैष्णवी-माया का प्रसरण किया। भगवान् ने लीला की; बालकृष्ण ने मिट्टी खाई; ग्वाल-बालों ने चुगली खाई; अग्रज बलदाऊ ने शिकायत की; क्रोध में भरी पुत्र-हितैषिणी अम्बा छड़ी लेकर चलीं; पुत्र श्रीकृष्ण को पकड़कर अम्बा पूछ रही हैं **'कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।'** (श्री० भा० १०।८।३४) अरे चपल! चञ्चल! तूने मिट्टी खाई? माता की छड़ी से भयभीत बालक कृष्ण

कहते हैं, **'नाहम् भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याऽभिशंसिनः ।'** (श्री० भा० १०।८।३५) माँ ! मैंने मिट्टी नहीं खाई। ये सब तेरे ग्वाल-बाल, दाऊ-भैया, सब मिलकर मुझे पिटवाने का उपक्रम किये हैं। विश्वास न हो तो **'समक्षं पश्य मे मुखम्'** (श्री० भा० १०।८।३५) ले, देख ले मेरा मुँह। श्रीमुख में मृत्तिका है अतः बालकृष्ण मुँह खोलते नहीं तथापि नन्दरानी के कोप से रवि की रश्मियों के कारण उनका मुख-कमल खिल गया; इस प्रस्फुटित मुख-कमल में अखिल ब्रह्माण्ड का दर्शन कर नन्द-गेहिनी यशोदारानी स्तम्भित हैं।

'सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ।'

(श्रीमद्भा० १०।८।३९)

'अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।८।४२)

भाव-विभोर भक्त कहता है, माता के भय से प्रभु झूठ बोल गये; इतना ही नहीं, एक झूट को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोल रहे हैं। वेदान्ती अर्थ करते हैं, **'नाहम् किञ्चिद् बाह्यं भक्षितवान् किन्तु सर्वं मदन्तःस्थमेव ।'** कोई ऐसी बाह्य वस्तु है ही नहीं जो मैं खाता हूँ।

'उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ?
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्य कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥'

हम सब अस्ति, नास्ति के व्यपदेश के विषय में रहनेवाले आपके कुक्षिगत शिशु हैं। सम्पूर्ण चराचर विश्व-प्रपंच का प्रतिबिम्ब स्वयं दर्पण के अन्तर्गत ही है।

'चिद्रूपदर्पणे स्फारे समस्तावस्तु दृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥'

जैसे सरोवर के किनारे के वृक्ष सरोवर में प्रतिबिम्बित होकर दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही अखण्ड-भान-रूप शुद्ध दर्पण में सम्पूर्ण चराचर विश्व-प्रपंच प्रतिबिम्ब न्याय से भाषित होता है।

जीवगोस्वामी कहते हैं, भगवान् ने मुँह खोला नहीं तथापि कर्म-कर्तृ-प्रक्रिया के अनुसार मुँह खुल गया। **'व्यादत्त-व्यारात् मातृकोप रविरश्मि लेशवशात् मुखनीलाम्बुजं विकसितं दधार इत्यर्थः ।'** जहाँ सौकर्यातिशय अभिव्यक्ति हेतु कर्तृ-व्यापार की प्रतीक्षा न हो वहाँ कर्म-कर्तृ-प्रक्रियानुसार प्रत्यय प्रयोग होता है।

भगवदीय मोहिनी शक्ति किंवा वैष्णवी माया-शक्ति ही सम्पूर्ण लीलाओं का प्राण है। वैष्णवी-माया-शक्ति द्वारा ही परात्पर परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र अपने

अनन्त अखण्ड दिव्य स्वरूप को और वृषभानुनन्दिनी राधारानी अपनी कृष्णाभिन्नता को परावृत कर लेती हैं; इस परावरण के कारण ही विप्रलम्भ एवं तज्जन्य दुःसह वेदना, उत्सुकता, उत्कण्ठा, शृङ्गार एवं सम्मिलन आदि विभिन्न भावनाओं को तथा वेणु-गीत, युगल-गीत, गोपी-गीत, भ्रमर-गीत जैसे भावपूर्ण गीतों की अभिव्यक्ति सम्भव हुई। जिस प्रकार स्वेच्छा से भाँग पीकर यदाकदा स्वयं को भी मोहित किया जाता है उसी प्रकार भगवान् का यह व्यामोहन भी लीला-हेतु स्वेच्छया ही होता है। यदि इस प्रकार आवरण न होता तो अपने से भिन्न रमण सामग्री की अपेक्षा भी क्योंकर सम्भव होती ? अस्तु, स्वरूपभूत परमानन्द का आवरण होने पर लीला एवं लीलाओं की कल्पना हो जाती है।

बृहन्नारदीय पुराण में एक कथा है; एक बार महामुनि नारद ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एवं नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी के निकुञ्ज स्वरूप-दर्शन की लालसा से दीर्घावधिपर्यन्त कठिन तपस्या की; उनकी तपस्या से प्रसन्न हो भगवती ने पनी सखी को भेज दिया; उस सखी ने नारदजी को मथुरा एवं गोवर्द्धन-धाम के मध्य में स्थित कुसुम-सरोवर में स्नान कराया; स्नान के प्रभाव से नारदजी गोपाङ्गना बन गये; तदनन्तर उस सखी ने नारदजी को सरोवर के किसी दूसरे कोण पर पुनः स्नान कराया; इस स्नान के प्रभाव से नारदजी लौकिक स्त्रीत्व-पुंस्त्व की कल्पना से ही विरत हो गये। तात्पर्य कि जब तक अन्तःकरण लौकिक स्त्रीत्व-पुंस्त्व की भावना से ग्रस्त रहता है तब तक रासलीला के लोकोत्तर रस का सम्यक् आस्वादन असम्भव है। वेदान्त के अद्वैतीय पक्षानुकूल भी त्वं पदार्थ का शोधन वांछनीय है; कर्ता, भोक्ता, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् जीवात्मा का परमात्मा से अभेद कदापि सम्भव नहीं; अतः भोग-त्याग-लक्षण द्वारा त्वं पदवाच्य जीवात्मा की अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता एवं देहेन्द्रियादि-नायकता का अपनोदन होने पर ही परमात्मा से अभिन्नता सिद्ध होती है।

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥'

(गीता ५।२१)

भगवदनुसन्धान में तत्पर होने पर प्राणी के प्राकृत शरीर का क्षय एवं अप्राकृत, रसमय शरीर की क्रमशः अभिवृद्धि होने लगती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अन्नमयादि कोषों से युक्त होकर स्वस्वरूप होने पर जीव को ब्रह्म का अभिन्न अनुभव होता है। उपाधि को बाध कर त्वं पदार्थ शोधन कर लेने पर ही तत्पदार्थ का अभेद अनुभव सम्भव हो सकता है।

मैत्री सदा समान में ही होती है। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म अभौतिक है; जीवात्मा भौतिक है अतः परस्पर असम है; असम का योग कदापि सम्भव नहीं अतः परमात्म-सम्मिलन हेतु जीवात्मा में अभौतिकता का उद्बोधन अनिवार्य हो जाता है। सच्चिदानन्दघन, परात्पर परब्रह्म, रसस्वरूप हैं अतः जीवात्मा में रसात्मा का उद्बोधन होने पर ही रसानुभूति सम्भव है। जीवात्मा में रस-बोधन-हेतु भू-शुद्धि, भूत-शुद्धि, प्राण-प्रतिष्ठा एवं विभिन्न न्यासादिक क्रियाओं से लौकिक स्वरूप को भौतिकता, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की जड़ता का प्रशमन किया जाता है। भूत-शुद्धि द्वारा भगवदुपासनोपयोगी नवीन देह का निर्माण होने पर सम्यक् उपासना सम्भव होती है। यही कारण है कि नारदजी के दिव्य-देह का निर्माण हुआ। विशिष्ट साधक अपनी भावनाओं द्वारा ही वायु-बीज से शोषण, अग्नि-बीज से दहन एवं पञ्चभूतात्मक बीजों से तत्-तत् भूतों के लय द्वारा प्राकृत-देह का विलयन एवं दिव्य-देह का निर्माण कर उसमें अमृत-बीज द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं; मन्त्र-न्यास, अक्षर-न्यास एवं अन्य विभिन्न न्यासों के द्वारा उस नव-निर्मित दिव्य-देह की अलौकिकता एवं रसात्मकता अभिवृद्धिगत की जाती है। उपासना-संस्कार-संस्कृत दिव्य-देह की अलौकिकता एवं रसात्मकता की विशेष अभिवृद्धि-हेतु यमुना-स्नानादि किया जाता है। जैसे पारद में निर्घर्षित गन्धक पारद हो जाता है अथवा सिद्धरस में निक्षिप्त वस्तु उस रस-विशेष से प्रभावित हो जाती है वैसे ही सच्चिदानन्दघन, परात्पर, रस-स्वरूप, परब्रह्म प्रभु का निरन्तर अनुसन्धान करते रहने से प्राकृत देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादिक भी अप्राकृत रस-स्वरूप परब्रह्म-स्वरूप बन जाते हैं। अस्तु, नारदजी को भी अपने उपासना-संस्कार-संस्कृत दिव्य-देह में भी कुसुम-सरोवर-स्नान से विशेष रसात्मकता अनुभूत हुई; तदनन्तर उनको नित्यनिकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण एवं नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी का दर्शन प्राप्त हुआ। मूलप्रसंगानुसार तात्पर्य यह कि भगवदीय स्वेच्छा से लीला-हेतु ही लीला एवं लीला परिकरान्तर्गत सम्पूर्ण रसमय स्वरूप में भी विकासक्रमानुसार विभिन्न प्रावरण स्वीकृत हैं। वेणु-गीत द्वारा इन प्रावरणों का अपनयन हुआ। भगवान् ने वंशी-वादन के व्याज से अपनी अधर-सुधा का संचार कर समस्त वृन्दारण्य एवं तदन्तर्वर्ती लता-गुल्मादि एवं गोपाङ्गनाओं को स्व-स्वरूप प्रदान किया। वेणु-छिद्रों से निरावरण परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र का सुमधुर अधर-सुधा-रस वेणु-गीत रूप में प्रसरित होते हुए गोपाङ्गना-जनों के उपासना-संस्कृत दिव्यकर्ण-कुहरों द्वारा उनके अन्तस्तल में प्रविष्ट हो उनके लौकिकत्व के बाधन तथा श्रीकृष्ण-परम-अनुराग-सम्वर्द्धन में सहायक हुआ। श्री वल्लभाचार्य के मतानुसार वेणु-वादन द्वारा प्रसरित यह अधर-सुधा-रस तीन प्रकार का है—गीत, नाद एवं

रव। 'गीत' भगवद्भोग्या, 'नाद' देवभोग्या एवं 'रव' सर्वभोग्या सुधा है। श्रीमद् वृन्दावन-धाम के तृण, लता, गुल्मादि तथा पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण लीला-परिकररूप देवगण देव-भोग्या अधर-सुधा के अधिकारी हुए। यहाँ 'देव' शब्द का तात्पर्य लौकिक देव से नहीं, अपितु—

'द्योतनात्मकत्वात् देवाः भगवत्स्वरूपभूताः खगमृगवृक्षलतादयः।'

अर्थात्, प्रकाशस्वरूप भगवान् के स्वरूपभूत होने के कारण खग-मृग-वृक्ष-लता आदि ही से है।

'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः,
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥' (श्री० भा०१०।२१।५)

'रश्च वश्च रवम्', 'र' अग्निबीज है; इससे विवक्षित है विप्रयोगात्मक-शृङ्गार-रस-समुद्र। **'व'** अमृतबीज है; इससे विवक्षित है संप्रयोगात्मक-शृंगार-रस-समुद्र; दोनों ही एककालावच्छेदेन उद्वेलित हैं; तात्पर्य कि संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक-उभयविध एककालावच्छेदेन उद्बुद्ध-शृंगार-रस-समुद्र। एकमात्र भगवान् ही सकल-विरुद्ध धर्माश्रय हैं अतः निरावरण रसस्वरूप परब्रह्म ही रव है। भगवान् का अधर इस अनुपम सुधा-रस का कोषाध्यक्ष है। **'अधरः लोभः'** अधर मूर्तिमान् लोभ ही है। मूर्तिमान् लोभ स्वयं ही कोषाध्यक्ष है अतः इस निरतिशय-सुमधुर-अधर-सुधा का वितरण भी अत्यन्त संकुचित है।

निरावरण विशुद्ध रसमय स्वरूप में भी लीला हेतु प्रावरण (आच्छादन) एवं उसका अपनोदन स्वीकृत होता है; ये आच्छादन एवं अपनोदन दोनों ही विशिष्ट रस के उद्बोधक हैं। विभूति-वर्णन में कहा है **'कनककपिशं वैजयन्तीं च मालां'** अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण का पीताम्बर साक्षात् माया है; जैसे माया ब्रह्म को प्रावरित किए रहती है वैसे ही दामिनी-द्युति-विनिन्दक-पीताम्बर निखिल-रसामृत-मूर्ति सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीकृष्ण को आच्छादित किये रहता है; जैसे मायाजाल में फँसा प्राणी परब्रह्म-स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता वैसे ही जिनकी दृष्टि दामिनी-द्युति में ही उलझी रह जाती है वे दामिनी-द्युति-विनिन्दक-पीताम्बर-समावृत संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध एककालावच्छेदेन उद्बुद्ध-शृंगार-रस-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाते हैं। वस्तुतः सावरण रस ही अधिकाधिक प्रिय होता है। रामचरितमानस में एक अत्यन्त रोचक उदाहरण प्राप्त होता है। वन-वास-काल में ग्राम-वधुओं के प्रश्न का उत्तर देती हुई जनक-नन्दिनी जानकी अपने प्राणनाथ राघवेन्द्र रामचन्द्र की ओर घूँघट-पट की ओट से झाँक देती हैं—

'बहुरि बदनु बिधु अञ्चल ढांकी। पिय तन चितइ भौंह करि बांकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ॥'

(मानस, अयो० का० ११६)

शुष्क बहिर्मुख प्राणी सावरण रस की सरसता का अनुभव नहीं कर पाता। वेदान्ती भी मानते हैं--

'प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुग-परिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्। विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात् ॥'

अर्थात्, जैसे प्रेयसी को प्रियतम के हृदय पर क्रीड़ा करना अथवा उनके पदयुग की परिचर्या करना दोनों ही में समान रूप से आनन्द प्राप्त होता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी के लिए निर्विकल्प समाधि में लीन रहना अथवा भावित द्वैत में पूजन करना दोनों ही समान है; अथवा जैसे कोई नव-वधू सखियों द्वारा पूछे जाने पर सभा में बैठे अपने पति को अंगुल्या निर्देश से ही बता देती है; तात्पर्य कि आवरण एवं उसका अपनयन दोनों ही विशिष्ट रस के उद्बोधक हैं। रासलोला करते-करते भगवान् का अन्तर्धान हो जाना भी एक प्रकार का प्राव-रण ही है। सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है तथा चक्रवाकी विप्रयोगजन्य तीव्रताप के अनन्तर सहृदय-वेद्य सम्प्रयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है; सारस-पत्नी लक्ष्मणा चक्रवाकी से कहती है—हे सखो ! तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है। भादों की अमावस्या की रात्रि में तुम्हारे प्रियतम तुमसे दूर नदी के उस पार हैं तुम स्वयं नदी के इस पार हो; ऐसे भीषण अवसर पर भी तुम प्रियतम से वियुक्त होकर जी रही हो; तुम्हारा हृदय कितना कठोर है ? चक्रवाकी उत्तर देती हुई कहती है--हे सखी ! तुम निरन्तर सम्मिलन-सुख का ही अनुभव करती हो अतः तुम नहीं जानती कि विप्रयोगजन्य तीव्र ताप के अनन्तर सम्प्रयोगजन्य आनन्द की कितनी लोकोत्तर अनुभूति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने के कारण उनके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संत्रस्त हो गोपाङ्गनाएँ उनकी स्तुति करते हुए उनको मना रही हैं। उनके विरह में गोपाङ्गनाओं की स्थिति प्राण-विहीन तनु-सदृश हो रही थी; उनके प्राकट्य से लोकोत्तर आनन्दातिशय का अनुभव करती हुई वे सहसा ही उठ खड़ी हुईं मानों **'तन्वः प्राणमिवागतम्'** (श्री० भा० १०।३२।३) प्राणविहीन तनु में प्राण पुनः लौट आये हों। मूलप्रसंगानुसार कहना यही है कि निर्विशेष परब्रह्म का रस-विशेषोल्लास ही कामरूप तृतीय-पुरुषार्थ है। निर्गुण, निराकार, परब्रह्म का अनुभव करनेवाले ब्रह्मविद् वरिष्ठ सनकादिक, शुकादिक भी इस रसोल्लास-अनुभव के लिए लालायित रहते हैं।

सृष्टि का मूल काम है। ईश्वर ने कामना की **'सोऽकामयत बहु स्याम्।'** (तै० २।६) अपनी इस कामना से प्रेरित **'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।'** (श्री० भ० गी० १४।३) क्षुब्ध हुआ कारणब्रह्म प्रकृतिरूप अपनी योनि से संसृष्ट होकर उसमें गर्भाधान करता है; पुरुष के अंग का सार ही शुक्र है। **'अंगादंगात् सम्भवति'** जैसे दूध के कण-कण में नवनीत विद्यमान रहता है वैसे ही पुरुष के अंग-अंग में रहनेवाला सार-तत्त्व ही शुक्र है। यह शुक्र गर्भ में निक्षिप्त होकर गर्भ-पदवाची होता है। इसी तरह स्वप्रकाश चित् के अंग-अंग में व्याप्त चित्-प्रतिबिम्ब ही प्रकृति में निहित होता है; जैसे गर्भाधान का फल सन्तानोत्पत्ति है वैसे ही अनन्त, अखण्ड, निर्विकार, परब्रह्म के चित्-प्रतिबिम्ब का प्रकृति में आधान होने पर प्रकृति से सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच की सृष्टि हुई। सृष्टि का मूल काम कारणरूप है; सम्पूर्ण लौकिक काम कार्यरूप है। भगवान् स्वयं साक्षान्मन्मथमन्मथ हैं। कथा है कि स्वयं मन्मथ कामदेव भगवान् पर विजय पाने हेतु चले परन्तु भगवान् के पदनखमणि चन्द्रिका के दर्शनमात्र से ही मोहित हो उठे अतः गोपाङ्गनाभाव को प्राप्त कर पदनखमणि-चन्द्रिका को आराधना-योग्य बनने का प्रयास करने लगे।

मन्मथ अर्थात् मन को मुग्ध कर लेनेवाला; कामदेव अत्यन्त मोहक है अतः मन्मथ है; भगवान् मन्मथ के भी मन्मथ हैं, कामदेव को भी मोहित कर लेनेवाले हैं। सामान्यतः **'मोहि न नारि नारि कै रूपा'** नारी अन्य नारी के रूप पर मोहित नहीं होती परन्तु विशिष्ट स्थिति में यह सामान्य नियम टूट जाता है; द्रौपदी के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर स्त्रियों में भी अर्जुन बनकर उस सौन्दर्य-संस्पर्श की कामना जाग्रत हुई।

'पाञ्चाल्याः पद्मपत्राक्ष्याः स्नायन्त्या जघनं घनम्।
याः स्त्रियो दृष्टवत्यस्ताः, पुम्भावं मनसा ययुः॥'

अथवा—

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर-नारी॥

(मानस, बाल०, २४७)

भगवती सीता के लोकोत्तर अपूर्व सौन्दर्य-माधुर्य पर मुग्ध हो स्त्रियाँ भी राम-सायुज्य प्राप्त कर उस माधुर्यानुभूति के लिए लालायित हो उठीं। तात्पर्य यह कि लोकोत्तर दशा में स्त्री का स्त्रीत्व तथा पुरुष का पुरुषत्व अपगत हो जाता है। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की पदनखमणिचन्द्रिका का सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा अद्भुत अपूर्व था कि विश्व-मोहन मन्मथ स्वयं ही मुग्ध हो उठे; स्वयं कामदेव का पुंस्त्व-भाव भी अपगत हो गया।

लौकिक-काम बन्धन का हेतु होता है परन्तु भगवत्-सम्बन्ध से ग्राम्य-सुरत

भी कल्याणकारी ही होता है। द्वारिका की पट्टमहिषियों एवं गोपाङ्गनाओं को भगवत्-सम्भोग-सुख भी प्राप्त हुआ। लौकिक-काम के द्वारा रागादि-जन्य अनेकानेक संस्कार बनते हैं, इन संस्कारों से विभिन्न वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं, वासनाएँ ही जन्म का मूल कारण हैं। जैसे भुना हुआ अन्न-बीज खाने के काम में आता है परन्तु अग्नि-सम्पर्क के कारण उनकी अंकुरोत्पादिनी शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही भगवत्-सम्बन्ध से कर्मों के जन्मान्तर-प्रादुर्भाव की शक्ति विनष्ट हो जाती है। अथवा जैसे दीपक-बुद्धि से भी चिन्तामणि की ओर प्रवृत्ति होने पर अन्ततोगत्वा चिन्तामणि की ही प्राप्ति होती है वैसे ही सर्वाधिष्ठान सर्वव्याप्त सर्वज्ञ प्रभु की ओर किसी भी बुद्धि से यहाँ तक कि जार-बुद्धि से भी प्रवृत्त होने पर भी परात्पर परब्रह्म प्रभु की ही प्राप्ति होती है।

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥'

(श्रीमद्भा० १०।२९।१४)

प्राणीमात्र के कल्याण-हेतु ही निर्विकार, निराकार, निर्गुण सच्चिदानन्दघन परम-प्रभु का सगुण साकार स्वरूप में प्रादुर्भाव होता है अतः जिस किसी भाव से भी भगवदुन्मुख हो जाने पर ही प्राणी का निःश्रेयस कल्याण हो जाता है। कंस ने श्रीकृष्ण को अपना शत्रु एवं महाभय का कारण मानकर ही भगवत् स्वरूप का चिन्तन किया।

'आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत्॥'

(श्रीमद्भा० १०।२।२४)

अर्थात्, जैसे तत्त्वविद्, ब्रह्मवरिष्ठ को जगत् ब्रह्ममय दर्शित होता है, वैसे ही अत्यन्त भयवश कंस को भी सदा-सर्वदा-सर्वत्र भगवान् हृषीकेश के ही दर्शन होते थे। परिणामतः भृंगी-कीट-न्याय से भयभीत कंस-शिशुपालादिक को भी परम-गति प्राप्त हुई। कुब्जादिकों ने काम-भाव से श्रीकृष्ण को भजा; वे भी परम-गति को प्राप्त हुईं।

'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥'

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

अर्थात्, काम, क्रोध, स्नेह, सौहृद आदि किसी भी भावना से प्रेरित हो प्राणी के एक बार भगवत्परायण हो जाने पर भृंगी-कीट-न्यायतः उसमें भगवद्-भाव का पूर्ण विस्तार हो जाता है तथा अन्ततोगत्वा उसको भगवत्-दर्शन एवं भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।

सुष्ठु शोभना कामसुखप्रदत्वेऽपि भवबन्धनाननुबन्धिनी रतिर्मिथुनविहारो यस्य स सुरतः ।

अर्थात्, जिसका मिथुन-निमित्तक लौकिक-व्यवहार भी शोभन है मुक्ति-पर्यवसायी है वह श्रीकृष्णचन्द्र ही सुरतनाथ है ।

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं कि "हे सुरतनाथ ! हे वरद ! आप ही सर्व-प्रकार के कल्याण के कर्ता तथा सुख के दाता हैं, आप ही प्राणी के सम्पूर्ण आनन्द के दाता भी हैं; आप सबके हितैषी भी हैं तथापि हमारे ही दुर्भाग्य के कारण केवल मात्र हमारे ही लिए स्वामी अथवा नाथ न होकर उपतापक हो रहे हैं; वरद न होकर बाधक हो रहे हैं ।

विरह-व्याकुल गोपाङ्गनाएँ प्रणयाधिक्यजन्य ईर्ष्या व्यक्त करती हुई कहती हैं, "सरसिज-सम्राट् की उस अत्यन्त निगूढ़ श्री का अपहरण करके आपने उसको अपने नेत्रों में स्थान दिया । सर्वाधिक प्रिय को ही नेत्रों में बसाया जाता है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आपके यहाँ कुटिल मानिनी का ही अधिक सम्मान होता है । सरसिज-सम्राट् को वह श्री जो पद्मासना-योगिनी है, जो आपमें स्पृहा भी नहीं रखती तथापि आपने उसका हरण कर उसको अपने नेत्रों में स्थान दिया । आपके प्रति विशेषानुरागवशात् अपने-आपको सापत्न्य-दोष से मुक्त रखते हुए हमने आपके नेत्रों में बसनेवाली इस श्री का भी अनुसरण किया तथापि आपने हमारा ही दृशावध किया ।"

जलन्धर दैत्य की सती-साध्वी, पति-परायणा पत्नी वृन्दा को आपने छल-छद्म से ही प्राप्त किया । यहाँ तक कि सती वृन्दा के शाप को अंगीकार कर आप स्वयं पाषाणखण्ड, शालिग्राम बन गये तथापि उसकी ही कामना रखते हैं । शालिग्राम एवं तुलसी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है । **'छप्पन भोग छतीसों मेवा बिन तुलसी हरि एक न माने ।'** शाप देने के बाद वृन्दा अपने पति के संग सती हो गई; उस चिता की राख में लोट-लोटकर श्रीकृष्ण 'हा वृन्दे ! हा वृन्दे !' विलाप करने लगे । भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ ने आकर श्रीकृष्ण को सावधान किया । परम भक्त मुचुकुन्द को आपका दर्शन भी नहीं मिला और शबरी के घर पधारकर उसके फलों को भी आपने खाया ।

इन एवं ऐसी अन्य कथाओं का तात्पर्य अत्यन्त गूढ़ है । कल्प-कल्पान्तरों के, जन्म-जन्मान्तरों के सुकृत-पुञ्ज उद्भूत होने पर जीव प्रभु द्वारा स्वीकृत होते हुए भी कदाचित् माया-ग्रस्त हो जाता है । सम्पूर्ण भोग की तुलना में भोक्ता ही प्रधान होता है अतः भोक्ता जीव पर अनुग्रह कर उसके माया-जन्य-पाश का निवारण कर प्रभु उसको अंगीकार कर लेते हैं । अथवा स्नेहाधिक्यवश जीव

अपने प्रेमास्पद प्रभु के सम्मुख इठला उठता है। **'परवश जीव स्ववश भगवंता, जीव अनेक एक श्रीकंता।'** जीव परतन्त्र है, भगवान् स्वतन्त्र हैं; स्वभावतः जीवमात्र, सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् का अनुसरण करता है। **'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।'** (श्रीमद्भा० ९।४।६६) जैसे सत् स्त्री सत्पति का अनुसरण करती हुई उसको अपने वश में कर लेती है वैसे ही जीव भी भगवद्नुसरण करते हुए भगवान् को अपने वश में कर लेता है। अस्तु, भगवान् में स्त्रीत्व और जीव में पुरुषत्व का भाव आ जाता है। **'परतन्त्रतैव स्त्रीत्वं स्वतन्त्रतैव पुरुषत्वम्।'** परतन्त्रता ही स्त्रीत्व है, स्वतन्त्रता ही पुरुषत्व है। परस्पर भाव-परिवर्त्तन ही अत्यन्त उत्कृष्ट शृङ्गार-वर्णनान्तर्गत विपरीत-रति-वर्णन का रहस्य है।

एक कथा है; जीवगोस्वामी वृन्दावन धाम में रहा करते थे; मीराँबाई भी यात्रान्तर्गत वहाँ पहुँचीं; जीवगोस्वामी की दर्शनेच्छा से मीराँबाई ने उनके पास सन्देश भेजा। उत्तर देते हुए जीवगोस्वामी ने कहला दिया, 'मैं स्त्रियों से नहीं मिल सकता।' प्रति-उत्तर में मीराँबाई ने कहलाया कि 'आज तक तो मैं यही जानती थी कि वृन्दावन धाम में भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र परम पुरुष हैं अन्यथा अन्य पुरुषों का दर्शन मुझे भी अभीष्ट नहीं।' इस प्रति-उत्तर से गोस्वामीजी अत्यन्त प्रभावित हुए और स्वयं ही मीराँबाई से मिलने पधारे।[1]

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे प्रभो! सरसिज कर्णिकान्तर-निवासिनी श्री को आपने चुरा लिया; यह श्री ब्रह्मस्व है; सरसिज से ही ब्रह्मा प्रादुर्भूत होते हैं। ब्राह्मण के धन का अपहरण तो कठोरातिकठोर चोर-गण भी नहीं करते परन्तु आपने ब्रह्मस्व श्री को भी नहीं छोड़ा। इतना ही नहीं, यह पद्मासना श्री योगिनी है; इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है, साथ ही आपसे विरत भी है तब भी आप उसको तो चुरा लाये परन्तु हम अनुरागिणी जनों का वध ही कर रहे हैं। सामान्य लौकिक रागी, कामुक व्यक्ति भी सुन्दरी-जनों का अपहरण तो कर लेते हैं परन्तु संहार कदापि नहीं करते। हे वरद! हे सुरतनाथ! आप द्वारा हमारा वध क्योंकर उचित हो सकता है?" गोपाङ्गनाओं की उपर्युक्त उक्तियाँ प्रणय-कोपयुक्त हैं; प्रणय-कोप अत्यधिक स्नेहावेश का ही परिणाम है। जयदेव भी कहते हैं—

अर्पति भवानबलाकवलाय वनेषु न तत्र विचित्रम्।
प्रथयति पूतनिकैव वधूवधनिर्दयबालचरित्रम्॥
(गीतगोविन्द)

---

१. यह बहुप्रचलित किंवदन्ती अप्रामाणिक है क्योंकि उक्त दोनों के काल में पर्याप्त अन्तर है।

अर्थात्, हे प्रभो ! आप जो वनों में भटक रहे हैं उसका एकमात्र प्रयोजन अबला-भक्षण ही है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है क्योंकि पूतना-वध ही आपके निर्दय बाल-चरित्र की प्रशस्ति कर रहा है। विप्रयोगजन्य तीव्र-ताप से विदग्ध होकर गोपाङ्गनाजन श्रीकृष्णचन्द्र में दोषारोपण भी करने लगती हैं। जैसे ज्ञानीजन विषयों से विरत रहने के हेतु उनमें अनेकानेक दोषानुसन्धान करते हैं वैसे ही गोपाङ्गनाएँ भी प्रणय-कोप-वशात् श्रीकृष्णचन्द्र में ही दोषानुसन्धान कर उनके प्रति उपेक्षा-प्रदर्शन का अभिनय करती हैं। ज्ञानी कहते हैं **'मोक्षमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत् त्यज'** हे तात ! मोक्ष की इच्छा हो तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक सम्पूर्ण विषयों को विषसदृश जानकर उनका परित्याग कर दो। शंकराचार्यजी कहते हैं—

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः सन्धाय कोटिद्वयम्।
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्॥

अर्थात्, हे चित्त ! चंचलता छोड़कर तू अपने सामने एक तराजू रख ले, तराजू के एक पलड़े पर अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के सुख और दूसरे पलड़े पर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की मधुर मनोहर मंगलमयी मूर्ति के सौन्दर्य-माधुर्य को रखकर तू स्वयं अपनी ही बुद्धि से तौल ले। जो तुझे वस्तुतः गम्भीर प्रतीत हो उसको ही ग्रहण कर ले। हे चंचल चित्त ! विचार कर देख ! अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त वैषयिक सुख भी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द परमानन्दसुधाजलनिधि का बिन्दुमात्र भी नहीं है। भाव-विभोर गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—

'मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।४७।१७)

अर्थात्, हे सखी ! इन श्रीकृष्णचन्द्र के तो जन्मजन्मान्तरों का कौटिल्य विख्यात है। रामावतार में इन्होंने निरपराध वानरेन्द्र बालि को पेड़ की ओट से ऐसे मार डाला मानो वह जन्म-जन्मान्तर का द्वेषी हो। सर्वस्व समर्पण करनेवाले दानव-राज बलि को वामनरूप धरकर ठग लिया और रसातल को भेज दिया। कथा है, श्रीमद् नारायण भगवान् विष्णु वामनरूप धारण कर दानवेन्द्र बलि की सभा में पहुँचे। बलि की प्रार्थना पर वामन भगवान् ने तीन पग पृथ्वी की कामना की। दानवेन्द्र बलि ने पुनः आग्रह किया, परन्तु बटुक-रूपधारी भगवान् ने उत्तर दिया, **'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा'** असन्तुष्ट द्विज नष्ट हो जाते हैं, सन्तोष ही ब्राह्मण का मुख्य धन है। बलि के पुनः आग्रह करने पर

वामन-रूपधारी भगवान् विष्णु ने तीन पग पृथ्वी माँगी और दो ही पग में सब कुछ नाप लिया। पुनः तृतीय पग पृथ्वी की माँग की। बलि ने पूछा—'हे देव! 'भोक्ता बड़ा है अथवा भोग्य?' भगवान् ने उत्तर दिया—'भोक्ता ही सदा बड़ा है।' उस पर बलि ने अपनी पीठ भगवान् के सम्मुख करते हुए तीसरे पग से भूमि नाप लेने के लिए कहा। भगवान् ने अपना पैर बलि की पीठ पर रखकर उसको पाताललोक भेज दिया। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं **'ध्वांक्षवद्यः'** जैसे कौआ जिस पत्तल में खाता है उसीमें छेद करता है वैसे ही वामन-रूपधारी भगवान् ने बलि को बलि लेकर उसको पातालपुरी में पहुँचा दिया। हे सखी! **'कज्जलमपि सुसख्ये'** सब कालों में बड़ी मित्रता है; काले सब एक ही-से होते हैं। गुंजायमान भ्रमर को देखकर उसमें श्रीकृष्ण की उत्प्रेक्षा करती हुई परस्पर कहती हैं, 'देख सखि! यह भ्रमर भी तो हमारे कृष्ण की तरह ही काला है, उन्हींकी तरह यह भी पीताम्बरधारी है; इसके भी अधर अरुण हैं और यह भी सदा ही मुख से वंशीनाद की तरह नाद करता है। कृष्ण की तरह यह भी सदा ही नई-नई कलियों का मकरन्द-पान किया करता है। काले सब बुरे होते हैं; हे सखि! **'तदलमसितसख्यैः'** अतः काले लोगों का संग नहीं करना चाहिए।'

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनम्।
उरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनाम्।
मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही व्रज-युवतियों के कानों में कुण्डल, आँखों में अञ्जन, उरोजों में मृगमद एवं नीलमणि-माला आदि विभिन्न रूपों में विराजमान हैं। व्रज-युवतियों के सम्पूर्ण भूषणादि प्राकृत-प्रस्तर-खण्ड नहीं, अपितु परमानन्दकन्द भगवत्-स्वरूप हैं। गोपाङ्गनाओं का उद्गार है—

'ईदृशा पुरुषभूषणेन या, भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीय कुलशीलयौवनं, धिक् तदीय गुणरूपसम्पदः॥'

(आनन्दवृन्दावन चम्पू ८।९५)

अर्थात्, जिसने अपने उरस्थल को ऐसे परम पुरुष परमेश्वर पुरुषश्रेष्ठ से अलंकृत नहीं किया उसके सौन्दर्यादिक सम्पूर्ण गुण-गणों को धिक्कार है। तात्पर्य कि ऐसे व्यक्ति की गुण-गण-राशि भी निरर्थक ही है। श्रीकृष्ण-विप्रयोगजन्य तीव्र सन्ताप से सन्त्रस्त गोपाङ्गनाओं में श्रीकृष्ण-निर्वेद का भाव उद्बुद्ध होता है और वे परस्पर कहने लगती हैं—'हे सखि! कालों का साथ ही बुरा है; आज से हम भी आँखों में अञ्जन, उरोजों में मृगमद तथा इन्द्रनीलमणिमाला, नील

साड़ी, नील कंचुकी आदि भी नहीं धारण करेंगी। **'धूलिर्धृता मस्तके'** काले बालों में भी धूलि मल लेंगी।' परन्तु क्या करें ? हे सखि ! यह कृष्ण तो हमारे अन्तःकरण में व्याप्त हो गया है अतः व्यसन की तरह दुस्त्यज है।

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं, **'स्वभावो भजनं हरेः।'** आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम ज्ञानीजन किसी प्रयोजन-सिद्धिहेतु भजन नहीं करते अपितु भजन ही उनका स्वभाव बन जाता है। हनुमान्‌जी **'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'** हैं तत्रापि—

'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनम् तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिं।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥'

अर्थात्, जहाँ-जहाँ राघवेन्द्र रामचन्द्र के मंगलमय पवित्र चरित्रामृत का प्रवाह प्रवाहित होगा, वहाँ-वहाँ हनुमान्‌जी सर झुकाए, आँखों में आँसू भरे अवश्य ही पधारेंगे; यही उनका स्वभाव है।

ज्ञानी शिरोमणि सनकादिकों को भी एक व्यसन है।

'आसा वसन व्यसन यह तिन्हहीं ! रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'

(उत्तरकाण्ड, दोहा ३११६)

मूल प्रसंगानुसार गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभो ! आप सुरतनाथ हैं तथापि हमारा तो वध ही कर रहे हैं। कहा जा चुका है कि एकाकी होने के कारण हिरण्यगर्भ को अरमण हुआ अतः हिरण्यगर्भ ने इच्छा की **'जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय।'** (बृ० आ० १।४।१७) भगवदिच्छा ही आदिकाम है। सृष्टि के आरम्भ में जैसा भाव रहता है, उत्तरकालीन प्रपञ्च भी उसीका अनुसरण करता है। **'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'** (तै० उ० २।७) परात्पर परब्रह्म प्रभु रसस्वरूप हैं; भगवद्-निष्ठ रस ही लोक में विभिन्न स्वरूपों में प्रसृत होता है। अस्तु, तृतीय पुरुषार्थ काम के अप्रकट रहने पर आश्रय के अभाव में रसाभिव्यक्ति असम्भव हो जाती है। जैसे, अश्व-निर्माण में समर्थ होने पर भी जब तक अश्व निर्माण नहीं कर लेता तब तक अश्वपति नहीं कहलाता वैसे हो, हे प्रभो ! आप ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक सम्पूर्ण सम्भोग-सुख के प्रवर्तक एवं उद्‌गम-स्थल हैं, सुरतनाथ हैं अतः रस-विशिष्ट का प्रादुर्भाव अनिवार्य है। रसशास्त्र के अनुसार भी सम्पूर्ण रसाभिव्यक्ति भगवत्-स्वरूप रस का ही परिणाम है। संसार के सम्पूर्ण समीचीन एवं असमीचीन पदार्थ सच्चिदानन्द-घन भगवान् के सद्-स्वरूप का ही परिणाम है। जैसे सामान्य मृत्तिका ही घट-विशिष्ट मृत्तिका रूप में अथवा सामान्य सुवर्ण ही कुण्डलादि विशिष्ट सुवर्णरूप में परिणत होता है, वैसे ही शुभाशुभ-विनिर्मुक्त अखण्ड सत्ता ही शुभाशुभ

पदार्थ विशिष्ट रूप से प्रकट होती है। वस्तुतः शुभाशुभ विशेषण-विनिर्मुक्त अखण्ड सत्ता ही परब्रह्म है। उसी प्रकार चित् भी भगवत्-स्वरूप ही है। सत् एवं चित् में अभेद है; जिसकी सत्ता होगी उसका भान भी अवश्य ही होगा; जिसका भान होगा उसकी सत्ता भी अवश्य ही होगी। अस्तु, संसार के सम्पूर्ण शुभाशुभ ज्ञान, शुभाशुभ विनिर्मुक्त भगवत् चित् स्वरूप का ही परिणाम है तथापि शुभज्ञान ग्राह्य एवं अशुभ ज्ञान अग्राह्य है। सच्चित्वत् आनन्द भी सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण है।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' (तै० उ० ३।६)

जिस प्रकार सर्व विशेषणमुक्त सत् ब्रह्म है उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। शुभाशुभ-विशेषणशून्य सत्-तत्त्व हेयोपादेयरहित हैं। सत्-तत्त्व ही सुख-दुःखादि शुभाशुभ-विशेषणविशिष्ट होकर हेय अथवा उपादेय हो जाता है क्योंकि कार्य-कारण में अभिन्नता होती है। जैसे मृत्तिका का परिणाम घट उससे अभिन्न होता हुआ भी मृत्तिका के विशेषण रूप से भी अभीष्ट है अथवा जैसे घटाकाश, महाकाश का अवच्छेदक है और उसका विशेषण भूत घट भी आकाश से अभिन्न है उसी प्रकार शुभाशुभ विशेषण भी सत्-तत्त्व से अभिन्न ही है, तथापि व्यवहारतः विशेषण भूत होकर उसका भेदक भी है। अस्तु, सत् एवं चित् की तरह ही आनन्द भी शुभाशुभातीत ब्रह्मस्वरूपभूत ही है। शुद्ध आलम्बन एवं उद्दीपन के योग से जिस रस की अभिव्यञ्जना होती है वह शुभ रस तथा अशुभ आलम्बन एवं उद्दीपन के योग से उद्बुद्ध रसाभिव्यञ्जना ही अशुभ है। शुभाशुभातीत विशुद्ध रसात्मक स्वरूप ही साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर है। देवता के आलम्बन एवं देव-विषय के उद्दीपन के संयोग से जिस रस की अभिव्यंजना होती है वह भक्ति के अन्तर्गत आ जाती है; रसस्वरूप परमात्मा के तत्-तत् देवतास्वरूप आलम्बन एवं उद्दीपन के संयोग से उद्बुद्ध भाव स्वयं ही रसात्मक हैं। लौकिक कान्त-कान्ता के संगम से प्रस्फुटित रसाभिव्यंजना भी मूलतः रसात्मक ही है तथापि लौकिक आलम्बन एवं उद्दीपन के संयोग से प्रस्फुटित होने के कारण अप्राकृतिक नहीं है। वस्तुतः शृङ्गार-रस ही अंगी-रस है, अन्य सम्पूर्ण रस शृङ्गार-रस के ही अंग हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण रस के अधिष्ठाता एवं अधिपति हैं। भगवन्निष्ठ रस ही प्रसरित होकर संसार के भिन्न-भिन्न रसों में परिणत हो गया।

'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः॥'

(श्रीमद्भा० ११।१।६)

अर्थात्, भगवान् के मङ्गलमय श्रीअंग के लावण्यामृत-सिन्धु के उच्छलित बिन्दुमात्र से ही समस्त ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त वस्तुओं में लावण्य प्रस्फुटित हुआ। **'सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी।'** अस्तु, सम्पूर्ण रसाभिव्यक्ति भगवद्रूप का ही परिणाम है। 'देवी भागवत' में एक अत्यन्त मार्मिक कथा है; वृन्दावन धाम में कोई शोभा नामक नायिका थी। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के संग वह रमण कर रही थी तभी राधारानी वहाँ पधारीं; राधारानी को देखकर वह नायिका भय-भीत हो अन्तर्धान हो गई। इसी तरह कान्ति, आभा, प्रभा आदि भिन्न-भिन्न नाम की गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के संग विहार करती रहती हैं परन्तु राधारानी के आते ही भयभीत हो अन्तर्धान हो जाती हैं। ऐसी सम्पूर्ण कथाओं का तात्पर्य यही है कि शोभा, आभा, प्रभा, कान्ति आदि समस्त लोकोत्तर कल्याण-गुण-गणों की अधिष्ठात्री देवियाँ मूर्तिमती होकर सच्चिदानन्द प्रभु से ही विहार करती हैं परन्तु नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी के आ जाने पर लुप्त हो जाती हैं; नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी की अद्भुत अद्वितीय कान्ति, शोभा, आभा, प्रभा की तुलना में अन्य सम्पूर्ण कान्ति, शोभा, आभा, प्रभा तेजहीना हो जाती हैं, फीकी पड़ जाती हैं, विलीन हो जाती हैं। परब्रह्मरूप सुख का विशेषोल्लास होने पर विविध प्रकार के वैषयिक सुख, विविध प्रकार के सविशेष रस संसार में प्रवृत्त होते हैं। परब्रह्म के निर्विकार रूप से अवस्थित रहने पर तृतीय पुरुषार्थस्वरूप काम, सम्पूर्ण रस भी परब्रह्म स्वरूप में ही अवरुद्ध रहता है। अस्तु, एक निर्विकार, अनन्त, अखण्ड परात्पर परब्रह्म परमात्मा का रूप-रस ही परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी, अनन्तानन्त व्रजाङ्गनाएँ, विभिन्न लीलाएँ एवं लीला-परिकर, आलम्बन एवं उद्दीपन अनेका-नेक स्वरूपों में विकसित होकर **'रसानां समूहो रासः'** बन गया।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे वरद! हे सुरतनाथ! हम सब आपकी अशुल्क-दासिका हैं। **'मार्गनिर्वाहकं द्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकं शुल्कः।'** मार्ग-निर्वाहक एवं प्रतिबन्ध-निवर्तक द्रव्य ही शुल्क है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सुरतनाथ हैं अतः गोपाङ्गनाएँ काम-रूप शुल्क की याचना करती हैं। सर्वाधिष्ठान परमानन्द-स्वरूप, औपनिषद परम पुरुष स्वयं रस-स्वरूप हैं तथापि परब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, निर्विकार रूप में अवस्थित रहने पर सम्पूर्ण सम्भोग-सुख अवरुद्ध हो जाता है; सविशेष एवं सप्रपंच स्वरूप में विकसित नहीं हो पाता। अतः हे प्रभो! आपका स्पष्ट प्राकट्य भी होना चाहिए।

वैष्णव-सिद्धान्तानुसार राधा-कृष्ण की स्थिति प्रकृति एवं पुरुष की अव-स्थिति से भी परे है; प्रकृति-पुरुष तो कुछ निम्नस्तरीय तत्त्व माना गया है।

'दूरे सृष्ट्यादिवार्त्ता न कलयति मनाक् नारदादिस्वभक्तान् ।
श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिशं कुञ्ज-वीथीमुपास्ते ॥'

अर्थात्, अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन एवं संहार, कृष्ण का नहीं, अपितु ईश्वर का काम है। निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय, निराकारस्वरूप कृष्ण सदा ही अपराशक्तिरूप रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी में ही अन्तर्लीन है। जैसे प्रकाश में अन्तर्निहित विमर्श का बोधक भी प्रकाश ही है वैसे ही रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी में अन्तर्विलीन कृष्ण का भाव भी प्रतिक्षण राधारानी में ही होता है। ईश्वर ही भक्तानुग्रह में प्रवृत्त होता है।

वेदान्त-सिद्धान्तानुसार भी—

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥
(श्रीमद्भा० १०।३।१९)

श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः ।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधाम् ॥
(राधा-सुधा-निधि)

अर्थात्, आपके दो रूप हैं, ब्रह्म एवं ईश्वर। ब्रह्मरूप अविक्रिय, निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय हैं। उत्पादकीयतत्त्व, पालनीयतत्त्व एवं संहार-तत्त्व विक्रियाएँ हैं अतः गुणभाव में ये क्रियाएँ भी असम्भव हैं। ईश्वररूप मायाविशिष्ट है, सगुण है अतः ईश्वर ही विश्व-प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति का कारण है। जैसे आनन्द-सिन्धु का रमण अपने अन्तरंग अभेद माधुर्य-सार-सर्वस्व में ही होता है किंवा आत्मविद् तत्त्वज्ञ ब्रह्मविद् वरिष्ठ आत्मा में ही क्रीड़ारत रहता है वैसे ही अनन्त परमानन्द-सुधा-सिन्धु कृष्ण का माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी में ही रमण सम्भव है।

जैसे चन्द्र का अपनी चन्द्रिका से अथवा सूर्य का अपनी आभा, प्रभा, कान्ति से रमण अपेक्षाकृत बहिरंग है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध तुलनात्मक दृष्टि से कुछ बहिरंग ही है परन्तु कृष्ण एवं राधा का सम्बन्ध अमृत एवं उसकी परमान्तरंगा मधुरिमा किंवा गंगा-जल एवं उसकी शीतलता, पवित्रता की तरह ही परमान्तरंग एवं अभिन्न हैं। साक्षात् परात्पर परब्रह्म परमेश्वर सच्चिदानन्दघन अपने माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री महाशक्ति राधारानी को अभिव्यक्त कर निरन्तर उसीमें रमण करते हैं, निरन्तर उसीको स्वप्रकाशत्व, अवेद्यत्व। सत्यपरोक्षत्व रूप से जानते हैं। वह वेदन का अगोचर होकर अपरोक्ष है। विपर्यय, संशय एवं अज्ञान का अविषय ही स्वप्रकाश है;

वेदन का गोचर नहीं अतः अवेद्य हैं; अवेद्य अपरोक्ष होकर स्वप्रकाशत्व ही आत्मा है। अस्तु, पूर्णानुराग-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज वृन्दावन धाम, सरोज-किंजल्क गोपसीमन्तिनीजन, किंजल्क-पराग श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द एवं पराग-मकरन्द नित्यनिकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी, राधारानी यद्यपि स्वभावतः ही अभिन्न हैं तथापि रस-विशेष के विकास-हेतु उनमें भी अवान्तर भेद स्वीकृत होता है।

अविद्या-भिन्न मोहिनी शक्ति द्वारा आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम श्रीकृष्णचन्द्र का भी अपनी आप्तकामता, पूर्णकामता, परमनिष्कामता को भुलाकर रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, राधारानी में और रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी का भी अपने तदभिन्न तादात्म्य सम्बन्ध को भुलाकर श्रीकृष्णचन्द्र में पूर्णतः आकर्षण होने पर ही रस-विशेषोल्लास सम्भव है; यह रस-विशेषोल्लास ही शुल्क अथवा मार्ग-निर्वाहक एवं प्रतिबन्ध-निवर्तक द्रव्य है। विमर्ष की अन्तर्मुखता, रस का अनुल्लास ही प्रतिबन्ध है।

गोपाङ्गनाएँ प्रार्थना कर रही हैं, **'अशुल्क-दासिका निघ्नतो'** हे सुरतनाथ ! हम आपकी अशुल्क-दासिका हैं अतः हमें निमित्त बनाकर रसोल्लास में प्रवृत्त होना ही उचित है, परन्तु ऐसा न कर आप अपने विप्रयोगजन्य तीव्रताप से हमारा वध ही कर रहे हैं। आपकी दृष्टि सर्व-घातकी है, **'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छंत्'** (श्री० भा० १।१५।१५) आपकी यह क्रूरा दृष्टि आयु, ओज एवं मन को छीन लेती है परन्तु आपका स्वरूप आनन्दमय, सर्वसुखदायी है। हमारे रक्षण के मूल अपने आनन्दमय, सर्वसुखदायी स्वरूप को तिरोहित कर आप अपनी इस सर्व-घातकी दृष्टि से हम अशुल्क-दासिकाओं का वध कर रहे हैं।

अथवा **'अधीनो निघ्न आयत्तः'** (अमरकोश ३।१।१६) इस कोश के अनुसार यहाँ **'निघ्नतः'** का अर्थ वशीकार है। जैसे मृगयु मधुर वीणानाद से वशीभूत कर मृग को मारता है किंवा जैसे वंशी में चारा लगाकर मछली को वश में किया जाता है वैसे ही आप भी सरस, सानुराग नयनों से हम अशुल्क-दासिकाओं को वशीकृत कर हमारा हनन कर रहे हैं।

अथवा **'अदृशा अदर्शनेन निघ्नतः'** अर्थात् आप अपने मनोहर मुखचन्द्र का दर्शन न देकर हमारा वध ही कर रहे हैं। आपके दर्शन के बिना जनन-मरण-परम्परा का बाध कदापि सम्भव नहीं होगा। इस जनन-मरण-अविच्छेदरूप संसृति-विच्छेद हेतु ब्रह्म-दर्शन अनिवार्य है। आपका अदर्शन सरसिजश्री को हर लेनेवाला है। किं बहुना, भगवद्दर्शन के बिना विश्वलक्ष्मी भी शुष्क हो जाती हैं, विश्व नीरस हो जाता है। जैसे कमल की उदरस्थिता श्री बाहर आते ही

अपक्वगर्भ के समान नष्ट हो जाती है वैसे ही आपके अदर्शन से श्री नष्ट हो जाती है; आपकी दृष्टि में स्थित रहकर हो वह जीवित रह सकती है। इसी तरह हम व्रजाङ्गनाएँ भी अन्य अनेकानेक साधनों के रहते हुए आपके अदर्शन में जीवन-धारण नहीं कर पा रही हैं; आपके अदर्शन से निश्चय ही हमारा हनन हो रहा है।

श्रीवल्लभाचार्य के मतानुसार सृष्टि के दो प्रकार मान्य हैं; परार्थ एवं आत्मार्थ। प्रकृति के योग से परब्रह्म में जो रस-विशेषोल्लास हुआ वही परार्थ सृष्टि है। शुद्धाद्वैत-मतानुसार प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्व नहीं, अपितु सच्चिदानन्द अद्वैत शुद्ध ब्रह्म का अंश ही है। सच्चिदानन्द भगवान् में ही तीन भेद हो जाते हैं; प्रथमतः सदंशाश्रित प्रकृति किंवा माया शक्ति, द्वितीय चिदंशाश्रित संवित् शक्ति तथा तृतीय आनन्दाश्रित, आह्लादिनी शक्ति। प्रकृति के योग से परब्रह्म में जो रसोल्लास हुआ वही परार्थ किंवा आत्मार्थ सृष्टि है। व्यवहारतः जैसे जल एवं अग्नि का संसर्ग होने पर जल में उष्णतारूप से अग्नि अभिव्यक्त हो जाती है वैसे ही प्रकृति एवं परब्रह्म के संयोग से चेतनादि का प्राकट्य होता है; जैसे काष्ठ पर अग्नि का दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व दोनों ही अंश प्रकट हो जाते हैं। आत्मार्थ सृष्टि में शुद्ध आनन्द का ही विकास है, शुद्ध आनन्दांश में परब्रह्म-स्वरूप आह्लादिनी शक्ति के योग से आनन्दकन्द परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र, रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी, गोपीजन, लीला एवं सम्पूर्ण उपकरणों का प्राकट्य हुआ; आत्मार्थ एवं लौकिक सृष्टि में यही अन्तर है। सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध परब्रह्म है तदपि वह सामान्य दृष्टि का विषय नहीं; परब्रह्म स्वरूप में रसोल्लास होने पर ही रस-विकास सम्भव होता है। एतावता तृतीय पुरुषार्थ काम के आधार पर ही प्रवृत्ति सम्भव है। गोपाङ्गनाजन स्वयं को रस-विशेष के प्रतिबन्ध को निवर्तिका एवं रस-विशेष की अभिव्यञ्जिका मानती हुई पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु में रसोल्लासरूप शुल्क की कामना करती हैं। आत्मार्थ सृष्टि में लीला का आविर्भाव होने पर ही लोकार्थ सृष्टि में उनकी अभिव्यक्ति सम्भव होती है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे सुरतनाथ! आपके द्वारा हमें सुरत-सुख की प्राप्ति होनी चाहिए थी परन्तु इसके विपरीत हमारा वध ही कर रहे हैं। **'श्रीमुषा दृशा।'** आपके अदर्शन से हम गोपाङ्गनाजनों का वध हो रहा है। **'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।'** त्रुटिकालपर्यन्त भी आपका अदर्शन हमारे प्राण-वियोग का कारण बन जाता है। जितने काल में सूर्य-रश्मि रेणु का उल्लंघन करती है अथवा जितने काल में शतपत्र कमल के एक-एक पत्र का तीव्रगतियुक्त

तलवार द्वारा छेदन हो सकता है उतने ही अणुकाल का अथवा उससे भी सूक्ष्म त्रुटिकाल का आपका अदर्शन ही हमारे प्राण-वियोग का कारण बन जाता है। भागवत का उल्लेख है—

'रहितात्मनां नः, केचिद् देहहीनाः केचिद् गेहहीना अपि जीवन्ति, धनहीना अपि जीवन्ति परं रहितात्मनां नः कथं जीवनम्।
(श्रीमद्भा० १०।३०।९)

अर्थात्, गेहहीन, धनहीन होकर भी जीवन चल सकता है; कदाचित् देहहीन होकर भी जीवन चल सकता है, परन्तु रहितात्मा होकर जीवन असम्भव हो जाता है। आपके न रहने पर हम **'रहितात्मानः'** रहितात्मा हो जाती हैं, क्योंकि आप ही हम सबके अन्तरात्मा हैं।

उपनिषद्-कथन है, **'प्राणस्य प्राणः'** (केनो० १।२) अर्थात् भगवान् ही प्राणों के प्राण हैं। भगवान् ही पारमार्थिक सत्य, चैतन्य, नित्यानन्द, रस-स्वरूप हैं। महर्षि वाल्मीकि का भी कथन है, **'लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।'** (वा० रा० २।३७।३२) अर्थात् लोक में ऐसा कोई प्राणी नहीं जो राम का अनुव्रत न हो। 'रामचरितमानस' में महर्षि वशिष्ठ का कथन है, **'प्राण के प्राण जीव जीवन के सुख के सुख राम'** भगवान् ही सुख का सुखत्व एवं जीवन की सम्वित् शक्ति हैं। अतः गोपाङ्गनाएँ कहती हैं कि "हे सुरतनाथ! आप जो हमारे प्राणों के प्राण एवं जीवन के जीवन हैं आपके त्रुटिमात्र का अदर्शन हमारी मृत्यु का कारण बन जाता है। सरसिजोदर-निवासिनी यह श्री भी आपकी दृष्टि में ही जीवित है इनके लिए भी आपका क्षणिक वियोग असह्य है। जैसे जल-तरंगों से जल को निकाल देने पर उनका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है, वैसे ही आपके अदर्शन से हमारा अस्तित्व ही लुप्त होने लगता है। हमारे दर्प-दलन के लिए तो आपका कटाक्ष ही पर्याप्त है। निश्चय ही परम दयालु होने के कारण आप हमारी मृत्यु की कामना नहीं करते अतः अपने अदर्शन से हमारी मृत्यु का कारण न बनें। कुत्सित कार्य तो सर्वदा सर्वत्र वर्जित है; यह तो वृन्दावन जैसा पुनीत धाम है जिसकी पूजा सुख एवं शान्ति-कामना से की जाती है, अतः यहाँ तो वध और वह भी स्त्रियों का दृशा-वध जैसा अत्यन्त कुत्सित कर्म कदापि नहीं करना चाहिए।" गोपाङ्गनाएँ कल्पना करती हैं कि श्यामसुन्दर कह रहे हैं कि "सखि! हम तो वध करते ही नहीं; तुम स्वयं ही कह रही हो कि हमारी दृष्टि से तुम्हारा वध हो रहा है अतः दोष हमारा नहीं, अपितु हमारी इस वध-कारिका दृष्टि का ही है।" उत्तर देती हुई गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, "जैसे राजा स्वयं अपने हाथों से किसीका वध नहीं करता तदपि उसके रहस्यज्ञ अनुचरों द्वारा किये गये वध का उत्तरदायित्व राजा पर ही होता है वैसे ही आप स्वयं

भी हमारा वध न कर अपनी सर्वंहारा, सर्वघातकी दृष्टि से हमारा वध करा रहे हैं अतः वस्तुतः तो आप ही इस दृशावध के लिए भी उत्तरदायी हैं। हम तो आपकी मित्र हैं, परम-प्रेयसी, अनुरागिणी जन हैं; हमारा वध करना तो मित्र-द्रोह जैसा घोर पातक है।"

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक अखिलेश्वर परमात्मा दारुयंत्रवत् हमारे वशीभूत हैं ऐसा दर्प हम लोगों को हो जाने पर ही हमारे दर्प-दलन-हेतु **'प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत'** की गई आपकी यह अन्तर्धान-लीला फलीभूत हो गई; अब तो कृपा कर दर्शन देकर हमें प्राणदान करें। व्रज-सीमन्तिनी-जन भगवान् मधुसूदन के वास्तविक स्वरूप से पूर्णतः अभिज्ञ होते हुए भी लीला-हेतुमोहिनी मायाशक्ति के प्रावरण से आच्छादित हैं क्योंकि ऐश्वर्य-विज्ञान संकोचकारक तथा स्वाभाविक, स्वरसिक, निर्भर अनुरागजन्य मदीयत्वाभिमान का विघटक है; फलतः सम्पूर्ण लीला ही असम्भव हो जाती। उनकी उक्ति है—

'यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि तस्यै नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥'

(राधा-सुधा-निधि १)

अर्थात्, जिस दिशा में वृषभानुनन्दिनी राधारानी विराजमान हैं उस दिशा को भी हम नमस्कार करती हैं क्योंकि अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर, प्रभु कृष्ण जो योगीन्द्र-दुर्गम-गति हैं, जो विज्ञान-दुर्लभ हैं; वे भी राधारानी के वसनाञ्चल की हलचल से उत्पन्न पवन के संसर्ग से अपने-आपको धन्य मानते हैं। लोकदृष्ट्या दर्पानुभूति त्याज्य है। जीवार्थ सृष्टि में अन्तर्धान-लीला लोक-शिक्षार्थ ही हुई। यथार्थ में गोपाङ्गनाओं का यह मदीयत्वाभिमान विशिष्ट अलंकारस्वरूप एवं स्तुत्य है। नित्य-निकुंजेश्वरी, राजेश्वरी, राधारानी ही परम-मानिनी नायिका हैं। तात्पर्य यह कि अनुचित गर्व-प्रशमन एवं दर्प-दमन-हेतु अन्तर्धान-लीलाएँ हुईं।

भगवत्-भावना-भावित चित्त की सम्पूर्ण भाव-स्थितियाँ भक्ति-रसामृत-सिंधु की लहरी-कोटि में ही मान्य हैं; काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, स्नेह आदि किसी भी भावना से भगवान् में चित्त लगाने से प्राणी का कल्याण हो जाता है जैसे रस-परिप्लुत होने पर अपक्व एवं अम्ल फल के स्वाद में भी विशिष्ट चमत्कृति आ जाती है वैसे ही भक्ति-रस-परिप्लुत होने पर मन की विकृतियाँ भी चमत्कृत हो भक्ति-रसामृत-सिन्धु की लहरी-कोटि के अन्तर्गत आ जाती हैं। श्री वल्लभाचार्य-जी के मतानुसार व्रजधाम, गोप-सीमन्तिनी जन आदि सम्पूर्णतः आत्मार्थ सृष्टि का ही विकास है, फलतः स्वभावतः ही रसात्मक है।

अन्य एक मत यह भी है कि लक्ष्मी ब्रह्म से भिन्न है। लक्ष्मी, ब्रह्म एवं जीव दोनों से ही विलक्षण हैं; जीव अणु हैं लक्ष्मी व्यापिका हैं; परब्रह्म सर्वशेषी हैं लक्ष्मी शेष हैं। जैसे माता, पिता एवं पुत्र दोनों से ही विलक्षण हैं वैसे ही लक्ष्मी ब्रह्म एवं जीव दोनों से ही विलक्षण हैं। अन्यमतानुसार चित् ब्रह्म की शक्ति है एवं सम्पूर्ण संसार चित् का ही परिणाम है अतः संपूर्ण ब्रह्मात्म ही है। अचिन्त्य भेदाभेदवादी गौड़ीय-सम्प्रदाय-मतानुसार भी लक्ष्मी जीवकोटि में ही आती हैं अतः लक्ष्मी को पूर्णरूपेण अभिन्न, सत्-चित्-रूपिणी नहीं कहा जा सकता; अतः अचिन्त्य-भेदाभेद का प्रतिपादन हुआ। तात्पर्य यह कि ब्रह्म सर्वदा सर्वव्याप्त है तथापि उसकी स्फुट प्रतीति भावुक भक्तगण तथा आत्माराम महर्षि जनों द्वारा ही संभव है।

अद्वैतमतानुसार भी **'रसो वै सः'** (तै० उ० २।७) सम्पूर्ण रस ही सच्चिदानन्द परब्रह्म-स्वरूप ही है किन्तु लीला के क्षेत्र में आलम्बन एवं उद्दीपन ही कुछ लौकिक होते हैं। जैसे आदित्य का रूप मेघ के सम्बन्ध से आच्छादित हो जाता है परन्तु दिव्य उपनेत्र अथवा दूर-वीक्षण यन्त्र के सम्बन्ध से आवृत नहीं होता अपितु दिव्यभाव से स्पष्ट हो उठता है वैसे ही प्रपञ्चोत्पादिनी मलिन शक्ति के सम्बन्ध से प्रपञ्चरूप में प्रकट ब्रह्म का निजी स्वरूप तिरोहित या आच्छादित हो जाता है। परन्तु दिव्य लीला-शक्ति के योग से दिव्य-मधुर, सगुण एवं साकाररूप से प्रकट हो जाता है। सिद्धान्त है कि **'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्'** (श्री० भा० १०।८८।५) सत्त्वादि गुणकृत प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के कारण ही हरि निर्गुण हैं। **'रजस्तमोऽननुविद्ध सत्त्व'** रजोगुण एवं तमोगुण से अननुविद्ध सत्त्व भगवत्-स्वरूप का आच्छादक नहीं अपितु व्यवधायक है।

श्रीधरस्वामीकृत व्याख्या अद्वैत-मत पर ही आधारित है। अद्वैत-मतानुसार **'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः'** (श्री० भा० १०।१३।५४) सत्य, ज्ञान एवं अनन्त आनन्दस्वरूप ही रस-मूर्ति है; तात्पर्य कि माया एवं गुण-रहित, सर्व-अनात्मांश-विवर्जित, विशुद्ध रसमूर्ति हैं। ब्रह्मा द्वारा गोप-बालकों का उनके गो-धन के साथ अपहरण किये जाने पर भगवान् कृष्ण स्वयं ही गोप-बालक-समूह एवं गोवृन्द रूप में प्रकट हुए। उस समय ब्रह्मा ने प्रत्येक गोप-बालक के सम्मुख चौबीसों तत्त्वों को मूर्तिमान् हो स्तुति करते हुए देखा; अव्यक्त, महत्, अहम्, पञ्चतन्मात्रा एवं षोडश विकार ही चौबीस तत्त्व हैं। **'सच्चिन्मयो नीलिमा'** श्याम तेज, विष्णुरूप कृष्ण ही दशम तत्त्व हैं। जैसे शैत्य के योग से जल हिम-खण्ड बन जाता है तदपि उस हिम-खण्ड का आधार एवं अस्तित्व भी जल ही

है, अथवा जैसे घृत एवं वर्तिका दीपशिखाप्राकट्य के निमित्तमात्र होते हैं वैसे ही भगवान् भी अपनी लीला-शक्ति, वैष्णवी माया द्वारा मंगलमय देह धारण करते हैं।

यह लीला-शक्ति भगवान् की परम-अन्तरंगा है। जिस प्रकार बीज में शाखा, पल्लव, पुष्प और फल सभी अंगों को उत्पन्न करने की अनेक शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार महाशक्ति में ही विश्व-विकास की समस्त शक्तियाँ रहती हैं। तात्पर्य कि वह भगवदीय महामाया-शक्ति अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। उसमें जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामक आदि प्रपञ्च को उत्पन्न करने की अनन्त शक्तियाँ हैं उसी प्रकार उन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर श्री भगवान् के दिव्य मंगलमय-विग्रह में आविर्भूत होने के अनुकूल भी एक परम विशुद्धा, अन्तरंगा शक्ति है। भगवान् की अनिर्वचनीया, आत्मयोग-भूता, महाशक्ति के अन्तर्गत होने के कारण अनिर्वच-नीयता में अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियों के समान होने पर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ एवं दिव्य है। इस विलक्षण शक्ति का निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरङ्ग-शक्ति आदि शब्दों द्वारा भी किया जाता है। यह शक्ति भगवत्-स्वरूप में प्रविष्ट रहती हुई ही उसके प्राकट्य का निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधि-विरहित दाहकत्व-प्रकाशकत्व-रहित अग्नि के दाहकत्व-प्रकाशकत्व-संयुक्त दीप-शिखादि रूप की अभिव्यक्ति में तैल तथा सूत्र आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं किंवा जैसे तरंग-विरहित नीर-निधि के तरंगयुक्त होने में वायु केवल निमित्त-मात्र ही है ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीला-शक्तिरूप निमित्त से शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त-कल्याण-गुण-गण-विशिष्ट सगुण विग्रह में अभिव्यक्त होते हैं। तथापि उनका वह विग्रह वस्तुतः मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य-शक्ति का भी निवेश नहीं, वह तो तटस्थ रूप से केवल निमित्तमात्र है। इसीसे भगवान् की सगुण मूर्ति में **'आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि' 'आनन्दमात्रैकरसमूर्तयः'** (श्री० भा० १०।१३।५४) इत्यादि उक्तियाँ हैं।

विशुद्ध सत्त्व को निमित्त मानकर निर्विकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही कृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द रासेश्वरी राधारानी एवं व्रज-सीमन्तिनी-जन आदि विभिन्न रूपों में प्रकट हो गया है अतः सम्पूर्ण लीला ही शुद्ध-निर्विकार एवं एक-रस है; एतावता भागवत-भावना-भावित चित्त के सम्पूर्ण विकार भक्ति-रसामृत-सिंधु की विभिन्न लहरियाँ ही हैं; अस्तु, यह दर्प भी प्रभु को प्रिय है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे सुरतनाथ! इस मान को मनाने हेतु एवं अनुचित दर्प का प्रशमन करने हेतु आप शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जायँ।

मुग्धा एवं मानिनी व्रजाङ्गनाओं की ओर से भी यह युक्ति संगत होती है।

मुग्धा अनभिज्ञा होती हैं; वे दैन्य व्यक्त करती हुई भगवान् श्रीकृष्ण से प्राकट्य-हेतु प्रार्थना करती हैं। हे सुरतनाथ! सर्वविध याचित कामनाओं के पूर्ण करने-वाले हे वरद! सर्व प्रकार के अभीष्ट वर को देनेवाले, सर्वेश्वर! आपके विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप से हम लोग सन्तप्त हो रही हैं। आपके अदर्शन से निश्चय ही हम मृत्यु को प्राप्त हो जायँगी; अस्तु, कृपा कर आप हमारे लिए प्रत्यक्ष हो जायँ। हे सुरतनाथ! हम आपकी अशुल्क-दासिका; अक्रीत-दासिका हैं। विवाह से प्राप्त अथवा संक्रीता ही शुल्क-दासिका हैं। संक्रीता दासिकाओं को आप मारें अथवा जिलायें **'वयं तु अशुल्कदासिकाः'** हम तो आपकी अशुल्क-दासिका हैं। **'दृशैव वशीभूताः'** आपकी इस मनोहारिणी दृष्टि के वशीभूत हो हम आपके सन्निधान में चली आयी हैं। आपकी दृष्टि ने शरद्-कालीन, स्वच्छ जलाशय में उद्भूत सरसिज-सम्राट् के कर्णिकान्तर्निवासिनी श्री का अपहरण कर लिया है; हम व्रजाङ्गनाएँ भी आपकी इस दृष्टि द्वारा ही वशीभूत कर ली गई हैं। अशुल्कदासिका शब्द में 'कन्' प्रत्यय का व्यवहार है; 'कन्' प्रत्यय का व्यवहार दैन्यसूचक होता है। तात्पर्य कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे मदन-मोहन! आपकी मनोहारिणी दृष्टि द्वारा वशीकृता हो हम व्रजाङ्गनाएँ आपके सन्निधान में चली आई हैं अतः हम अकिंचिता, अशुल्क-दासिका हैं और इसीलिये अधिक अनुकम्पनीया भी हैं। एतावता विशेषतः हम व्रजाङ्गनाओं को अपने आनन्दमय, सुखमय श्री अंग का दर्शन देकर जीवन-दान देना ही उचित है; साथ ही, अपनी अनुकम्पामयी दृष्टि से हमारा वीक्षण भी होना चाहिए।

मानिनी व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं; हे मदन-मोहन! आप जो अपने अदर्शन को हेतु बनाकर इन असंख्यात अशुल्क-दासिकाओं का वध कर रहे हैं; इस अनर्थ से उत्पन्न पातक से तो डरें। ये मुग्धाएँ आपकी शुल्क-दासिका नहीं हैं अपितु आपकी दृष्टि से ही आपके वशीभूत हैं अतः विशेषतः रक्षणीया हैं। इनका वध तो सर्वथा घोर कर्म है अतः आप शीघ्र प्रकट होकर इनको जीवन-दान करें।

वैदिक एवं तान्त्रिक ऐसे अनेक आभिचारिक कर्म होते हैं जिनके आधार पर बिना शस्त्रास्त्र ही शत्रु का हनन कर दिया जाता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे श्यामसुन्दर! यह दृशावध भी आभिचारिक कर्म है। क्या यह अभि-चार-कर्म, दृशा-घात भी वध नहीं है?

हे मदन-मोहन! आपकी यह दृष्टि भी एक प्रकार का शर ही है। कुसुम-धन्वा, कन्दर्प कुसुम-धनुष एवं कुसुम-शर द्वारा ही सम्पूर्ण संसार को वशीभूत किये हुए है।

'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें ॥'
(मानस, बा० कां० २५६।१)

सम्पूर्ण कुसुमों में सरसिज ही परम प्रधान परमोत्कृष्ट है। शरत्कालीन स्वच्छ अगाध जलाशय में उद्भूत सरसिज-सम्राट् के कर्णिकान्तरनिवासिनी नवनवायमान श्री का अपहरण कर लेनेवाली आपकी यह दृष्टि ही मानों कुसुम-धन्वा, कन्दर्प का सर्वोत्कृष्ट शर है। आपके इन नेत्र-शरों द्वारा ही हम मनोरमा रमा-जनों का वध हो रहा है।

सुरतनाथ! **'अभित सुरतिर्येषां ते सुरताः'** जो आपमें सुष्ठु रूप से रत हैं, जो सम्यक् प्रकार से आपके भक्त हैं, वही सुरत है। इन सुरतजनों के नाथ, सुरत-नाथ! आप तो स्वभाव से ही **'सुरतानां नाथः सुरतानामुपतापकः'** सुरत जनों के तापक हैं। कहते हैं विष्णु की भक्ति करनेवाले दरिद्र हो जाते हैं। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि जिस पर उनका अनुग्रह होता है उसको वे देह-गेह-हीन कर देते हैं। जो आपके अत्यन्त रति-प्रीतियुक्त हैं उनको भी आप सदा-सर्वदा उपताप ही पहुँचाते हैं। आपमें रति-प्रीति-युक्तजन आपके अदर्शन में दर्शन के लिए व्याकुल रहते हैं; दर्शन होने पर विप्रलम्भ-भय से सन्तप्त रहते हैं। रासेश्वरी राधारानी में प्रेम का ऐसा अद्भुत संचार है जिसको स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी नहीं समझ पाते और ललिता प्रभृति सखियों से कहने लगते हैं—

'पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि
लोकापवाददलितामथ मद्वियुक्तौ।
दावानलज्वलितजातिवनीसदृक्षा-
मेतां कथं कथमहो बत सान्त्वयामि ॥'

अर्थात्, हे सखी! यह (राधारानी) तो मेरे पूर्वराग में ही गलित हो चुकी है; मेरे सम्मिलन में भी लोकापवाद से दलित होती है; विप्रयोग में तो यह दावानल-ज्वलित-जातिवनी सदृश हो जाती हैं। मैं इन्हें कैसे सान्त्वना दूँ?

मानिनी व्रजाङ्गनाएँ पुनः कह रही हैं हे वरद! **'स्वदत्तानामपि वराणां खण्डकः वरान् द्यति खण्डयतीति वरदः'** आप अपने दिए हुए वरदान का ही खण्डन करनेवाले हैं। कात्यायनी-व्रत के अन्तर्गत आपने स्वयं ही प्रकट होकर हम व्रजाङ्गनाओं को स्वस्वरूप-संभोग का वरदान दिया था; अब अन्तर्धान होकर आप अपने दिए हुए वरदान का ही छेदन कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण में मानिनी गोपाङ्गनाएँ दोषानुसन्धान, असूया करती हुई **'वरद' 'सुरतनाथ'** सम्बोधनों का प्रयोग करती हैं।

श्रुति-कथन है—'**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ।**' (बृ० उ० ४।४।२३)

अर्थात्, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धान्वित, समाहित होकर अपने देह में, अपने आत्मा में अन्तःकरण में ही उस सर्वान्तरात्मा, सर्वान्तर्यामी का अनुसन्धान करो । '**न गृहे विनष्टं वस्तु वनेन्विष्यते**' घर में खोई हुई वस्तु को घर में ही खोजना उचित है । श्रीमद्भागवत-कथन है—

'त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताऽज्ञता ॥'

(श्रीमद्भा० १०।१४।२७)

देहादिकों को आत्मा ओर आत्मा को देहादिक समझकर अज्ञ आत्मा को खोजते हुए बाहर भटकता है । वस्तुतः अन्तर्मुखता ही परम वांछनीय है, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जाने पर प्राणी सर्वत्र ही भगवत्-स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर शांति प्राप्त कर सकता है ।

'अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।१४।२८)

ब्रह्मस्तुति है, हे अनन्त ! हे अपरिच्छिन्न, सर्वेश्वर प्रभो ! विज्ञ-जन शरीर के भीतर ही आपका अनुसन्धान करते हैं । जैसे अत्यन्त सावधानी के साथ मूँज में से सींक निकाल ली जाती है वैसे ही अन्नमयादि पञ्चकोषों से आवृत, सींक-स्थानीय निर्विकार, आनन्दस्वरूप, चिदात्मा को भी प्राप्त कर लिया जाता है । देहेन्द्रियादि रूप उपाधि के तादात्म्याध्यास से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनेकानर्थ-परिप्लुत आत्मा सम्पूर्ण सजातीय-विजातीय स्वगत भेदों को त्यागकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है । उदाहरणार्थ यद्यपि रज्जु में सर्प नहीं है तथापि मिथ्याभ्रम विषयीभूत-सर्प के कल्पित अस्तित्व का बोध न हो जाने तक विद्यमान रज्जु का अनुभव असम्भव है । '**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।**' अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा ही अधिष्ठानभूत निष्प्रपञ्च ब्रह्म-तत्त्व का वर्णन किया जाता है ।

अध्यारोप के द्वारा ब्रह्म को निखिल-प्रपंच का चरम कारण मानकर उससे सृष्टि का क्रम बतलाया जाता है और अपवाद के द्वारा दृश्यमात्र का अनात्मत्व प्रतिपादन करते हुए साक्षी चेतन का शोधन किया जाता है । इसी क्रम से शुद्ध परब्रह्म लक्षित हो जाता है । जीव स्वभावतः शुद्ध तत्त्व से अनभिज्ञ है अतः इस दृश्य-प्रपंच के कारण के अन्वेषण द्वारा ही उसका बाध सम्भव होता है ।

अध्यारोप एवं अपवाद, दोनों ही जिसमें अधिष्ठित होने से सिद्ध होते हैं वह परब्रह्म ही आश्रय नामक दशवाँ तत्त्व है। श्रीमद्भागवत में भी आश्रय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥'

(श्रीमद्भा० २।१०।७)

'आभास' अध्यारोप को और **'निरोध'** अपवाद को कहते हैं। श्रीमद्-भागवत-कथन है, **'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।'** (२।१०।२) दशम-स्कन्ध में जो दशम-तत्त्व का निरूपण किया गया है उसकी विशुद्धि के लिए ही पूर्ववर्ती नव स्कन्ध हैं।

'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥'

(श्रीमद्भा० २।१०।१)

अर्थात् सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय इनमें भी दशम की विशुद्धि के लिए ही शेष नौ का कीर्तन किया गया है। सम्पूर्ण शास्त्र ही भगवान् के वाङ्मय-विग्रह हैं। श्रीमद्भागवत भगवान् का सविशेष-निर्विशेष सम्मिलित-स्वरूप है; उसमें सर्ग-विसर्गादि दसों तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन है किन्तु दशम-स्कन्ध में केवल आश्रय नामक दशम-तत्त्व का ही वर्णन है। **'दशमे दशमो हरिः।'** जिस प्रकार एक सुधासिंधु में नाना प्रकार के तरंगों का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार दशम-स्कन्ध में जितनी लीलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है वे सब भगवान् की नित्य-लीला की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं, अतः भगवल्लीला-सम्बन्धी जितने विषय हैं वे सब भगवद्रूप हैं।

मधुसूदनजी कहते हैं, **'नीलं महो धावति।'** अर्थात् महान्-नील-तेज यमुना-पुलिन-पर दौड़ रहा है। तात्पर्य कि जिसके तेज से दीप्त होकर सूर्य प्रकाशवान् हो रहा है, जो अनन्त ज्योति है **'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः।'** ज्योतियों का भी ज्योति है, वही परात्पर परब्रह्म **'नीलं महः'** कृष्णरूप में यमुना-पुलिन पर क्रीड़ा कर रहा है।

शंकराचार्य कहते हैं—

'ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्तु कोऽपि कृतयः सच्चिन्मयो नीलिमा॥'

अविकृत सच्चिन्मयी नीलिमा ही कृष्ण है। **'मूर्तित्रयात् पृथगस्तु'** जो ब्रह्मा-विष्णु-महेश, त्रिमूर्ति से भिन्न हैं, जिसने ब्रह्मा को भी अपरिगणित ब्रह्माण्ड दिखाए; ब्रह्माजी स्तुति कर रहे हैं।

'क्वाऽहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाऽविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥'

(श्रीमद्भा० १०।१४।११)

अर्थात्, कहाँ मैं साढ़े तीन हाथ ब्रह्माण्ड घट की महिमा में अभिमान करने-वाला और कहाँ आप जिसके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। जैसे वातायन से आती हुई सूर्य-रश्मि के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म रेणु परिलक्षित होती है वैसे ही आपके प्रत्येक रोमकूप में परमाणु-तुल्य अनन्त ब्रह्माण्ड परिव्याप्त हैं; प्रत्येक ब्रह्माण्ड अपने परिमाण से **'सप्त-वितस्ति-काय'** साढ़े तीन हाथ है; प्रत्येक ब्रह्माण्ड अष्टावरण-समावृत है। प्रकृति-तत्त्व, महत्-तत्त्व, अहं, ख–आकाश, चर–वायु, तेज–अग्नि, जल एवं भू–पृथ्वी ही अष्टावरण हैं। कहीं-कहीं सप्तावरण भी मान्य हैं; सप्तावरण को माननेवाले प्रकृति-तत्त्व को आवरण के अन्तर्गत नहीं मानते। 'रामचरित-मानस' में काकभुशुण्डिजी कहते हैं **'अष्टावरण भेद करि, जहँ लगि रहि गति मोर।'** काकभुशुण्डिजी जहाँ-जहाँ गए वहीं-वहीं उनको राघवेन्द्र रामचन्द्र की भुजा पीछा करती हुई दीखी। प्रत्येक ब्रह्माण्ड अष्टावरण-समावृत है; प्रत्येक ब्रह्माण्डान्तर्गत प्रत्येक वस्तु अष्टावरण-समावृत है; इस प्रकार के अपरिगणित ब्रह्माण्ड का परिभ्रमण आपके एक-एक रोम में हो रहा है।

'देखरावा मातहि निजहि अद्भुत रूप अखंड।
रोम-रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड ॥'

(मानस, बा० का० २०१)

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा विशिष्ट होते हैं; किसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा चतुर्मुख हैं तो अन्य ब्रह्माण्ड में अष्टमुख, द्वादशमुख, षोडशमुख भी हैं। पुराणों में एक रोचक कथा है; किसी ब्रह्मा को वैराग्य हो गया अतः उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के यहाँ अपना मुक्ति-नामा पेश कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनको समझाया-बुझाया, परन्तु ब्रह्मा ने उनकी एक भी बात न मानी और अपना त्यागपत्र देकर आ गये। लौटते हुए रास्ते में ब्रह्माजी ने देखा कि असंख्यात ऊँटों की कतार चली आ रही है; उत्सुक होकर ब्रह्मा उन लोगों से पूछताछ करने लगे; मालूम हुआ कि प्रत्येक ऊँट पर दो-दो पेटियाँ हैं; प्रत्येक पेटी में दस-दस ब्रह्मा हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण के यहाँ भेजे जा रहे हैं; उनको जो पसन्द होगा उसको वे रख

लेंगे, शेष लौट आयेंगे। तो ब्रह्माजी स्तम्भित हो गए और कहने लगे, 'भाई, तुम लोग लौट जाओ; मैं तो त्याग-पत्र देकर आया था परन्तु अब मैं अपने कार्य-भार को पुनः सँभाल लेता हूँ।'

इसी तरह, वृन्दावन-धाम, गोकुल-धाम में ब्रह्मा को विष्णु-स्वरूप परिलक्षित हुआ। आनन्दकन्द-परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही प्रत्येक गोप-बालक, धेनु, गोवत्स एवं उनके वसन-अलंकारादि सम्पूर्ण विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हुए; उन सब विभिन्न स्वरूपों के सम्मुख चौबीसों तत्त्वों को मूर्तिमान् हो स्तुति करते हुए ब्रह्मा ने देखा। अव्यक्त, महत्, अहम्, पंचतन्मात्रा एवं षोडश विकार ही चौबीस तत्त्व हैं। शंकराचार्यजी कह रहे हैं, जिस विष्णु के चरणोदकरूप गंगा को भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ भी निरन्तर अपने मस्तक पर धारण करते हैं वही दशम-स्कन्ध का वर्णनीय दशम-तत्त्व, सच्चिन्मयी नीलिमा, श्याम-तेज, श्रीकृष्णरूप में अवतरित है। **'भवन्तमेव मृगयन्ति सन्तः'** विज्ञ-जन असत् का परित्याग करते हुए आपका ही अनुसन्धान करते हैं। **'न च पुनरावर्तते'** (छा० ८।१५।१) इस सत् को, इस दशम-तत्त्व को जान लेने पर पुनरावृत्ति, पुनर्जन्म नहीं होता।

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद, श्रुतियों की अधिष्ठात्री देवियाँ ही गोप-कन्याओं के रूप में आविर्भूत हुईं; भगवन्-सम्मिलन, भगवत्-स्वरूप-सम्भोग-सुखहेतु-विह्वला ही श्रुतियाँ प्रार्थना कर रही हैं। **'शरदुदाशये, स्वच्छ-जलाशयसदृशे अन्तःकरणे; उदाशयो जलाशयः।'** शरत्कालीन पद-प्रयोग से स्वच्छता अभिप्रेत है। तात्पर्य कि शरत्कालीन अगाध स्वच्छ जलाशयस्वरूप साधक के निर्दोष शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाहित अन्तःकरण में ही आपका सम्यक् दर्शन सम्भव है। कथंचित् तो सर्वत्र ही भगवत्-दर्शन हो जाता है, तथापि वह दर्शन फलपर्यवसायी नहीं होता। जैसे मेघाच्छन्न सूर्य ही आच्छादक मेघ का अवभासक भी है वैसे ही अज्ञानाच्छन्न-चित्त ही ज्ञान का द्योतक भी है। जैसे सम्यक् प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसे ही सम्यक्-ज्ञान उत्पन्न होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। **'अविचारितरमणीयं जगत्'** अर्थात्, अविचार के कारण ही जगत् रमणीय प्रतीत होता है। **'अज्ञानभासकत्वेन, अहंकार-भासकत्वेन अहं शान्तः, अहं मूढः, अहं घोरः आदि'** विभिन्न प्रकारों से अहं का प्रकाश जिसमें होता है वह वस्तु अन्तःकरण में ही सतत प्रकाशित है। **'शरदुदाशये'** शरत्कालीन स्वच्छ जलाशय सदृश शान्त उपरत तितिक्षु समाहित श्रद्धान्वित चित्त में ही **'दृशा दर्शनेन भगवद्दर्शनेन'** भगवद्-दर्शन एवं साक्षात्कार से अन्तःकरण की विषयाकाराकारित वृत्तियाँ तथा अनिर्वचनीय अज्ञान

दोनों का बाधन कर लेनेवाले विज्ञ साधक का जगत् में पतन अथवा बन्धन नहीं होता। अज्ञान एवं प्रपञ्च का स्फुरण ही बन्धनकारक है। कारणभूत अज्ञान, सुषुप्ति स्वप्न एवं जाग्रत् तीनों ही अवस्थाओं में अनुभूत होते हुए भी निद्राकाल में ही सर्वाधिक अनुभूयमान होता है तथा अन्तःकरण की विषयाकाराकारित वृत्तियाँ जाग्रत्-काल में ही सर्वाधिक प्रखर होती हैं। विषयाकाराकारित वृत्तियों का स्फुरण ही जगत् है। अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा के विज्ञान में जब प्रपञ्च-बुद्धि बाधित हो जाती है तब उपादानता एवं निमित्तता परमात्मा में ही बाधित हो जाती है; इस स्थिति में कार्य-कारणातीत शुद्धस्वरूप की अभिव्यक्ति है।

'विषं विषान्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति।'

जैसे एक विष अन्य विष का प्रशमन कर स्वयं भी शान्त हो जाता है, अथवा दुग्ध दूसरे दुग्ध को शान्त करके स्वयं भी जीर्ण हो जाता है किंवा जैसे कतक-रेणु (निर्मली बूटी) जल की मलिनता को लेकर स्वयं भी नीचे बैठ जाती है ऐसे ही महावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित वृत्ति इतर सम्पूर्ण विषय-विषयिणी वृत्तियों को समाप्त कर स्वयं भी जीर्ण हो जाती है। अस्तु, जो विज्ञ भगवत्-साक्षात्कार से अज्ञान एवं अज्ञानजन्य विभिन्न वृत्तियों को बाधित कर स्थिर हो जाता है उसका **'संसारे वधो न भवति'** संसार में वध नहीं होता है; विनाश के हेतु अज्ञान के समाप्त हो जाने पर विनाश असम्भव हो जाता है। 'सरसिज' का अर्थ 'अज्ञान' भी है; कहीं-कहीं सरस शब्द का प्रयोग ब्रह्म में किया गया है। उदाहरणतः **'यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये'** (शि० म० २५) अर्थात्, जैसे कोई प्राणी अमृत के ह्रद में निमज्जन करके आनन्द का अनुभव करते हैं। अस्तु सरसिजं का अर्थ हुआ **'ब्रह्मणि-जातम्।'**

'साधुजात' अर्थात् जिसकी उत्पत्ति का सम्यक् विवेचन सम्भव हो एवं जिसमें कार्य-कारण की सुव्यवस्था हो। इस पद में बहुव्रीहि समास मान लेने पर इसका अर्थ होगा अनिर्वचनीयोत्पत्तिमत्। जैसे आनन्द चैतन्यात्मक ब्रह्म से दुःखात्मक तथा जड़ प्रपंच का आविर्भाव सम्भव है वैसे ही परमार्थ सत्य परमात्मा से मिथ्या प्रपंच का प्रादुर्भाव मानना युक्त है। अस्तु, परमानन्द स्वप्रकाश, परमार्थ-सत्य भगवान् से ही दुःखात्मक, जड़ात्मक मिथ्या, अर्थात् अपारमार्थिक, व्यवहारोपयोगी, व्यावहारिक प्रपंच का प्रादुर्भाव होता है; जगत् का मूल अज्ञान है, स्वप्रकाश चित् अखण्ड बोध से भिन्न, चिदभिन्न अचित् ही अज्ञान है। जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति किंवा बीज की अंकुरोत्पादिनी शक्ति अग्नि अथवा बीज से विलक्षण होती है वैसे ही त्रिकालाबाध्य सद्रूप ब्रह्म की प्रपंचोत्पादिनी शक्ति भी उससे विलक्षण एवं अनादि है; त्रिकालाबाध्य रूप सत्

से विलक्षण उसकी शक्ति शुद्ध सद्रूप अधिष्ठान के बोध से बाधित हो जाती है परन्तु ब्रह्म-तत्त्व कदापि बाधित नहीं होता। **'भेदोभेद्यं भिनत्ति, स्वमपि भिनत्ति'** जैसे भेद अन्य भेदों को भिन्न करता है वैसे ही स्वयं को भी भिन्न कर लेता है। नैयायिकों का मत है, **'ज्ञेयं जानाति स्वमपि जानाति।'** आत्मा ज्ञेय को भी जानता है, अपने को भी जानता है। **'अज्ञानं जगत् कल्पनाबीजम् भवति, स्वकल्पनाबीजमपि भवति'** अज्ञान ही जगत् एवं स्वकल्पना का भी कारण होता है। एतावता परमात्मनिष्ठ वह शक्ति जिससे परमात्मा स्वयं को सरल प्रपञ्चरूप से व्यक्त करता है सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है; **'अनिर्वचनीयोत्पत्तिमत्'** यही साधुजात जगत् है।

'सत् सरसिजम्' अर्थात् जो सरसिज सत् है, जो अभावरूप नहीं है; नैयायिक सिद्धान्तानुसार अज्ञान ज्ञानाभावरूप है। **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'** (श्री० भ० गी० ५।१५) ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म अज्ञान से आच्छादित है। ज्ञानाभावरूप अज्ञान में आवरण-कर्तृत्व नहीं हो सकता; भावाभाव के असमकालिक होने से ज्ञान से ज्ञानाभावरूप अज्ञान का नाश भी नहीं हो सकता अतः अज्ञान सदसद्विलक्षण माया शक्तिरूप ही है। **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** (श्री० भ० गी० ७।२५) इत्यादि वचनों से माया द्वारा ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म का आवरण कहा गया है। एतावता योगमाया एवं अज्ञान दोनों ही आवरण होने के कारण अचित् हैं। स्वप्रकाश अखण्डबोध चैतन्य से भिन्न ही अचित् अथवा अज्ञान है। शक्ति एवं शक्तिमान् में वस्तुतः अभेद होते हुए किंचित् मात्र भिन्नता है अतः **'सत् सरसिजं'** कहा—अर्थात्, जो सत् है, जो अभावरूप नहीं है, साथ ही, **'साधुजात-सत्सरसिजं अनिर्वचनीयोत्पत्तिमत् अज्ञानं तदेव आभासमानं'** अनिर्वचनीय है उत्पत्ति जिसकी ऐसा अज्ञानवत् प्रतीत होता है वह अनिर्वचनीय अज्ञान सरसिज ब्रह्म में रहनेवाला अज्ञान। साधुजात सत्सरसिज और उसके उदर में रहनेवाली श्री **'उभयमपि मुष्णाति इति श्रीमुट् अर्थात् साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुट्तया श्रीमुषा'** अर्थात्, अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान और अनादि अज्ञान के उदर में रहनेवाली श्री, वह श्री भगवद्-दर्शन से बाधित हो गई। तात्पर्य कि भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार होने पर सात्त्विक-असात्त्विक, अनुकूल-प्रतिकूल, राजस-तामस, ग्राह्याग्राह्य, यहाँ तक कि ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्यादि सम्पूर्ण सदसद् वृत्तियाँ भी बाधित हो जाती हैं और एक अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश भगवान् ही अवशिष्ट रह जाते हैं।

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्त्तते' (छा० ८।१५।१) **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृ० उ० २।४।५) आदि श्रुतियाँ व्रज-सीम-

न्तिनी, गोपाङ्गनास्वरूप में तत्त्व-विवेचन करती हुई कह रही हैं, हे पूर्णतम ! पुरुषोत्तम ! हे सुरतनाथ ! सर्व प्रकार के याचित, कामित पदार्थों को प्रदान करनेवाले हे वरद ! सर्व प्रकार के अभीष्टदाता, हे सर्वेश्वर ! हे सर्व-प्राणिपरम-प्रेमास्पद ! आपके दर्शन से अपरोक्ष साक्षात्कार से अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान और तत् तत् विषयाकाराकारित वृत्तियाँ दोनों का ही हनन कर देनेवाले, बाध कर देनेवाले विद्वान् का इस संसार में हनन बाध नहीं होता। अज्ञान साधुजात सत् है, अनिर्वचनीय उत्पत्तिवान् है। **'सरसिजं'** यह अज्ञान ब्रह्म ह्रद से उद्भूत है, **'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।'** अज्ञान एवं अज्ञान के कार्यरूप उसकी श्री, दोनों का ही आपके **'दृशा'** दर्शन से समूल उन्मूलन हो जाता है। अपरोक्ष भगवत्-साक्षात्कार से अनादि, अनिर्वचनीय अज्ञान एवं तज्जन्य विषयाकाराकारित वृत्तियों के बाधित हो जाने पर अखण्ड अनन्त निर्विकार परात्पर परब्रह्म ही प्रतिष्ठित हो जाता है फलतः सम्पूर्ण दुःखजाल का अन्त हो जाता है। अतः हे सुरतनाथ ! हे वरद ! शरद्कालीन स्वच्छ अगाध जलाशय सदृश हमारे अन्तःकरण में आपका अपरोक्ष साक्षात्कार हो; आपके दर्शनमात्र से हमारा अज्ञान एवं तज्जन्य विषयाकाराकारित वृत्तियों का बाध हो जायगा। फलतः हमारे सम्पूर्ण दुःख समूल उन्मूलित हो जायेंगे।

●

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयाद् ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

अर्थात्, हे ऋषभ ! विष-संपृक्त यमुनाजल, अघासुर, इन्द्रकोप-जन्य भयंकर वर्षा, दावानल, वृषभासुर, व्योमासुर आदि अनेकानेक संकटों से आपने बारम्बार हमारी रक्षा की है ।

व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे सर्वेश्वर ! **'विषवृक्षोऽपि सम्वर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'** (कु० सं० २।५५) विषवृक्ष को लगाकर उसका भी उच्छेदन कोई स्वतः ही नहीं करता; हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आपने तो समय-समय पर विविध भयंकर उपद्रवों से रक्षण कर हमारा पालन ही किया है तथापि अब अपने अदर्शन को कारण बनाकर हमारा विनाश ही कर रहे हैं ।

'विषजलाप्ययाद् वयं रक्षिताः, विषजलेन यः अप्ययस्तस्माद् वयं रक्षिताः' हे श्रीकृष्ण ! जिस समय यमुना-जल के अन्तर्गत कालिय-ह्रद के अत्यन्त विषमय जल का पान कर गोप-बालक अपने गोधन सहित मृत्यु को प्राप्त हुए तथा इस संताप से संपूर्ण व्रज ही नष्टप्राय हो रहा था उस समय आपने अपनी मंगल-मयी अमृत-वर्षिणी कृपा-दृष्टि से ग्वाल-बाल-मंडली एवं उनके गाय-बछड़ों को जीवन-दान देकर सम्पूर्ण व्रजधाम को ही जीवन प्रदान किया, उनकी रक्षा की ।

'व्यालराक्षसाद्' अघासुर ने भयंकर विषधर अजगर का विशालकाय रूप धारण किया; इस विशालकाय विषधर ने अपना एक जबड़ा आकाश से और दूसरा पृथ्वी से सटा दिया; अपनी जिह्वा को इस तरह फैला दिया मानो कोई अत्यन्त प्रशस्त राजमार्ग हो; अजगर की बड़ी-बड़ी दंष्ट्राएँ राजमार्ग के दोनों तरफ छोटी-छोटी पर्वत-श्रेणी-सी प्रतीत होती थीं । ग्वाल-बाल भ्रमवश उस मार्ग पर चल पड़े; उस पथ पर चलते हुए ग्वाल-बाल-मण्डली कल्पना कर रही है कि इस लाल-लाल मार्ग पर दोनों तरफ फैली हुई पहाड़ियाँ किसी अजगर की जिह्वा एवं विकराल दंष्ट्रावलि की तरह प्रतीत हो रही हैं; इस घाटी में जो दुर्गंधयुक्त गर्म वायु बह रही है वही मानो अजगर के उदर से आती हुई दुर्गन्धयुक्त श्वास है; बाल-मण्डली विचार भी रही है कि कहीं हमारी कल्पना ही सत्य हो जाय तो भी हम तो निश्चिन्त ही हैं; निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा बकासुर की तरह ही इसका भी विनाश हो जायगा; अस्तु, सर्वथा निश्चिंत हो वह हँसती-खेलती बाल-मण्डली उस मार्गरूप जिह्वा पर निर्भय हो चल पड़ी । अजगर में यह विशेष चमत्कार होता है कि अपने श्वास के आकर्षण से ही वह अपना आहार खींच

लेता है; स्वेच्छया प्रवृत्त इस बालक-मण्डली को भी अजगर ने अपनी श्वास द्वारा पूर्णतः आकर्षित कर निगल लिया। अघासुर के उदर में पहुँचकर ग्वाल-बाल उसकी भीषण विष-संपृक्त-जठराग्नि से दग्ध होने लगे। इस विपत्ति में पड़कर वे रक्षा हेतु प्रार्थना करने लगे। **'अनन्यनाथान् सुरक्षयामि'** इन अनन्य-नाथ ग्वाल-बालों की रक्षा करूँगा ऐसा संकल्प कर बालक श्रीकृष्ण भी उस काल-राक्षस के उदर में घुस गए और अपनी महिमा सिद्धि शक्ति द्वारा अपने आकार की अतिशय वृद्धि करते हुए अघासुर के पेट को फाड़कर ग्वाल-बाल एवं उनके गोधन को मुक्त कर अपनी अमृत-वर्षिणी दृष्टि द्वारा उनको प्राणदान दिया।

अघ, पाप ही असुर है। जैसे अजगर द्वारा लील लिए जाने पर उस ग्वाल-मण्डली के जीवन की कोई आशा नहीं रह गई वैसे ही पापरूपी अजगर के फंदे में फँसने पर प्राणी के कल्याण की कोई आशा शेष नहीं रह जाती। जैसे अघासुर के पेट में फँसे हुए ग्वाल-बाल उसकी भीषण विष-सम्पृक्त-जठराग्नि से दग्ध होने लगे वैसे ही पापरूप अजगर के फंदे में फँसा हुआ प्राणी भी दुष्कर्मजन्य विषय-ज्वाला से दग्ध होता रहता है। पाप-कर्म द्वारा तदनुकूल प्रवृत्ति एवं तज्जन्य संस्कार बनते जाते हैं; दूषित प्रवृत्ति एवं संस्कारों के कारण पुनः पाप-कर्म बन जाता है। अन्योन्याश्रित घटीवत् यह प्रवाह उत्तरोत्तर अभ्यासरूप में परिणत हो जाता है। जैसे **'कण्टकेन कण्टकोद्धारः'** एक काँटे से दूसरा काँटा निकाला जाता है वैसे ही एक अभ्यास से दूसरे अभ्यास को मिटाया जा सकता है। सत्कर्म एवं प्रभु-चिन्तन का अभ्यास करने पर असत् कर्म एवं दुर्विचार की शृंखला स्वतः नष्ट हो जाती है। अस्तु, सत्संग, सत्कर्म एवं सद्वाणी का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए।

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥'

(श्रीमद्भा० १।२।११)

अर्थात्, तत्त्वविद्-जन उसको ही तत्त्व कहते हैं जो कि अद्वितीय ज्ञान है; स्वप्रकाश, अखण्ड, अनन्त जो ज्ञान है वही तत्त्व है। सम्पूर्ण वस्तु का बोध हो जाने पर जो अन्त में अवशिष्ट रह जाता है वह सर्वशेषी तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् आदि शब्दों से कहा जाता है। निराकार, निर्विकार, अद्वैत, अनन्त, अखण्ड, पूर्णसत्ता, परब्रह्म शब्द से अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, पालक, संहारक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, परमात्मा शब्द से तथा अनन्त कल्याण गुण-गणों से विशिष्ट, अनन्त, सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यादि गुणों से युक्त तत्त्व ही

भगवान् शब्द से व्यपदिष्ट है। अद्वितीय जो ज्ञान है वही तत्त्व है इस श्रुति से परब्रह्म का प्रतिपादन होता है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥'

(तै० उ० ३।१)

अर्थात्, जिसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति एवं विलय होता है वहाँ परात्पर ब्रह्म है। **'यः सर्वज्ञः, सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।'** (मुं० १।१।९) अर्थात्, जो सर्वज्ञ, सामान्येन-सर्व-पदार्थ-ज्ञाता है वह सर्ववित् अर्थात् सर्वविशेषज्ञ है; यही ईश्वर का स्वरूप है। **'ईशावास्यं; ईष्टे इति ईशः, ईश्वरः।'** जो ईशन-कर्ता, नियन्त्रण, शासन-कर्ता है वही ईश्वर है। ईश शब्द का वाच्यार्थ है नियन्त्रण-कर्ता, शासन-कर्ता परन्तु लक्ष्यार्थ शुद्ध स्वप्रकाश, अशेषविशेषातीत, निर्विशेष परात्पर ब्रह्म ही है। **'ईशावास्यं'** अर्थात् ईश्वर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का व्यसन, आच्छादन हो; जिस प्रकार चन्दन और अगरु जैसे दिव्य सौगन्ध्य-सम्पन्न काष्ठ में भी जल एवं मृत्तिका के दीर्घकालीन संसर्ग से सड़ जाने पर दुर्गन्धि प्रकट हो जाती है वैसे ही अविद्या माया के संसर्ग से अनन्त सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश ब्रह्म में नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच के अध्यारोप के कारण दुःखरूपता प्रादुर्भूत होती है। जैसे चन्दन-काष्ठ के पुनः निघर्षण से उस औपाधिक दौर्गन्ध्य का विनाश तथा स्वाभाविक सौगन्ध्य का प्रस्फुटन हो जाता है वैसे ही **'ईशावास्यं'** ईश पद के लक्ष्यार्थ परात्पर ब्रह्म, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० उ० २।१।१) की अपरोक्षानुभूति होने पर उपाधिजन्य **'दुःखं जडं अनृतं'** विश्व-प्रपञ्च का बाध हो जाता है। शास्त्र का कथन है कि—

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।'

(वा० प० ब्र० का०)

अर्थात्, पहले असत्य मार्ग पर चलकर ही सत्य वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है; तात्पर्य कि मिथ्या प्रतिबिम्ब के द्वारा ही सत्य बिम्ब का अनुमान सम्भव है; यह देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, अनृत जड़ ही हैं तथापि इन्हीं-के द्वारा हम अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, विशुद्ध, परात्पर परब्रह्म को जान लेते हैं। श्रीमद्भागवत-वाक्य है—

'एषा बुद्धिमतां बुद्धिः मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥'

(११।२९।२२)

अर्थात्, अनृत से सत्य को, मर्त्य से अमृत को प्राप्त कर लेना ही बुद्धिमानों की बुद्धिमानी एवं मनीषियों को मनीषा है। ब्रह्म निर्विशेष है; वही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० उ० २।१।१) सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप एवं आनन्द-स्वरूप है; ये शब्द अपने पारमार्थिक अर्थों में पर्यवसित नहीं होते; यथार्थतः इन शब्दों से किसी न किसी वस्तु की निवृत्ति होती है; जितने भी शब्द हैं वे कोई न कोई विशेषण हैं और किसी न किसी वस्तु का अपनोदन करते हुए ब्रह्म में परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरणतः **'सत्यं'** शब्द से मिथ्या वस्तु का अपनोदन होता है। अतः ब्रह्म सत्य है का तात्पर्य हुआ नाम-रूप-क्रियात्मक मिथ्या जगत्-प्रपञ्च से भिन्न तथा उसका भासक जो सत्य है वही ब्रह्म है। इसी तरह **'ज्ञानं'** शब्द से **'जाड्याभावाधिकरणोपलक्षित ब्रह्म'** जड़ता का अत्यन्ताभावाधिकरण ही ब्रह्म है; यही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० उ० २।१।१) है; अस्तु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म की उपासना-हेतु अनेक विशेषणों का ध्यान करना पड़ता है।

उपलक्षित स्वरूप में भेद होने पर स्वभावतः ही उपलक्ष्य में भी भेद हो जाता है। रामायणान्तर्गत श्रीराम-स्वरूप, श्रीमद्भागवतान्तर्गत श्रीकृष्ण-स्वरूप, शैव-ग्रन्थान्तर्गत शिव-स्वरूप, वैष्णवागमान्तर्गत श्रीविष्णु-स्वरूप तथा तन्त्र एवं शाक्तागमान्तर्गत शक्ति किंवा भगवती आदि विभिन्न स्वरूपों से उस एक अनन्त, अखण्ड, निर्विकार, अद्वैतात्मक, परात्पर, परब्रह्म का ही बोधन होता है तथापि उनके स्वरूप, ध्यान एवं विशिष्ट लीलादि उपलक्षणों के आधार पर उनमें भेद भी स्वीकृत हैं।

भिन्न-भिन्न उपलक्षणों के आधार पर अपने-अपने इष्ट का ध्यान किया जाता है। जिनको भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र का इष्ट है उनके लिए भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के पदारविन्दों का, हस्तारविन्दों का तथा रावणादि राक्षसों के लिए भय एवं विभीषणादि भक्तजनों के अभयकारक-स्वरूप का चिन्तन उचित है।

प्रातर्नमामि रघुनाथपदारविन्दं वज्रांकुशादिशुभरेखि सुखावहं मे।
योगीन्द्रमानसमधुव्रतसेव्यमानं शापापहं सपदि गौतमधर्मपत्न्याः॥
प्रातर्भजामि रघुनाथकरारविन्दं रक्षोगणाय भयदं वरदं निजेभ्यः।
यद्राजसंसदि विभज्य महेशचापं सीताकरग्रहणमंगलमाप सद्यः॥
प्रातर्वदामि वचसा रघुनाथनाम वाग्दोषहारिसकलं शमलं निहन्तृ।
यत्पार्वती स्वपतिना सह मोक्षकामा भक्त्या सहस्रहरिनामसमं जजाप॥

अर्थात्, जिसने भरी सभा में महेश का चाप भंग कर सीता के मंगलमय पाणिग्रहणरूप मंगल को प्राप्त किया, जिनके चरणारविन्द वज्र, अंकुश,

ध्वजादि चिह्नों से युक्त हैं उन भगवान् श्री रामचन्द्र का मैं ध्यान करता हूँ। भगवद्-पादारविन्द के वज्र-चिह्न का ध्यान करने से सम्पूर्ण पाप तत्क्षण वज्राहत होकर नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के पादारविन्द का अंकुश, विषय-रूप जल में निमग्न मनरूप मत्स्य को बरबस खींच लेता है अथवा महामत्त गजेन्द्ररूप मन को वशीभूत कर लेता है। सूर्य-चिह्न के ध्यान से अज्ञानान्धकार का तत्काल अपनोदन एवं स्वप्रकाश तत्त्व का सम्यक् स्फुरण होता है।

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं पिय संग भवानी॥

(मानस, बा० का० ९)

जिस राम-नाम को विष्णु-सहस्रनाम तुल्य समझकर भगवती पार्वती अपने पति भगवान् शिव के संग सदा जपती रहती हैं, ऐसे रघुनाथ रामचन्द्र के मंगलमय पवित्र नाम का प्रातःस्मरण सर्व प्रकार के पाप का शमन एवं वाणी-दोष का अपहरण करनेवाला है। भगवन्नामोच्चारणरूप वाक्-व्यवहार से वाङ्मय-क्षरणरूप अपराध का विनाश हो जाता है।

जिनको भगवान् कृष्णचन्द्र का इष्ट है वे परमानन्दकन्द कृष्णचन्द्र का ही ध्यान करें।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

(मधुसूदन सरस्वती)

ऐसे ही भूत-भावन विश्वनाथ सदाशिव, राजराजेश्वरी त्रिपुर-सुन्दरी ललिता परामबा आदि अन्य इष्ट के भी विभिन्न उपलक्षण हैं।

निराकार-उपासना हेतु सर्वेश्वरता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता की भावना अनिवार्य है अतः निराकार ब्रह्म-चिंतन भी निर्गुण नहीं है; जैसे आकाश निराकार होते हुए भी शब्द-गुण संयुक्त है वैसे ही निराकार, परात्पर, परब्रह्म भी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वगन्धत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व, अखण्ड-ब्रह्माण्ड-नायकत्व, पालकत्व आदि दिव्यातिदिव्य गुण-गणों से संयुक्त हैं। सतत चिन्तन से प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं; अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होने पर मन शांत हो जाता है; मन के शांत होने पर विभिन्न उपलक्षणों का बाधपूर्वक तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है।

ग्वाल-बालों के रक्षार्थ श्रीकृष्ण भी उनके संग ही व्याल-राक्षस के उदर में प्रविष्ट हुए; अघासुर का उदर ही श्मशान है; अनेकानेक प्राणियों के उद्धार-हेतु ही भगवान् शंकर अघासुर के उदररूप श्मशान में भी आविर्भूत होते हैं। जैसे

बन्दियों के शिक्षार्थ शिक्षक को भी बन्दी-गृह में ही प्रवेश करना पड़ता है वैसे ही प्राणियों के कल्याणार्थ ही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर, प्रभु संसार में अवतरित होते हैं।

गोलोकधाम, साकेतधाम, वैकुण्ठधाम से भगवान् का संसार में अवतरण हुआ। सगुण परब्रह्म का लोक हो ब्रह्मलोक है; ब्रह्मलोक ही उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र की दृष्टि से चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक, विष्णुपुराण के अनुसार महा-विष्णु के उपासक के लिए वैकुण्ठधाम, रामायण के अनुसार भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के उपासक के लिए साकेतधाम, ब्रह्मवैवर्त एवं श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण के उपासक के लिए गोलोकधाम है तथा परात्पर परब्रह्म के उपासक के लिए ब्रह्मलोक है। पुराणों के मतानुसार कार्य-कारणातीत ब्रह्म का धाम ही साकेतधाम है जो ब्रह्मलोक से भी परे है। साकेतधाम के भी अनेक भेद मान्य हैं। अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड से परे अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर एवं उनके धाम की स्थिति को मान लेने पर उपर्युक्त पौराणिक कल्पना संगत हो सकती है।

यद्यपि परम स्नेहमयी, कल्याणमयी, अम्बा भी कूप में गिरे हुए अपने प्राण-प्रिय पुत्र के रक्षार्थ चीत्कार तो करती है तथापि स्वयं उस कूप में कूद नहीं पड़ती परन्तु सर्व-सखा, सर्व-हितकारी एवं सर्व-रक्षक सर्वान्तिर्यामी प्रभु जीव के उद्धार-हेतु उसके संग ही अघरूप अजगर के नरकरूप उदर में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानँ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'

(बृहदारण्यक उप० ३।७।२२)

विज्ञान ही जिसका कलेवर है, जो विज्ञान में ही स्थित है फिर भी विज्ञान जिसको नहीं जान पाता वह अन्तर्यामी तत्त्व ही परमात्मा है जो सदा, सर्वदा, सर्वत्र हो जीवात्मा के साथ असंग, अलिप्त एवं द्रष्टारूप से रहता है। अस्तु, सर्वान्तिर्यामी परमात्मा भी जीवात्मा के उद्धार-हेतु उसके संग ही अघासुर के उदररूप नरक में प्रविष्ट हो जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि की कथा प्रसिद्ध ही है। महर्षि होने के पूर्व वे एक घोर डकैत थे; खून-खराबी एवं लूटमार करके अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करते थे। अकस्मात् भगवदनुग्रह-वशात् कुछ महात्मा लोग घूमते हुए उसी वन-प्रान्तर में पधारे; डाके की ताक में लगे डकैत ने अभ्यासवश डाका डाला; महात्माओं ने उसको समझाया कि अपने कर्म-फल का भोक्ता प्राणी स्वयं ही होता है; जिस कुटुम्ब के पालन-हेतु

व्यक्ति शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मों को करता है उनके फल का भागी एकमात्र वही होता है। डाकू ने महात्माओं की सीख को चालाकी ही समझा; परानुग्रहरत महात्माओं ने डाकू को सुझाव दिया, "तुम हम लोगों को अपने रस्से से एक पेड़ में बाँध दो और स्वयं अपने परिवार से पूछ आओ।" डाकू को यह सलाह उचित प्रतीत हुई; तुरन्त ही उसने उन महात्माओं को एक पेड़ से बाँध दिया और स्वयं अपने परिवार में जाकर प्रत्येक सदस्य से पूछने लगा कि "मैं लूटमार, खून-खराबी कर तुम लोगों का पालन करता हूँ। क्या तुम लोग मेरे पाप में भी भागीदार बनोगे?" परिवार के प्रत्येक व्यक्ति ने उसके कठोर कर्म-फल में हिस्सा बँटाने से एकदम अस्वीकार कर दिया; डाकू को ज्ञान हो गया; वह महात्माओं की शरण में लौट आया; वह डाकू ही 'मरा-मरा' जप कर महर्षि हो गया। यहाँ तक कि भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र ने भी लोक-व्यवहारतः महर्षि वाल्मीकि के चरणों में नमन किया। तात्पर्य कि एकमात्र सर्व-सखा, सर्व-हितकारी, सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही सदा-सर्वदा-सर्वत्र, गर्भवास में भी, नरक में भी जीवात्मा के संग-संग रहता हुआ भी जल में कमल-पत्र इव असंग एवं निर्लेप रहता है। सर्वेश्वर भगवान् ही एकमात्र अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय एवं अशरण-शरण हैं।

'विषजलाप्ययाद् वर्षमारुताद् वयं रक्षिताः मुहुर्मुहुः' अनेक प्रकार के विषादि भयों से आपने बारम्बार हमारी रक्षा की तथापि अपने विप्रयोगजन्य तीव्र संतापस्वरूप विषम-विष-सम्पृक्त सिन्धु से हमारा उद्धार न करते हुए आप अब भी अन्तर्धान ही हैं। चान्द्रमसी ज्योत्स्ना से व्याप्त जगत् भी आपके विप्रयोग के कारण भीषण विषमय ताप का जनक विषम-विष-संपृक्त सिंधु बन गया है। चान्द्रमसी ज्योत्स्ना सर्वदा-सर्वत्र अमृतवर्षिणी ही होती है तथापि भगवत्-विरहजन्य संताप के कारण गोपाङ्गनाओं को वैपरीत्य की ही भावना होती है।

व्रजाङ्गनाएँ पुनः कह रही हैं, हे ऋषभ! करुणादिगुण-पूर्ण सर्वश्रेष्ठ व्रजेन्द्र-नन्दन! कालिय-कुल के व्यालों को तो आपने रमणक-द्वीप भेज दिया परन्तु हम व्रजाङ्गना आपके रमणक-द्वीप के विहार-पुलिन में आपके भुजंग-भोगाभ भुजों से संपृष्ट होकर विरह-विष-ज्वाला से दग्ध हो रही हैं; हे व्रजेन्द्र-कुमार, हमारे कण्ठ में अपनी भुजाओं की माला पहनाकर आप हमारा दुःख दूर करें। बकादि राक्षसों का संहार कर आपने उनसे हमारी रक्षा की परन्तु अब आपके अन्तर्धान हो जाने से आन्तर-मनोज-रूप राक्षस द्वारा हमारा वध हो रहा है। **'द्वासुपर्णा सयुजा'** जैसी उक्ति के अनुसार आप यद्यपि सम्पूर्ण विश्व

के ही सुहृद् हैं तथापि अन्तर्धान होकर अपनी विरहानल-ज्वाला से विश्व-दाह का ही कारण बन रहे हैं; अस्तु, प्रतीत होता है कि आप विश्वमित्र नहीं, अपितु विश्वामित्र ही हैं। हे प्राणधन ! तृणावर्त आदि राक्षसों से भी आपने हमारी रक्षा की; जिस समय तृणावर्त वात्यारूप से व्रजधाम का संहार करने के लिए प्रस्तुत हुआ उस समय आप तृणावर्त के विनाश हेतु ही अन्तर्धान हुए थे, आपके वियोगजन्य असह्य ताप से संपूर्ण व्रजधाम ही दग्ध होने लगा; व्रजधाम की दशा का अनुभव कर आपने शीघ्र ही प्रकट होकर हम सबको जीवन-दान दिया। इन्द्रप्रेरित प्रलयंकारी मेघों के भीषण वर्षण के प्रसंग में ही वैद्युत, अनल, वज्रपात एवं उल्कापातादिकों से भी आपने हमारा रक्षण किया।

इसी तरह आपने वृषभासुर एवं मयात्मज व्योमासुर जैसे भयंकर राक्षसों से भी हम व्रजवासियों का रक्षण किया। उपर्युक्त सभी प्रकार के भय एवं रक्षण की परम्परा से हम व्रजवनिताओं का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था; संपूर्ण व्रजधाम एवं व्रजनिवासियों के अन्तर्गत ही हमारी भी रक्षा स्वतः हो गई; परन्तु अब जब कि हम गोपाङ्गनाओं से ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, केवल हमें सन्तप्त करने के लिए ही आप अन्तर्धान हो रहे हैं; अपने प्राकट्य से हमारी रक्षा न करते हुए हमारी मृत्यु का ही कारण बन रहे हैं।

हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आप ऋषभ हैं अतः हमारी रक्षा-हेतु दीक्षित हैं तथापि हमारी रक्षा नहीं कर रहे हैं। हमारी रक्षा हेतु आपको कोई त्याग, कोई बलिदान भी नहीं करना पड़ रहा है; केवल आपके मुखचन्द्र का दर्शन ही पर्याप्त है। **'वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्'** हे वीर ! अपने अधरामृत का वितरण करें। **'इतररागविस्मारणं नृणां'** आपका अधरामृत सम्पूर्ण इतर रागों का विस्मारक है; वही वस्तु जो आपके लिए अत्यन्त सरल किंवा तुच्छ, नगण्य है हमारे लिए सर्वस्व है; तात्पर्य अधिकार से है। स्वयं लोभरूप आपका अधर ही इस विशुद्ध रस का वितरक है।

श्रीमद्भागवत के द्वादश-स्कंध में भगवत्स्वरूप का आध्यात्मिक विवेचन है। तदनुसार धर्म ही भगवान् का वक्षःस्थल है, अधर्म पीठ एवं साक्षात् लोभ अधर हैं। भगवान् के मंगलमय मुखचन्द्र की सुमधुर अधर-सुधा ही सर्वोत्कृष्ट धन है। लोभ-तत्त्व की अधिष्ठात्री देवता स्वयं लोभ ही इस अमूल्य धन का वितरक है। महाभारत में एक रोचक प्रसंग है। पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया, भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को ही कोषाध्यक्ष बना दिया; कौरवों से अपने मनोमालिन्य के कारण पाण्डवगण आशंका-ग्रस्त हो उठे; भगवान् श्रीकृष्ण ने

उनको आश्वासन दिया; भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि दुर्योधन के हाथ में ऐसी रेखाएँ पड़ी हैं जिनके प्रभाव से वह चाहे जितना खर्च करे उसका खजाना सदा भरा ही रहेगा; जितना वह खर्च करे उतना ही खजाना भर जाय। कोषाध्यक्ष नियुक्त होने पर दुर्योधन द्वेषवशात् खजाना लुटाने लगा परन्तु उसकी अपनी ही रेखाओं से प्रेरित पाण्डवों का कोष सदा भरपूर ही रहा। फलतः पाण्डवों की ही प्रसिद्धि हुई। तात्पर्य कि योग्य व्यक्ति को ही कोषाध्यक्ष बनाना कल्याणकारी होता है।

आचार्यमतानुसार, साधन में विधि-निषेध होता है; फल विधि-निषेधातीत है। वल्लभाचार्यजी ने भी फलाध्याय लिखा है; वस्तुतः सम्पूर्ण 'वेणुगीत' ही फलाध्याय है। भगवान् सर्वापेक्षया फलस्वरूप हैं; उनके मुखचन्द्रेतर अन्य अवयवों में साध्य-साधन-भाव भी हैं, मुखारविन्द केवल मात्र साध्य-फलस्वरूप है। जिस समय भगवान् के चरण, भुजाएँ एवं दृष्टि दुष्ट-दर्प-दलन-हेतु अग्रसर होती है उस समय तत्-तत् अवयव साधनस्वरूप हैं परन्तु जब उन्हीं चरणारविन्द एवं हस्तारविन्द-संस्पर्श से तथा मंगलमयी दृष्टि के प्रेम-वीक्षण से भक्तानुग्रह होता है तब वे साध्यस्वरूप हो जाते हैं परन्तु भगवन्-मुखचन्द्र में केवल साध्यरूपता ही है। इस सर्वथा फलस्वरूप मुखचन्द्र की अधर-सुधा ही सम्पूर्ण फलों का सार विशुद्ध रस है।

अधिकार-भेद से भगवदधरामृत के भी तीन प्रभेद हैं—देव-भोग्या, भगवत्-भोग्या एवं सर्वा-भोग्या। स्वभावतः ही भगवन्-मुखचन्द्र की मंगलमयी अधर-सुधा-विशुद्ध रसनिधि के यथायोग्य वितरण में कोई अत्यन्त कुशल कोषाध्यक्ष ही समर्थ हो सकता है; अस्तु, साक्षात् लोभ ही इस रसनिधि का कोषाध्यक्ष है। अबाध-प्राप्ति ही अर्थी की कामना है; यथायोग्य वितरण कोषाध्यक्ष का कौशल है। तात्पर्य कि अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय, अशरण-शरण, भक्त-वत्सल भगवान् भक्त की योग्यतानुसार ही उसको स्वसंस्पर्शजन्य आनन्दरूप फल प्रदान करते हैं तथापि भावातिरेक के कारण भक्त को भगवत्-कार्पण्य की ही प्रतीति होती है; भगवदाश्लेष-सुख से भक्त सदा ही अतृप्त रह जाता है। विरहातुरा गोपाङ्गनाएँ भी भाव-विभोर होकर ही भगवान् श्रीकृष्ण में कार्पण्य-दोष का आरोप करती हैं।

गोपाङ्गनाएँ कल्पना करती हैं कि उनके प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे व्रजसीमन्तिनी जनो! हमने तो अत्यन्त भयंकर सन्तापों से आपकी बारम्बार रक्षा की है। स्वयं आपके ही वचन इसके प्रमाण हैं। इतने पर भी आप

लोग कह रही हैं कि हम आपका वध कर रहे हैं। आपका यह कथन विरोधाभास एवं अप्रामाण्य-दोष से युक्त है।

प्रति-उत्तर में व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे ऋषभ ! स्वयं ही हनन करने की लालसा से ही आपने अनेकानेक आपदाओं से हमारी रक्षा की है। '**ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः**'।' यहाँ 'ऋषभ' शब्द भर्तार्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्रजाङ्गनाएँ व्यंग्य कर रही हैं 'हे भर्ता ! भर्ता होने के कारण आपको हमारा भरण करना ही उचित है तथापि आपने हमारा दृशावध ही किया; इतने पर भी अब अपने अदर्शन से हमारे प्राणों का अपहरण कर रहे हैं अतः यही प्रतीत होता है कि स्वतः वध करने की लालसा से ही आपने इस विपत्ति-परम्परा से हमारा रक्षण किया है।

इस गीत में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा विष-संपृक्त यमुना-जल, व्याल राक्षस, अघासुर, वर्ष, मारुत एवं अशनिपात आदि विभिन्न भयों से सम्पूर्ण व्रजधाम के अन्तर्गत ही अपने भी रक्षण की चर्चा करती हैं। वस्तुतः उपर्युक्त सब भय श्रीकृष्ण पर ही थे तथापि कृष्ण-मंगल में ही अपने मंगल का अनुभव करने के कारण व्रजाङ्गनाएँ उन उपद्रवों को अपना ही भय मानती हैं। इसी प्रसंग में गोपाङ्गनाओं द्वारा वृषासुर-व्योमासुर आदिकों के वध का भी उल्लेख हुआ है; ये लीलाएँ रासलीला के बाद ही हुईं। भगवद्रूपा व्रजसीमन्तिनीजनों में प्रेमोद्रेक के कारण सहज सर्वज्ञता है। विशेषतः विरहजन्य आर्ति से प्रेम का विशेष उच्छलित होना व्यक्त है। एतावता भविष्य की स्फूर्ति स्वभावतः ही हो जाती है। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ भी त्रिकालज्ञा हैं अतः अपने प्रातिभ-ज्ञान से भविष्य-वर्णन करने में समर्थ हैं। किसी विशेष प्रमाण के अभाव में अकस्मात् स्फुरित होनेवाला ज्ञान ही प्रातिभ-ज्ञान है।

निवृत्तिपक्षीय अर्थाभिव्यक्ति के अनुसार '**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥**' (श्री० भ० गी० १५।१६-१७) अर्थात् सम्पूर्ण कार्यभूत क्षर है; कूटस्थ ही अक्षर है; '**परमात्मा क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः**' परमात्मा ही क्षराक्षरातीत, कार्यकारणातीत है; '**कूटो वञ्चनाछद्मता तया तिष्ठति इति कूटस्थः**' अव्याकृत माया-विशिष्ट चैतन्य ही माया के द्वारा अनेकधा व्यक्त होता है, वही परमात्मा है। श्रुति-कथन है—'**स उत्तमः पुरुषः**' (छा० ८।१२।३) '**हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः**' हरि भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, त्र्यंबक महेश्वर हैं।

'**व्यालराक्षसात् वृषमयात्मजात् वयं रक्षिताः**' श्रुतियाँ कह रही हैं, हे प्रभो ! आपके द्वारा ही हमारा रक्षण होता है। वेदों में अननुष्ठापकत्व लक्षण भी अप्रा-

माण्य होता है; जो वेद में अपने अर्थ का अनुष्ठान नहीं करा पाता उसमें अननुष्ठापकत्व लक्षण अप्रामाण्य हो जाता है। कहीं ज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने से अनुवादकत्व लक्षण अप्रामाण्य होता है। जहाँ अनधिगत-गन्तृत्व न होने पर ज्ञात-ज्ञापकता होती है वहाँ अनुवादकत्व लक्षण अप्रामाण्य होता है। अष्ट-दोष से दूषित विकल्प जिस पक्ष में होता है वहाँ अननुष्ठापकत्वलक्षण अप्रामाण्य होता है क्योंकि वह स्वार्थ का अनुष्ठान नहीं करा सकता। निष्कर्ष यह है कि वेद-वचनों द्वारा परब्रह्म का प्रतिपादन होने पर भी जब तक परब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार, बोध, प्रबोध तथा अविद्या एवं तत् कार्यात्मक प्रपञ्च का अपनोदन न हो तो वेदान्त में भी अप्रामाण्यापत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि बोधक-शास्त्र द्वारा बोध न होने पर वह अप्रमाण हो जाता है। श्रुतियों का प्रामाण्य स्थापित होना ही उनका रक्षण है। भगवत्-साक्षात्कार से ही श्रुतियों का रक्षण होता है। भागवत-शास्त्र के आधार पर भगवत-साक्षात्कार होने पर ही उनकी प्रामाणिकता मान्य हो सकती है। इसी तरह भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के अपरोक्ष-ज्ञान होने से रामायण की प्रामाणिकता भी मान्य हो सकती है। तात्पर्य कि बोधक-शास्त्रों का अप्रामाण्य ही उनका हनन किंवा वध है; सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म प्रभु के साक्षात्कार से ही मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद-राशि का, सम्पूर्ण श्रुतियों का प्रामाण्य सुस्थापित हो जाता है। एतावता श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से आविर्भूत होकर रक्षण करने हेतु प्रार्थना कर रही हैं।

काम-क्रोध-मदादि दोषों के कारण भगवत्-दर्शन असम्भव हो जाता है। गोपाङ्गनाएँ अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे गोपाङ्गनाओ ! तुम लोगों में अहंकार का उदय हुआ कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक अखिलेश्वर प्रभु हमारे वशीभूत हो दारु-यन्त्रवत् क्रीड़ा कर रहे हैं अतः मैं अन्तर्धान हो गया। गोपाङ्गनाएँ प्रार्थना कर रही हैं—"हे नाथ ! **'नैवाश्रितेषु महतां गुणदोषशंका'** आश्रितों के गुण-दोष विचारणीय नहीं होते।

'दोषाकरोऽपि, कुटिलोऽपि कलङ्कितोऽपि
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि।
चन्द्रस्तथापि हरवल्लभतामुपैति
नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात्॥'

(सु० र० व० ३।१०५।२००)

अर्थात्, मित्र (सूर्य) के अवसान के समय उदित होनेवाले कुटिल एवं कलंकित स्वाश्रित चन्द्रमा का भी त्याग न कर भगवान् शंकर ने उसको अपने

शीश पर ग्रहण किया। अतः हे नाथ ! हम स्वाश्रितों के दोष का विचार न करते हुए हमें भी आप शरण दें।" भक्त कहता है—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥

(मानस, उ० का०, चौ० ५)

जो प्रभु मेरे कार्य का, मेरे गुण-दोष का विचार करें तो शतकोटि कल्प तक भी मेरा उद्धार सम्भव नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं— "हे नाथ ! जैसे नहरनी से सुमेरु पर्वत का उन्मूलन सम्भव नहीं वैसे ही मेरे सुकृतरूप नहरनी द्वारा दुष्कृतरूप सुमेरु का उन्मूलन भी कदापि सम्भव नहीं। अतः हे नाथ ! अशरण-शरण, करुणा-वरुणालय आप ही स्वानुग्रहवश मुझ दीन का भी कल्याण करें। आपका साक्षात्कार ही अशेषतः कल्याणकारी है अतः निजानुग्रहवश आप साक्षात् आविर्भूत हों।

अहंकार ही पतन का मूल है। अतः कहा जाता है—

'पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो भव॥'

मानव ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्नतया ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कर सकता है। यदा-कदा बाह्यतः साधुवेश अपनाने पर भी अन्तःकरण दम्भ एवं काम से मलिन रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—**'बंचक भगत कहाइ राम के, किंकर कंचन कोह काम के।'** (रामचरितमानस, बा० का० १२।३) बाह्य कर्माडम्बरजन्य दर्पयुक्त चित्त से भगवत्-स्वरूप सदा ही अग्राह्य है।

अहंकार का नाश ही भगवद्-दर्शन का, श्रीकृष्ण-प्राकट्य का आधार है। अपनी अपूर्णता, अज्ञता एवं अशक्तता का ज्ञान ही अहंकार-नाश का हेतु है। एतावता उत्तमातिउत्तम भक्त स्वभावतः ही अपनी अपूर्णता का, अपने दोषों का अधिकाधिक बोध करने लगता है।

'द्वा सुपर्णा, सयुजा, सखाया' आप ही सम्पूर्ण जीवों के सखा, सर्व-हितैषी, सर्व-स्वामी हैं। श्रुति-कथन है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'** अर्थात्, उत्पत्तिकाल में प्राणीमात्र भगवान् से ही आविर्भूत होते हैं यद्यपि लौकिक माता-पिता भी निमित्तभूत होते हैं। लौकिक माता-पिता में भी भगवान् ही अभिव्यक्त हैं। एतावता मूलतः प्राणीमात्र के आविर्भाव का मूल एकमात्र परात्पर सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही है।

'विष्णुपुराण' के मतानुसार भगवान् का उत्पादक, पालक एवं संहारक तीनों ही रूप चतुर्धा है। उत्पादकरूप में भगवान् सर्वान्तर्यामी चतुर्मुख ब्रह्मा

प्रजापति एवं लौकिक माता-पितास्वरूप हैं; पालकरूप में अन्तर्यामी, सर्वपालक, विष्णुस्वरूप, मन्वादि एवं तात्कालिक राजास्वरूप हैं; मनु कहते हैं, **'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'** अर्थात्, राजा महती देवता ईश्वर ही नररूप में प्रकट है। संहारकरूप में सर्व-संहारक रुद्र, यमराज एवं आधि-व्याधि हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आप सर्वदा, सर्वथा, सर्व-पालक, सर्वसखा, सर्वहितकारी, सर्वस्वामी हैं तथापि हम व्रज-बालाओं से आपका विशेष सम्बन्ध है। जैसे भगवान् विष्णु सबके पालक हैं तथापि विशेषतः लक्ष्मीपति हैं वैसे ही आप विशेषतः गोपिका-वल्लभ हैं।

हे ऋषभ ! आप ही हमारे रक्षक हैं। **'ऋषभः निरतिशयेन श्रेष्ठः'** आप सम्पूर्ण तत्त्वों में परम श्रेष्ठ हैं; आप ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परमेश्वर हैं; सर्व-सृष्टि-पालक एवं रक्षक हैं। हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आप ही हमारे प्राणनाथ, प्रियतम, प्राणाधार हैं। **'गवां रक्षकः ऋषभः'** जैसे गो-समूह का रक्षक गवेन्द्र, ऋषभ ही होता है, वैसे ही आप **'ऋषभः पुरुषर्षभः पुरुषेषु श्रेष्ठः'** पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम हम गोपाङ्गनाओं के रक्षक हैं।

हे व्रजेन्द्रनन्दन ! हमारी रक्षा हेतु तो आपको कोई त्याग किंवा बलिदान भी नहीं करना पड़ रहा है; केवल अपनी कृपणतावशात् ही आप हमारे हनन का हेतु बन रहे हैं। आपके मंगलमय मुखचंद्र के दर्शनमात्र से हमारे प्राणों का रक्षण हो जायगा, परन्तु आप अपने कार्पण्यवश हमें उससे भी वियुक्त ही किए हुए हैं। आपकी दृष्टि तो सर्वघातकी है; **'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्छत्'** महाभारत-संग्राम-काल में आपने राजाओं के तेज, मन एवं आयु का अपने दृष्टि-मात्र से अपहरण कर लिया; आपकी दृष्टि सर्वहारा है परन्तु आपका स्वरूप **'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि'** है; अस्तु, आपके इस आनन्दमय स्वरूप के दर्शन से ही हमारा जीवन सुरक्षित रह सकता है।

हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आप हम व्रज-वनिताओं के, सम्पूर्ण व्रज-वासियों के ही ऋषभ हैं; स्वाश्रितजनों के लिए आवश्यकतानुसार अपने सर्वश्रेष्ठ का त्याग किंवा बलिदान कर देनेवाला ही ऋषभ होता है अतः उचित तो यह था कि आप हमारा रक्षण करें परन्तु इसके विपरीत आप अपने कार्पण्य के कारण हमारा हनन ही कर रहे हैं। मधुसूदन सरस्वती कह रहे हैं, **'यः स्वल्पामप्यात्मनो वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपणः'** जो समर्थ होने पर भी अपने धन का किंचिन्मात्र भी व्यय नहीं करता वही कृपण है। बुद्धिमान् व्यक्ति अर्जन करते हुए कौड़ी-कौड़ी जोड़ता है परन्तु उपयुक्त अवसर आने पर उसी तत्परता से व्यय भी

करता है। **'अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्'** प्राज्ञ अपने को अजर-अमर मानकर ही विद्या एवं धन का अर्जन करे। **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'** धर्माचरण का अवसर उपस्थित होने पर विज्ञ यत्नपूवक संगृहीत विद्या एवं धन का व्यय ऐसी तत्परता से करता है मानो मृत्यु हाथ में तलवार लेकर उसके केशों को पकड़े हुए गला काटने के लिये उद्यत हो रही है।'' कहते हैं—

'काल करे सो आज कर आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करोगे कब॥'

महर्षि याज्ञवल्क्य कृपण का लक्षण बताते हुए गार्गी से कहते हैं— **यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।'** (बृहदारण्यक ३।८।१०) हे गार्गि ! वह कृपण है जो ब्रह्म को जाने बिना ही इस जगत् से चला गया। ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति-हेतु ही मानव का निर्माण हुआ। भागवत का कथन है—

'सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान्॥'

भगवान् ने अपनी मंगलमयी शक्ति द्वारा विभिन्न प्रकार के सुन्दरातिसुन्दर पुरों का निर्माण किया तथापि सन्तुष्ट न हुए।

'तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः'
(श्रीमद्भा० ११।९।२८)

'पूर्षु शेते इति पुरुषः' जो सब पुरों में शयन करता है वह पुरुष है। देव-दानव-मानव, कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि विभिन्न देहों किंवा पुरों में निवास करने-वाला परमात्मा ही पुरुष है। इसलिए मनुष्य को बनाकर परमात्मा ने प्रसन्नता का अनुभव किया क्योंकि **'ब्रह्मावलोकधिषणं'** उसकी बुद्धि परमात्मा को समझने में समर्थ है।

प्रेरक, प्रवर्त्तक, साक्षी एवं अधिष्ठानरूप से ब्रह्म-दर्शन की बुद्धि केवल मनुष्य-योनि में ही सम्भव है। मानवेतर योनियों में जाम्बवान्, काकभुशुण्डि आदि भगवदनुग्रहप्राप्त जन विशिष्ट उदाहरण हैं; इन पर भी भगवदनुग्रह मनुष्यरूप में किए गए तप के कारण ही हुआ। तात्पर्य कि ब्रह्मज्ञान से रहित मृत्यु को प्राप्त होनेवाला प्राणी ही कृपण है। केनोपनिषद् का कथन है—

'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाच-मिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।'

अर्थात्, किसकी इच्छा से प्रेरित होकर मन तत् विषयों में विचरण करता

है ? किसके द्वारा वाक्-शक्ति, वागीश्वरी, परा-पश्यती-मध्यमा, कण्ठताल्वादिक अष्टस्थानानुषक्त-आग्नेय-वागिन्द्रिय के द्वारा अभिव्यक्त तत्-तत् वर्ण-स्फोट द्वारा तत्-तत् अभिव्यक्ति प्रेरित होती है ? किस देव की प्रेरणा से चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में विनियुक्ति होती है ? तात्पर्य कि एकमात्र सर्वाधिष्ठान भगवान् ही सम्पूर्ण क्रियाकलापों के प्रेरक हैं।

श्रीमद्भगवद्-वाक्य है, **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'** ज्ञानी भी बहुत जन्मों के अन्त में मेरा साक्षात्कार कर पाते हैं। कथा है कि भक्त ध्रुव को छः महीनों के अल्पकाल में ही भगवत्साक्षात्कार हो गया। भक्त भगवान् से पूछ रहा है, "हे भगवन् ! हमने तो सुना है कि आपके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं, आप अत्यन्त दुराराध्य हैं, फिर मुझे इतने शीघ्र कैसे प्राप्त हुए ?" उत्तर में भगवान् ने भक्त को दिव्य-दृष्टि दी; भक्त ध्रुव ने देखा कि उसके अनेक जन्मों में प्राप्त विभिन्न देह तपस्या करते हुए ही व्यतीत हो गये हैं। तात्पर्य कि अनेकानेक जन्म-जन्मान्तरों की कठिन तपस्या के अनन्तर ही बालक ध्रुव को सद्यः भगवत्-साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 'महाभारत' में भी द्वित-त्रित महर्षि की एक कथा है। भगवत्-साक्षात्कार करा देने की महर्षि ने प्रतिज्ञा की; तदर्थ सांगोपांग यज्ञ, मन्त्र, जपादि किया परन्तु असफल ही रहे। लज्जित हो महर्षि स्वयं ही ब्रह्म-साक्षात्कार का संकल्प कर श्वेत-द्वीप चले गए; कठिन तपस्या के अनन्तर वहाँ उनको कुछ शब्द सुनाई पड़ा, **'जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन।'** इसके बाद आदेश हुआ कि रामावतार में कपि-शरीर धारण करने पर तुम्हें भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त होगा।

गोपाङ्गनाएँ प्रार्थना कर रही हैं कि हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आपने बारम्बार भयंकर आपदाओं से हमारी रक्षा की, किन्तु अब आप किंचिन्मात्र वस्तु के दान में उदासीन हो रहे हैं; क्या यह उचित है ? क्या यह आपका अनौदार्य नहीं है ?

निवृत्तिपक्षीय अर्थ है;

'व्यालराक्षसात्', अज्ञ, अल्पश्रुत, जड़ प्राणीरूप व्याल तथा बहुश्रुत खलरूप 'व्याल' का विध्वंस करने में जो ब्रह्म-ज्ञान राक्षसवत् है उसके द्वारा हमारी रक्षा करें। अन्तक, अन्त करनेवाला ही राक्षस है।

'वर्षमारुतात्' संसार में सतत दुःख की ही वृष्टि होती रहती है; इस दुःख-वृष्टि के लिए ज्ञान मारुततुल्य है। जैसे वायु के चलने पर वर्षा बाधित हो जाती है वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार से दुःख-वर्षण का भी बाधन हो जाता है। हे सच्चिदानन्दघन, परात्पर, परब्रह्म, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द अपने

साक्षात्कार द्वारा **'व्यालराक्षसात्'** और **'वर्षमारुताद्'** अविलम्ब **'वयं रक्षिताः'** हमारी रक्षा करें। भगवत्-तत्त्व-विज्ञान से ही श्रुतियाँ रक्षित होती हैं। तात्पर्य कि भगवत्-साक्षात्कार से ही अननुष्ठापकत्व-लक्षण-अप्रामाण्य तथा अबोधकत्व-लक्षण-अप्रामाण्य का अप्यय हो जाता है अतः भगवत्-विज्ञान से ही श्रुतियों की रक्षा सम्भव है। **'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** एक के विज्ञान से ही सम्पूर्ण का परिज्ञान हो जाता है, कारण के विज्ञान से सम्पूर्ण कार्य का विज्ञान स्वाभाविक है। सम्पूर्ण शास्त्रों का, वेद-वेदांगों का अध्ययन कर लेने पर भी भगवत्-साक्षात्कार न होने पर मिथ्या अहंकार हो जाता है और अपने-आपको **'अनूचानमानी'** अनूचान हम तत्त्वज्ञ हो गये हैं ऐसा समझने लगता है। उद्दालक-पुत्र श्वेतकेतु का चरित्र इस तथ्य का समर्थक है। विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने पर श्वेतकेतु को अहंकार हो गया; पुत्र के अहंकार को तोड़ देने के लिए उद्दालक ने उससे प्रश्न किया—**'उततमादेशमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति····अविज्ञातं विज्ञातमिति।'** अर्थात्, 'हे पुत्र, तुमने अपने गुरु से उस उत्तम आदेश को भी जाना है क्या जिसको जान लेने पर सबका यथार्थ ज्ञान हो जाता है?' श्वेतकेतु उत्तर देते हैं, 'नहीं, पिता! मैं ऐसा कुछ नहीं जानता, न गुरु ने ही ऐसा कुछ बताया जिसको जान लेने पर सब कुछ विदित हो जाय। यदि ऐसा कुछ है तो कृपा कर आप ही मुझे यथार्थ ज्ञान दें।' पुत्र को समझाते हुए उद्दालक कह रहे हैं, 'हे पुत्र! ब्रह्म-साक्षात्कार से अश्रुत श्रुत एवं अविदित विदित हो जाता है, ऐसा कुछ भी नहीं जो ब्रह्म का अकार्य हो। भगवत्-व्यतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं। श्रुति-कथन है, **'नात्र काचनभिदास्ति नेहनानास्ति किञ्चन।'** जिस वस्तु में कोई भिदा (भेद) नहीं, जिस वस्तु में कोई नानात्व नहीं, **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्।'** सम्पूर्ण नानात्व, बहुत्व अपने मूल कारण के ही अन्तर्भूत हैं; कार्य-बुद्ध्या कारण में ही हीनत्व आदि अपेक्षित है अतः महाकारण के अभिज्ञान से ही सम्पूर्ण का अभिज्ञान हो जाता है। अस्तु, भगवद् साक्षात्कार से अल्पज्ञता, अल्पश्रुतता का समूल उन्मूलन हो जाता है।'

गोपाङ्गनारूपा श्रुतियाँ कह रही हैं, 'हे क्षराक्षरातीत ऋषभ! आपका ज्ञान, आपका साक्षात्कार ही भयहेतु जड़ता एवं अल्पश्रुतता को विलीन करने-वाला है। विष का तात्पर्य है भयहेतुत्वेन प्रसिद्ध जल, **डलयोरभेदात्** जड़ अर्थात् अज्ञान एवं अल्पज्ञान का लय करनेवाला है। **जलं जडं रलयो डलयोश्चैव,** विषरूप जो जल तात्पर्य अज्ञान, विषरूप जड़ता का विलयन करनेवाले धर्ममय

अन्तःकरण से आविर्भूत ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा हमारी रक्षा करें। अन्तक, अन्त करनेवाला ही राक्षस है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

अज्ञ, अल्पज्ञ तथा बहुश्रुत खल से श्रुतियाँ भय खाती हैं अतः बारम्बार अपनी रक्षा-हेतु आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द से प्रार्थना करती हैं।

खल का बहुश्रुतत्व भी विपरीतार्थ परिकल्पना में ही पर्यवसित होता है अतः शुद्धत्व का निर्णय असम्भव हो जाता है। हमारे शास्त्रों की प्रतिज्ञा है—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।'

(महा० १।१।२६७-८, वसिष्ठस्मृ० २७।६)

इतिहास एवं वेदों के द्वारा वेदार्थ का उपबृंहण किया जाता है। 'रामायण' एवं 'महाभारत' भी वेदों का व्याख्यान ही है।

'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।'

(श्रीमद्भा० १।४।२९)

भगवान् व्यास ने 'महाभारत' के व्याज से वेदार्थ का ही वर्णन किया। अतः कहते हैं—

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।'

(महा० आदि० १।६२।५३)

जो 'महाभारत' में है वही अन्यत्र भी है और जो 'महाभारत' में नहीं है वह कहीं भी नहीं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'** (कठोप० १।२।१५) सब वेद एक परात्पर परब्रह्म के तत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।'

(गीता १५।१५)

सम्पूर्ण वेदों का वेद्य एकमात्र परब्रह्म परमात्मा है तथापि वेदों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का भी प्रतिपादन हुआ है। जैसे उपाख्यान के पात्रों में उनके रूप एवं वेश-भूषा में अन्तर हो जाता है तथापि कथावस्तु अभिन्न रहती है वैसे ही सम्पूर्ण ग्रन्थभी वेदों के महातात्पर्य एकमात्र परात्पर परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हुए भी उनके अवान्तर तात्पर्य कर्म एवं उपासना का भी प्रतिपादन करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'धरम तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छ-प्रद वेद बखाना॥'

(मानस, अरण्य का० १६।१)

भगवान् ही मुक्तोपसृप्य हैं; निरावरण-ब्रह्म ही मोक्ष है, सावरण-ब्रह्म ही जगत् है। निरावरण-ब्रह्म को प्राप्त करने के हेतु ज्ञान आवश्यक है; ज्ञान के लिए साक्षात्कार, साक्षात्कार के लिए योग, योग के लिए परम एकाग्रता-समाधि एवं समाधि के लिए वैराग्य आवश्यक है। धर्मानुष्ठान से ही वैराग्य सम्भव है; वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त कर्म का आचरण ही धर्मानुष्ठान है।

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।'

(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

जब तक संसार से वैराग्य तथा भगवद्-कथामृत से अनुराग न हो जाय तब तक धर्मानुष्ठान ही कर्तव्य है। धर्मानुष्ठान भी प्रधानतः शुद्ध राजनीति पर ही आधारित है। जीवन-यापन सुरक्षित रहने पर ही शास्त्र एवं सिद्धान्त-चर्चा सम्भव होती है। एतावता सम्यक् राजनीति द्वारा सुरक्षित जनता में ही धर्म-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा सम्भव है। कहते हैं—

'भूखे भजन न होय गोपाला, ले लो अपनी कण्ठी माला।'

प्रसिद्ध है कि राम-राज्य में सब प्राणी आधि-व्याधि एवं मनस्ताप से मुक्त थे।

'नाधयो व्याधयश्चासन् दैवभूतात्महेतवः।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीत् रामे राज्यं प्रशासति।।'

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्मनिरत श्रुति नीती।
बयरु न कर काहू सन कोई, राम-प्रताप विषमता खोई।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम-राज काहू नहिं व्यापा।।'

(मानस, उत्तर का० २०।२१)

एक कथा है—राघवेन्द्र रामचन्द्र के शासनकाल में किसी ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु हो गई; अपने मृत पुत्र को लेकर ब्राह्मण ने राजदरबार में पुकार की; महाराज रामचन्द्र अत्यन्त चिन्तित हो पड़े; प्रस्तुत समस्या-निराकरण हेतु जाबालि-वामदेवादि ऋषि-महर्षियों को निमंत्रित किया गया और उसका हल खोजा गया। तात्पर्य कि सम्यक् शासन-पद्धति से ही प्रजा का कल्याण सम्भव है। स्वधर्म-निष्ठा ही श्रेयस्कर है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥'

(गीता ३।३५)

विष्णु की पालनी-शक्ति के द्वारा ही जगत् सुरक्षित है; जीवन सुरक्षित रहने पर ही सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान की चर्चा सम्भव होती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित 'रामचरित-मानस' का भी महातात्पर्य एकमात्र परात्पर परब्रह्म राम में ही है तथापि अवान्तर तात्पर्य अन्यान्य विषयों में भी है। स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं—

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू ॥'

(मानस, बा० का० २७।७)

इसका यह तात्पर्य नहीं कि सम्पूर्ण अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-तप आदि सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को बन्द कर दिया जाय। गोस्वामीजी स्वयं ही कहते हैं—

'भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति-रीती ॥'

(मानस, अरण्य का० १६।३)

वेद-शास्त्रानुमोदित मार्ग के अनुसार व्यक्ति स्वधर्म एवं स्वकर्म में स्थिर रहे। **'राम-नाम अवलंबन एकू'** का तात्पर्य भी यही है कि एक राम-नाम के साधन बिना इतर सम्पूर्ण साधन शून्यवत् हैं। जैसे अंक के सहयोग से प्रत्येक शून्य भी क्रमशः शताधिक मूल्यवान् होता जाता है परन्तु अंकरहित हो निष्प्रयोजन हो जाता है वैसे ही राम-नाम-अंक बिना सम्पूर्ण अन्य साधन निष्प्रयोजन हो जाते हैं—

'राम-नाम एक अंक है, सब साधन हैं सुन्य।
अंक गए कछु है नहीं, अंक रहे दस गुन्य ॥'

(दोहावली १०)

गोस्वामीजी की यह विशेषता है कि राम को ही परब्रह्म प्रतिपाद्य मानते हुए भी मूलतत्त्व से विस्मृत नहीं होते। गौरी की स्तुति करते हुए गोस्वामीजी गौरी को ही ब्रह्म कहते हैं—

'जय जय गिरिबरराज किसोरी।
जय महेस मुखचंद चकोरी ॥
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनि दुति गाता ॥
नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाव बेदु नहिं जाना ॥

भव भव विभव पराभव कारिनि।
विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिनि॥'

(मानस, बा० का० २३४।५-८)

ब्रह्म का लक्षण है **'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म'** जिससे सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च स्थित रहता है और जिसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च लीन हो जाता है वही ब्रह्म है। गौरी भी **'भव भव विभव पराभव कारिणी'** हैं अतः गौरी भी ब्रह्म है। तात्पर्य कि जैसे कोई नट लीलार्थ अनेक वेष धारण कर अनेक भावों का प्रदर्शन करता है तथापि वह स्वयं तटस्थ है वैसे ही परात्पर परब्रह्म ही लीलार्थ अनेकधा प्रकट होते हैं तथापि अपने मूल स्वरूप में तटस्थ हैं।

'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥'

(मानस, उत्तर का० ७२ ख)

अस्तु, परात्पर परब्रह्म प्रभु ही राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में भी, व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में भी प्रकट हुए। गोस्वामीजी कहते हैं—

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

(मानस, बाल० का० १४८।३)

अनन्त ब्रह्माण्डनायक परात्पर परब्रह्म प्रभु से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं उनके तत् तत् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा उमा रमा ब्रह्माणी आदि प्रादुर्भूत होते हैं। शंकराचार्यजी कहते हैं—

'गोपान् विष्णुयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।'

अनन्त, अखण्ड, परात्पर, कार्य-कारणातीत परब्रह्म ही कार्यरूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाते हैं; वह परात्पर कार्य-कारणातीत परब्रह्म प्रभु ही 'रामायण' के महातात्पर्य का विषय राघवेन्द्र राम-चन्द्र एवं जनकनन्दिनी जानकी हैं; वही सच्चिदानन्द तत्त्व 'भागवत' के अनुसार व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं; 'विष्णुपुराण' के अनुसार श्रीमन्नारायण विष्णु हैं; 'स्कन्द' एवं 'शिवपुराण' के अनुसार भूतभावन, विश्वनाथ भगवान् शिव हैं; वस्तु-तत्त्व एक होते हुए भी रूप विभिन्न हैं। 'सेवक स्वामि सखा सिय-पिय के।' कहकर गोस्वामीजी ने भी शिव का राम के साथ अभेद स्थापित किया

है। अल्पश्रुत अल्पज्ञ में ऐसी अभेद-भावना सम्भव नहीं हो पाती और बहुश्रुत खल भी अभेद को नहीं समझ पाते फलतः दोनों ही विपरीतार्थ की कल्पना कर लेते हैं। वल्लभाचार्यजी कहते हैं, श्रीमद्भागवत का श्लोक है—

'स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥'

(९।११।२२)

अर्थात्, ये श्रीराम वही हैं जिनके दर्शन, स्पर्श एवं अभिगमन मात्र से सभी कोशलवासी योगियों के उपयुक्त दिव्य-धाम को गए। राम एवं कृष्ण के विभिन्न कल्पावतारों में भी अवान्तर भेद मान्य है। 'रामायण' के राम पूर्णतम पुरुषोत्तम हैं। इसी तरह विभिन्न कल्प में प्रादुर्भूत कृष्ण में भी अवान्तर भेद हैं। तात्पर्य कि अपने उपास्य स्वरूप में, स्वधर्म एवं स्वकर्म में अनन्य-निष्ठा ही सिद्धि का मूलमन्त्र है यद्यपि मूलतः सम्पूर्ण ही वेदान्त-वेद्य परात्पर परब्रह्म-स्वरूप ही है।

शिव-भक्त कहता है **'विरहीव विभो प्रियामयं परिपश्यामि भवन्मयं जगत्'** हे प्रभु! जैसे विरही जगत् को प्रियामय देखता है वैसे ही मैं भी सम्पूर्ण जगत् में आपका ही दर्शन करूँ **'न विद्मस्तत्तत्त्वम् वयमिह तु यत्त्वन्न भवसि'** हे प्रभो! आपसे भिन्न अन्य कुछ न देखूं। **'शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराज कन्यका। शरणं पुनरेव तावुभौ, शरणं नान्यदुपैमि दैवतम्'** तरुणेन्दुशेखर भगवान् शिव ही मुझे शरण दें; गिरिराज-कन्या राजराजेश्वरी ही मुझे शरण दें।

गोस्वामी तुलसीदास में शुद्ध सिद्धान्त-निष्ठा के साथ ही साथ राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में अनन्यता भी है; इसी तरह बहुश्रुत सज्जन भी सम्पूर्ण शास्त्र-इतिहास एवं वेद-पुराणादि ग्रन्थों के अर्थ का समन्वय करते हुए यह जानता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थों का महातात्पर्य एकमात्र कार्य-कारणातीत परात्पर परब्रह्म प्रभु ही हैं तथापि उपासना-हेतु अपने उपास्य स्वरूप में ही अनन्यनिष्ठ रहता है।

'गीता' का कथन है **'यस्तं वेद स वेदवित्'** (१५।१) जो बीज-मूलसहित अश्वत्थ वृक्ष को जानता है वही वेदवित् है। अश्वत्थ ही जगत् है; जो इस जगत् एवं उसके अधिष्ठानभूत सर्वेश्वर परात्पर परब्रह्म को जान लेता है वही वेदविद् है। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही लिखा है—**'इत्यस्यां हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन'** (११।२१।४२) इसका हृदय भगवान् को छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता। **'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्'** (११।२१।४३) वेद मेरा ही अभिधान कहते हैं, मेरा ही विज्ञान करते हैं, मेरा ही अनुवाद, मेरा ही

आपोहन तथा मेरा ही अवशेषण करते हैं। अर्थात्, अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च परब्रह्म का ही प्रपञ्चन वेद करते हैं। इस सिद्धान्त को जिसने जान लिया वही वेदविद् है, वही कर्म-उपासना एवं ज्ञानकाण्ड की यथार्थ सम्यक् व्यवस्था कर सकता है। संक्षेप-शारीरककार लिखते हैं—

'वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥'

(संक्षेप० १।१५)

अर्थात्, शंकराचार्यरूप वक्ता को पाकर वेद-लक्षणा-सरस्वती स्वार्थसमन्विता हुई। तात्पर्य कि शंकराचार्यजी द्वारा वेदों का यथार्थ अर्थ किया गया; कर्मकाण्ड का अवान्तर तात्पर्य तत् तत् देवता की आराधना एवं तज्जन्य फल-प्राप्ति तथा चित्त की एकाग्रता के द्वारा ज्ञानकाण्ड का प्रतिपाद्य निरावरण परब्रह्म में ही सबका तात्पर्य निर्धारित किया गया। अज्ञ, अल्पज्ञ अथवा बहुश्रुत खल के लिए यह कदापि संभव नहीं। एतावता श्रुतियाँ प्रार्थना कर रही हैं कि हे प्रभु! आपका साक्षात्कार ही विषरूप जड़ता, अज्ञता, अल्पज्ञता का अपनयन करनेवाला है; आपके साक्षात्कार से ही हमारा प्रामाण्य व्यवस्थित रह सकता है अतः आप प्रत्यक्ष होकर विषरूप जड़ता से हमारी रक्षा करें।

बहुश्रुत खल भी सर्वदा-सर्वत्र विपरीत-भाववश अनर्थ की ही कल्पना करता है। कहते हैं—

'अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥'

(भर्तृहरि-नीतिशतक २)

अर्थात्, अज्ञ को अनायास समझाया जा सकता है, विशेषज्ञ को और सरलता से समझाया जा सकता है पर दुरभिमानी अल्पज्ञ को अथवा खल को ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। जैसे गीली लकड़ी न जलती है, न बुझती है वरञ्च धुएँ का कारण बन सबको सन्तप्त करती है वैसे ही अल्पज्ञ एवं बहुश्रुत खल दोनों ही वेद-ऋचाओं एवं सम्पूर्ण ग्रन्थों का संयत-समन्वित अर्थ न कर अनर्थ ही करते हैं; अतः कहते हैं कि श्रुतियाँ ऐसे अल्पज्ञ अथवा बहुश्रुत खल से भयभीत हो अपनी रक्षा के लिए परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रही हैं—ब्रह्म-साक्षात्कार ही बहुश्रुत की विपरीतार्थ-कल्पनारूप व्याल एवं अल्पज्ञ की अज्ञतारूप व्याल का अन्तक है अतः ब्रह्म-आविर्भाव-हेतु श्रुतियाँ प्रार्थना कर रही हैं।

'वर्षमारुताद् वयं रक्षिताः' दुःखरूप वृष्टि के लिए जो मारुततुल्य हैं; जैसे प्रचण्ड वायु के चलने पर मेघ फट जाते हैं वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्काररूप मारुत से दुःखरूप मेघों का विध्वंस हो जाता है।

'वैद्युतानलाद्' तृण-पर्ण स्थानीयं अज्ञानं विद्युत् तिनका और पत्ते के तुल्य जो अज्ञान, वही विद्युत् है। **तत्संभूतं वैद्युतं-अहंकारादिकम् अज्ञानम् तस्य अनलात्-दाहकात्** तात्पर्य कि अज्ञान एवं अहंकार दोनों को दग्ध करनेवाला भगवत्-तत्त्व-साक्षात्कार है अतः हे प्रभो! अपने साक्षात्कार से अज्ञान एवं अहंकाररूप तात्कालिक अग्नि से हमारी रक्षा करें।

'वृषमयात्मजाद् वयमपि रक्षिताः' वृष से हमारी रक्षा हो; **'वृषो धर्मः निष्कामकर्मलक्षणो धर्मः शुद्धो धर्मः वृषः'** अर्थात् निष्काम कर्म लक्षण शुद्ध धर्म ही वृष है अथवा **'वर्षति कामान् इति वृषः'** जैसे बादल से जल की वृष्टि होती है वैसे ही धर्म से सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थों की वर्षा होती है अतः धर्म ही वृष है। भगवान् शंकर **'वृषाकपि'** हैं। भगवान् शंकर का नन्दी, वृष स्वयं धर्म है; धर्म-विशिष्ट अन्तःकरण पर ही भगवान् का आविर्भाव सम्भव है। **'वर्षति कामान् तथा आकम्पयति क्लेशान् इति वृषाकपिः'** जो वाञ्छित पदार्थों की वर्षा करनेवाला एवं दुःख को कँपा देनेवाला हो वही 'वृषाकपि' है। अस्तु, हमारे अन्तःकरण निष्काम शुद्ध-लक्षण-धर्ममय वृषमय हों; **'वृषमये-अन्तःकरणे जातः तस्मात् वृषमयात्मजाद्'** धर्ममय अन्तःकरण से ही ज्ञान उद्बुद्ध होता है। **"जातं ज्ञानं'** ज्ञान के उद्बुद्ध होने पर ही भगवत्साक्षात्कार सम्भव है। **'ज्ञान-मुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'** पाप के क्षय होने पर ज्ञान का उदय होता है; **"एकाग्रता लक्षणा शुद्धिः'** एकाग्रता ही शुद्धि है। विक्षेप एवं लय दोनों ही अन्तःकरण की अशुद्धियाँ हैं; स्वरूप-स्फुरण प्रतिबन्ध ही लय-आवरण है तथा सर्व-प्रपञ्च-स्फूर्ति ही विक्षेप है। अस्तु, आवरण एवं विक्षेपशून्य अन्तःकरण ही धर्ममय अन्तःकरण है; इस शुद्ध धर्ममय अन्तःकरण से वेद-वेदांग-विचार द्वारा ब्रह्माकाराकारित बुद्धि स्फुरित होती है; तात्पर्य कि शुद्ध धर्ममय एकाग्र अन्तः-करण से ही ब्रह्म-साक्षात्कार सम्भव है। सुदृढ़-प्रबोधजन्य साक्षात्कार ही फल-पर्यवसायी होता है। मनु-कथन है—जैसे कच्चे घड़े में एकत्रित जल बह जाता है वैसे ही असंगत अंतःकरण में उद्बुद्ध ज्ञान भी क्षरित हो जाता है। साथ ही, यह भी शास्त्र सिद्धान्त है कि जैसे दुहे हुए दूध को शत कोटि प्रयास करने पर भी गो के थन में पुनः प्रविष्ट करा देना सर्वथा असम्भव है वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर क्षरण भी कदापि सम्भव नहीं।

परस्पर विरोधात्मक उपर्युक्त उक्तियों का समाधान यही है कि विपरीत-

भावना-शून्य-साक्षात्कार हो जाने पर क्षरण कदापि संभव नहीं; ब्रह्म-साक्षात्कार आविर्भूत हो जाने पर उसका विलयन असम्भव है; तथापि असंयत चित्त से असम्भावनायुक्त अदृढ़-साक्षात्कार होने पर क्षरण स्वाभाविक है। 'महाभारत' में प्राप्त राजा नहुष की कथा इसी तथ्य की सूचक है।

बिधु-बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी।
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥

(मानस, अयोध्या का० १६९।२)

कदाचित् असम्भव भी सम्भव हो जाय, वारिचर जल से विरक्त हो जाय, चन्द्रमा विष झरने लगे तब भी तुम राम से विमुख न होना; क्योंकि कदाचित् ज्ञान होने पर भी मोह न मिटे तथापि विपरीत भावनारहित दृढ़ साक्षात्कार हो जाने पर क्षरण सर्वथा असम्भव है। **तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः** एकत्व-दर्शन होने पर शोक तथा मोह का समूल विनाश हो जाता है। भगवत्-साक्षात्कार, भगवद्-विज्ञानरूप वैद्युताग्नि से तृणपर्णादि स्थानीय अज्ञान एवं तज्जन्य अहंकार आदि दग्ध हो जाते हैं। अतः हे प्रभो! हमें आपका दृढ़ साक्षात्कार हो।

●

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख ! उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥४॥

अर्थात्, हे सखे ! तुम केवल गोपिकानन्दन ही नहीं हो, अपितु समस्त शरीरधारियों के अन्तर्यामी, सर्वसाक्षी भी हो, ब्रह्माजी के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर विश्व की रक्षा हेतु ही आपका यदुकुल में, सात्वतवंश में आविर्भाव हुआ है।

गोपाङ्गनाएं कह रही हैं, हे सखे ! आप केवल व्रजेन्द्रनन्दन, गोपिकानन्दन, यशोदानन्दन, विचित्र-सौन्दर्य-माधुर्य-पूर्ण, दिव्य-अद्भुत-लीला-नायक श्रीकृष्ण ही नहीं हैं अपितु सच्चिदानन्दघन, परमानन्दकन्द, परात्पर परब्रह्मस्वरूप अन्तरात्मदृक् भी हैं। प्राणिमात्र के अन्तरात्मा का द्रष्टा साक्षी ही अन्तर्यामी किंवा आत्मदृक् है—तात्पर्य यह कि व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण का अनुगमन केवल परमप्रेमास्पद-कान्त-बुद्धि से ही नहीं किया अपितु वे उनके मंगलमय आत्मदृक् स्वरूप से भी भलीभाँति परिचित थीं।

**'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥'**
(श्रीमद्भा० १०।२९।३२)

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण का अनुसन्धान करती हुई व्रजाङ्गनाएँ वृन्दावन तक चली आयीं। उनको उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे व्रजाङ्गनाओ ! तुम इस समय यहाँ कैसे चली आयीं ? पति की सेवा, अपत्यों (सन्तानों) का लालन-पालन, गुरुजनों एवं बन्धुजनों की शुश्रूषा तथा अनुवर्तन ही स्त्रियों का परम धर्म है अतः तुम अपने-अपने घरों को वापस लौट जाओ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये इस उपदेश का अनुवाद करती हुई वे कह रही हैं, हे प्रभो ! आप धर्मज्ञ हैं **'धर्मविदा त्वयोक्तम्'** आपने हम स्त्रियों के लिए धर्मोपदेश किया; यह तो उचित ही है तथापि **'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्येन पृच्छतः'** (मनुस्मृति, २।११०, महाभारत, शान्तिपर्व २८७।३५, भविष्यपुराण १।४।३८) जब तक कोई धर्म-सम्बन्धी प्रश्न न करे तब तक धर्मज्ञ को भी विधिपूर्वक धर्म का उपदेश नहीं करना चाहिये; हम तो आप द्वारा किए गए उपदेश को भी सर्वथा उचित ही मानती हैं; तथापि **'सर्वेषां उपदेशानां पदे महा-**

तात्पर्यविषयीभूते परस्मिन् ब्रह्मणि त्वय्येव इदं सर्वमस्तु' वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों के जितने भी उपदेश हैं सबका महातात्पर्य परब्रह्म परमात्मा ही है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'

(कठोपनिषद् १।२।१५)

सब वेद परात्पर परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत्' 'सन्ध्यामुपासीत' अर्थात् अग्निहोत्र करो, दर्शपौर्णमासादि यज्ञ करो, सन्ध्यावन्दन करो, आदि वेदों में प्राप्त विभिन्न आदेशों का भी परम तात्पर्य परब्रह्म परमात्मा में ही है। सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त क्रिया-कलापों का एकमात्र उद्देश्य यही है कि प्राणी बाह्य दृष्टि से विनिर्मुक्त हो अन्तर्मुख हो जाय। जैसे **'कण्टकेन कण्टकोद्धारः'** कंटक से ही कंटक निकाला जाता है वैसे ही वैदिक-काम-कर्म-जाल से ही पाशविक-लौकिक-काम-कर्म-जाल का अतिक्रमण किया जाता है। अन्तर्मुख होने पर ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार संभव है। जिसने भगवत्-साक्षात्कार कर लिया उसने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का, सम्पूर्ण धर्म-कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान कर लिया।

स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्'

(गीता ४।१८)

जो ज्ञानी है, वह युक्त (योगी) है, वही सर्व-कर्म-कृत् है। **'एष एव पन्था, एतत्कर्म, एतद् ब्रह्म, एतद् सत्यं'** यही सन्मार्ग है और यही सत्य है। **'अधिकस्याधिकं फलं अमितस्यामितं फलं'** का साधन होने के कारण यही सत्य है।

'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति एवमेनं सर्वं तदभिसमेति।'

(छान्दोग्योपनि० ४।१।४)

अर्थात्, जैसे कृतसंज्ञक द्यूत को जीत लेने पर द्यूत के त्रेता, द्वापर, कलि ये तीनों पाश भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं—द्यूत में लगायी सम्पूर्ण सम्पत्ति विजित हो जाती है वैसे ही आपके साक्षात्कार से सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त क्रिया-कलापों का अर्थ सिद्ध हो जाता है।

गाड़ीवाले सयुग्वा रैक्व की कथा इसी भाव की द्योतक है। रैक्व ब्राह्मण था; वह सम्वर्ग-विद्या का उपासक था; सम्वर्ग-विद्या ही प्राण-विद्या किंवा हिरण्यगर्भ-विद्या है। कुछ सिद्धगण हंसरूप धारण कर आकाश-मार्ग से जा रहे थे; राजा जानश्रुति अपने महल की छत पर विश्राम कर रहा था; उसने सुना कि एक हंस दूसरे हंस से कह रहा है कि 'भल्लाक्ष, ओ भल्लाक्ष! देख, राजा

जानश्रुति का तेज आकाश-मण्डल में फैल रहा है। उसका उल्लंघन न करना अन्यथा दग्ध हो जाओगे।' दूसरे हंस ने उत्तर दिया,

'कम्बर एनं एतत् सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति।'

(छान्दोग्योप० ४।१।३)[1]

'क्या यह सयुग्वा रैक्व है कि नभोमण्डल में प्रस्तृत उसका तेज हमें दग्ध कर देगा ?' हंसरूप सिद्धों का वार्तालाप सुनकर राजा जानश्रुति को बड़ी ग्लानि हुई और वह सयुग्वा रैक्व को खोजने लगे। सयुग्वा रैक्व ने ही राजा जानश्रुति को उपदेश दिया कि जिसने स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया, उसने सम्पूर्ण धर्म-कर्म का अनुष्ठान कर लिया।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'

(गीता ४।३३)

संसारभर के सम्पूर्ण कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है, **'अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वमीशे'** आप ही सम्पूर्ण उपदेशों के महातात्पर्य हैं,

'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।'

(श्रीमद्भा० १०।२९।३२)

आप ही सम्पूर्ण तनु-धारियों के परम-प्रेमास्पद बन्धु हैं;

'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥'

(श्रीमद्भा० १०।३३।३६)

आप ही गोपाङ्गनाओं एवं उनके पतियों के भी तथा अन्यान्य सम्पूर्ण प्राणिमात्र के भी अध्यक्ष हैं, सबके द्रष्टा हैं, अतः आपकी उपासना से ही सम्पूर्ण उपासना सम्पन्न हो जाती है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे प्रभो! आप केवल व्रजेन्द्रनन्दन, श्रीकृष्णचन्द्र ही नहीं हैं अपितु **'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा, द्रष्टा भी हैं; **'न स्वान्तरवृत्तं बहु वक्तव्यं'** आप सर्वसाक्षी हैं अतः आपके प्रति अपने भावों को, आपके विप्रयोगजन्य अपने संताप को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता ही नहीं; आप स्वयं ही हमारे त्रास को जानते हैं अतः हे प्रभो! कृपा करो, शीघ्र दर्शन दो।

---

१. इस कथा का उपबृंहण स्कान्द, सेतु-माहात्म्य अध्याय २८ तथा पाद्मोत्तरखण्ड अध्याय--(आनन्दाश्रम सं०) १७६ (श्री वेङ्कटेश्वर सं० १७०) में भी हुआ है।

वे अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'हे गोपाङ्गनाओ ! तुम लोगों में मद, अहंकार का प्रादुर्भाव हुआ एतावता तुम भक्त नहीं रहीं; तुम्हारे अहंकार के कारण ही मैं अन्तर्धान हो गया हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उत्तर देती हुई वे कह रही हैं; हे प्रभो ! हम तो भक्त नहीं हैं परन्तु आप तो अपने परम भक्त विखनस ब्रह्मा की प्रार्थना से सात्वतों के, यादवों के कुल में **'विश्वगुप्तये'** विश्व-रक्षा-हेतु आविर्भूत हुए हैं। विश्व के अन्तर्गत अभक्त, चेतनाचेतन, पुण्यापुण्य प्राणिमात्र आ जाते हैं एतावता आपको हमारा भी रक्षण करना चाहिए।

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥'
(श्रीमद्भा० १०।२९।१४)

अर्थात्, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, गुणात्मा, सर्वाधिष्ठान, अप्रमेय, सर्वसाक्षी, अनन्त ब्रह्माण्डनायक, परात्पर परब्रह्म प्राणिमात्र के कल्याण-हेतु हो अवतरित होते हैं।

'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो, यान्ति तन्मयतां हि ते॥'
(श्रीमद्भा० १०।३३।५०)

अर्थात्, जैसे कोई दीपक-बुद्धि से भी चिन्तामणि की ओर अग्रसर हो तो भी उसको प्राप्ति चिन्तामणि की ही होगी वैसे हो काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि किसी भाव से भगवान् को भजनेवाले को भी परात्पर परब्रह्म की ही प्राप्ति होगी। अतः हे प्रभो ! आप द्वारा हमारा संत्राण होना ही चाहिए।

गोपाङ्गनाएँ पुनः कल्पना करती हैं मानों भगवान् श्रीकृष्णचंद्र उनसे कह रहे हैं **'यथावसरं भविष्यति'** 'हे गोपाङ्गनाओ ! यथावसर तुम्हारा भी संत्राण हो ही जायगा।' जैसे धरती में बोया बीज यथाकाल ही फलित होता है वैसे ही मुझमें तुम्हारी जो प्रीति है, भक्ति है, वह भी यथावसर ही फलित होगी; यथाकाल तुम्हें हमारा दर्शन मिलेगा और तुम्हारा परम कल्याण होगा। वे उत्तर दे रही हैं, प्रभो ! आपका यह अवतार **'सात्वतां कुले'** भक्तों के कुल में[1] हुआ है अतः आपको अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। इस अवतारविशेष में ईश्वरीय नियम-पालन का निर्बन्ध मान्य नहीं। गुरु-दक्षिणा-हेतु मृत गुरुपुत्र के

---

१. 'सात्वतां' शब्द के भक्तगण तथा यदुवंशी ये दोनों ही अर्थ हैं। भागवत (१।२) आदि में भक्त अर्थ है। (९।२४) आदि में यदुवंशी।

जीव को आप यमपुरी से भी लौटा लाए; कथा है कि महर्षि सान्दीपनि से चतुष्षष्टि कलाओं एवं वेद-वेदांगों का अध्ययन कर लेने पर श्रीकृष्ण ने गुरु से दक्षिणा-हेतु प्रार्थना की। ऐसे अद्भुत विद्यार्थी से जो न तो अद्यावधि प्राप्त हुआ और न भविष्य में ही प्राप्त हो सकता है क्या माँगा जाय ऐसा विचार करते हुए महर्षि सान्दीपनि कहने लगे, 'हे पुत्र ! तुमने जिस अद्भुत कौशल से विद्या ग्रहण की वही सम्यक् गुरु-दक्षिणा है तथापि तुम्हारा आग्रह ही है तो मुझे मेरा वह पुत्र ला दो जो प्रभास-क्षेत्र में समुद्र में डूबकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था। मेरी पत्नी अपने उस पुत्र की ही अभिलाषा रखती है।' गुरु-पुत्र का अनुसन्धान करते हुए श्रीकृष्ण समुद्र-गर्भ में गए; वहाँ गुरु-पुत्र को न पाकर यमपुरी में गए और यमराज से गुरु-पुत्र के जीव को लौटा लाए।

हे प्रभो ! मृत गुरु-पुत्र को कालान्तर में उसी स्वरूप में ला देना लौकिक नियमों से परे ही है; अघटित-घटना पटीयान्, भगवदीय-स्वात्म-वैभव द्वारा ही ऐसा लोकोत्तर चमत्कार सम्भव हुआ; तब फिर केवल हम व्रजाङ्गनाओं के लिए ही यथावसर प्रतीक्षा की आवश्यकता क्योंकर हो रही है ? इतना ही नहीं, विशेषानुग्रहवशात् आपने स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन भी किया है; कथा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के संग्राम में शस्त्र-ग्रहण न करने की और अनन्य भक्त शन्तनु-सुत भीष्म ने श्रीकृष्ण को शस्त्र-ग्रहण करा देने की प्रतिज्ञा की। भीष्म ने भीषण बाण-वर्षण द्वारा ही समयानुसार भगवत्-पूजन किया; अन्ततोगत्वा भगवान् श्रीकृष्ण रथ का पहिया चक्र-स्वरूप लेकर दौड़ पड़े; भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा भंग करके भी भक्त की प्रतिज्ञा रख ली।

हे प्रभो ! आपने भक्त की प्रतिज्ञा को मान देने के लिए अपनी प्रतिज्ञा का भी खण्डन कर दिया यह भी तो नियम-पालन-निर्बन्ध के विपरीत ही हुआ तब केवल हमारे ही सम्बन्ध में नियम-पालन-निर्बन्ध की, यथावसर की प्रतीक्षा क्यों ? हे प्रभो ! हमारे सन्ताप का अनुभव कर हमें शीघ्र दर्शन दो। श्रीधर-स्वामी का कथन है—

> **'न निर्गुणं न सगुणं वन्दे तत् प्रेम-बन्धनम्।**
> **यद् बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्मक्रीडा मृगीकृतम्॥'**

अर्थात्, मैं निर्गुण अथवा सगुण की पूजा नहीं करता; मैं तो उस प्रेम-बन्धन को वन्दना करता हूँ जिसके वशीभूत हो स्वयं मुक्त एवं मुक्तिप्रद परात्पर परब्रह्म भी बद्ध हो गया। इस प्रेम-बन्धन के वशीभूत हो अपरिमेय भी परिमित हो गया; अनन्त ब्रह्माण्डनायक, सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् भी गोपाङ्गनाओं का क्रीड़ा-मृग बन गया। राजा-महाराजाओं के अन्तःपुरों में

महारानियों के मनोविनोदार्थं मृगों का लालन-पालन किया जाता था; ये मृग अत्यन्त अनुकूल बनाए जाते थे अतः इनसे महारानियाँ यथेच्छा विनोद किया करती थीं। अद्वैतमतानुसार भी परात्पर परब्रह्म स्वतंत्र एवं सत्य-संकल्प है अतः स्वयं मुक्त एवं मुक्तिप्रद भी है तथापि **'उपनिषदर्थंमुलूखले निबद्धम्'** इस प्रेम-बन्धन के कारण ही उपनिषदर्थ परब्रह्म भी उलूखल में बँध गया; स्वयं परब्रह्म ही उनका क्रीड़ामृग बन गया।

हे प्रभो ! आप तो गोपिका-नन्दन हैं; **'गोपिकाः व्रजसुन्दरीः नन्दयति इति गोपिकानन्दनः'** व्रजसुन्दरियों का नन्दन करनेवाले, आनन्द-प्रदान करनेवाले ही हैं। अन्तर्धान होकर अपने विप्रयोगजन्य तीव्रताप से हम गोपाङ्गनाओं को दग्ध न करें। भगवत्-सम्भोग-सुख से अद्भुत प्रेमरस उद्भूत होता है; तदर्थ ही विप्रयोगजन्य तीव्रताप की भी अत्यन्त तीव्र एवं मार्मिक विशिष्ट अनुभूति होती है।

'राम-गमन बन अनरथ मूला।
जो सुन बिस्व सकल भे सूला ॥'

(मानस, अयोध्या का० २।२०६)

पारमार्थिक दृष्टिकोण से राघवेन्द्र रामचन्द्र के वन-गमन के कारण वैदिक मर्यादा की सुरक्षा, धर्म का संत्राण, रावण का वध, देवताओं के संकट का विनाश, इन्द्रादिकों को उनके राज्य की पुनःप्राप्ति आदि अनेक शुभ फल हुए तथापि व्यवहारदृष्ट्या सम्पूर्ण जगत् ही संत्रस्त हो उठा।

'विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपिवृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥'

(वाल्मीकि रामायण २।५९।४,५)

अर्थात् भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के वियोगजन्य तीव्रताप से अयोध्या की नदियों का जल भी वैसे ही खौल उठा जैसे अदहन (चावल पकाने के लिए चढ़ाया हुआ जल) खौलता है। महाराज दशरथ के प्रति कहा जा रहा है 'हे राजन् ! आपके राज्य के सम्पूर्ण वृक्ष एवं लताएँ भी अपने पुष्प, शाखा, पल्लव, अंकुरादिकों के संग परिम्लान हो गये हैं, झुलस गये हैं। जब जड़ भी ऐसी दशा को प्राप्त हो रहे हैं तब चेतन की स्थिति का वर्णन कौन कर सकता है? भगवान् श्री राघवेन्द्र रामचन्द्र के समय की कथा तो निश्चय ही अकथ है जब

कि आज भी 'रामायण' के पाठक को 'अयोध्याकाण्ड' के अन्तर्गत राम-वन-गमन का वर्णन पढ़ते हुए भाव-विह्वलता में अश्रुपात होने लगता है। किसी काल में महर्षि वाल्मीकि भी रोये थे! 'अनघं राघव' के रचयिता श्री मुरारि मिश्र, 'उत्तर-रामचरित' के रचयिता भवभूति तथा 'चम्पू रामायण' के रचयिता राजा भोज कहते हैं कि—

'तादृग्विधामपि कथां कथयन् स्ववाचा' वल्मीकजन्ममुनिरेव कठोरचेताः।'
(रामा० चम्पू० ३।४१)

वाल्मीकि ही इतने कठोरचेता हैं जो ऐसी कथा को भी बारम्बार कह सकते हैं। नागोजी भट्ट कहते हैं कि महर्षि वाल्मीकि कठोरचेता नहीं हैं अपितु अतिशय भाव-विह्वलता में प्रलाप कर रहे हैं। इसी तरह गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड का पाठक यह जानते हुए भी कि राघवेन्द्र रामचन्द्र परात्पर परब्रह्म हैं, उनके विप्रयोगजन्य संताप से विह्वल हो स्वभावतः रो पड़ता है। भगवान् रामचन्द्र के अनन्यभक्त पवनसुत हनुमान्-जी तो यही वरदान माँगते हैं कि 'मैं निरन्तर ही भाव-विह्वल हृदय एवं अश्रु-पूरित-नयन से भगवत्-कथामृत का पान करता रहूँ!' सनातन गोस्वामी कहते हैं—

'सन्त्यवतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥'

अर्थात् पुष्करनाभ श्रीमन्नारायण विष्णु के अपरिगणित अवतार हुए परन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण से अन्य ऐसा कौन स्वरूप है जिसने लताओं में भी प्रेम प्रदान किया हो। श्रीकृष्ण-सम्बन्ध से लताएँ भी प्रेमार्द्र हो मधु-धाराएँ टपकाने लगीं।

'नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्।'
(श्रीमद्भा० १०।१५।५)

अर्थात्, व्रजधाम के वृक्ष एवं लताएँ भी अपने पल्लव एवं शिखाओं से भगवत्-पाद-पंकज संस्पृष्ट-भूमि के संस्पर्श-हेतु वृन्दावन-धाम की भूमि पर झुक आईं। तात्पर्य कि जिसने भगवत्-सम्भोगजन्य लोकोत्तर आनन्द का अनुभव

---

१. तथाभूतामपि कथां निजकण्ठोक्त्या पुनः पुनः वर्णयन् महर्षिवाल्मीकिरेव श्रुतिधर्म-रूपकोऽभूत्।

(साहित्यमंजूषा)

किया हो वही भगवद्-विप्रयोगजन्य तीव्र संताप का भी अनुभव कर सकता है; व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण-सम्भोग-सुख का आस्वादन किया अतः उन्होंने ही भगवद्-विप्रयोगजन्य तीव्र संताप का भी विशिष्टरूपेण अनुभव किया; अन्य लोगों के लिए वैसी तीव्रानुभूति सम्भव ही नहीं हो सकी।

भाव-विभोर भक्तों के मन में भगवल्लीलाओं का स्फुरण होता है; भावभरी गोपाङ्गनाओं के मन में भी श्रीकृष्ण द्वारा किये गये प्रश्न का स्फुरण होता है; वे अनुभव करती हैं कि श्रीकृष्ण प्रश्न कर रहे हैं, **'निरन्तरमसम्यग्भाषिण्यः गोपाल्यः मां सम्यक् असमीक्ष्यभाषिण्यः।'** 'स्वभावतः निरन्तर असम्यक् वचन बोलनेवाली गोपालियो ! मुझे आत्मदृक् स्वरूप समझते हुए भी तुम लोग मेरे प्रति असंख्य-स्त्री-घाती, पातकी, मित्र-द्रोही, विश्वास-घाती आदि रूक्ष-वचन क्यों बोल रही हो ? तुम्हारी ऐसी असंगत धारणाओं के कारण अब ऐसे एकान्त स्थान में चला जाऊँगा जिससे तुम लोगों को जीवन-पर्यन्त मेरा दर्शन ही न हो सके।'

ऐसी कठोर भावना के उद्बुद्ध होने पर गोपाङ्गनाएँ तुरंत ही अपने भावों को परिवर्तित कर कहने लगती हैं, **'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।'** अर्थात्, आप केवल गोपिकानन्दन ही नहीं अपितु समस्त शरीरधारियों के आत्मदृक्, अन्तरात्मा के द्रष्टा भी हैं। वैष्णवाचार्यों ने अन्तरात्मा का अर्थ अन्तःकरण ही किया है अतः **'अन्तरात्मदृक्'** का अर्थ अन्तःकरण के द्रष्टा, सर्वसाक्षी ही हैं। **'आत्मानम्, जीवात्मानम्, अन्तरात्मानम् पश्यतीति अन्तरात्मदृक्।'** अर्थात्, जीवात्मा का अन्तर्यामी, जीवात्मा का द्रष्टा ही आत्मदृक् है। अतः सखे ! आप हमारी अन्तर्वेदना के स्वयं साक्षी हैं। आप हमारे हृद्गत उपतापों को जानते हैं अतः आप भलीभाँति जानते हैं कि हम आपसे कोई कृत्रिम बात नहीं कह रही हैं; हमारे सन्तापों को जानते हुए हम पर कृपा कर शीघ्र ही दर्शन दें।

हे विभो ! नन्दरानी, व्रजेन्द्रगेहिनी, यशोदारानी परमदयामयी, कल्याणमयी एवं करुणामयी हैं; यदि आप उनके पुत्र होते, यदि उनके उदर से ही आविर्भाव हुआ होता तो निश्चय ही आपमें यह निष्ठुरता नहीं आ पाती। हमारे मदन-मोहन, श्यामसुन्दर तो कारुण्य-माधुर्य गुणगणोपेत हैं; अस्तु, निश्चय ही हम अनुरागिणी-जनों के दुःख से द्रवित हो प्रत्यक्ष हो जाते परन्तु आप तो हमारे सन्ताप से सर्वथा निरपेक्ष हैं; उदासीनता, असंगता आदि तो आत्मदृक् के ही गुण हैं।

'उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो ।
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः ॥
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुते स्नेहमथतद् ।
वसस्व स्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन्पुनरपि ॥'

(शंकराचार्य, प्रबोधसुधाकर ४५)

अर्थात्, आप तो उदासीन, स्तब्ध, अगुण एवं असङ्ग पिता हैं, पुष्कर-पत्र के तुल्य निर्लेप हैं अतः आप हमारे सुख-दुःख की चिन्ता से रहित हैं ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'

(श्वेताश्वतरोप० ४।६)

अर्थात्, एक ही शरीररूपी वृक्ष पर जीवात्मा एवं परमात्मारूप दो समान शोभन पक्षी बैठे हैं; दोनों में सख्य भी है फिर भी जीवात्मारूप पक्षी कर्मफल को भोगता है परन्तु परमात्मा असंग है, द्रष्टा-स्वरूप है; एक नहीं खाता इसलिए शुद्ध रूप से प्रकाशमान है ।

जैसे दाहकत्व-प्रकाशकत्व-रहित लौह-खण्ड भी अग्नि-तादात्म्यापत्ति से दाहकत्व-प्रकाशकत्व-गुणयुक्त हो जाता है वैसे ही जीव भी सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी से ही भोगोत्पादिनी विषय-ग्रहणानुकूला शक्ति को ग्रहण करता है तथापि परमात्मा **'अनश्नन्'** ही रहता है; जीव भोक्ता है; परमात्मा द्रष्टा है ।

'सर्वपरिग्रहभोगत्यागः । कस्य सुखं न करोति विरागः ॥'

(शंकराचार्य)

सर्व प्रकार के भोग एवं परिग्रह का त्याग किसको सुख नहीं पहुँचाता ? जो जितना ही भोग एवं परिग्रह में संसक्त होता है वह उतना ही संसार-जाल से आबद्ध होता जाता है और जितना ही भोग एवं परिग्रह से मुक्त होता जाता है उतना ही परमात्मा के निकट जाता है ।

'विखनसार्थितो····सात्वतां कुले उदेयिवान्' जैसी उक्ति से श्रीकृष्ण के प्रति गोपाङ्गनाओं द्वारा किया गया व्यंग्य भी ध्वनित होता है ।

'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम् ।
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ॥'

(श्रीमद्भा० १०।२१।१०)

अर्थात्, हे सखि ! देवकी-सुत कृष्णचन्द्र के पादारविन्द की लक्ष्मी से संयुक्त

होकर यह वृन्दावन-धाम अखण्ड भूमण्डल की दिव्य कीर्ति को विश्व में प्रसारित कर रहा है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण को देवकी-सुत कहा गया है। **'द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च'** (गर्गसंहिता) नन्द-पत्नी के देवकी एवं यशोदा दो नाम थे अतः श्रीकृष्ण देवकी-सुत भी कहलाए। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे कृष्ण ! आप व्रजेन्द्र-गेहिनी, नन्दरानी गोपिका के पुत्र नहीं हैं; आप तो देवकी के पुत्र हैं। नन्दरानी गोपिका यशोदा तो स्वभावतः कल्याणमयी, करुणामयी, परदुःखकातरहृदया हैं; यदि आप उनके पुत्र होते तो निश्चय ही हमारे दुःख से द्रवित हो जाते; हम व्रज-वनिताओं की व्यथा को जानते हुए भी आप अन्तर्धान ही हो रहे हैं; आपकी इस कठोरता को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि आप क्षत्राणी देवकी के पुत्र हैं अतः स्वभावतः ही कठोर हैं। **'सात्वतां यादवानां कुले न तु गोपालानां कुले उदेयिवान्'** आपका आविर्भाव सरल-हृदय, स्नेहमय गोप-कुल में नहीं अपितु सात्वत-यादवों के कुल में ही हुआ है। गोप-बालक तो सदा ही कहा करते थे **'गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ?'** नन्द बाबा भी गोरे हैं, यशोदा भी गोरी हैं परन्तु हे कृष्ण ! तुम तो काले हो; निश्चय ही तुम नन्द बाबा और यशोदा के पुत्र नहीं हो; ये लोग तुम्हें कहीं से माँग-जाँचकर उधार ले आए हैं अथवा खरीदकर ले आए हैं। सहचरों की ऐसी व्यंग्योक्ति से खीझकर बाल-कृष्ण अपनी अम्मा के आँचल से उलझ जाते 'माँ ! अम्मा ! बता दे, क्या मैं तेरा बालक नहीं हूँ ?' वात्सल्यमयी, करुणामयी, कल्याणी अम्बा यशोदा बालक को अंक में भरकर कहती 'वत्स ! भगवान् विष्णु की आराधना के फलस्वरूप हमने तुझे प्राप्त किया है। भगवान् विष्णु

'अलसीपुष्पसंकाशं पीत-वासमच्युतं।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न ते यान्ति पराभवम् ॥'

(महाभारत, शान्ति० ४७।९०; गरुड० १।४।५)

'श्रीमन्नारायण-विष्णु पीत वस्त्र धारण करनेवाले तथा अलसी पुष्प की तरह नील हैं। यही कारण है कि तेरा रंग श्याम है। तो तू मुझे सर्वाधिक प्यारा है।' बालकृष्ण प्रसन्नता से झूम उठते। बाल-सूर्य-रश्मि-संश्लिष्ट प्रफुल्लित अलसी पुष्प की मनोहर-भव्य-श्यामलता अत्यन्त विचित्र होती है; वह वर्णनातीत सौन्दर्य अवश्य ही अनुभाव्य है।

'यादवानां कुले उदेयिवान् न गोपाङ्गनाकुले' आप गोप-कुल में नहीं अपितु यादवों के कुल में उत्पन्न हैं एतावता आप निष्करुण हैं; आपकी इस निष्करुणता के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि **'विश्वगुप्तये भवान् न उदेयिवान्'**

आपका आविर्भाव विश्व-रक्षा-हेतु नहीं हुआ है किन्तु **'अविश्वगुप्तये विश्वस्य गुप्तिर्विश्वगुप्तिः, न विश्वगुप्तिः अविश्वगुप्तिस्तस्यै'** विश्व-संहार-हेतु ही हुआ है। यही कारण है कि आपके विप्रयोगजन्य तीव्र-ताप से दग्ध हो हम आपकी अनुरागिणी-जन मरणोन्मुखी हो रही हैं फिर भी आप प्रत्यक्ष नहीं हो रहे हैं, दर्शन नहीं दे रहे हैं। आपके इस निष्ठुर व्यवहार से संसारभर में जितने भी आपके भक्त हैं वे सब भी दशमी-दशा (मृत्यु) को प्राप्त होंगे और सम्पूर्ण विश्व ही निस्सार हो जायगा, ध्वंस हो जायगा।

हे सखे! आप गोपिका, यशोदारानी के पुत्र दामोदर भी नहीं हो सकते। दामोदर अर्थात् दाम, रज्जु है जिसके उदर में। जिसका अत्यन्त बलशाली हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु जैसे भयंकर दानव भी नहीं बाँध सके, जो स्वयं ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अखिलेश्वर प्रभु हैं वही यशोदारानी के स्नेह-वशीभूत हो उनके उलूखल में बँध गया।

> **'बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि;**
> **प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।**
> **दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः**
> **निष्क्रियो भवति पङ्कज-कोशे ॥'**

(चाणक्यनीतिदर्पण १५।१५)

अर्थात्, यद्यपि संसार में अनेक प्रकार के बंधन हैं परन्तु प्रेम-रज्जु-कृत बन्धन तो सर्वथा ही विलक्षण है। कठोरातिकठोर काष्ठ को भेद देने में निपुण षडंघ्रि (भ्रमर) भी कमल की कोमलातिकोमल पँखुड़ियों में विवश होकर रह जाता है और उसके साथ ही पिस भी जाता है।

> **'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्**
> **भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।**
> **इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,**
> **हा मूलतः कमलिनीं गज उज्जहार ॥'**

(सु० र० वे० ६।४४।४२)

अर्थात्, भ्रमर कमल-पुष्प-मकरन्द-पान में लीन था तभी सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो गये; कमल मुकुलित हुआ; भ्रमर भी उस मुकुलित कमल में ही बँधा रह गया; नेहभरा भ्रमर अपने प्रेमास्पद कमल की पँखुड़ियों को काटने में विवश हो विचार कर रहा है कि पुनः रात्रि व्यतीत होगी, पुनः सुप्रभात होगा; सूर्योदय होने पर मुकुलित कमल पुनः प्रस्फुटित होगा; कमल के पुनः

प्रस्फुटित होते ही मैं मुक्त हो जाऊँगा। परन्तु हा, हन्त ! रात्रि व्यतीत होने से पूर्व ही कोई महामत्त गजेन्द्र उस सरोवर में अवगाहन करता हुआ उन कमलिनियों को समूल उखाड़ता-रौंदता आ घुसा। प्रेमी भ्रमर भी उन कमल-दलों के साथ ही हाथी के पैरों के नीचे पिस गया। तात्पर्य कि प्रेम-रज्जु-कृत बन्धन ही सर्वातिशायी सशक्त-बन्धन होता है। इस प्रेम-बन्धन के कारण ही अपरिमेय भी परिमित हो जाता है, अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म भी प्राकृत-शिशुवत् यशोदारानी के उलूखल से बँधे आँसू टपकाने लगते हैं।

अथवा '**विश्वेषां गुप्तिः, विश्वस्य परमा गुप्तिः विलयः।**' ब्रह्मा द्वारा प्रार्थित होकर आप विश्व-संहार के लिए ही आविर्भूत हुए हैं। तात्पर्य कि जिसको विश्व-शान्ति वांछित न हो ऐसे ही व्यक्ति ने श्रीकृष्ण-स्वरूप में विश्व-संहार-हेतु जन्म लिया है तथापि ईश्वर भी नियति का उल्लघन करने में समर्थ नहीं अतः संपूर्ण जीवों के फलोन्मुख-कर्मों के भोग-सम्पन्न होने पर ही प्रलय सम्भव है एतावता सम्पूर्ण विश्व-संहार में असफल होकर आप अन्तर्धान हो हम गोपाङ्गनाओं के ही संहार में प्रस्तुत हो रहे हैं—

'भ्रमति भवानबलाकवलाय वनेषु किमत्र विचित्रम्।
प्रथयति पूतनिकैव वधूवधनिर्दयबालचरित्रम्॥'

(गीतगोविन्द, १७।७)

अबलाओं के भक्षण-हेतु ही तो आप वन में भटकते रहते हैं। पूतना-वध जैसा आपका निर्दय बाल-चरित्र ही इस बात को व्यक्त कर रहा है।

'सात्वतां कुले—गोपानां कुले—भक्तानां कुलेऽभूत्, अतः न तेषामेवऽनुरूपो भवितव्यः। हे सखे ! वेदानुसार भी आप सर्वसखा, सर्वहितकारी, सर्वसुहृद् एवं जीवमात्र के परम-अंतरंग हैं अतः आप द्वारा हमारा संरक्षण ही अभिप्रेत है। सगुण साकार सच्चिदानन्द ईश्वरस्वरूप से आह्लादक भाव ही विशेषतः अभिव्यंजित होता है क्योंकि समान में ही सख्य सम्भव है। यदा-कदा भगवान् के विचित्र रूपों में भी पूर्ण भावोद्रेक हो जाता है।

शंकराचार्य के शिष्य, नृसिंह-भक्त, पद्मपादाचार्य की कथा ऐसे ही विरल-भाव की द्योतक है। विकासवाद क्रमानुसार भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि विभिन्न रूपों में आविर्भूत हुए। कथा है कि भगवान् के नृसिंह-रूप में आविर्भूत होने पर भगवती लक्ष्मी भी भयभीत हो गई। अदृश्य, अचिन्त्य, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यक्त, अगोचर, अव्यपदेश्य, निर्विकार, मन-वचनातीत में प्रेम सम्भव नहीं। '**पररीत्यैव परो बोधनीयः**' अर्थात् जो प्रतीति से ही बोधगम्य

है। साधक की बुद्धि में भगवान् का अभिव्यञ्जन जिस रूप में होता है उसी रूप में आपका प्राकट्य होता है। सजातीय में ही पूर्ण प्रेमोद्रेक सम्भव है। अस्तु, संकोच के सम्पूर्ण हेतुओं का अपनोदन करने के लिए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक आप गोकुल में हमारे सजातीय बनकर प्रकट हुए; सम्पूर्ण शास्त्रीय मर्यादाओं से विनिर्मुक्त हो गोपाली-प्रियरूप में ही आपका आविर्भाव हुआ। सख्य-भाव की अभिव्यञ्जना में ही प्रेम-वैभव पूर्णतः प्रस्फुटित होता है। आपकी यह अन्तर्धान-लीला सम्पूर्ण रस का व्यापादन करनेवाली है। अतः हे सखे ! हे व्रजेन्द्रनन्दन ! आप प्रकट हो जायँ।

'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' आप गोपिका-नन्दन नहीं हैं। **'गोपायति परं ब्रह्मेति गोपिका, माया'** जो ब्रह्म को परावृत कर ले वह गोपिका ही माया है।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

(गीता ७।२५)

इत्यादि वचनानुसार परब्रह्म का आवरण माया द्वारा होता है।

'तस्याः गोपिकायाः नन्दनो न कदाचित् भवति' आप उस माया गोपिका के कार्य कदापि नहीं हैं। **'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'** सम्पूर्ण जीवमात्र कार्योपाधिक हैं केवल ईश्वर ही कारणोपाधिक है। तात्पर्य कि चैतन्य ही माया के कार्य अन्तःकरणादि से उपहित होकर जीवपदवाच्य होता है। अस्तु, हे सखे ! आप गोपिकानन्दन, माया के कार्य नहीं हैं किन्तु मायातीत, कार्यकारणातीत सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी अन्तरात्मदृक् हैं।

भाव-विभोर व्रजाङ्गनाओं में पुनः श्रीकृष्णकृत प्रश्न का स्फुरण होता है; वे अनुभव करती हैं मानो श्रीकृष्ण उनसे कह रहे हैं कि 'हे गोपालियो ! मुझे मायातीत, कार्यकारणातीत जानते हुए भी मेरे प्रति स्त्री-घातकी, निष्करुण, निर्दयी आदि रूक्ष वचन क्यों कहती हो ?' वे उत्तर देती हैं, हे सखे ! आपके हृदय में अपने प्रति करुणा उद्बुद्ध करने के लिए हम ऐसे कठोर वचन कह रही हैं। **'हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा'** आपसे विप्रयुक्ता, विरह-व्याकुला हम आपकी अनुरागिणी जनों की दर्पाभास-जनित कोपोक्तियों पर ध्यान न देकर आप हमारी अन्तर्वेदना को समझें। ईश्वर की विशेषता यही है कि वह बाह्य-व्यापार-निरपेक्ष-आत्मदृक् है।

'रहती न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सत बार हिए की।'

(मानस, बा० कां० २८।५)

जिसने एक बार वस्तुतः भगवद्-चरणारविन्दों की शरणागति स्वीकार कर ली उसके अनेकानेक बहिरंग अपराधों को भी भगवान् सर्वथा भुला देते हैं।

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।'

(गीता ५।२९)

अर्थात्, ईश्वर ही सर्वभूतों का एकमात्र स्वाभाविक सुहृद् है। संसार के सम्पूर्ण सौहार्द कृत्रिम हैं। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे ! आप सर्व-सुहृद् हैं, सर्वसाक्षी हैं, अतः हमारी विरहार्तिजन्य कोपोक्तियों पर ध्यान न दें वरन् हमारे प्रेमोद्रेक का अनुभव कर शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जायँ।

हे सखे ! आप आत्मदृक् हैं, साथ ही, गोपिका, यशोदारानी के भी सूनु हैं अतः हम गोपाङ्गनाओं का आपसे विशेष सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण भी आपको हमारे सहायतार्थ दौड़ पड़ना चाहिए। अपने लोगों की सुरक्षा स्वजनों पर ही आधारित होती है।

'न खलु गोपिकानन्दनः' मानिनी नायिका की उक्ति है। शृंगार-सिद्धान्तानुसार दो प्रकार की नायिकाएँ मान्य हैं; एक दाक्षिण्यवती नायिका जो सर्वथा प्रिय के अनुकूल आचरण करती हैं, दूसरी वाम्यवती जो परम-अनुरक्ता होते हुए भी सदा ही प्रिय के विपरीत आचरण करती हैं। वाम्यवती नायिका का प्रणय विशेषतः सरस होता है अतः शृंगारशास्त्रानुसार वाम्या का ही अधिकाधिक मान होता है। रासेश्वरी, नित्य-निकुंजेश्वरी, राधारानी परम-वामा हैं। रासलीला के अन्तर्गत गोपाङ्गनाओं को अत्यन्त दर्प हुआ फलतः उनमें प्रतिकूल आचरण उत्थित होने लगे; दक्षिणा ने वामा का एवं वामा ने दक्षिणा का धर्म अपनाया; अपने अलौकिक सौभाग्यातिरेक के कारण परम-वामा राधारानी भी कह उठीं **'नय मां यत्र ते मनः।'** अर्थात् 'जहाँ आपका मन हो वहीं मुझे ले चलो' अतः भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए।

कहा जाता है कि 'श्रीमद्भागवत' में राधारानी का उल्लेख नहीं है; वस्तुतः यह कथन निराधार है। 'भागवत' में राधारानी का उल्लेख परोक्षतः ही हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण किसी एक सखी के साथ अन्तर्धान हुए।

'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।२८)

गोपाङ्गनाएँ परस्पर कह रही हैं—

'धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।३०।२९)

अर्थात्, हे सखी ! जिस एक सखी को लेकर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हुए हैं वही

परम सौभाग्यशालिनी है। उस सखीविशेष की तुलना में हमारा सौभाग्य नीरस है। श्लोक में प्रयुक्त **'एका'** एवं **'काचित्'** विशेषण राधावाचक है। **'एका'** शब्द प्रधानार्थ में प्रयुक्त होता है; राधारानी ही सर्वाधिक प्रधाना है।

'कं प्रेमात्मकं सुखं क्षणे-क्षणे आचिनोतीति काचित्।'

अर्थात्, जो प्रेमात्मक सुख का प्रतिक्षण आचयन करे वही 'काचित्' है; वृषभानुकुमारी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राजराजेश्वरी राधारानी ही भक्त-हृदय में क्षण-प्रतिक्षण अनुराग एवं आह्लाद-वर्धिका हैं अतः वे ही 'काचित्' हैं। 'आराधितः वशीकृतः हरिः अनया' वश में कर लिया है हरि को जिसने वह अलौकिक सौभाग्यशालिनी 'अनया', 'एका' आदि शब्दों से राधा ही अभिप्रेत है।

'राधामितः गतः राधितः शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्' जैसे कथन में भी राधा का उल्लेख स्पष्टतः हुआ है। कृष्णोपनिषद्, गोपालतापनीयोपनिषद्, गर्ग-संहिता, ब्रह्मवैवर्तपुराण, नारदपुराण आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर राधा का विशेष वर्णन प्राप्त है। वस्तुतः विभिन्न शास्त्रों के अर्थ का समन्वय करने पर ही शास्त्र का तात्पर्य सम्यक्तया प्रतिपादित होता है।

देवता लोग परोक्षप्रिय होते हैं। वेदों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन अस्सी हजार मन्त्रों में हुआ है; कर्म से उपासना सूक्ष्मतर है अतः उपासना का प्रतिपादन केवल सोलह हजार मन्त्रों में ही हुआ; कर्म और उपासना दोनों से ही सूक्ष्मतर है ज्ञान, ज्ञान का प्रतिपादन कुल चार हजार मन्त्रों में ही हुआ। राधातत्त्व सूक्ष्मतम है अतः इस तत्त्व का प्रतिपादन अल्प शब्दों में परोक्षतः ही किया गया है। उदाहरणतः--

'तं इदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते।'

(ऐतरेयारण्यक २।४।३)

अर्थात्, **'इदं सर्वं नामरूपक्रियात्मकं जगत् आत्मस्वरूपेण अदर्शमित्युक्तवान् इदन्द्रारास्यदम्।'** सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च को आत्मस्वरूप से जिसने देख लिया उसका नाम इदन्द्र है। सर्वान्तरात्मा हिरण्यगर्भ ने ही अपने-आपको सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च में रूप में देखा अतः हिरण्यगर्भ ही इदन्द्र हैं। इदन्द्र के एक 'द' को परोक्ष कर दिया अतः इदन्द्र ही इन्द्र कहलाये; लोकव्यवहारानुसार भी परोक्ष सम्बोधन ही मान्य होता है।

'जोग जुगति तप मन्त्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ॥'

(मानस, बाल कां० १६७।४)

योग-युक्ति, मन्त्र-तप आदि भी परोक्ष रहने पर ही प्रभावशील होते हैं।

वेदविज्ञ सम्पूर्ण वेदों का उच्च स्वर से पाठ करते हुए भी गायत्री-मन्त्र के प्रसंग में चुप हो जाते हैं, उपांशु-जप करने लगते हैं। **'मन्त्रि-गुप्तपरिभाषणे।'** वेद एवं स्तुति आदि का स्फुट स्वर से ही पाठ प्रभावशील है, पर मन्त्र का उपांशु-जप ही महत्त्वपूर्ण है। **'राधा'** परमानन्द कृष्णचन्द्र का गुप्त मन्त्र है; शुकदेव भी **'राधा'** मन्त्र का ही जप करते हैं। सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अखण्ड-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर, परब्रह्म का गुप्त मन्त्र होने के कारण **'राधा-मन्त्र'** अत्यन्त गोपनीय है।

कथा-प्रसंगानुकूल गोपाङ्गना कह रही हैं—**'इति न जानीमः'** अर्थात् हे सखे! हम निर्णय नहीं कर पा रही हैं कि आप कौन हैं? हम प्रेयसी जनों के घनीभूत ताप से आप द्रवीभूत नहीं होते अतः आप गोपिकानन्दन भी नहीं हो सकते क्योंकि गोपिका यशोदा तो अन्य के किञ्चिन्मात्र दुःख से द्रवीभूत हो जानेवाली हैं। साथ ही वे दयामयी हमारी रक्षाहेतु सतत प्रयासशीला भी हैं। यदि आप गोपिकानन्दन होते तो अवश्य ही अपनी माता के दयामय स्वभाव का लेशमात्र प्रभाव आप पर भी पड़ा होता। आपके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से हम दग्ध हो रही हैं यह जानकर भी आप हमारे रक्षाहेतु प्रकट नहीं होते अतः ऐसा प्रतीत होता है कि **'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये'** विखनसा, ब्रह्मा द्वारा प्रार्थित होकर विश्वरक्षा हेतु भी आपका आविर्भाव नहीं हुआ है। **'सख उदेयिवान् सात्वतां कुले'** हे सखे, आपका आविर्भाव सात्वत्, भक्त-कुल में भी नहीं हुआ है। भक्त सत्त्वगुणी होता है; यदि आप भक्त-कुल में प्रादुर्भूत हुए होते तो निश्चय ही आप इतने कठोर, निर्दय एवं निष्करुण नहीं हो सकते; हिंसा, परद्रव्यहरण एवं परदारहरण आदि क्रूर गुण आपमें नहीं आ पाते। यदि आप सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सर्वान्तिर्यामी आत्मदृक् होते तो निमिषमात्र के लिए भी आपका वियोग क्योंकर सह्य हो सकता? अन्तरात्मा से निमिषपर्यन्त विप्रयोग भी प्राणिमात्र के लिये असह्य है। अतः हे सखे! अपने प्राकट्य द्वारा हमारा सर्वप्रकारेण संशोधन करें।

इस पद का निवृत्तिपक्षीय अर्थ भी है। श्रुति-कथन है कि भगवान् विरुद्ध-धर्माश्रय हैं; वे अनन्त-कल्याण गुणगण के आकर सगुण भी हैं तो निर्गुण भी हैं; अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-उत्पादक, पालक एवं संहारक भी हैं, निष्क्रिय भी हैं। भगवत्-स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रुतियाँ भी चकित हो जाती हैं। **'यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'** (शिवमहिम्न) सर्वसाधारण को श्रुत्यर्थ में व्यामोह होता है। यही श्रुतियों द्वारा परब्रह्मार्थ का गोपन है। तात्पर्य कि श्रुतियाँ पर-ब्रह्मार्थ का निर्देश परोक्षतः ही करती हैं; **'नेति-नेति'** आदि वचनों के द्वारा अतद्-व्यावृत्ति से अतद् वस्तु का आरोपण करती हैं। ब्रह्माश्रित वस्तु ही अतद्

है। अतद् का अपनोदन, उसकी व्यावृत्ति (निषेध) अपूर्व, अबाह्य आदि शब्दों से की जाती है। परब्रह्म अपूर्व और अबाह्य है। तात्पर्य कि अकारण एवं अकार्य है। **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'** (श्वेताश्वतरो० ६।८) कार्य-कारण-रहित परब्रह्म को प्रावरित करनेवाली श्रुति ही गोपाङ्गना है। इस **'गोपिकानाम् श्रुती-नाम् नन्दनो भवान् न इति न खलु शब्दो निषेधार्थकः।'** वेद-वाक्य गोपद-वाच्य श्रुति को आप आनन्दित न करते हों ऐसा भी नहीं है; तात्पर्य कि आप द्वारा ही वेदों का प्रामाण्य भी सिद्ध होता है। अतः आप आत्मदृक् होते हुए भी गोपिकानन्दन नहीं हैं ऐसा भी नहीं है।

अनेक आचार्यों ने इस पद के अपने-अपने मतानुसार अनेक अर्थ लगाए हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती के भावानुसार गोपिकाएँ कह रही हैं **'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनाम्'** हे सखे! आप आत्मदृक् हैं, शुद्ध आत्मा ही अन्तरात्मा हैं, अन्य सम्पूर्ण बहिरात्मा हैं।

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥'
(कठोपनिषद् १।३।१०-११)

अर्थात्, इन्द्रियाँ अर्थ की अपेक्षा करती हैं; इन्द्रियों से पर मन, मन से पर बुद्धि और बुद्धि से भी पर महान् आत्मा, महत् तत्त्व है; महत् तत्त्व से पर अव्यक्त एवं अव्यक्त से पर विशुद्ध आत्मा, परब्रह्म सर्वान्तरात्मा है।

'अन्तरात्मदृक् अन्तरात्मा च दृक् च दृक् दृगेव।
रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् च मानसम्।
दृश्याधीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥'

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक प्रपञ्च ही दृश्य है; इस सम्पूर्ण दृश्य के द्रष्टा श्रोत्र, चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं; सम्पूर्ण इन्द्रियों का द्रष्टा मन तथा मन एवं मनोवृत्तियों का द्रष्टा ही अखण्ड साक्षी, सर्वद्रष्टा, शुद्ध अन्तरात्मा **'दृक्'** है। अस्तु, विश्व-प्रपंच, इन्द्रियाँ तथा मन क्रमशः दृश्य एवं द्रष्टा दोनों ही हैं परन्तु शुद्ध आत्मा ही अखण्ड द्रष्टा है। एतावता गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे सखे! आप ही अखिल प्राणियों के अन्तरात्मदृक् हैं। **'विखनसा विश्वगुप्तये'** अर्थात: ब्रह्मा की प्रार्थना से विश्वपालन हेतु ही आपका आविर्भाव हुआ है अतः हे सखे! कुपित न होकर हम पर दया करो, शीघ्र दर्शन दो। आप द्वारा प्रेरित होकर आपके सख्यामृत-सिन्धु में अवगाहन कर हम सुध-बुध खो चुकी हैं अतः आपके ऐश्वर्य को भूल जाती हैं।' भगवान् के विराट् स्वरूप-दर्शन से भयभीत हो भक्त अर्जुन

भी प्रार्थना करने लगता है कि हे विभो ! आपमें सख्य-भाव के कारण ही मैंने प्रमादवश आपके प्रति हे सखे ! हे यादव ! आदि सम्बोधनों का प्रयोग किया।

'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥'

(गीता ११।४१)

तात्पर्य कि सरल-भाव के उद्‌बुद्ध होने पर स्वभावतः ऐश्वर्य का तिरोधान हो जाता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती के ही अनुसार एक अन्य भाव यह भी है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं 'हे सखे ! अन्य के किञ्चित् दुःख से द्रवीभूत हो जाने-वाली, व्रजेन्द्रगेहिनी, नन्दरानी, गोपिका यशोदा के पुत्र आप नहीं हैं। यदि आप गोपिका-नन्दन होते तो अवश्य ही हमारे इस घनीभूत सन्ताप से द्रवीभूत हो जाते। आप आत्मदृक् हैं क्योंकि सर्वद्रष्टा अन्तरात्मा ही सर्वसाक्षी रूप से जीवमात्र के संग सर्वदा सर्वत्र रहते हुए भी सर्वथा परोक्ष एवं असंग ही रहता है। **'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, विशेषेण खनति, अवदारयति'** रचयिता ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि की वृद्धि-हेतु आपसे अपने स्वरूप को परोक्ष रखते हुए **'विश्वस्य जगतो गुप्तये प्रावरणाय'** आविर्भूत होने की प्रार्थना की थी; यही कारण है कि यहाँ व्रजधाम में आपकी सर्वेश्वरता, सर्वज्ञता, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता सर्वथा अज्ञात रहती है। हे आत्मदृक् ! आपके साक्षात्कार से प्राणिमात्र मुक्त हो जाते अतः ब्रह्मा की मनोरथ-पूर्ति हेतु आपने स्वयं को अज्ञात रखने के लिये लोक-विरुद्ध अनेक लीलाएँ कीं। अथवा **'विश्वं स्तिमितं जगत्। तस्य गुप्तये प्रावरणाय भवान् उदेयिवान्'** अर्थात् कतिपय लोगों के आवरण के लिए आविर्भूत होने की प्रार्थना की। इसीलिए जरासन्ध आदि अत्यन्त आस्तिक जन भी आपके इस विरुद्ध-धर्माचरण से भ्रमित हो गये। व्यामोहजन्य इस बन्धन के कारण ही उनकी गणना असुर-कोटि में हुई। हे सखे ! सृष्टि-वृद्धि हेतु ही आपका आवि-र्भाव हुआ है अतः आप प्रकट होकर हमारी रक्षा करें।'

वल्लभाचार्य के भावानुसार, श्रीकृष्ण-वियोगजन्य तीव्रताप से संतप्त गोपि-काएँ **'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।'** जैसी व्यंग्योक्ति द्वारा श्रीकृष्ण से अपना पार्थक्य सिद्ध करते हुए कह रही हैं, 'हे सखे ! स्वजन के प्रति ही उपालम्भ संभव होता है। जो अपना नहीं है, जिससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उसको उपालम्भ नहीं दिया जा सकता।' यदि आप व्रजेन्द्रगेहिनी, नन्दरानी गोपिका यशोदा के पुत्र होते तो आपसे हमारा भी कुछ सम्बन्ध होता क्योंकि वे हमारी सास तुल्य हैं, हम सब उनकी पुत्र-वधूवत् हैं।

'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, विशेषेण खनति, वेदार्थम् विशेषेण विचार-यति इति विखना' अर्थात् वेदान्त का विशेष विचारक ब्रह्मा **'विखनसा प्रोक्ता**

धर्माः वैखानसाः' विखना प्रवर्तित धर्म ही वैखानस धर्म है, वैखानस मतानुसार वेंकटेशाद्रि में वेंकटेश की पूजा विशेषतः प्रतिपादित है। ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्चित होने पर विश्वकल्याण-हेतु ही आपका आविर्भाव हुआ अतः विश्ववर्तनी, विश्व में रहनेवाली, विश्व की अंशभूता हम गोपाङ्गनाजनों का संरक्षण भी आपका परम कर्तव्य है। हे सखे ! आप हमारी रक्षा-हेतु प्रकट हों। परन्तु **'सात्वतां कुले, यादवानां कुले भवान् उदेयिवान् अवतीर्णः'** आप सात्वत् यादव-कुल में उत्पन्न हुए हैं। यह यादवकुल हो सच्छिद्र है, कंसादि-क्रूरजन-बहुल तथा भगवद्भक्ति-शून्य **'शून्यप्राय'** है। यादव-कुल धर्मशील **'यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम'** ही है तथापि भाव-विभोर गोपाङ्गनाएँ व्यंग्योक्ति द्वारा कृष्ण को खिझाकर भी दर्शन देने के लिए प्रोत्साहित कर रही हैं।

'यादवानाम् कुले विखनसार्थितो' का एक और भी अर्थ है। **'विखनसा'** का लक्षणया अर्थ है **'पितामहेन' 'प्लवग-सैन्यमुलूक जिता जितम्।' 'प्लवग-सैन्यं, वानर-सैन्यं, उलूकजिता, इन्द्रजिता मेघनादेन जितं'** उलूक का अर्थ है कौशिक, वेद-स्तुतियों में **'कौशिक'** संज्ञा **'इन्द्र'** के लिये प्रयुक्त हुई है। **'विश्वगुप्तये'** अर्थात् विश्वरूप गोपकुल में; तात्पर्य कि सर्वपितामह ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विश्वरूप गोकुल के संरक्षण-हेतु आपके प्राकट्य की प्रार्थना की थी। अथवा यदुकुल के पूर्व-पुरुष आपके पितामह ने अपने सम्पूर्ण वंश की रक्षा की आकांक्षा से आपके आविर्भाव-हेतु कठोर तप किया था। साधारणतः भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व समानाधिकरण्य ही होता है तथापि कहीं-कहीं इनमें भी पार्थक्य संभव हो जाता है।

'और करे अपराध कोई, और पाव फल-भोग।
अति विचित्र भगवन्तगति, को जग जानहि जोग।'

कहते हैं **'बाढ़े पूत पिता के धर्मा'** पिता द्वारा किये गये अनुष्ठानों का फलभागी पुत्र होता है। उदाहरणतः वैश्वानरीय इष्टि का कर्ता होता है पिता और भोक्ता होता है पुत्र; पिताकृत धर्माचरण से पुत्र की उन्नति होती है। इसी तरह पुत्र के द्वारा किये गये श्राद्धादि के फलभागी पितृगण होते हैं। ऐसी जगह में वचनविशेषबलात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व का वैयधिकरण्य मान्य है। यद्यपि सूक्ष्मतः विचार करने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कर्ता एवं भोक्ता का परम्परागत सम्बन्ध अविच्छिन्न ही है। अस्तु, अपने सम्पूर्ण कुल-संवर्द्धन एवं सुख-हेतु आपके पितामह द्वारा किये गये अनेकानेक शुभ-कर्मों के कारण ही आपका आविर्भाव हुआ है अतः हे सखे ! आप प्रत्यक्ष होकर हमारी रक्षा करें।

'सात्वतां गोपानां भगवद्-भक्तानां कुले'; 'सात्वत्' शब्द भक्तवाचक है।

'सत् अत्यन्ताबाध्यं स्वप्रकाशं परंब्रह्म अस्य उपास्यं इति सत्वत्' सत्, स्वप्रकाश, परब्रह्म ही जिनके उपास्य, ध्येय, ज्ञेय एवं परमाराध्य हैं ऐसे भगवद्-भक्त जन ही सात्वत् हैं तथापि **'सात्वत्'** शब्द विशेषतः यादव-कुल के लिये ही रूढ़ हो गया है। जिस कुल में स्वप्रकाश, परब्रह्म आविर्भूत हुए वह कुल ही सात्वत् है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे सखे ! आपका तो आविर्भाव ही भगवत्-भक्त यादव-कुल में हुआ है।

भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम हैं। जैसे, **'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'** सहस्रगुण अधिकाधिक उत्सर्ग करने के लिये ही सूर्य-नारायण अपनी तीक्ष्ण रश्मियों से धरित्री से रस-ग्रहण करते हैं किंवा जैसे सहस्रगुणाधिक रूप से पुनः प्राप्त करने के हेतु धरित्री में अन्न, बीज डाला जाता है अथवा जैसे यज्ञ-प्रसंग से विविध प्रकार के विधानों के साथ अग्निमुखेन अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर, भगवान् के लिये घृत-यवादि अर्पित किये जाते हैं वैसे ही आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम, अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय भगवान् भी सहस्र-गुणाधिक उत्सर्ग हेतु ही भक्तों द्वारा समर्पित सपर्या को स्वीकार कर लेते हैं; **'करुणो वृणीते'** (श्रीमद्भा० ७।९।११) भगवान् करुणामय हैं अतः भक्त द्वारा समर्पित **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं'** को भी ग्रहण कर लेते हैं।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥'

(गीता ९।२६)

अनाप्तकाम, अपूर्ण तो स्वार्थवशात् हाथ फैला सकता है, ग्राहक हो सकता है, परन्तु आप्तकाम पूर्णकाम परम-निष्काम आत्माराम भगवान् अपनी दयालुता-वश ही हाथ फैलाते हैं।

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'

(गीता ९।२७)

अर्थात्, हे कौन्तेय ! तुम जो भी यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि करते हो सब मुझे अर्पण कर दो। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'** भक्ति-रस परिप्लुत कर भक्त जो पत्र, पुष्प, फल एवं तोय अर्पण करता है उसको मैं **'अश्नामि प्रयतात्मनः'** खाता हूँ। भक्ति-रस-परिप्लुत फल को भगवान् अत्यन्त प्रेम से खाते हैं। जैसे जो वस्तु बिंब को अर्पित की जाती है वही वस्तु प्रतिबिम्ब को भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है वैसे ही भक्त **'यत् यत् जनो भगवते विदधीत मानम्'** (श्रीमद्भा० ७।९।११) जो भी वस्तु भगवान् को अर्पण

करता है वही कालान्तर में जीव को प्राप्त होती है। वेदान्तसिद्धान्तानुसार अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर भगवान् बिंब हैं, जीवात्मा प्रतिबिम्ब है। **'जिमि घट कोटि एक रवि छाई।'** जैसे कोटि-कोटि घटोदकों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही एक बिम्ब-स्वरूप भगवान् का प्रतिबिम्ब कोटि-कोटि जीवात्मारूप घटोदकों में पड़ता है। अस्तु, बिम्बस्वरूप भगवान् को जो कुछ भी अर्पित किया जाता है वही प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मा को सहस्रगुणाधिक होकर प्राप्त हो जाता है। प्रकृति जड़ है अतः स्वतन्त्ररूपेण कार्य-कलाप में असमर्थ है; जीवात्मा अल्पज्ञ है अतः वह भी असमर्थ है एतावता सर्वेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् स्वयं निष्प्रयोजन होते हुए भी अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों के अनन्तानन्त कर्मों के फलदाता हैं। **'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** (गीता ५।२९) सर्वभूतों के सुहृद् एकमात्र भगवान् स्वभावतः ही सर्व-रक्षण में सर्वदा तत्पर हैं। जैसे तरंग की स्थिति, गति, प्रवृत्ति उपादानभूत जल-पराधीन है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्व की स्थिति, गति, प्रवृत्ति सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर परमात्मा के ही अधीन है; भगवान् सर्व-संत्राता, सर्वाधार, सर्वकारण, सर्व-पिता, सर्व-हितैषी, सर्व-सुहृद् हैं अतः स्वभावतः सर्वरक्षण में सदा-सर्वदा तत्पर हैं। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे सखे! आप सर्वाधिष्ठान, सर्वकारण, सर्वत्राता, सर्वसुहृद् हैं तथापि **'विश्वगुप्तये विखनसार्थितो।'** भक्तप्रवर ब्रह्मा द्वारा विश्वगुप्ति, विश्व-रक्षण-हेतु विशेषतः प्रार्थित होकर सच्चिदानन्दघन, सगुण, साकार स्वरूप में आविर्भूत हुए हैं। अतः हमारे गुण-दोषों का विचार न करते हुए हमारा संत्राण करें; हमारे संत्राण-हेतु आप विशेषत दीक्षित हैं।'

'सखे! उदेयिवान् सात्वतां कुले' हे सखे! आपका उदय सात्वत्-कुल में हुआ है। **'न तु जातः उत्पन्नः'** आप उत्पन्न नहीं हुए। ईश्वर उत्पन्न नहीं होता। **'जायते अस्ति वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति'** भगवान् षड्विध भाव-विकार-विवर्जित हैं, अज हैं। जैसे सूर्यनारायण उदय होते हैं वैसे ही ईश्वर का भी प्राकट्य ही होता है। गोस्वामीजी कहते हैं **'बन्दउँ कौशल्या दिसि प्राची, कीरति जासु सकल जग माँची'** कौशल्यारूपी प्राची दिशा से भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र का प्राकट्य हुआ;

'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीत् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥'
(श्रीमद्भा० १०।३।८)

जैसे प्राची दिशा में पुष्कल, पूर्णचन्द्र का उदय होता है वैसे ही देवकीरूप प्राची दिशा में श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूप पूर्ण चन्द्र का उदय हुआ। बंगाली कहते हैं—जन्माष्टमी के दिन देवकीरूप प्राची दिशा से श्याम पूर्णचन्द्र का उदय हुआ।

इस पाद का निषेधात्मक अर्थ भी है। **'भवान् गोपिकानां नः श्वश्वा नन्दनः न इति न खलु'** हे सखे ! ऐसा भी नहीं कि आप हमारी श्वश्रू-गोपाङ्गना के पुत्र नहीं हैं; तात्पर्य कि हमारे श्वश्रू-पुत्र, हमारे पतिदेव ही हैं। जिस समय ब्रह्मा ने ग्वाल-बालों का अपहरण किया था उस समय आप ही सम्पूर्ण ग्वाल-बालों के रूप में प्रकट हुए। **'यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुः** (श्रीमद्भा० १०।१३।१९), **'सर्वं विष्णुमयं जगत्'** जैसे वेद-वाक्य को साकाररूप में प्रत्यक्ष करने हेतु ही आप जड़-चेतनात्मक सर्वस्वरूप में प्रकट हो गए। ग्वाल-बाल मंडली ब्रह्मा की माया से मोहित होकर मायामयी कन्दरा में वर्षपर्यन्त विलीन रही; हे सखे ! तब आप ही वर्षपर्यन्त तत्-तत् ग्वाल-बाल के रूप में उनके घर में रहे। उस वर्ष में ही तत्-तत् गोपकुमारों से हमारा पाणिग्रहण हुआ, अतः सम्पूर्ण व्रजवधुएँ आपकी परिणीता ही हैं; एतावता, हमारी उपेक्षा कर आपका अन्तर्धान हो जाना सर्वथा असंगत ही है। हम आपकी परिणीताएँ आपके विप्रयोगजन्य तीव्र संताप से दग्ध हो रही हैं अतः हमारा संत्राण ही आपके लिए उचित है। जो जगत्राता है वह भी अपनी परिणीताओं का संत्राण न करे तो दीपक तले अँधेरा जैसी कहावत ही चरितार्थ होगी।

अनभिज्ञा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे व्रजेन्द्रनन्दन ! कालिय-मर्दन, बकासुर-वध, पूतना-संहार, तृणावर्त्त-हनन, शकट-भंजन आदि अनेक लोकोत्तर लीलाओं के कारण हम अनुमान करती हैं कि आप केवल गोपिकानन्दन नहीं अपितु अखिल देहियों के अन्तरात्मा, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी हैं। तब भी सर्वान्तरात्मा, सर्वान्तर्यामी होते हुए भी आप गोपिकानन्दन भी हैं।

गोपाङ्गनाओं में पुनः भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा किए गए प्रश्न का स्फुरण होता है। **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९।२९) हे गोपाङ्गनाओ ! ईश्वर सब भूतों में सम है। **'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'** (गीता ९।२९) न मेरा कोई प्रिय है न कोई अप्रिय है तब तुम्हीं लोगों से मेरा कौन विशेष नाता है ? क्यों हम तुम्हारी रक्षा के लिए विशेषतः दीक्षित हैं ? अपने उत्तर से इसका खण्डन करती हुई गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे सखे ! सर्वात्मदृक् होते हुए भी आप व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं।

'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये' अर्थात् **'विदुषा वेदार्थविचारकेण, पण्डितेन भवान् अर्थितः, मोक्षरूपेण भवानेव इष्यते; विशेषेण खनति वेदार्थान् विचारयतीति विखनास्तेन विखनसा।'** अर्थात्, वेदार्थ-विचारक विद्वान् पण्डित द्वारा आप ही प्रार्थित हैं। उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंग द्वारा वेद-वेदान्तों के तात्पर्य का परब्रह्म में निर्धारण करनेवाले विज्ञजन आपकी ही कामना करते हैं क्योंकि आप ही मोक्षस्वरूप हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठो० १।२।१५)

सब वेद जिसका व्याख्यान करते हैं। **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता १५।१५) सर्व वेदों में जो वेद्य हैं, आदि वेद-वाक्यों पर गम्भीर विचार करनेवाले विद्वद्वर **'भवानेव अर्थितः'** आपको ही अभ्यर्थना, प्रार्थना करते हैं क्योंकि आप ही मोक्षस्वरूप हैं। प्रमेय सदा ही अज्ञात रहता है, फल सदा ही ज्ञात होता है। निरावरण परब्रह्म ही मोक्ष है; सावरण ब्रह्म वेदान्त का विषय है; निरावरण परब्रह्म वेदान्त-विचार का फल है। अस्तु, **'विखनसा, विदुषा, वेदार्थत्वेन भवानेव अर्थितः अभ्यर्थितः। विश्वस्य कार्य-कारण-संघातस्य गुप्तये रक्षणाय सात्वतां कुले मनआदि समुदाये उदेयिवान् अभिव्यक्तः।'** कार्य-कारण संघात-विश्व-रक्षणहेतु आप मन आदि सात्त्विक अन्तःकरणरूप कुल में आविर्भूत हुए। **'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।'** (छा० उ० ६।३।२) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार परब्रह्म परमेश्वर जीव-स्वरूप से **'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता।'** (छा० उ० ६।३।२) तेज, अप् एवं अन्नरूप तीन देवताओं में संप्रविष्ट होकर नामरूप का व्याकरण करता है। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार भी भगवान् के सन्निविष्ट होने पर ही महाविराट् उत्थित हुआ। महाविराट् वागादि इन्द्रियों से तथा मन, बुद्धि, अहंकाररूप से तत् तत् देवताओं के सन्निविष्ट होने पर भी उत्थित न हुआ **'नोदतिष्ठत्तदा विराट्।'** (श्रीमद्भा० ३।२६।६३) तब उस महाविराट् में भगवान् प्रविष्ट हुए **'सलिलादुदतिष्ठत्'** (श्रीमद्भा० ३।२६।७०) तत्क्षण विराट् उत्थित हो गया। अस्तु, सम्पूर्ण कार्य-कारण-संघात-हेतु ही आपका आविर्भाव हुआ।

जैसे सूर्य की किरणें अग्निरूप में सूर्यकान्तमणि पर ही प्रकट होती हैं वैसे ही मन आदि सात्त्विक पदार्थ में ही आपका स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। परब्रह्म के प्रतिबिम्बित होने से मन, बुद्धि एवं अहंकार चेतित हुए फलतः सम्पूर्ण विराट् चेतित हो उठा। जैसे अनेक छिद्रवाले घर में दीपक प्रज्वलित कर दिया जाय तो प्रकाश सभी छिद्रों से निःसृत होता है वैसे ही दशछिद्रयुक्त शरीररूपी घर के सभी दशों छिद्रों से सच्चिदानन्द का प्रकाश ही निःसृत होता है। दशों इन्द्रियाँ ही दशछिद्र हैं। बुद्धिविशिष्ट चैतन्य तद्-तद् इन्द्रियों द्वारा तत्-तत् विषय को ग्रहण करता है। यही **'सात्वतां कुले'** मन आदिकों के कुल में भगवान् का अभ्युदय है। श्रुति-कथन है **'प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य सर्वाणि रूपाणि आप्नोति।'** (कौ० ब्रा० उ० ३।६) प्रज्ञा के द्वारा आत्मा चक्षु पर उपारूढ़ होकर सब रूपों को देखता है **'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति'** (कौ० ब्रा० उ० ३।६) इसी तरह तत्-तत् इन्द्रिय पर उपारूढ़ होकर आत्मा ही तत्-तत् विषयों का अभिवहन करता है। अस्तु, स्वप्रकाश आत्मा के प्रकाश से शब्द, स्पर्श, रूप,

रस एवं गन्ध पाँचों विषय-प्रकाशवान् होते हैं। प्रकाश ही परब्रह्म है; परब्रह्म से भिन्न प्रकाश की सत्ता ही नहीं तथापि ब्रह्म असंग है। सिद्धान्ततः बोध के साथ विषय का समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं। वस्तुतः विषय का विषयी के साथ आध्यासिक सम्बन्ध ही होता है। विषयीस्वरूप आत्मा ही प्रकाश है, विषय ही प्रकाश्य है; बोध विषयबोधस्वरूप विषयी में अध्यस्त है यही उनका आध्यासिक सम्बन्ध है। एतावता, विषय में अध्यस्त चैतन्य से ही विषयविशेष का प्रकाश होता है। जैसे सरोवर का जल कुल्याओं द्वारा खेत में जाकर खेत जैसा चौकोर हो जाता है ऐसे ही अन्तःकरणगत सात्त्विक द्रव्य इन्द्रियरूप कुल्याओं द्वारा तमोगुण के प्रतिबन्ध दूर हो जाने से घटादि विषयों पर जाकर घटाकाराकारित बन जाता है। नियम है कि यदि दो उपाधि एक हो जाय तो उपहित भी एक ही हो जाता है। जैसे घटोपाधि एवं मठोपाधि के एक हो जाने पर घटाकाश एवं मठाकाश भी एक हो जाते हैं वैसे ही अन्तःकरण एवं विषयविशेष के एक हो जाने पर उभयावच्छिन्न चैतन्य भी एक हो जाता है। विषयावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त घट, विषयावच्छिन्न चैतन्य-भिन्न, अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य में भी अध्यस्त मान्य है। अस्तु, अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य से घट का प्रकाश हो जाता है। वेदान्तानुसार अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य से ही अध्यस्त विषय का प्रकाशित होना मान्य है। अन्य विभिन्न प्रकार से भी विषय का प्रकाश मान्य है तथापि प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रज्ञा के द्वारा ही विषय के साथ आत्मा का सम्बन्ध बनता है। प्रकाशरूपत्वात् प्रकाश-व्यवहार होता है जैसे **'आदित्यः प्रकाशते'** सूर्य प्रकाशता है; स्वतः प्रकाशस्वरूप सूर्य प्रकाशक है परन्तु **'घटः प्रकाशते'** घट प्रकाशित होता है। यहाँ घट स्वतः प्रकाशस्वरूप नहीं है परन्तु सम्बन्ध-विशेष से प्रकाशित हो जाता है। जैसे स्वच्छ स्फटिक अथवा दर्पण पर ही प्रतिबिम्ब सम्भव होता है पत्थर अथवा काष्ठ पर प्रतिबिम्ब कदापि सम्भव नहीं होता वैसे ही अन्तःकरण से सम्बद्ध विषय पर ही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रकाशित हो जाता है, विषयीरूप चेतन्य का प्राकट्य हो जाता है। अस्तु, **'विश्वस्य गुप्तये विश्वस्य रक्षणाय, कार्य-कारणसंघातस्य रक्षणाय, सात्वतां कुले सात्वतां मनआदीनां कुले समुदाये भवान् उदेयिवान् आविर्भूतः।'** विश्वरक्षा-हेतु ही आपका सात्वतों के कुल में आविर्भाव हुआ है; अतः हे विभो! आप प्रत्यक्ष होकर हमारी रक्षा करें।

●

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥

अर्थात्, हे यदुवंशशिरोमणे ! जनन-मरण परम्परा अविच्छेदरूप संसृति-चक्र से भयभीत हो जो जन आपके चरणारविन्दों की शरण में आते हैं उनको आपके हस्तारविन्द अभय प्रदान करते हैं। हे कान्त ! सम्पूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति एवं वासनाओं का खण्डन तथा लक्ष्मी का पाणिग्रहण करनेवाले कर-सरोरुहों को आप हमारे सिर पर विन्यस्त करें।

'वरद निघ्नतो नेह किं वधः' 'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये' जैसी कठोर उक्तियों की तुलना में **'न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** जैसी उक्ति मधुर है। गोपाङ्गनाएँ अनुभव करती हैं कि उनके इस विनम्र भाव से प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण उनसे कह रहे हैं 'गोपाङ्गनाओ ! हम तुम पर प्रसन्न हैं। कहो, हम तुम्हारा कौन प्रिय कार्य करें ?' वे उत्तर देती हैं 'हे कान्त ! **'नः शिरसि श्रीकरग्रहं करसरोरुहं कामदं धेहि।'** आपने सर्वकामदायक हस्तारविन्द को हमारे सिर पर धारण करें। हम आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से संतप्त हैं। आपके कर-सरोरुह शीतल एवं परमाह्लादक हैं। प्राणी के सिर पर भगवद् हस्तारविन्द का विन्यास आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सम्पूर्ण पाप-ताप का समूल उन्मूलन करनेवाला है। अखिलेश्वर प्रभु के दिव्य हस्तारविन्द की आतपत्र-छाया से प्राणी के सम्पूर्ण दुःखों का अन्त होकर उसे अभय की प्राप्ति होती है।

आपके हस्तारविन्द 'कामद' हैं; **'कामं द्यति खण्डयति इति कामदं'** काम-वासना-जाल को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। वस्तुतः परात्पर, पूर्णतम, परब्रह्म भगवान् के मंगलमय हस्तारविन्द की आतपत्र-छाया ही सर्व प्रकार के काम-जाल का समूल उन्मूलन करनेवाली है।

'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥'

(मानस, उत्तर कां० ९०।१)

बिना संतोष के काम-वासना नष्ट नहीं होती, विभिन्न वासनाओं के रहते सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता; बिना राम-भजन के काम का नाश सम्भव

नहीं होता; जैसे बिना भूमि के बीज कदापि नहीं जमता वैसे ही बिना राम-भजन के वासना का उन्मूलन भी कदापि सम्भव नहीं। सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल ही काम है और काम का मूल है संकल्प।

'काम जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे।' (महाभारत, शांतिपर्व-महाख्यान १७७।२५) विभिन्न वस्तुओं के ऊहापोह से उनमें सम्बन्ध बना एवं तत्-तत् सम्बन्ध से तत्-तत् कामना बनी।

'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यत् यद्धि कुरुते किंचित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥'

(मनुस्मृति २.४)

प्राणिमात्र का यावत् कर्म काम का ही विलास है; काम से रहित कोई क्रिया ही सम्भव नहीं। भगवत्-तत्त्व-वेदन से ही काम-क्रिया-जाल का समुच्छेद सम्भव है।

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम् ॥'

(गीता ३।४३)

हे महाबाहो! प्रलम्बबाहु अर्जुन! **कामरूपी** दुरासद शत्रु को मारो।

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥'

(गीता ३।४२)

इन्द्रियों से पर मन, मन से पर बुद्धि और बुद्धि से भी पर परात्पर परब्रह्म हैं। बुद्धि का द्रष्टा, बुद्धि का साक्षी, निर्विकार आत्मा को जानकर हे प्रलम्ब-बाहो अर्जुन! उस दुरासद शत्रु को मारो। कुछ आचार्यगण श्री रामानुज, केशव काश्मीरी भट्ट आदि उपर्युक्त पद में प्रयुक्त **'सः'** शब्द को काम का पर्याय-वाची भी मानते हैं। तदनुसार वे कहते हैं कि जो काम बुद्धि से भी परे है उसको जानकर उसको मारो। **'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव'** (बृहदारण्यक उप० १।५।३) इस श्रुति के अनुसार काम, संकल्प, श्रद्धा, ह्री, श्री, धी, सब मन ही के विकार हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक भिन्न-भिन्न अभिलषित पदार्थों में इच्छा होना ही काम है। अत्यन्त परिश्रम से कमाये गये धन को भी सुखोपभोग की आकाङ्क्षा से जैसे प्राणी सहर्ष ही त्याग देता है वैसे ही उत्कृष्ट ब्रह्मसुखप्राप्त्यर्थ सम्पूर्ण वैषयिक सुख का भी त्याग वांछित है।

'त्वत्साक्षात्करणाह्लादशुद्धानन्दाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मणोपि जगद्गुरो ॥'

भक्त कहता है—हे प्रभो ! आपके साक्षात्कार से उद्भूत आनन्दरूप विशुद्ध महासमुद्र में स्थित हमें सम्पूर्ण वैषयिक सुख गोष्पदसदृश प्रतीत होते हैं। तात्पर्य कि ब्रह्म-साक्षात्कारजन्य आनन्दानुभूति कर लेने पर सम्पूर्ण सांसारिक सुख स्वभावतः ही नीरस प्रतीत होने लगते हैं। एतावता भगवत्-सम्बन्ध, भगवत्-स्वरूप-विज्ञान ही सम्पूर्ण कामनाओं के समूल उन्मूलन का एकमात्र उपाय है। विभिन्न अवस्थाओं में अथवा विभिन्न वृत्तियों के उद्बुद्ध होने पर कुछ कामनाओं का सावशेष उन्मूलन हो जाता है। उदाहरणतः जैसे अबोध शिशु में स्त्री-कामना अथवा नायकभाव उदित नहीं होता तथापि समय पाकर अनिवार्यतः उद्बुद्ध हो जाता है किंवा क्रोधाकाराकारित वृत्ति के उद्बुद्ध होने पर कामवृत्ति का उपशमन हो जाता है परन्तु अनुकूल समय पाकर कामवृत्ति का पुनः उदय हो जाता है। अस्तु, **'कण्टकेन कण्टकोद्धार न्यायतः'** भगवदनुराग से अन्य सम्पूर्ण सांसारिक रागों का निरवशेष बाध हो जाता है। **'विषस्य विषमौषधम्'** विष ही विष की औषधि है, विष से ही विष का शमन होता है—

'कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तमुत तेन दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन् बिभेति कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥'
(श्रीमद्भा० २।७।७)

अर्थात्, कोई कृती क्रोध का सहारा लेकर काम को जला देते हैं किन्तु काम के दग्ध होने पर भी उनके क्रोध का नाश नहीं हो पाता। अस्तु, यह उन्मूलन सावशेष ही है। भगवत्-स्वरूप-विज्ञान से विषय के अस्तित्व का ही बाध हो जाता है; जैसे, रज्जु-स्वरूप-विज्ञान से सर्प का बाध हो जाता है वैसे ही तत्त्व-विज्ञान से पदार्थ का ही बाध हो जाता है। जैसे शुक्ति-साक्षात्कार से रजत का बाध हो जाता है वैसे ही ब्रह्म-रूप-साक्षात्कार से नामरूपक्रियात्मक विश्व का ही बाध हो जाता है एतावता विश्व-विषयिणी कामना का स्वभावतः समूल उन्मूलन हो जाता है। अस्तु, भगवद्-भजन ही सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं के समूल उन्मूलन का एकमात्र कारण है। व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप साक्षात् निरावरण, परात्पर परब्रह्म हैं एतावता उनके हस्तपंकज **'कामदं'** हैं। कामजन्य सम्पूर्ण आप-ताप के समूल उन्मूलन-हेतु ही गोपाङ्गनाएँ अपने सिर पर सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण के करसरोरुह-विन्यास की आकांक्षा करती हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण **'कामं ददाति इति कामदः'**; अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं के दाता भी हैं। पदार्थ के प्रति उत्कट कामना जाग्रत् होने पर उसकी पूर्ति से ही कामना का बाध सम्भव है। केवल ज्ञान-विज्ञान के आधार पर कामनाओं का समूल उन्मूलन नहीं होता परन्तु भगवत्-साक्षात्कार द्वारा कामनाओं की पूर्ति के साथ ही साथ उनके हेतुओं का भी उन्मूलन हो जाता है। विभीषण राघवेन्द्र रामचन्द्र की शरण आये परन्तु उनके मन में लंकापति बनने की उत्कट अभिलाषा (कामना) थी; अतः भगवान् श्री रामचन्द्र ने विभीषण के आते ही उन्हें 'लंकेश' कहकर सम्बोधन किया—

'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥'

(मानस, सुन्दर कां० ४५।४)

या

'बोलि लंकेस कहि अंक भरि भेंट प्रभु तिलक दियो दीन दुख दोष-दारिद हरू।'

(गीतावली ४।४३।४)

'जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिएं दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'

(मानस, सुन्दर कां० ४९ ख)

'महावीरचरित' नाटक में भवभूति ने तो यहाँ तक लिखा है कि पहले विभीषण ने भगवान् के पास एक शरणागति-पत्र भेजा था। उस पत्र को देखते ही भगवान् लक्ष्मण से बोल उठे—

'वत्स! किं संदिश्यतामेवंवादिनः प्रियसुहृदो लङ्केश्वरस्य महाराजविभीषणस्य।'

(२।९४)

भक्त-हृदय की कामना को जानकर ही भगवान् रामचन्द्र राघवेन्द्र ने अत्यन्त संकोच के साथ विभीषण को वह अतुल सम्पदा दे दी जो भगवान् शिव ने रावण को अपने दसों शीश अर्पण करने पर दी थी। स्वयं विभीषण ही कहते हैं **'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥'** (मानस, सुन्दर कां० ४८।६) हे नाथ! पहले मेरे मन में एक अभिलाषा अवश्य थी परन्तु प्रभु-पद-प्रीति-सरिता में वह दोष भी बह गया; अर्थात् मेरी कामना का ही समूल उन्मूलन हो गया। तात्पर्य कि सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर भगवान् भक्त की कामनाओं की पूर्ति करते हुए उनके हेतु का उन्मूलन करते हैं। सामान्य सिद्धान्त है कि **'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।'** (मनुस्मृति २।२१५, श्रीमद्भागवत ९।१९।१४) जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने पर अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित

ही होती है वैसे ही कामनाओं की पूर्ति के प्रयास से कामनाएँ भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हैं। साथ ही, अति उत्कट कामना होने पर सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उपदेश भी निरर्थक जाता है।

'ममतारत सन ग्यान-कहानी। अतिलोभी सन बिरति बखानी ॥'

(मानस, सुन्दर कां० ५७।२)

ममता-परिप्लुत प्राणी के सम्मुख ज्ञान-विज्ञान की कथा ऊसर भूमि में बोए हुए बीज के समान निरर्थक है।

'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥'

(मानस, उत्तर का० ११० घ ११)

एक बार मैं अपनी आँखों से अपने आराध्य की मधुर मनोहर मूर्ति का दर्शन कर लूं फिर आपके उत्तम निर्गुण ज्ञान का उपदेश सुनूँगा। तात्पर्य कि उत्कट कामना होने पर प्राणी वांछित-प्राप्ति से ही सन्तोष प्राप्त कर सकता है। तत्-तत् पदार्थ की प्राप्ति ही इस अस्वाभाविक रूप से वृद्धिगत तृष्णा के उपशमन का एकमात्र उपाय है। एतावता ही वेदों में गृहस्थाश्रम का विधान है। यहाँ तक कि श्रुतियों ने अभिचारिक कर्मों का भी निर्देशन किया है। उपनिषदों में **'दमनीयं तु मृज्य'** हे प्रभु ! हमारे दुश्मनों का सिर फोड़ दो, धमनियाँ मींज दो आदि भीषण प्रार्थनाएँ की हैं। शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाहित, निवृत्ति-परायण जनों के द्वारा ऐसी स्तुतियाँ निश्चय ही अधिकाधिक आश्चर्य का कारण हैं। किन्तु इन सबका एक ही हेतु है—

'उपनिषदः परिपीता गीताऽपि हन्त स्मृतिपथं नीता।
तदपि न सा विधुवदना मानस-सदनाद् बहिर्याति ॥'

(रसगङ्गाधर--पृ० ६९४, काशी सं०, भामिनिविलास, २, ३७)

उपनिषद् वेद-वेदांगादिक का बारम्बार स्मरण, मनन, गान एवं अभ्यास कर लेने पर भी, पी जाने पर भी जगत्‌रूपिणी चन्द्रमुखी प्रेयसी नायिका मेरे मनरूप गृह से बाहर नहीं जाती, एक क्षण के लिये भी विस्मृत नहीं हो पाती। तात्पर्य कि अभिलाषा की पूर्ति हो जाने पर ही वैराग्य सम्भव है।

'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'

(श्री० भ० गीता ७।१६)

इस श्लोक में 'आर्त' एवं 'अर्थार्थी' के मध्य में 'जिज्ञासु' को रखा गया है; इसका तात्पर्य यही है कि भगवद्-भजन से आर्त एवं अर्थार्थी दोनों की देहली-दीपक-न्यायेन आर्ति-निवृत्ति एवं अभिलाषा-पूर्ति होती है और अन्ततोगत्वा दोनों

हो जिज्ञासु बन जाते हैं; जिज्ञासु ही ज्ञानी हो जाता है; ज्ञानी आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम होता है।

शरीर में मस्तक हो प्रमुख है अतः मस्तक का प्रभाव सम्पूर्ण अंग पर पड़ता है। अरविन्द शीतल है, उसका संस्पर्श तापापनोदक है; भगवान् के मंगलमय हस्तारविन्द मधुर सौगन्ध्यपूर्ण हैं, परम शीतल, परम-तापापनोदक हैं। भगवान् के पादारविन्द भी परम मधुर, सौगन्ध्यपूर्ण, शीतल, परम-तापापनोदक हैं। अस्तु, मस्तक पर भगवान् के पादारविन्द-विन्यास, हस्तारविन्द-विन्यास से सम्पूर्ण शरीर के ही ताप का अपनोदन होकर परमाह्लाद का आविर्भाव हो जाता है।

भगवान् के पादारविन्द, हस्तारविन्द स्वयं ही फलस्वरूप हैं। जिसके लिये सब कुछ हो परन्तु जो किसीका हेतु नहीं हो वही फल है। आत्मा का भी यही लक्षण है, सुख का भी यही लक्षण है। लक्षण के ऐक्य से वस्तु का ऐक्य भी स्वतःसिद्ध है। अतः आत्मा एवं सुख समानधर्मा एवं अभिन्न हैं। अस्तु, प्राणी के मस्तक पर साक्षात् फलस्वरूप भगवत्-पादारविन्द, हस्तारविन्द-विन्यास भी भक्तों के लिये साध्य फलस्वरूप ही है। राघवेन्द्र रामचन्द्र ने परम भक्त-शिरोमणि पवनसुत हनुमन्तलाल को परम फलस्वरूप ही सर्वस्वभूत स्वालिंगन प्रदान किया।

'एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥'

(वा० रा० ६।१।१३)

श्री नागोजी भट्ट कहते हैं राघवेन्द्र रामचन्द्र ने स्वालिंगन द्वारा मानो हनुमान्‌जी को अचिन्त्य, अनन्त, विशुद्ध ब्रह्मानन्द सुधानिधि ही उँडेल दी, अर्पित कर दी। साक्षात् फल में फलान्तर की कल्पना भी सम्भव नहीं अतः भक्तजनों के लिये भगवत्-पादारविन्द, हस्तारविन्द का विन्यास ही परम पुरुषार्थ है। जैसे सर्वतः संप्लुत एक स्थानीय मधुर महासमुद्र के प्राप्त हो जाने पर वापी, कूप, तड़ागादि का प्रयोजन स्वतः परिपूर्ण हो जाता है वैसे ही भगवत्-पादारविन्द-हस्तारविन्द संश्लेषजन्य आनन्द-समुद्र में अन्य सम्पूर्ण सुख-लव-कामनाएँ भी अन्तर्निहित हो जाती हैं; साथ ही, तत्त्वसाक्षात्कार के कारण सम्पूर्ण अन्य स्पृहाओं का ही बाध हो जाता है। जैसे वन्ध्यापुत्र की परिकल्पना सम्भव नहीं वैसे ही अधिष्ठान-साक्षात्कार की अपरोक्ष अनुभूति होने पर विश्व-प्रपञ्च एवं तद्विषयिणी कल्पनाओं का अवकाश भी असम्भव हो जाता है।

आचार्यगण शंका करते हैं—योगिध्येय पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण परस्त्री-संस्पर्श-हेतु क्योंकर उद्यत हो सकते हैं? इस श्लोकविशेष में प्रयुक्त

विशेषण पद **'श्रीकरग्रहम्'** ही इस शंका का समाधान है। **'श्रियः लक्ष्म्याः करं गृह्णाति तत् श्रीकरग्रहम्।'** इस हस्तारविन्द ने ही श्रीकर-पंकज का ग्रहण किया है; तात्पर्य कि भगवान् लक्ष्मी का पाणिग्रहण करने के कारण गृहस्थ हैं। जिसको लक्ष्मी के पाणिग्रहण में संकोच नहीं हुआ उसको हमारे सिर पर अपने हस्तारविन्द-विन्यास में क्यों संकोच है ?

योगीन्द्र, मुनीन्द्र अमलात्मा परमहंस द्वारा ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक, अखिलेश्वर भगवान् ही ऐश्वर्य एवं माधुर्य के अधिपति हैं; भगवती महालक्ष्मी भी अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वरी एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री हैं एतावता भगवान् श्रीमन्नारायण से अन्य कोई भगवती लक्ष्मी के पाणिग्रहण में समर्थ ही नहीं। गोपाङ्गनाएँ अपनी स्पृहा की अभिव्यक्ति-हेतु ही भगवती लक्ष्मी की चर्चा करती हैं; भगवती लक्ष्मी स्वयं ही अत्यन्त स्पृहालु हैं।

'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्ना।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥'
(श्रीमद्भा० १।१६।३२)

जिनके अपांग मोक्ष की कामना से ब्रह्मादि देवगण भी दीर्घकालावधि-पर्यन्त कठिन तपस्या में प्रवृत्त होते हैं वही सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री, चपला, चंचला, लक्ष्मी, श्री भी अपने निवासस्थान अरविन्द वन को त्यागकर भगवत्-पादारविन्द की परमानुरागिणी होकर सतत उसीका भजन करती हैं।

'श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यगुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥'
(श्रीमद्भा० १०।२९।३७)

अर्थात्, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिष्ठात्री भगवती महालक्ष्मी को यद्यपि भगवत्-उरःस्थल में निःसपत्न स्थान प्राप्त है तथापि वे तुलसी सपत्नी के संग रहकर भी भगवत्-पादारविन्द-रज की ही सतत स्पृहा करती हैं। भगवान् के वाम-वक्षःस्थल पर विराजमान सुवर्ण-वर्ण रोमराजि ही लक्ष्मी का चिह्न है। श्रीमन्नारायण भगवान् विष्णु ही व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल श्रीकृष्ण स्वरूप में आविर्भूत होकर गोपालियों के क्रीड़ामृग बने हुए दारु-संचालित काष्ठ-यंत्रवत् उनका अनुगमन कर रहे हैं। एतावता भगवती लक्ष्मी की तुलना में गोपालियों का सौभाग्यातिशय निर्विवाद है। **'श्रियस्ताः व्रजयोषितः।'** वृन्दावन धाम की प्रत्येक कान्ता भगवती लक्ष्मी, श्रीवत् ही हैं। रासेश्वरी, नित्य-निकुंजेश्वरी

राधारानी तो महामहिम हैं। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि 'हे कान्त **'श्रीकरग्रहम्'** हमारे सिर पर भी अपने कामद हस्तारविन्द को प्रस्थापित करें।' साथ ही, वे अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उनसे कह रहे हैं कि 'हे गोपाङ्गनाओ ! भगवती लक्ष्मी तो हमारी पाणिगृहीती, विवाहिता पत्नी हैं परन्तु तुम तो हमारी विवाहिता नहीं हो, तुम्हारे सिर पर हम अपना हस्तारविन्द-विन्यास क्योंकर कर सकते हैं ?' इसका उत्तर देती हुई वे कह रहीं हैं; **'चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् विरचिताभयं'** पाणिगृहीती का संस्पर्श तो वैध है परन्तु शरणागत का संस्पर्श तो ईश्वरीय धर्म है। असामान्य धर्म, सामान्य धर्म से विशिष्ट होता है; अतः हे कान्त ! हम अनुरागिणी, शरणागत सीमन्तिनी, गोपाङ्गनाजनों के सिर पर अपने हस्तारविन्द-विन्यास द्वारा विरहार्तिजन्य हमारे सम्पूर्ण हृत्ताप एवं व्यथा का अपनयन करें।

'संसृतेर्भयात् चरणमीयुषां विरचिताभयं'

जो भक्तजन संसार के भय से आपके मंगलमय चरणारविन्दों की शरण आये हैं उनके मस्तक पर अपने हस्तारविन्द विराजमान करें।

'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणम्।
पुनरपि जननीजठरे शयनम्॥'

(शङ्कराचार्य)

विविध प्रकार के कर्मों से विविध प्रकार की भावनाएँ उद्भूत होती हैं; इन विविध भावनाओं एवं संकल्पों के आधार पर ही पुनर्जन्म होता है; यह जनन-मरण की अविच्छेद परम्परा ही संसृति संसार है। इस जनन-मरण अविच्छेद-लक्षणा संसृति से परिश्रान्तजनों के लिये भगवत् पदारविन्द ही एकमात्र आश्रय हैं। शरण्य की शरणागति ही फलपर्यवसायी होती है, अशरण्य की शरणागति निरर्थक हो जाती है। स्वयं सर्वशरण्य भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र **'समुद्रं शरणं गतः'** समुद्र की शरण गये, अशरण्य की शरण गये, अतः उनकी वह शरणागति विफल हुई। विभीषण सर्वशरण्य राघवेन्द्र रामचन्द्र की शरण गये—**'राघवं शरणं गतः' 'शरण्यं शरणं गतः'** अतः वे कृतार्थ हुए।

भगवत् हस्तारविन्द **'विरचितः अभयो भयाभावो येन'** द्वारा सम्पूर्ण भयाभाव का सम्पादन होता है। भगवत् हस्तारविन्द 'सत्' हैं, संसृति का अपनोदन करनेवाले हैं; भगवत्-संस्पर्श से अज्ञान समूल नष्ट हो जाता है, वासनाओं का बाध होता है अतः पुनर्जन्म के हेतु का ही छेदन हो जाता है। अस्तु, श्रीकर-संस्पर्श से जन्म-मरण की परम्परा का ही समूल उन्मूलन हो जाता है तथा संपूर्ण

भय-त्रास से तात्कालिक एवं विरहजन्य आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे कान्त ! आपका विरहजन्य तीव्रताप ही हम लोगों के लिए विशेषतः भयावह है; आपके श्रीकर-विन्यास द्वारा इस सर्वाधिक भय का ही उच्छेदन हो जायगा। साथ ही, आपके मंगलमय अंग-संग की भी प्राप्ति हो जायगी।

'वृष्णिवंशावतंस, वृष्णिधुर्य ते' आप वृष्णि-कुल में परम श्रेष्ठ हैं, निजकुल-कमल-प्रभाकर हैं। सनातन गोस्वामी इस विशेषण का अर्थ करते हैं **'निजाशेष-गुणमाधुरीरूपादिप्रकटनाय यदुकुले अवतीर्णः'** जो निजी अशेष गुण, माधुर्य एवं रूपादि के प्राकट्य हेतु ही यदुकुल में अवतीर्ण हुआ हो, गुण-गणों का उपयोग ही उनका प्राकट्य है। ईश्वर में अशेष गुण विद्यमान हैं। समय-समय पर वराह, मत्स्य, नृसिंह आदि अनेक स्वरूपों में श्रीमन्नारायण विष्णु का अवतरण हुआ; प्रत्येक अवतरण में अशेष गुण विद्यमान होते हुए भी उनका प्राकट्य नहीं हुआ परन्तु व्रजेन्द्रनन्दन, गोपाल श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में ही दिव्य गुण-माधुरी रूपादि अशेषतः प्रकट हैं। 'श्रीहरि भक्ति-रसामृत-सिन्धु'कार और 'भक्ति-रसायन'कार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को ही प्रेम का आलम्बन मानते हैं। शृंगार-रस की विभिन्न अवस्थाओं का प्रदर्शन केवल श्रीकृष्ण स्वरूप में ही प्राप्त होता है। उदाहरणतः राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में परकीया-रति की कल्पना भी नहीं होती। यद्यपि अयोध्या के कुछ आधुनिक रसिकजनों ने **'रामस्य परमाः स्त्रियः'** (वा० रा० २।८।१२) जनकनन्दिनी जानकी से भिन्न अपरिगणित स्त्रियों की असंगत कल्पना कर डाली है। 'आनन्द-रामायण' में 'गोपी-गीत' की शैली व छन्द में ही एक गीत है; जैसे 'गोपी-गीत' में श्रीकृष्ण के प्रति गोपाङ्गनाओं ने अपना विरह व्यक्त किया है, वैसे ही इसमें (आनन्द-रामायण में प्राप्त गीत में) श्री रामचन्द्र के प्रति विरहाभिव्यक्ति की गई है। परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है; श्रीराम का एकपत्नीव्रत ही असाधारण रूप से संसार में प्रसिद्ध है, वही उनका आदर्श भी है। व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल श्रीकृष्ण स्वरूप में ही प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का सांगोपांग उदाहरण प्राप्त होता है। श्रीरामभद्र मर्यादापुरुषोत्तम, धीरोदात्त नायक स्वरूप में अवतरित हैं; व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं; यथावसर श्रीकृष्ण स्वरूप में भी धीरोदात्त गुणों का प्रस्फुटन होता है तथापि ललित लीलाएँ ही इस स्वरूप का वैशिष्ट्य है।

गोपकुल-प्रसूत, श्रीकृष्ण वृष्णिधुर्य यदुवंशावतंस भी हैं। नंदादिक यदुवंश ही गोपवंश है। 'गोपाल-चम्पू' में इसका विशिष्ट विवरण इस प्रकार है। देवमीढ़ नामक कोई यदुवंशी राजा थे; उनकी दो पत्नियाँ थीं; एक वैश्य-वंश

की, दूसरी क्षत्रिय-वंश की। देवमीढ़ एवं उसकी वैश्य-पत्नी से पर्जन्य नामक गोप उत्पन्न हुआ। उस पर्जन्य गोप के वंश में नन्द, सुनन्द, उपनन्द आदिकों का जन्म हुआ। गोपवंश का मूलपुरुष पर्जन्य यदुवंशी नरपति देवमीढ़ का पुत्र था अतः वृष्णिधुर्य का एक अर्थ गोपेन्द्र-धुर्य-गोपवंश-प्रसूत गोप-कुमार भी है। श्रीकृष्ण ही व्रजेन्द्रनन्दन गोपकुमार हैं। व्रजवासियों की यह मान्यता है कि पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का जन्म नन्द-भवन में ही हुआ; मथुरा में तो देवकीनन्दन कृष्ण का जन्म हुआ था; देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ईश्वर थे। 'श्रीमद्भागवत' में वर्णन है—लोकोत्तरदामिनी द्युति-विनिन्दक पीतांबर, दिव्य-कौस्तुभ मणि, कनक-कुण्डल, मुकुट नूपुर आदि दिव्य भूषण वसन अलंकारों से विभूषित, दिव्य सौन्दर्य सौगन्ध्य वनमाला धारण किए हुए, दिव्य तेजोमय, चतुर्भुज शंख,चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीमन्नारायण विष्णु ही कंस के कारागृह में अवतरित हुए; उनके इस स्वरूप के दर्शन से चकित एवं भयभीत देवकी भगवान् से शिशुरूप धारण की प्रार्थना करने लगी। अपनी वैष्णवी माया द्वारा श्रीमन्नारायण विष्णु प्राकृत बालक हो रोने लगे; भगवत्-प्रेरणा से ही वसुदेव इस शिशु को सूप में विराजमान कराकर मथुरा ले चले। भगवान् की अघटित-घटना पटीयसी, मंगलमयी मोहिनी माया के कारण मथुरावासी कंस द्वारा नियुक्त द्वारपालादि सब मोह-निद्रा में निमग्न हो गए। कारागृह के ताले स्वतः टूट गए और द्वार स्वतः खुल गए। इसी समय, व्रजधाम में **'नन्दगोपगृहे जाता यशोदा गर्भसंभवा। ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी'** यशोदा के गर्भ से श्रीकृष्ण एवं उनकी सहोदरा योगमाया का प्रादुर्भाव हुआ। योगमाया के प्रभाव से ही इस तथ्य को कोई नहीं जान पाया। बालक श्रीकृष्ण के दर्शन किसीके लिए भी संभव न हुए। यही कारण है कि कृष्ण-जन्माष्टमी की रात्रि 'मोहरात्रि' कहलाती है। **'कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा'** (दुर्गा-सप्तशती) जिस रात्रि में सब मोह को प्राप्त हुए वही 'मोहरात्रि' है। व्रजधाम में नन्द-गृह में यशोदा के गर्भ से आविर्भूत पूर्णतम पुरुषोत्तम परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण ही नन्द-आत्मज हैं। **'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः'** इस उक्ति में स्पष्टतः ही श्रीकृष्ण को नन्दात्मज ही कहा गया है।

'आत्मजः—औरसः न तु यत्र क्वचित् निक्षिप्तः' औरस पुत्र ही आत्मज होता है, दत्तक अथवा क्रीतपुत्र आत्मज नहीं कहलाता। जिस समय वसुदेवजी देवकीनन्दन वासुदेव शिशुस्वरूप को लेकर नन्दगृह में यशोदा के समीप पहुँचे, देवकीनन्दन वासुदेवस्वरूप श्रीकृष्ण नन्दात्मज परमानन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम-स्वरूप श्रीकृष्ण में अन्तर्भूत हो गया जैसे अन्य सम्पूर्ण तेज महातेज में अन्तर्लीन

हो जाते हैं। परमानन्दकन्द पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण **'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'** वृन्दावन को त्यागकर एक पद भी अन्यत्र नहीं जाते।

'श्रीमद्‌भागवत' में एक कथा है—महाराज कंस के आदेश से अक्रूरजी श्रीकृष्ण एवं बलदेव को मथुरा लिवा ले चले; मार्ग में दोनों बालकों को रथ पर बैठा छोड़कर यमुना में निमज्जन करने हेतु उतर गए; स्नान के बाद यमुना में ही खड़े-खड़े वे अघमर्षण-मंत्र का जप करने लगे। जप करते हुए उनको आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप का अत्यन्त भव्य दर्शन हुआ; आश्चर्यचकित हो अक्रूरजी जल से बाहर आ गए; बाहर आने पर उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलदेव दोनों रथ पर ही आरूढ़ हैं। यह देख वे पुनः जल में प्रविष्ट हुए और पुनः उसी दृश्य को देखा। तात्पर्य कि आनन्दकन्द परमानन्द, पूर्णतम पुरुषोत्तमस्वरूप, यशोदानन्दन नन्दनन्दन श्रीकृष्ण वृन्दावन-धाम में ही रह गए और शंख-चक्र-गदा-धारी श्रीमन्नारायण, विष्णु ईश्वरस्वरूप देवकीनन्दन वासुदेव श्रीकृष्ण मथुरा पधारे। अस्तु, व्रजवासी कहते हैं, **'विपिन राज सीमा के बाहर हरिहू को न निहार। रे मन! वृन्दा-विपिन निहार।'** निर्विशेष-रस अद्वितीय अखण्ड अविच्छिन्न एक रस है तथापि विशेषण भेद से विशिष्ट में भी तारतम्य स्वीकृत हो जाता है। जैसे, एक ही स्वाती-बिन्दु बाँस-कोटर में वंशलोचन, गो-कर्ण में गोरोचन एवं गज-मस्तक में गज-मुक्ता आदि विभिन्न रूपों में प्रकट है, किंवा जैसे सूर्य की रश्मियाँ सूर्यकान्त मणि पर अग्नि-रूप में प्रस्फुटित हो जाती हैं परंतु सामान्य काष्ठ पर अप्रकट ही रह जाती हैं वैसे ही अधिष्ठान-भेद से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, सर्वेश्वर प्रभु भी विभिन्न धर्मों में विभिन्नतः ही प्रकट होते हैं। अधिष्ठान-भेद से प्रकाश्य-भेद होता है; प्रकाश्य-भेद के कारण स्वभावतः तारतम्य बन जाता है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, अखिलेश्वर सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द परमानन्द प्रभु का व्रजधाम में यशोदानन्दन वासुदेव श्रीकृष्ण-स्वरूप में प्राकट्य विशेष चमत्कृतियुक्त है। एक कथा है—भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा पधारे, गोपाङ्गनाएँ उनके विरहजन्य तीव्रताप में दग्ध होने लगीं; किसी भक्त ने कहा, 'गोपाङ्गनाओ! ऐसी कातर क्यों हो रही हो? मथुरा कौन दूर है? चलो हमारे संग, हम उनका दर्शन करा लाएँ।' अत्यन्त तीव्र उत्कंठावश कुछ गोपाङ्गनाएँ मथुरा जाने को तत्पर हो गईं। मथुरा जाने पर उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण राजसभा में दिव्य सिंहासन पर विराजमान हैं। अतः वे वहाँ से तुरन्त लौट आईं। उन्होंने अनुभव किया कि यह हमारे मदन-मोहन, श्यामसुन्दर,

वेणुवादक, काली कमलीवाले गोपाल श्रीकृष्ण नहीं, अपितु कोई अतुलित ऐश्वर्यधारी राजराजेश्वर श्रीकृष्ण हैं।

'गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय। वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय।' (श्रीमद्भा० १०।१४।१)

नन्दनन्दन, यशोदोत्संग-ललित, मदन-मोहन, श्यामसुन्दर, वेणुवादक, गोपाल श्रीकृष्ण-स्वरूप ही गोपाङ्गनाओं के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य हृदयेश्वर-स्वरूप हैं। अस्तु, वे कह रही हैं, हे कान्त ! आप वृष्णिकुल-प्रसूत हैं, वृष्णि-वंशावतंस स्वरूप ही हम लोगों का अभिलषित है। एतावता हमारे सिर पर आपका मंगलमय श्रीकर-सरोरुह विन्यस्त हो।

विशिष्ट भक्त अपने उरःस्थल में ही भगवत्-प्रादुर्भाव की कामना करते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल में सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमानन्दकन्द प्रभु एवं भगवत्-हृदयेश्वरी, सर्वेश्वरी, षोडशी भगवती विराजमान हैं; उनके मंगल-मय दिव्य श्री अंग से लोकोत्तर अमृत-धारा का अभिव्यञ्जन होता है। इस अभिव्यञ्जन से अन्तःकरण, अन्तरात्मा का उपोद्बलन एवं आप्यायन होता है; सर्व प्रकार की न्यूनताओं का उन्मूलन एवं सम्पूर्ण दिव्य शक्तियों का सन्निधान होता है। इसी तरह, अनाहत चक्र, द्वादश दल कमल में भी अखिल ब्रह्माण्ड-नायक प्रभु एवं उनकी हृदयेश्वरी भगवती का ध्यान किया जाता है; अतः भक्तजन अपने उरःस्थल को ही भगवत्-स्वरूप से अलंकृत करने की आकांक्षा करते हैं।

'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्' जैसी उक्ति में सम्पूर्ण पद एकवचन है। गोपाङ्गनाएँ अपरिगणित असंख्यात थीं। ये सब भगवद्-विरहजन्य तीव्र-ताप से अत्यन्त संतप्त एवं कातर हो रही थीं; किसी भी व्रज-सीमन्तिनी के लिये भगवद्-सम्मिलन में एक क्षण का भी विलम्ब दुस्सह हो रहा था। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि जैसे सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म सर्वव्याप्त हैं वैसे ही उनका मंगलमय श्रीविग्रह भी सर्वव्याप्त है। विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं, जो भगवान् के मंगलमय, श्रीविग्रह को लक्ष्य करके युक्तिरूप शरों का सन्धान करते हैं वे घोर नरक के दायभागी होते हैं; ऐसे दुष्ट व्यक्ति से संलाप करना भी दोषकारक है। **'अचिन्त्याः खलु ये भावा, न तांस्तर्केण साधयेत्'** जो भाव अचिन्त्य है उसमें तर्क का प्रयोग ही अतर्करूप है। **'प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।'** (महाभारत, भीष्मपर्व ५।१२) जो प्रकृति से पर, परात्पर है वही अचिन्त्य है। निर्गुण, निराकार, निर्विकार ही स्वात्मवैभव, अघटित-घटना-पटीयसी, मंगलमयी मायाशक्ति द्वारा दिव्य गुण-गण-संयुक्त, साकार सच्चिदानन्दघन-स्वरूप में अभि-

व्यक्त हो जाता है तथापि वह सावयव किंवा प्रकृतिजन्य नहीं, अपितु सदा ही विशुद्ध, निरावरण, परात्पर, परब्रह्म ही है।

'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥'

(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

भगवदीय श्रीविग्रह प्रत्यग् ज्ञानानन्तानन्द - स्वरूप, सत्यस्वरूप, एकरस एवं सच्चिदानन्द ही हैं।

'सर्वे देहाः शाश्वतास्तु, नित्यास्तस्य महात्मनः।
हानोपादानरहिता न चैवाप्रकृताः क्वचित्॥' (वाराहपुराण)

भगवान् के सब विग्रह हान एवं उपादान से रहित, नित्य सत्य, शाश्वत हैं। भगवत्-विग्रह प्रकृतिज, प्राकृत भी नहीं है। जैसे अग्नि सर्वव्याप्त होते हुए भी अनुकूल अधिष्ठान पाकर ही व्यक्त होती है वैसे ही भगवत्-स्वरूप भी भक्तियुक्त अन्तःकरणरूप उपयुक्त अधिष्ठान पाकर ही अभिव्यक्त होता है। **'नित्याव्यक्तोपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः'** नित्य अव्यक्त भगवद्-स्वरूप भी भक्तियुक्त दृष्टि से ही गोचर है। प्राकृत-दृष्टि से भगवदीय दिव्य स्वरूप स्थिर ही नहीं हो पाता। भक्त-शिरोमणि अर्जुन को भी भगवदनुग्रहवशात् दिव्य चक्षु उपलब्ध होने पर ही भगवदीय दिव्यस्वरूप के दर्शन हुए। **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।'** (गीता ११।८) भक्तिरहित हो कौन भगवदीय दिव्य-स्वरूप का दर्शन कर पाता है?

नाहं वेदैर्न तपसा, न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११।५३)

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'हे अर्जुन! उग्र तप, महान् यज्ञ एवं प्रचुर दान-कौशल से भी मेरे स्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५४)

अर्थात्, अनन्य अनुराग एवं निष्ठा की भित्ति पर ही प्राणी मेरे स्वरूप का दर्शन कर पाता है; इतना ही नहीं अपितु वह मुझमें सन्निविष्ट भी हो जाता है। अस्तु, भगवत्-स्वरूप सर्वव्याप्त होते हुए भी, उपयुक्त अधिष्ठान, भक्तियुक्त तत्-तत् अन्तःकरणों पर एककालावच्छेदेन प्रस्फुटित हो जाता है। उदाहरणतः वनवासानन्तर जब भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र अयोध्या पधारे तो सम्पूर्ण

अयोध्यावासी ही भगवद्-दर्शन के लिये अत्यन्त आतुर हो उठे; प्रत्येक के लिये भगवत्-सम्मिलन में एक क्षणका भी विलम्ब असह्य था; अतः

'छन माँहि सबहिं मिले भगवाना। उमा मरमु यह काहुँ न जाना॥'

(मानस, उत्तर कां० ५।७)

गोपाङ्गनाओं के भक्तियुक्त चित्त में भी एककालावच्छेदेन भगवत्-श्रीकर का आविष्कार हुआ। अस्तु, असंख्यात गोपाङ्गनाओं के सिर पर एककालावच्छेदेन ही श्रीकर-विन्यास हुआ। इस प्रयोजन को व्यक्त करने के हेतु ही **'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्'** जैसी उक्ति में सम्पूर्ण पद एकवचनात्मक है।

गोपाङ्गनाएँ प्रभु श्यामसुन्दर के प्रति 'कान्त' सम्बोधन का प्रयोग करती हैं। **'कामादिसुखानां अन्तः पर्यवसानं यस्मिन् स कान्तः, सम्बुद्धौ'** **'क'** पद सुखवाची है; सम्पूर्ण **'क'** का, ब्रह्माण्डान्तर्गत सम्पूर्ण सुखों का जिसमें अन्तर्भाव हो वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अखिलेश्वर प्रभु ही कामसंज्ञक है। अखण्ड भूमण्डल के यौवनसम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ चक्रवर्ती राजाधिराज का सुख सम्पूर्ण मानव-सुखों में अत्यन्त विशिष्ट है तथापि यह विशिष्ट मानव-सुख भी गान्धर्व-विद्या, संगीत-विद्याजन्य अद्वितीय सुख का लेशमात्र भी नहीं।

'नाऽहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'

(पद्मपुराण, उत्तर० ९४।२३)

अर्थात्, हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठ में वास करता हूँ और न योगियों के हृदय में ही वास करता हूँ। मैं तो वहाँ वास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा गान करते हैं। संसार में अनेक जन गान्धर्व-विद्या, गान-विद्या-विशारद होते हैं, ऐसे सौ मानव-गन्धर्वों का सम्मिलित सुख भी देव-गान्धर्व-सुख की तुलना में नगण्य है। देव-गान्धर्वों का समस्त सुख-पुञ्ज आजानज देवताओं के सुख की तुलना में न्यून है; आजानज देवता, कर्म-देवता, श्रौत-कर्म-देवता, स्मार्त-कर्म-देवता, आदिकों का सुख भी क्रमशः परस्पर न्यूनाधिक है। श्रौत-कर्म के देवता इन्द्रादिकों का जिनके लिये **'अग्नीषोमीयं पशुमालभते'** (शतपथब्राह्मण ५।३।३।१) आदि स्तुतियाँ की जाती हैं, सुख अत्यन्त विशद है। इस सुख से भी सौगुना अधिक सुख इन्द्र को है; इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति एवं ब्रह्मा का सुख भी क्रमशः एक-दूसरे से शतगुण प्रचुर है। ब्रह्मा का सुख सर्वाधिक सुख है। यह सुख भी जिसकी तुलना में तुषारकणमात्र है उस सम्पूर्ण सुख के उद्गम-स्थल एकमात्र

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अखिलेश्वर, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दघन, सुधा-सिन्धु प्रभु ही हैं, एतावता एकमात्र भगवान् ही कान्त हैं; जैसे यवनिका से हटते ही मंच पर उपस्थित दृश्य दृष्ट हो जाता है वैसे ही मायारूप यवनिका के हटते ही तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है।

'द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिगत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥'

(श्रीमद्भा० १०।१।६)

द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने उत्तरा के कुक्षिगत बीज का विनाश कर पाण्डवों को निर्मूल कर देने का प्रयास किया; गर्भस्थ शिशु परीक्षित् ने देखा कि कोई तेजोमय प्रकाशमय दिव्य पुरुष अपनी गदा के तेज से उस ब्रह्मास्त्र के तेज का विधूपनन करते हुए उसकी रक्षा कर रहा है। तात्पर्य कि विश्वंभर भगवान् सर्वव्याप्त होते हुए भी माया-यवनिका द्वारा प्रावृत रहते हैं; पूर्ण विश्वास एवं अनन्य भक्ति होने पर ही माया-यवनिका का उच्छेद सम्भव होता है। इसी तरह असंख्यात गोपाङ्गनाओं के विश्वास एवं भक्तियुक्त हृदय में भगवत्-श्रीकर-सरोरुह का एककालावच्छेदेन प्राकट्य हुआ, फलतः प्रत्येक गोपाङ्गना ने **'कामदं श्रीकर-सरोरुहं'** को अपने मस्तक पर एककालावच्छेदेन विन्यस्त अनुभव किया।

'श्रीकरग्रहम्' जैसी युक्ति से यह सूचित किया जा रहा है कि भगवान् प्रियजन-वश्य हैं। योगीन्द्र, मुनीन्द्र अमलात्मा परमहंस के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, अखिलेश्वर, **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थं'**, सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रभु भी भक्तजन-परतंत्र हैं, परम रसिक हैं।

अथवा, इस उक्ति से अनन्त ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री, सौन्दर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री भगवती लक्ष्मी के प्रति गोपाङ्गनाओं का सापत्न्य द्वेषभाव भी अभिव्यक्त होता है।

किंवा 'श्रीकरग्रहम्' कहकर गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति व्यंग्य भी करती हैं। श्रीमन्नारायण विष्णु लक्ष्मीपति हैं; उनको अन्य के दुःख-दारिद्र्य का अनुभव नहीं होता।

लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम्।
शेषे धराभराक्लान्ते शेते नारायणः सुखम्॥

(सुभा० भाण्डा० पृ० ६४)

अर्थात्, नारायण शेष के धराभराक्लान्त होते हुए भी शेष पर सुखपूर्वक सोते हैं क्योंकि वे लक्ष्मीपति हैं। लक्ष्मीपति को दूसरों की वेदना का अनुभव

नहीं होता। गोपाङ्गनाएँ भी कह रही हैं, हे कान्त! आप तो लक्ष्मीपति हैं अतः आप हमारे सन्ताप को नहीं जानते; यदि आप हमारे सन्ताप को जानते तो अवश्य ही प्रकट हो जाते।

अथवा **'धनवन्तो विजानन्ति करुणात्परवेदनाम्'** जो करुणामय लक्ष्मीवान् हैं वे दूसरों की वेदना को भी जानते हैं। **'सुदामानं वासुदेवश्चकार धनदोपमम्'** (सुभा० भाण्डा०) आप करुणामय लक्ष्मीपति हैं अतः आपने सुदामा को धनद, कुबेर बना दिया।

गोपाङ्गनाओं में भगवान् श्रीकृष्णकृत प्रश्न का पुनः स्फुरण होता है; वे अनुभव करती हैं मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे गोपाङ्गनाओ! तुम लोग बहुसंख्यक हो, तुम्हारी कामनाएँ भी विविध हैं; हम अकेले सबकी पूर्ति कैसे कर पायेंगे? उत्तर देती हुई वे कह रही हैं—**'विरचिता भयं चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।'** हे प्रभो! आपके मंगलमय हस्तारविन्द संसार से भयभीत हो आपकी शरण आनेवाले अनन्तानन्त प्राणियों के अभयदाता हैं। आपके मंगलमय चरणारविन्द शरणागत प्राणी के आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध संतापों को निर्मूल कर देनेवाले हैं, फिर केवल हम लोगों के संताप-निवारण में ही किस अशक्यता का विचार हो रहा है?

'संसृतेर्भयात् चरणमीयुषां' उक्ति का एक अर्थ यह भी है कि भगवान् श्रीकृष्ण कमल से कोटि-गुणाधिक कोमल निरावरण चरणार्रविन्दों से श्रीमद् वृन्दावन-धाम में संचरण, सम्यक् परिभ्रमण कर रहे हैं। हे नाथ! आपके ये चरणारविन्द नलिन से भी कोटि-गुणाधिक सुन्दर हैं। म्रदिमा, कोमलता की अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी भी अपने हस्तारविन्दों से आपके चरणारविन्द-संस्पर्श में सँकुचाती हैं कि कहीं मेरे कर्कश हस्तारविन्दों से प्रभु के निरतिशय कोमल चरणारविन्दों में आघात न लग जाय। भगवती लक्ष्मी के हस्तारविन्द स्वयं ही इतने कोमल हैं कि उनमें कमल की पँखुड़ी से भी आघात पहुँच जाने का भय बना रहता है। हे कान्त! जब आप गोचारण करते हुए वृन्दावन में निरावरण चरणों से परिभ्रमण करते रहते हैं तब हमारे मन में इस आशंका से कि आपके चरणारविन्दों में वृन्दावन के कुश, काश, कण्टकादि गड़ते होंगे, बड़ा संताप होता है। यह आशंकाजन्य सन्ताप आपके विरहजन्य ताप से भी अत्यधिक तीव्र है।

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।।
(श्रीमद्भागवत १०।३१।१९)

अर्थात्, हे नाथ ! आपके विरहजन्य तीव्र ताप के उपशमन हेतु आपके चरणारविन्दों को अपने उरःस्थल से लगा लेने की हम लोगों को तीव्र उत्कण्ठा होती है तथापि अपने उरोजों की कर्कशता के कारण ऐसा नहीं कर पातीं। हमारे उरोज अत्यन्त कर्कश हैं और आपके चरणारविन्द अत्यन्त कोमल हैं, अतः आपके कोमलातिकोमल चरणारविन्दों में हमारे कठोर उरोजों के कारण आघात लग जाने की आशंका से हम भय खाती हैं। एतावता आपके विरहजन्य दुस्सह वेदना को भी हम सह लेती हैं परन्तु आपके चरणारविन्दों को अपने उरःस्थल में धारण नहीं करतीं।

अथवा, हे नाथ ! भगवद्विषयक कामोन्माद से प्रेरित होकर ही हम आपके सन्निधान में वृन्दावन तक चली आई हैं। पूर्व प्रसंगों में इस विषय का विशेष विश्लेषण हो चुका है।

हे कान्त ! अपने हस्तारविन्द को हमारे सिर पर विन्यस्त कर हमें अभय-दान दें। आपके हस्तारविन्द नखरूप चन्द्रभा को धारण करनेवाले पंचमुखी शंकर हैं। भगवान् शंकर ने दृष्टिपातमात्र से ही स्मर को दग्ध कर दिया था। अस्तु, भगवान् शंकररूप आपके हस्तारविन्द हमारे सिर पर विन्यस्त होकर हमारे स्मर-ज्वर का उपशमन कर देंगे।

विभिन्न कर्मों का महत्त्वातिशय भी विभिन्नतः ही सिद्ध होता है। कुछ कर्म स्वरूप से ही महत्त्वशाली होते हैं; उदाहरणतः जप-तप आदि कर्म-स्वरूप से ही महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य कुछ आश्रय एवं विषय की महत्ता से महत्त्वातिशायी होते हैं; उदाहरणतः चौर्य-कर्म स्वभावतः निन्दित होते हुए भी कृष्णाश्रय प्राप्त कर महत्त्वा-तिशायी हो गया; बालकृष्ण की नवनीत-चौर्य-लीला अत्यन्त प्रिय एवं स्तुत्य है। इसी तरह गोपाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण-विषयक काम भी अत्यन्त स्तुत्य है। श्री वल्लभाचार्य के मतानुसार 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध में निरोध का ही वर्णन हुआ है। साधारणतः 'निरोध' शब्द विश्व-संहार अर्थ में ही प्रयुक्त होता है परन्तु 'श्रीमद्भागवत' सम्बद्ध विश्लेषणान्तर्गत 'निरोध' शब्द भगवत्-स्वरूप में चित्त के अवरोध का ही द्योतक है। संसार-चक्र में उलझे चित्त को भगवत्-स्वरूप में अवरुद्ध कर देना ही 'निरोध' है। 'निरोध' के भी तीन प्रकार हैं--प्रेम-निरोध, आसक्ति-निरोध और व्यसन-निरोध।

श्रीभगवान् लोकोत्तर सौगन्ध्यपूर्ण उत्पलाब्जमाला एवं वनमाला धारण किये हुए हैं; उनके श्रीअंग में कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दन विलम्पित है। उनके वाम-पार्श्व में रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी राधारानी विराजमान हैं; श्री राधारानी ने भी अति दिव्य उत्पलाब्जमाला धारण कर रखी है। इन दिव्य मालादिकों एवं मृगमदादिकों का लोकोत्तर सौगन्ध्य एवं भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती राधा-रानी के श्रीअंगों के दिव्य सौगन्ध्य के सम्मिश्रण से अद्भुत अलौकिक दिव्य सौगन्ध्य की अभिव्यञ्जना होती है। अभिव्यञ्जना ही ज्ञान है। ज्ञान सत्त्व का कर्म है; सत्त्व से हो बोध होता है। परम प्रेमास्पद के प्रति आनुकूल्य का स्फुरण, आनुकूल्येन स्मरण ही भक्ति है। अस्तु, शुद्ध प्रेम सत्त्व की ही अभिव्यञ्जना है। श्रीभगवान् नवल, कोमल आम्रपल्लव भी धारण किये हुए हैं। नवल-कोमल रसाल-पल्लव अरुण-वर्ण होते हैं। अरुणिमा रज की व्यञ्जना है। **'रजो रागा-त्मकं विद्धि।'** (गीता १४।७) रजोगुण आसक्ति का प्रेरक है। भगवान् मयूर-पिच्छ का मुकुट भी धारण किये हुए हैं। मयूरपिच्छ नीलवर्ण है। नीलिमा तमोगुण की द्योतक है। तमोगुण अवष्टम्भ है। अवष्टम्भ व्यसन है; व्यसन तमो-गुण का कार्य है। प्रेमास्पद-स्वरूप में मन का स्थिर हो जाना ही अवष्टम्भ है।

कार्य-सम्पत्ति हेतु सत्त्व, रज और तम अर्थात् बोध, गति एवं अवष्टम्भ तीनों ही क्रमशः अनिवार्य हैं। बोध होने पर ही कार्य में प्रवृत्ति होगी; यही कार्य का सत्त्व है। कार्य में प्रवृत्ति होने पर भी कार्य-सम्पादन हेतु क्रियाशीलता अपेक्षित है; यह क्रियाशीलता, गति ही कार्य का रजांश है। क्रियाशीलतानन्तर अवष्टम्भ, स्थैर्य अनिवार्य है। उदाहरणतः कोई बढ़ई एक मेज बनाना चाहता है। उसके लिये सर्वप्रथम मेज का बोध आवश्यक है। मेज-बोध के अनन्तर तदनुसार लकड़ी काटना, छीलना आदि क्रियाशीलता, गति अनिवार्य है। लकड़ी काटने-छीलने की गति में समयोचित स्थैर्य नहीं किया गया तो लकड़ी निरन्तर कटती-छँटती चूर-चूर हो जायगी परन्तु मेज न बन पायेगी अतः अवष्टम्भ भी अनिवार्य है। इसी तरह कार्यमात्र के सफल सम्पादन हेतु सत्त्व, रज, तम, किंवा बोध, गति एवं स्थैर्य तीनों अनिवार्य हैं।

प्रेम-निरोध अनुराग का प्रारम्भिक स्वरूप है। प्रेम-निरोध में ध्येय-स्वरूप का परिपूर्णतः स्फुरण होता है; उनके अनन्त ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्या-दिक दिव्य गुणगणों का आनुकूल्येन स्मरण होता है। आसक्ति-निरोध में ज्ञान-विज्ञान धूमिल पड़ने लगता है; प्रेमास्पद के प्रति प्रेम की अधिकाधिक दृढ़ता का विस्तार ही आसक्ति-निरोध है। आसक्ति में स्थैर्य का प्रादुर्भाव ही अवष्टम्भ है। प्रेमास्पद में चित्त का स्वाभाविक अवरोध ही व्यसन-निरोध है।

पूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र, रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी एवं गोपाङ्गनाओं में प्रकृति एवं प्राकृत विकारों का सन्निवेश नहीं है। आत्मार्थ सृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाएँ भी प्राकृत-प्रपञ्च-रहित हैं तथापि इन विभिन्न लीलाओं के सम्पादन हेतु भी सत्त्व, रज, तम—बोध, गति एवं स्थैर्य अनिवार्य है। इस दृष्टि से ही भगवत्-स्वरूप में शुभ्र उत्पलाब्ज माला से सत्त्व, अरुण आम्रपल्लव से रज एवं नील मयूर-पिच्छ-मुकुट से तम की अभिव्यञ्जना मान्य है।

मानिनी पक्ष का व्याख्यान है। मानिनी कह रही हैं—

'विरचिताभयं संसृतेर्भयात्, संसरणभयभीतानां अस्माकं शिरसि हस्त-पंकजं धेहि।'

हे श्यामसुन्दर! आपके संसरण, आपके पलायन से ही हम भयभीत हैं। आप तो तिरोधान हो जायेंगे और आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से ये मुग्धाएँ दग्ध हो जायँगी। ये गोपाङ्गनाएँ कान्तभाववती हैं, आप इनके कान्त हैं अतः आप अपने हस्तारविन्द को इनके सिर पर विन्यस्त कर इनको अभय प्रदान करें! आपके हस्तारविन्द **'कामदं'** हैं **'कामं ददाति इति कामदं, कामं द्यति खण्डयति इति कामदं।'**

हे श्यामसुन्दर! आप तो वृष्णिवंशावतंस, गोपवंशावतंस हैं। फिर भी कालिय-दमन, पूतना-विमर्दन, तृणावर्त-संहार, शकटासुर-भञ्जन आदि कृत्यों से आपका क्षत्रियत्व ही सिद्ध होता है अतः प्रतीत होता है कि आप किसी जन्मान्तर में क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुए होंगे; क्षत्रियत्वेन भी और नन्दनन्दन, गोपेश कुमार होने के कारण भी आपके लिए इन मुग्धाओं की रक्षा करना अनिवार्य है अतः आप इनके सिर पर अपने मधुर कोमल कान्तिमान् कर-सरोरुह का विन्यास कर इनकी रक्षा करें। क्षत्रिय जाति की यही विशेषता है कि वह स्व-सर्वस्व का बलिदान करके भी अन्य की रक्षा में सदा तत्पर रहती है। इस त्याग के कारण ही क्षत्रिय विशेषतः आदर-सत्कार के पात्र होते हैं। हे श्यामसुन्दर! आपको तो केवल अपने मधुर, कोमल कांतिमान् करपंकज को ही इन अबलाजनों के सिर पर विन्यस्त करना है; तदर्थ आपको कोई बलिदान भी नहीं करना पड़ रहा है। कान्तभाववती गोपाङ्गनाओं के सिर पर आपके श्रीकर-विन्यास से ही उनके सत्त्व की भी रक्षा हो जायगी। अस्तु, आप संचरण, पलायन न कर इनके सिर पर अपना श्रीकर विन्यस्त करें। कान्त-भाववती गोपाङ्गनाओं के रक्षा-हेतु पधारकर भगवान् श्रीकृष्ण स्वभावतः ही हमारा भी मान मना लेंगे

फलतः हमारे मान की भी रक्षा हो जायगी इस अभिलाषा से मानवती गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण को क्षत्रिय-कर्म के लिए प्रेरित करती हैं। गोपाङ्गनाओं का यह मान अतिशय गौरव-मंडित है। इस मान का विशद विश्लेषण पूर्व प्रसंगों में किया जा चुका है।

निवृत्ति-पक्षीय व्याख्यान है—श्री नीलकण्ठकृत 'मंत्र-भागवत' एवं 'मंत्र-रामायण' नामक दो ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में नन्दनन्दन, श्रीकृष्ण एवं राघवेन्द्र रामचन्द्र के परम-पावन चरित्रों का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा किया गया है। वे मंत्र 'हरिवंश पुराण' की नीलकंठी टीका में भी उद्धृत हैं। मंत्र-भाग व ब्राह्मण-भाग दोनों ही वेद हैं। ब्राह्मण-भाग के छान्दोग्योपनिषद् में **'कृष्ण देवकीपुत्र'** शब्द आता है। 'कृष्णोपनिषद्' आदि में कृष्ण के दिव्य चरित्रों का तथा 'राम तापनीय', 'रामरहस्य' आदि में राघवेन्द्र रामभद्र के दिव्य चरित्रों का सांगोपांग वर्णन है। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'निःश्रेयसार्थयिवृष्णिकुले अवतीर्णो यः स वृष्णिधुर्यः।'** प्राणिमात्र के कल्याण के लिए, वृष्णि-कुल में भगवान् कृष्ण-चन्द्र परमानन्दकन्द का अवतरण हुआ। लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, सर्व-प्रकारेण एषणा-विनिर्मुक्त, आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, उच्च अधिकारी तो निर्गुण, निराकार, निरतिशय परात्पर परब्रह्म अन्तर्यामी स्वरूप के साक्षात्कार से ही सदा कल्याण का भागी होता है परन्तु जन-सामान्य के कल्याण हेतु भगवत्-अवतरण परम आवश्यक है क्योंकि सगुण साकार अवतार-विशिष्ट में की गई परम पावन लीलाओं एवं दिव्य चरित्रों के वर्णन एवं श्रवण से भी प्राणिमात्र का परम कल्याण होता है। सगुण साकार प्रभु के परम पावन चरित्रों का वर्णन एवं श्रवण से सनकादि-परमहंस भी, ब्रह्मादि देवाधिदेव भी, शबर, कोल-किरात ग्राम्य-वर्ग भी, यहाँ तक कि गरुड़, गीध, काक आदि मानवेतर प्राणि-वर्ग का भी परम कल्याण होता है। प्राणिमात्र को कल्याण-कामना ही परात्पर प्रभु के अव-तरण का एकमात्र कारण है। अद्वैतमतानुसार भी भगवान् सत्य-संकल्प हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, इच्छामात्र से ही समस्त सृष्टि-संहार में समर्थ हैं; एतावता, राक्षसादि-हनन हेतु नहीं अपितु जन-सामान्य के कल्याण हेतु ही परात्पर ब्रह्म का आविर्भाव होता है।

'श्रीकरग्रहं, नः श्रुतीनां शिरसि उपनिषद्भागे करसरोरुहं कुरु चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्' जनन-मरण अविच्छेद लक्षणा संसृति से भयभीत होकर जो आपकी शरण में आए हैं ऐसे शरणागतों के सिर पर आप अपने श्रीकर सरोरुह को विन्यस्त कर उनको अभय प्रदान करें।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेताश्वतर ६।१८)

अर्थात्, जो पहले ब्रह्मा को बनाकर उनके लिए वेदराशि को प्रेषित करते हैं, उस आत्मबुद्धि को प्रकाशित, उद्भूत करनेवाला जो ईश्वर है उसकी मैं शरण हो रहा हूँ, मैं उसको अपना आश्रय स्वीकार करता हूँ। ऐसे जो मुमुक्षु शरणागत प्राणी हैं उनके सिर पर आप अपना श्रीकर-विन्यास कर उनको अभय प्रदान करें। उपर्युक्त मंत्र में यह भी स्पष्टतः ही कहा गया है कि ईश्वर ने ब्रह्मा को बनाकर वेदराशि को उनमें प्रेरित किया; तात्पर्य कि वेदराशि नित्य है, ईश्वर भी उसके निर्माता नहीं अपितु प्रेषणकर्ता ही हैं।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा
बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं
तुष्यन्ति च रमन्ति च॥'
(गीता १०।९)

जो भगवान् में ही अपने संकल्प-विकल्पात्मक चित्त को लगाए हुए भगवान् में ही अपने श्रोत्र-चक्षुरादि प्राणों को सन्निविष्ट किए हुए निरन्तर भगवत्-चिन्तन एवं अन्योन्य प्रबोधन में रत हैं **'सततं कीर्तयन्तो मां'** (श्री० भा० गी० ९।१४) **'कृतसंशब्दने कीर्तयन्तः'** सदा-सर्वदा वेदान्त महावाक्यों द्वारा संशब्दन करते निदिध्यासनादि योग-मार्ग से यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि करते हुए **'संसृतेर्भयात् चरणमुपेयुषां शरणं'** संसृति के भय से, **'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्'** जनन-मरण-परम्परा से भयभीत हो आपकी शरण में आए हैं ऐसे मुमुक्षुजनों के **'श्री-करग्रहम् शिरसि धेहि'** सिर पर आप अपना श्रीकर विन्यस्त कर उनको अभय प्रदान करें।

'श्रीकरग्रहम् श्रियं मोक्षरूपां श्रियं करोति इति श्रीकरः श्रीकरस्य ग्रहः आग्रहस्तम्' जो मोक्षरूपी श्री को उद्भूत करनेवाला है; अनेक प्रकार की श्री होती है; अनन्त ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी, साम्राज्यलक्ष्मी, स्वराज्यलक्ष्मी, विजयलक्ष्मी अनेकानेक प्रकार के धन-धान्यमयी लक्ष्मी आदि विभिन्न श्री हैं। मोक्षरूपा श्री को सम्पादन करनेवाला जो आग्रह **'श्रीकरग्रहम्'** है, उसे उद्बुद्ध करें।

'श्रीकरश्चासौ ग्रहश्च' मोक्ष प्राप्त करानेवाला जो आग्रह; सत्-वस्तु, सत्-सिद्धान्त, सत्-नियम में अभिनिवेश, आग्रह सदभिनिवेश, सदाग्रह ही कल्याणप्रद, मोक्षप्रद है। **'संसृतेर्भयात्'** जो जनन-मरण-लक्षणा संसृति के भय से आपके चरणारविन्दों की शरण आए हैं ऐसे लोगों के लिए मोक्ष-लक्ष्मी सम्पादन करानेवाले अपने श्रीकरग्रह को उपनिषद्–भाग में धारण करें। तात्पर्य कि शरणागत मुमुक्षु जनों की दृढ़ निष्ठा उपनिषद्-भाग में सम्पादित करें। उपनिषद्-भाग में परब्रह्म का ही प्रतिपादन है। 'गीता' भी उपनिषद् है। **'गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे।'**

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'विरचिताभयं'** यह आग्रह जनन-मरण-अविच्छेद लक्षणा संसृति से अभय प्रदान करनेवाला है। साथ ही **'कामदं–अस्मत्प्रतिपाद्यान् कामान् द्यति व्याल इव खण्डयति'** वेदों के द्वारा **'स्वर्गकामः, पशुकामः, वृष्टिकामः, यागेनेष्टं भावयेत्'** भिन्न-भिन्न दृष्टि से विभिन्न कामों के लिए आग्रह प्रतिपादित हैं। ग्रह का अर्थ ज्ञान भी है; **'विषयान् गृह्णाति इति ग्रहः'** विषयों को ग्रहण करनेवाला ही ग्रह है, ब्रह्मविषयक ज्ञान ही ब्रह्म-ग्रह है। जो ज्ञान मोक्ष-संपादक है वह ग्रह, आग्रहरूप ज्ञान सम्पूर्ण कामनाओं का समूल उन्मूलन करनेवाला है। तात्पर्य कि श्रुतियों के महातात्पर्य-ज्ञान द्वारा ही श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न काम-कर्मरूप अवान्तर तात्पर्य का खण्डन भी हो जाता है। कर्मकाण्ड एवं उपासना-काण्डपरक सम्पूर्ण वेद का अवान्तर तात्पर्य तत् तत् देवता एवं कर्म फल में होते हुए भी महातात्पर्य परात्पर, परब्रह्म प्रभु में ही हैं। **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता १५।१५) सब वेदों का एकमात्र वेद्य परात्पर परब्रह्म है। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठोप० १।२।१५) सब वेद एक अनन्त, अखण्ड, परात्पर, परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

'नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः।
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥'

(श्रीमद्भा० ११।३।४५-४६)

अर्थात्, अजितेन्द्रिय, अज्ञ प्राणी वेदोक्त कर्माचरण को त्यागकर विकर्म, अधर्म से परिगृहीत हो बारम्बार जन्म-मरण-परम्परा को प्राप्त होता है। सामान्यतः प्राणी को निस्संग बुद्धि से श्रौत-स्मार्त-कर्तव्य करते रहना चाहिए। **'रोचनार्था फलश्रुतिः'** फलश्रुति रोचनार्थ है। जैसे किसी अबोध शिशु की चिकित्सा हेतु माता **'वत्स! गडूचीं पिब खण्डलड्डुकं ते दास्यामि'** खाँड के लड्डू का प्रलोभन

देकर अत्यधिक कड़वी नीमगिलोय भी पिला देती है, वैसे ही परम-हितैषिणी भगवती श्रुति भी अज्ञ प्राणियों के परम कल्याण, निर्वाण-हेतु ही श्रौत-स्मार्त-कर्म, वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करती हैं। अनियंत्रित अविचारपूर्ण कर्म ही पाशविक कर्म है। पाशविक कर्म-ज्ञान की निवृत्ति वैदिक कर्म-ज्ञान से हो जाती है। **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'** (ई० उप० १४) अर्थात् अविद्या के द्वारा मृत्यु का तरण कर विद्या के द्वारा अमृतत्व को पाओ। अविद्या अर्थात् विद्या-भिन्न, विद्या-सदृश वैदिक काम-कर्म-ज्ञान; **'नञ्'** के छः अर्थ होते हैं--

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'

(वै० भू० सा० नञर्थनिर्णय)

उसके प्राबल्य से पाशविक कर्मज्ञान की परिसमाप्ति हो जाती है। **"नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते, वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे'** (श्रीमद्भा० ११।३।४६) अर्थात् निस्संग बुद्धि से किए गए वेदोक्त कर्म से नैष्कर्म्य सिद्धि, सर्वकर्मसंन्यास-साध्य ब्रह्म-साक्षात्कार-लक्षणा-सिद्धि स्वतः संपादित हो जाती है। एकाएक कर्म का निर्हार सम्भव नहीं होता, जैसे बारम्बार बोए जाने पर खेत निर्बीज हो जाता है वैसे ही वैदिक कर्म करते-करते पाशविक काम-कर्म ज्ञान भी निरुद्ध हो जाते हैं और क्रमशः अन्तरंग काम-कर्म-ज्ञान उद्भूत होता है। अन्तरंग काम-कर्म-ज्ञान स्व-पर-विरोधी है **'यथा पयः पयोन्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति। किंवा विषं विषान्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति, तद्वत्।'** जैसे विष अथवा पय स्वेतर विष अथवा पय का प्रशमन कर स्वयं भी प्रशान्त हो जाता है अथवा जैसे **'जिमि कृषि दलि हिमउपल बिलाहीं'** ओले खेत को नष्ट कर स्वयं भी विलीन हो जाते हैं वैसे ही वैदिक काम-कर्म-ज्ञान पाशविक कर्म-ज्ञान का समूल उच्छेदन करता हुआ स्वयं भी उन्मूलित हो जाता है, यही नैष्कर्म्य-सिद्धि है।

'अस्मत्प्रतिपादकं विभिन्नकामं द्यति खण्डयति इति कामदम्' हमारे द्वारा प्रतिपादित विभिन्न काम-कर्म-ज्ञान का उन्मूलन करनेवाला, मोक्ष-लक्ष्मी का सम्पादन करनेवाला ग्रह, ज्ञान वेदों का महातात्पर्य ज्ञान ही **'श्रीकरग्रहम् कामदम्'** है।

अथवा **'करः सरः, कं सुखं सुखात्मको रसः, कं रसं राति इति करः सरः; अथवा कं ब्रह्मात्मकं रसं।'** अन्य सम्पूर्ण विडम्बनाओं से रहित सुखात्मक, ब्रह्मात्मक रस का व्यावर्द्धन करनेवाला **'श्रीकरसरः। करसरोरुहं, अरुहं**

अरूणि-वेद बाह्यानि मतानि, हन्तीति अरुहम् कः शब्दः? वेदात्मकः शब्दः। ईक्षतेर्ना शब्दम्। (ब्र० सू० १।१।७२) **अशब्दं; यत् शब्दप्रमाणशून्यं, वैदिक-शब्दप्रमाणशून्यं प्रधानं।'** वैदिक-शब्द-प्रमाण-शून्य, अशब्द! सांख्यशास्त्र का प्रधान तत्त्व अशब्द है। **'तन्न जगत् कारणं यतः ईक्षतेः; जगत्कारणे ईक्षण-श्रवणात्'** जगत्-कारण में ईक्षति श्रुत है अतः अशब्द, वैदिक-शब्द-प्रमाण-रहित, सांख्यों का प्रधान, अशब्द जगत् का कारण नहीं है। **'शब्दे अरूणि रूशब्दप्रमाण-शून्यानि मतानि हन्तीति अरुहं'** वैदिक-शब्द-प्रमाणशून्य मत-मतान्तर का हनन करनेवाला, ऐसे **'श्रीकरग्रहं'** को **'नः अस्माकं श्रुतीनां शिरसि उपनिषद्भागे'** श्रुतियों के शिररूप उपनिषद्-भाग में मोक्ष-लक्ष्मी सम्पादन करनेवाले आग्रह को स्थापित करें। तात्पर्य कि ईशकृपा से ही उपनिषद्-भाग में दृढ़ अभिनिवेश सम्भव है।

पद में **'कान्त'** सम्बोधन का प्रयोग है। **'कानां सर्वेषां लौकिकानां सुखानां अन्तः पर्यवसानं समाप्तिः यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ'** सम्पूर्ण लौकिक सुखों का जिसमें पर्यवसान हो जाय, जो प्राणियों का परम-प्रेमास्पद हो, वही कान्त है।

अस्तु, श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे कान्त! सर्व प्राणी परम-प्रेमास्पद! जनन-मरण अविच्छेद लक्षणा संसृति से भयभीत हो शरणागत मुमुक्षु के लिये मोक्षरूप लक्ष्मी को सम्पादन करनेवाले आग्रह का उपनिषद्-भाग में दृढ़ अभिनिवेश स्थापित करें।

●

व्रजजनार्तिहन् वीर ! योषितां,
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे ! भवत्किंकरीः स्म नो,
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥

अर्थात्, व्रजजनों के सम्पूर्ण दुःखों का हनन करनेवाले हे वीर ! आपकी मन्द-मन्द मुसकान ही प्रेमीजनों के मान-मर्दन के लिये पर्याप्त है। हे सखे ! हम तो आपकी दासी हैं, आप भी हमारा भजन करें, हमसे प्रेम करें; हे प्रिय ! हम स्त्रियों को अपने सलोने मुख-कमल का दर्शन दें।

गोपाङ्गनाएँ औत्सुक्यातिशयात् पुनः प्रार्थना करती हैं, **'भज सखे ! भवत्किंकरीः स्म नो'** हे सखे ! आप हमें भजें, स्वीकार करें अथवा हमारे सन्निकट स्थित होकर हमारे दुःख का निराकरण करते हुए बिराजें।

भजन भी दो प्रकार का होता है; एक भक्तकर्तृक भगवद्-भजन, दूसरा भगवत्कर्तृक भक्त-भजन। भजनीय के यथायोग्य ही भजन भी होता है। निर्गुण, निराकार, परात्पर, परब्रह्म, परमेश्वर, सगुण निराकार परब्रह्म परमेश्वर तथा सगुण साकार सच्चिदानन्दघन भगवान् के भजन की शैली भी भिन्न-भिन्न है। यदा-कदा भगवान् ही भक्त को भजने लगते हैं। **'देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्।'** (श्रीमद्भा० १०।२९।३१) आदिपुरुष भगवान् नारायण मुमुक्षुओं को भजते हैं। भक्त के इष्ट को पूर्ण करना ही भगवत्-कृत भक्त-भजन है। **'भज'** धातु का अर्थ है सेवन। सामान्यतः यही कहा जाता है कि औषध का सेवन करो। औषध का ग्रहण ही औषध का सेवन करना है। इसी तरह, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा नित्य निकुंजेश्वरी, रासेश्वरी, राधारानी तथा अनन्त सौन्दर्य माधुर्य-परिपूर्ण श्री व्रजसीमन्तिनी गोपाङ्गनाओं का आत्मीयत्वेन स्वीकार किया जाना ही भगवत्-कर्तृक भक्त-भजन है। भोक्ता द्वारा स्वीकृत होकर ही भोग्य सार्थक होता है; भोक्ता द्वारा अपरिगृहीत भोग्य निरर्थक है। श्रुतिवचन है, **'अहमन्नं, अहमन्नं, अहमन्नं, अहमन्नादः'** अर्थात् मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ। **'अन्न'** अर्थात् भोग्य। तात्पर्य कि जीव ही भगवद्-भोग्य है एतावता भोक्ता का भगवान् द्वारा स्वीकृत हो जाना ही जीव

का परम-पुरुषार्थ है। यही शेषावतार का रहस्य है। शेष-भगवान् कहीं भगवान् की शय्या हैं तो अन्यत्र कहीं सिंहासन ही बन जाते हैं; कभी अपनी फणाओं को भगवान् का छत्र बना देते हैं तो कभी स्वयं ही धनुष-बाण हाथ में लिए सजग प्रहरी बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि अपने-आपको सर्वतोभावेन भगवद्-शेष, भगवद्-भोग्य बना लिया। अपने परम-प्रेमास्पद सर्वशेषी प्रभु को आनन्द पहुँचाने के हेतु जीव अपने-आपको सर्वतः उनका शेष, भोग्य बना लें, अपने सुख की कल्पना भी न करें, यही तत्सुख-सुखित्वभाव है। आदरातिशयात्, औत्सुक्यातिशयात्, आदर एवं औत्सुक्य की अतिशयता में जीव अपने परम-प्रेमास्पद प्रभु का सर्वतोभावेन भोग्य बन जाने की ही बारम्बार कामना करने लगता है। अद्वैतमतानुसार **'अहमन्नं'** का अन्य अर्थ भी है जो प्रसंग से भिन्न है, अतः उसका वर्णन अवांछित है।

'अहमन्नं अहमन्नं अहमन्नं अहमन्नादः' का तात्पर्य यह भी है कि भगवान् ही हमारे अन्नादः भी हों, भगवान् ही हमारे भोग्य हों। भगवान् के मंगलमय मुखचन्द्र का दर्शन पाकर, उनके पदारविन्द की नखमणि चन्द्रिका, दामिनी द्युति विनिन्दक पीतांबर, दिव्य भूषण वसनादि को निहारकर सुखी हो जायँ, उनके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्यसुधा-जलनिधि का रसास्वादन कर आनन्दित हो जायँ, यही **'अन्नादः'** का तात्पर्य है। सांसारिक जन क्षुद्र लौकिक षट्रसों के आस्वादन में ही सुखी-दुःखी होते रहते हैं परन्तु भक्त एवं ज्ञानी सदा, सर्वदा, सर्वत्र ही अद्वितीय ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करता रहता है। **'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'** (तैत्तिरीय उप० २।७) भक्त ही सकल-सच्छास्त्र-वेद्य, उपनिषदों के महातात्पर्य, परात्पर, परब्रह्म, रस-स्वरूप, महदानन्द, महत् रस के संभोक्ता हैं। तात्पर्य कि भक्त एवं उसके परम-प्रेमास्पद भगवान् में परस्पर अन्योन्य भोक्ता एवं भोग्य का संबंध है, एतावता जीव अपने में **अन्नत्व** एवं **अन्नादत्व** दोनों की ही भावना करता है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, **'सखे! नः अस्मान् भज'** हे सखे! आप हमें भजें।

गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण के प्रति **'सखे'** एवं **'वीर'** जैसे संबोधन का प्रयोग करती हैं। अदेय का दाता ही **'दानवीर'** है। भजन करनेवाले को भगवान् मुक्ति तो दे देते हैं परन्तु भक्ति नहीं देते। **'मुकुं ददाति इति मुकुन्दः'** मुक्ति देनेवाला ही मुकुन्द है जैसे उपाधि का अपनयन होने पर उपहित एवं अनुपहित का अभेद स्थापित हो जाता है। घटोपाधि भंग होने पर घटाकाश, महाकाश हो जाता है। अचिन्त्य, अग्राह्य, अदृश्य, अव्यपदेश्य, अनन्त, अखण्ड, निर्विकार,

निराकार, परात्पर, परब्रह्म-स्वरूप हो जाना ही मुक्ति किंवा मोक्ष है। मुक्ति देने में अग्रसर प्रभु भी कदाचित् ही भक्तियोग देते हैं।

'अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो।
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥'

(श्रीमद्भा० ५।६।१८)

भक्तियोग प्रदान करने पर भक्तवश्य होना पड़ता है। अपनी भृकुटी-विलास पर माया-नटी को नचानेवाले, अखिल ब्रह्माण्डनायक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु स्वयं ही इस विलक्षण भक्ति के कारण भक्त-विवश हो कभी माता की छड़ी से भयभीत होकर रोने लगते हैं तो कभी गोपालियों का क्रीड़ामृग बनकर सूत्र-धार संचालित दारु-यन्त्रवत् उनका अनुसरण करने लगते हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

(श्रीमद्भा० १।८।३१)

अर्थात्, हे श्यामसुन्दर! जिस समय आप द्वारा किए गए विभिन्न बाल-सुलभ-चापल्ययुक्त उपद्रवों से घबराकर नन्दरानी ने आपको उलूखल में बाँध दिया उस समय आप प्राकृत शिशुवत् भय-प्रदर्शन करते हुए सिसक-सिसककर रोने लगे। उस समय आपके दिव्य कपोलों पर से ढुलकते हुए अंजन-मिश्रित अश्रु-बिन्दु ऐसे लग रहे थे मानो नील-कमल-कोष में ओस-कण झूल रहे हों। हे भगवान्! आपकी यह दशा मुझे मोह में डाल देती है।

'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्यु-र्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाँसा भवति।'

(तैत्तिरीय उप० २।८।१)

जिसके भय से काल भी काँपता है, जिससे भय की अधिष्ठात्री देवता स्वयं भी भयभीत रहती है, जो काल का भी काल, ईश्वर का भी ईश, ब्रह्मा का भी ब्रह्मा है वही परात्पर, परब्रह्म, परमेश्वर ही अम्बा की छड़ी से भयभीत होकर सिसक रहा है, यह कैसी अद्भुत आश्चर्यमयी लीला है?

सामान्यतः योग्य अधिकारी को ही तत्-तत् वस्तु प्रदान की जाती है परन्तु दानोत्साह में दानवीर के द्वारा योग्यायोग्य एवं देयादेय का विवेचन नहीं होता। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे दानवीर! यद्यपि हमारी आकांक्षा अत्यन्त दुर्लभ-वस्तु-विषयिणी है तथापि दानवीर का दानोत्साह योग्यायोग्य एवं देयादेय का विवेचन नहीं करता। अतः आप हमारी अभिलाषा पूर्ण करें।

अमलात्मा, परमहंस, योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी गोविन्द-भजन में तत्पर रहते हैं; **'गोविन्दं भज, गोविन्दं भज, गोविन्दं भज मूढमते'** परन्तु अनुरागमयी ये गोपालियाँ गोविन्द से ही कह रही हैं, **'सखे ! नः अस्मान् भज'** हे सखे ! आप हमें भजें। अभिलषित का दान ही भजन है। आपके मुखचन्द्र के अदर्शन से, आपके सुमधुर अधर-सुधारस की अप्राप्ति से हम संतप्त हैं। हे सखे ! हमारा अभीष्ट-दान कर आप हमारा भजन, हमारा अनुसरण करें। **'नत्वेतत् अनुचितं'** सख्य-भाववती हम गोपाङ्गनाओं के एतादृक् भजन में अनौचित्य भी नहीं है; आप हमारे सखा हैं, हम आपकी सखी हैं; सख्य-भाव में परस्पर भजन ही उचित है। एतावता हमें अचिन्त्य, अनिन्द्य, अद्वितीय परमानन्द सुधा-सिन्धु भगवत्-स्वरूप के श्रीअंग का संस्पर्श प्राप्त होना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में एक कथा है। श्रीदामा भगवान् का सखा था। वह श्रीकृष्ण के साथ खेल रहा था; खेल-खेल में श्रीकृष्ण हार गये; हारकर भगवान् श्रीकृष्ण खेल की शर्त के अनुसार अपने सखा श्रीदामा के घोड़े बने और सखा श्रीदामा भगवान् के कंधे पर चढ़ गये। सर्व-भजनीय, सर्वेश्वर भगवान् के कंधों पर चढ़ने की कल्पना सखा श्रीदामा के सिवा अन्य कौन कर सकता है ? अस्तु, सखा को सर्वोत्कृष्ट अधिकार प्राप्त है। गोपाङ्गनाएँ भी कहती हैं, **'नः अस्मान् भज'** सखे ! आप हमें भजें।

अपने प्रति **'योषितां'** पद-प्रयोगात् गोपाङ्गनाएँ अपनी असमर्थता को भी प्रकट कर रही हैं। वे कह रही हैं **'तत्र अस्माकं योषितां सामर्थ्यं नास्ति'** हम अपने गुणों से किंवा सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणों से आपके भजनीय बनें ऐसी योग्यता हममें नहीं है। आपके अनुग्रह से, आपकी कृपा से ही हम आपकी भजनीय बनकर आपके द्वारा स्वीकृत हो सकती हैं। वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग में **'पोषणं तदनुग्रहः'** (श्रीमद्भा० २।१०।४) भगवदनुग्रह, भगवत्-पोषण का ही विशेष महत्त्व है। पूजा के लिये उचित ज्ञान एवं सामग्री न होते हुए भी भगवदनुग्रहवशात् उत्कृष्ट पूजा सम्भव हो जाती है।

'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता,
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः,
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।२१।११)

अर्थात्, पूज्य एवं पूजा के यथोचित ज्ञान से रहित, उचित सामग्री-सम्भार ज्ञान से सर्वथा रहित वृन्दावन की कृष्णसार मृगी प्रभु के मुखचन्द्र को अनु-

रागभरी दृष्टि से निहारती हैं; यही उनकी पूजा का स्वरूप है। सामान्यतः पूज्य के अनन्त महिमान्वित स्वरूप एवं स्वात्मज्ञान होने पर ही पूजा सम्भव है। देह-मात्राभिमानी पूजा में समर्थ नहीं, देहातिरिक्त होकर ही पूजा सम्भव हो सकती है। जैमिनीयसूत्र का व्याख्या करते हुए शबरस्वामी देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। भट्ट कुमारिल कहते हैं—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥'

(मीमांसा-श्लोकवार्तिक १-१-५)

नास्तिकता का निराकरण करते हुए युक्ति से आत्मा की अस्तितता, अस्तित्व सिद्ध किया गया है। देहमात्र आत्मा नहीं है, आत्मा देहभिन्न है। वेदान्त-विचार से इसका वैशद्य, अत्यन्त स्पष्टीकरण होता है।

पूजा के अन्तर्गत भक्त अपने आराध्य की विभिन्न सामग्रियों से पूजा करता है।

'अथ बहुमणिमिश्रैर्मौक्तिकैश्चावकीर्य, त्रिभुवनकमनीयैः पूजयित्वा च वस्त्रैः।
मिलितविविधमुक्तां दिव्यमाणिक्ययुक्तां जननि! कनकवृष्टिं दक्षिणां तेऽर्पयामि॥'

(बालात्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा—४२)

विविध प्रकार के मणि-मौक्तिक, दिव्य वस्त्र आदि समर्पित कर पूजान्त में कनकवृष्टि द्वारा दक्षिणा समर्पित की जाती है। भगवदनुग्रहवशात् ही भक्त सम्पूर्ण पूजायोग्य सामग्री का सम्पादन भी कर पाता है अतः कहा जाता है **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।'** अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वाधिष्ठान, विश्वंभर, परात्पर, परब्रह्म प्रभु द्वारा प्रदत्त वस्तु को ही प्रभु के प्रति समर्पित कर उनकी पूजा की जाती है। मानसिक संकल्प द्वारा उनको सर्वोत्तम, उत्तमजाति, उत्तम वस्तु प्रदान करते हुए भी व्यवहारतः अपनी शक्तिभर, सामर्थ्यानुसार ही करना चाहिए तथापि **'वित्तशाठ्यविवर्जितं'** वित्तशाठ्य विवर्जित है।

'अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥'

(श्रीमद्भा० १०।८१।३)

प्रेम से समर्पित अणुमात्र वस्तु भी बहुत हो जाती है। अभक्त के द्वारा प्रेम-रहित सर्वस्व का अर्पण करने पर भी मैं तुष्ट नहीं होता। **'स्वान्तं हृन्मानसं मनः'**; हृदय, मन, मानस सब पर्यायवाची हैं। नैयायिक कहते हैं—**'युगपज्ज्ञाना-**

नुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्' (गो० सू० १।१।१६) अर्थात्, एक साथ अनेक इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता अतः सिद्ध होता है कि मन परमाणु परिमित है। वल्लभाचार्यजी की व्याख्या है—

'प्रेम्णा समर्पितं वस्तु हृदयेन समर्पितं भवति।
हृदयेन समर्पितं भगवान् हृदयेनैव गृह्णाति॥'

प्रेम से समर्पित वस्तु हृदय से दी जाती है अतः भगवान् भी उसको हृदय से ही स्वीकार करते हैं। **'भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते'** अर्थात्, बिना प्रेम का समर्पण बाह्यभाव से होता है। **'बाह्यभावेन समर्पितं वस्तु भगवान् बाह्येनैव रूपेण गृह्णाति।'** बाह्यभाव से समर्पित वस्तु को भगवान् भी बाह्यभाव से ही ग्रहण करते हैं। भगवान् का बाह्य-स्वरूप महाविराट् है; अन्तरिक्ष ही महाविराट् का उदर है। अस्तु, अभक्त द्वारा भूरि-वस्तु भी उपहृत हो तो **'न मे तोषाय कल्पते'** भगवान् को सन्तुष्ट नहीं कर पाती।

'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥'

(गीता ४।३३)

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे परंतप अर्जुन! द्रव्य-मय-यज्ञ से ज्ञानयज्ञ ही महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य-मय-यज्ञ में तो राजस-तामस भावों का संचार भी हो जाता है परन्तु ज्ञानयज्ञ इन दोषों से मुक्त है।

पूर्व-प्रसंगों में भगवद्-स्वरूप में चित्त-निरोध की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण हो चुका है। तामसी भाववती गोपाङ्गनाएँ ही सर्वोत्कृष्ट हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी कृत व्याख्यानुसार तामसी गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे सखे! ये लोग केवल निर्धारित मन्तव्य को ही कह रही हैं। एक सखा के द्वारा अपने सखा के प्रति छल-छद्म-शून्य प्रतारणा-रहित अभिव्यञ्जना ही उचित है। हम तो आपकी सखीजन हैं अतः हम आपके प्रति छल-छद्म-शून्य विज्ञापन ही करती हैं। **'नः अस्मान् भज, भवत् किंकरीः।'** हम आपकी किंकरी हैं अतः आप भी हमारा भजन करें। भगवद्-वचन है, **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४।११) अर्थात्, भक्त जिस भाव से मुझे भजता है उसी भाव से मैं भी भक्त को भजता हूँ। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे सखे! अपनी प्रतिज्ञानुसार ही आप हमारा भजन' हमारा अनुसरण करें। जो आपके प्रति कान्तभाववती हैं उनका कान्ताभाव से, जो परमप्रेयान् भाववती हैं उनका परम-प्रेयसी-भाव से अनुसरण करें।'

हे सखे! आपके इस अवतार का सामान्य हेतु **'व्रजजनार्तिहन्'** व्रजवासियों की आर्ति का हनन भी है तथापि हम प्रेयसी-जनों की पीड़ा का उपशमन ही विशेष हेतु है। व्रजवासियों के अन्तर्गत हम सीमन्तिनी जनों की आर्ति का भी

हनन हुआ है तथापि **'परित्राणाय साधूनां'** जिनको आपके मुखचन्द्र-दर्शन में ही व्यसन हो गया है, जिनके लिए आपकी सत्य-संकल्पता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठितप्राय है, जो केवल आपके सौन्दर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधा जलनिधि, दिव्य मंगलमय स्वरूप की मधुरिमा एवं आपके अधर-सुधा-रस में ही आसक्त हैं ऐसे जनों की आर्ति का हनन एवं परित्राण हेतु **'नः अस्मान् भज'** हे सखे ! आप हमारा अनुसरण करें।

आपके इस अवतार का एक अन्य प्रयोजन भी है। आप **'वीर योषितां'** हैं। काम-क्रोध-मद-मोह-लोभादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही सर्वोत्कृष्ट वीरता है; काम-विजयी ही सर्वोत्कृष्ट विजयी है। स्वनिष्ठ काम-विजय कथंचित् सम्भव भी हो जाय परन्तु अन्यनिष्ठ काम को भी उपशान्त कर देना, तत्रापि योषिताओं के काम को उपशान्त कर देना यही सर्वोत्कृष्ट वीरता है, यही धर्मशास्त्र एवं श्रृंगार-शास्त्र दोनों का ही सिद्धान्त है। **'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः, स्त्रीणां चाष्टगुणः कामः'** स्त्रियों में आठगुणा अधिक काम होता है। फिर सामान्य नर किसी एक भी स्त्री की कामनाओं की पूर्ति कैसे कर सकेगा ? श्रुतिरूपा, मुनिरूपा, अनन्य-पूर्विका, अन्य-पूर्विका, ऊढा-अनूढा, मुग्धा, मध्या, मानिनी आदि अनेक प्रकार की अपरिगणित अनन्त नायिकाओं के काम की पूर्ति किसी सामान्य जीव के लिए तो सर्वथा सम्भव हो नहीं, क्योंकि जीवमात्र अपूर्ण काम, अप्राप्त काम हैं। स्वयं आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम ही इन असंख्य योषिताओं के अन्तस्थ काम को पूर्ण करने में समर्थ हैं। जिन विभिन्न कामों की पूर्ति ब्रह्मा भी नहीं कर पाते उन सम्पूर्ण कामों की पूर्ति अन्तस्थ आनन्द द्वारा हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही आनन्दरूप में प्राणिमात्र के अन्तस्थ हैं। श्रुति-वचन है,

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' (तै० उ० ३।६)

अर्थात्, स्वयं आनन्दस्वरूप भगवान् से ही विश्व की उत्पत्ति होती है; आनन्द-स्वरूप भगवान् में ही विश्व प्रतिष्ठित रहता है और आनन्द-स्वरूप भगवान् में ही प्रविलीन भी हो जाता है। भगवत्-स्वरूप भूत आनन्द प्राणिमात्र के हृदय में निवास करता है। भगवदनुग्रह से ही स्वान्तःस्थित आनन्द का प्रस्फुटन सम्भव है। यह अन्तःस्थित आनन्द प्रस्फुटित होकर अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण एवं रोम-रोम में पूरित हो जाता है अतः अन्य क्षुद्र लौकिक आनन्द एवं काम के समावेश का अवकाश ही नहीं रह जाता।

'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥'
(गीता २।७०)

गोपाङ्गनाएँ भी कहती हैं—

'यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया,
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग,
स्थातुं त्वयाऽभिरमिता बत पारयामः ॥'
(श्रीमद्भा० १०।२९।३६)

सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ न कर हम केवल अपने प्रसंगानुसार **'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति'** अंश का ही विचार कर रहे हैं। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभो ! आपके मंगलमय पाद-पंकज के संस्पर्श के अनन्तर किसी अन्य के समक्ष उपस्थित होने की कामना ही नहीं होती, तात्पर्य कि सर्वतो अलम् बुद्धि उद्‌बुद्ध हो गई है; एक बार जिस स्वरूप में निष्ठा हो गई, एक बार जिस पादपंकज का संस्पर्श मिल चुका है उससे अन्य किसी स्वरूप-दर्शन की, पादपंकज-संस्पर्श की कामना ही नहीं रह गई है। एतावता हे प्राणनाथ ! **'जलरुहाननं चारु दर्शय'** अपने मनोहर मंजुल कान्तिमान् मुख-कमल का दर्शन दें।

गोपाङ्गनाएँ अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'हे सखी-जनो ! तुम्हारे इस स्मय-नाश-हेतु ही तो हम अन्तर्धान हुए हैं। इसका उत्तर देती हुई वे कहती हैं, 'श्यामसुन्दर ! जो गुड़ से ही मर जाय उसको विष क्यों दिया जाय ? आपके अन्तर्धान होने से हमारे स्मय का नाश नहीं हो सकेगा ! स्मय-नाश के लिए उसका कारण जानना ही उपयुक्त है। वल्लभाचार्यजी कहते हैं, **'हासो जनोन्मादकरी च माया'** (श्रीमद्भा० २।१।३१) भगवान् का हास, मुक्तहास, प्रहास ही माया है। स्मय, मद—माया का ही कार्य है; माया के कारण ही उन्माद होता है, अतः हे सखे ! आपके प्रहास के कारण ही हमें स्मय हुआ एतावता इस स्मय-नाश के लिए आपका स्मित ही पर्याप्त है। प्रहास का संकोच ही स्मित है। **'निजजनानां स्मयस्य ध्वंसनं स्मितं यस्य। हे वीर योषितां सखे !'** निज जनों के स्मय, गर्व का हनन करनेवाली आपकी मधुर मनोहर मुस्कान से ही हम प्रेयसी जनों का गर्व शमन हो जायगा। जनोन्माद-कारिणी माया प्रहास के संकुचित हो जाने पर स्वभावतः ही मायाजनित गर्व का भी उपशमन हो जाता है।

'निजजनस्मयध्वंसनस्मित' का एक अर्थ यह भी है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे! आपके मंगलमय मुखचन्द्र की मधुरमनोहर मुस्कान को देखकर मानिनी भी मुग्ध हो जाती हैं अर्थात् उसका मान भंग हो जाता है। **'निस्सन्देहं साधनम्'** हे सखे! हमारे स्मय-ध्वंस-हेतु आपका स्मित निस्सन्देह साधन है।

'लखो जिन लाल की मुसकान।
तिनहिं बिसरी वेद-विधि सब योग ध्यानरू ज्ञान॥'

जिन्होंने एक बार भी लाल की मधुर मनोहर मुस्कान को देख लिया उनको इतर सम्पूर्ण विस्मृत हो जाता है। एतावता स्मय-ध्वंस में आपका स्मित ही अद्वितीय एवं निस्सन्देह साधन है। आपके मुखचन्द्र कमल से अमृतमय मकरन्द का वर्षण होता है; इस अमृतमय मकरन्द के पान से इतर सम्पूर्ण राग विस्मृत हो जाते हैं फलतः स्मय का भी प्रशमन हो जाता है। **'नहि अमृते पीते दोषस्तिष्ठति।'** अमृत-पानान्तर कोई दोष स्थिर नहीं रह पाता। योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंसगण भी भगवन्मुखारविन्द के दिव्य स्मितस्वरूप माधुर्यामृत का रसास्वादन कर सम्पूर्ण दोषों का परिहार कर लेते हैं। **'शोकाश्रु-सागरविशोषणमत्युदारम्।'** (श्रीमद्भा० ३।२८।३२) भगवान् का प्रहास शोकाश्रु-सागर का विशोषक है। **'अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकाः'** (पद्मपुराण २७०) भगवत्-स्मित ही हृदय-स्थित भगवदनुग्रहाख्य, चन्द्रमा की सर्वपाप-तापापनोदक परम शीतल दिव्य रश्मि हैं।

हृदयँ अनुग्रह इन्दु प्रकासा, सूचत किरन मनोहर हासा॥
(मानस, बाल का० १९७।७)

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे! आपके **'जलरुहाननं'** मुख-कमल के अदर्शन से निश्चय ही हम लोग मृत्यु को प्राप्त हो जायँगी। क्या आपको हमारा मरण ही अभीष्ट है? सखा तो अपने सखा के मनस्ताप को मिटाना चाहता है अतः आप भी निश्चय ही हमारी मृत्यु की कामना नहीं करते होंगे। अतः हे सखे! **'जलरुहाननं चारु दर्शय'** अपने मनोहर मुख-कमल का दर्शन दें। मन को हर लेनेवाला ही मनोहर है। वल्लभाचार्यजी कहते हैं, **'नहि धर्मोऽपि हृदन्यत्र तिष्ठति'** मन के अतिरिक्त धर्म और कहीं नहीं रहता; मन ही धर्म का अधिष्ठान है। भगवत्साक्षात्कार, भगवद्-मुखकमल मनोहर है, मन को हरण कर लेनेवाला है। श्रुति-वचन है,

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवं' (बृहदारण्यक १।५।३)

काम, श्रद्धा, अश्रद्धा, ह्री, श्री, धी आदि सब मन के कार्य हैं। स्मय भी मन का धर्म है; अस्तु, मन के न रहने पर मन का धर्म भी न रह जायगा। एतावता हे सखे! हमारे स्मय-ध्वंसन हेतु अन्तर्धान होना उचित नहीं; इस मनोहर मुखारविन्द के दर्शनमात्र से ही हमारे स्मय का अपनयन हो जायगा।

विश्वनाथ चक्रवर्ती अर्थ करते हैं,

'दुर्वारमारशरसंप्रहारमहाजिष्णो! अस्माकं सौभाग्यजनकं गर्वमपि न सहसे।'

हे सखे! ब्रह्मादिकों पर विजय प्राप्त कर जिसको अत्यन्त दर्प हो गया है ऐसे कन्दर्प के दर्प को भी दलित कर देने में आप अत्यन्त दक्ष हैं। हमारा दर्प तो हमारे सौभाग्यातिशय का ही द्योतक है। हम मानिनी हैं। मानिनी के मान को ही अनुचित मानकर आप अन्तर्धान हो गए?

अथवा एक भाव यह भी है कि प्रणय-कोपवशात् मानिनी नायिकाएँ **'व्रजजनार्तिहन्'** उक्ति का विपरीतार्थ करती हैं। **'व्रजजनानां निजजनानां आर्तीर्हंन्सि नः अस्माकं आर्तीः कथं न हरसि'** हे श्यामसुन्दर! आप तो अपने स्वजन व्रजजनों की आर्ति का ही हनन करते हैं, हम व्रजाङ्गनाओं की आर्ति का हरण नहीं करते।

अथवा **'व्रजाङ्गनाजनान् स्वविप्रयोगजन्यतीव्रतापेन, तीव्रार्त्या हंति इति व्रजजनार्तिहन्'** इस उक्ति में **'व्रजजनाः'** पद व्रजाङ्गनाजनपरक है। व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे! अपने विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से, तीव्र आर्ति से हमारा हनन ही आपके इस अवतार-विशेष का प्रयोजन है। यही कारण है कि आप अन्तर्धान होकर वन-वन में भटक रहे हैं।

अथवा **'व्रजजनानामार्ति-हन्ति गमयति इति 'व्रजजनार्तिहन्'**। **'हन्'** धातु का एक अर्थ **'गति'** भी है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे सखे! हम व्रजाङ्ग-नाओं को आर्ति पहुँचाना ही आपके इस अवतार का विशेष प्रयोजन है। अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन एवं संहार तो आपकी ईश्वरीय शक्ति द्वारा होता है। आप तो केवल मात्र **'व्रजजनान् आर्तीर्हंन्ति गमयति'** व्रजजनों को, अपने भक्तजनों को, हम परम-प्रेयसी व्रजाङ्गनाजनों को अपने विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संतप्त ही करते रहते हैं। आप **'वीर-योषितां'** हैं। आप उत्कृष्ट वीर हैं। मधु-कैटभ-वध तो आपकी नारायणी शक्ति का ही शौर्य है; इसी तरह, अन्य विभिन्न शत्रुओं को पराजित करने का शौर्य तो आपकी विभिन्न शक्तियों में ही है; आपका यह व्रजेन्द्रनन्दन, गोपकुमार, श्रीकृष्ण-स्वरूप तो केवल-मात्र **'योषितां वधे वीरः'** योषिताओं के हनन में ही शूरमा है। यही कारण है कि

आप अन्तर्धान होकर हम योषिताओं, परम-प्रेयसी व्रजाङ्गनाओं का अपने विप्रयोगजन्य तीव्रताप से हनन कर रहे हैं।

मानिनी कहती हैं, हे सखे ! आपका स्मित, ईषत् हास्य भी व्रजजनों के स्मय का हनन करनेवाला है। यह स्मय, मान ही व्रजजनों का सार-सर्वस्व है; 'मान' ही मानधनों का जीवन है।

'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥'

(गीता २।३४)

मानधनों का मान-हरण कर लेना ही उनका हनन है। किसीके जीवन-सर्वस्व का हनन अत्यन्त दोषपूर्ण कृत्य है। हे सखे ! **'भवत् किंकरीः नो भज किन्तु अन्यानेव भज'** आप अपनी किंकरीजनों को न भजें, अन्यजनों को ही भजें। हम तो आपकी दासी हैं, किंकरी हैं, अपने अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, अपना सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित कर आपको ही सदा भजती रहती हैं, आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से मृत्यु को प्राप्त हो रही हैं; अब आप हमारा भजन न करें, अब आप हमारी ओर न आयें। **'अन्यानेव भज'** अन्यजनों को ही भजें। **'जलरुहाननमपि न दर्शय'** अपने मनोहर मुखारविन्द का दर्शन भी न दें। आपकी विप्रयोगजन्य असह्य वेदना से व्याकुल हो हमने तो मरना ही ठान लिया है।

श्रीकृष्ण-प्रेम में बावरी ये गोपालियाँ अपने जीवनधन, प्राणों के प्राण, श्यामसुन्दर के प्रति अनुरागरसपरिप्लुत, अनुरागाधिक्यजन्य प्रणय-कोप-रस-परिप्लुत वाणी का प्रयोग कर उनके कृपा-प्रसाद की ही आकांक्षा करती हैं।

भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण प्राणों के प्राण हैं; देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार का धारक प्राण ही सर्वाधिक प्रिय है। जो प्राणों का धारक, प्राणों का प्राण हो वही स्वभावतः ही प्रियतम है। **'लोके न हि स विद्येत यो न राम-मनुव्रतः।'** (वाल्मीकि रामायण २।३७।३२) संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो राम का अनुव्रत नहीं है परन्तु कोई अभिज्ञ है, कोई अनभिज्ञ है।

'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह, जिन्हहि तिन्हहि विधि बाम ॥'

(मानस, अयोध्या का० २९०)

योगवाशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ काकभुशुण्डिजी के प्रति प्राणोपासना का उपदेश करते हैं। तदनुसार जैसे तरंग महासमुद्र से उत्थित होकर पुनः उसीमें

विलीन हो जाती है वैसे ही, प्राण एवं अपानरूप तरंग भी अचिन्त्य, अत्यन्ताबाध्य, अखंडमान, निर्विकार, स्वप्रकाश, बोधस्वरूप अनन्त महासमुद्र से उत्थित होकर पुनः उसीमें समाविष्ट हो प्रशान्त हो जाती है। प्राणरूप तरंग के विलयन एवं अपानरूप तरंग की उत्पत्ति तथा अपानरूप तरंग के विलयन एवं प्राणरूप तरंग की उत्पत्ति के मध्यकाल, संधिकाल में प्राण के प्रशान्त हो जाने से मन भी प्रशान्त हो जाता है। प्राण के चांचल्य से ही मन चंचल होता है। प्राण के शान्त हो जाने पर मन भी शान्त हो जाता है। यह स्थिति निद्रा-भिन्न है। निद्रा-काल में सत्य-तत्त्व स्वप्रकाश अखण्डबोध, आत्मतत्त्व आकृत हो जाता है; प्राणापानरूप तरंग के क्रमशः उत्थान एवं विलयन के पूर्व संधिकाल में प्राण के प्रशान्त हो जाने से मन भी प्रशान्त हो जाता है। मन के प्रशान्त हो जाने पर संकल्प-विकल्प का अन्त हो जाता है। मन ही उपहित जीव है। **'प्राणाः बन्धनं आश्रयः यस्य तत् प्राणबन्धनम्। प्राणबन्धनं सोम्य मनः'** (छा० उप० ६।८।२) प्राणोपहित सत्पदवाच्य परमेश्वर ही मन उपहित जीव का आश्रय है। **'अस्मिन् इति बन्धनं बन्धनाधिकरण, प्राणाः बन्धनं अधिकरणं आधारः यस्य'** प्राण एवं अपानरूप पालने में मन उपहित जीवरूप शिशु झूलता रहता है। प्राणापान के सन्धिकाल में अखण्ड भाव, ब्रह्म की अनुभूति होती है। अन्तर्मुख होकर, अंतरंग होकर प्राणापान गत्यागति के मध्यकाल में अखण्ड-मान परब्रह्म का साक्षात्कार करना ही प्राणोपासना है।

'न प्राणेन नापानेन, मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति, यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥'

(कठोप० २।५।५)

अर्थात्, केवल प्राण अथवा केवल अपान से प्राणी का जीवन नहीं रहता; किन्तु प्राणी उसके आधार पर जीवित रहता है जो प्राणापान दोनों का धारक है। घटाकाशस्थानीय जीव का जीवन किंवा आधार महाकाश ही है, यदि जीव को प्रतिबिंबस्थानीय मान लिया जाय तो बिंब ही जीवन किंवा आधार है। इसी तरह यदि जीव को चिदाभास-स्वरूप मान लिया जाय तो भी उसका आधार, अधिष्ठान परब्रह्म ही है एतावता एकमात्र भगवान् ही प्राण के प्राण, जीव के जीवन एवं सुख के सुख हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देवशिरोमणियों का सुख भी अचिन्त्य, अनन्त, आनन्द-सिन्धु का बिन्दु है। प्राणिमात्र ही सुख की आकांक्षा करता है। एतावता प्राणिमात्र ही जाने-अनजाने राम का ही अनुव्रत है तथापि जो भगवदुन्मुख होकर भगवद्-भजन करते हैं

उनकी मुक्ति हो जाती है। शास्त्र-वचन है, **'स एन मविदितो न भुनक्ति'** (बृ० उप० १।४।१५) देव अविदित होकर महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्ति का गोचर न होकर जनन-मरणाविच्छेदलक्षणा संसृति से जीव के रक्षार्थ अग्रसरित नहीं होता।

निद्राकाल में मन-उपहित जीव, प्राण-उपहित सत्पदवाच्य परब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे दिशा-विदिशा में भटकते हुए शकुनि पक्षी को विश्राम हेतु पुनः अपने बन्धनाधार काष्ठ पर ही लौट आना पड़ता है वैसे ही मन-उपहित जीव भी अपने कर्मानुसार जागृत एवं स्वप्नावस्था में दिशा-विदिशा में भटकता हुआ विश्राम हेतु पुनः अपने सत्पदवाच्य परब्रह्मरूप आधार का आश्रयण करता है।

'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं, स्वपितीत्याचक्षते।' (छा० उप० ६।८।१) स्वपिति का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो गया। प्राणिमात्र का वास्तविक स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर ही है। **'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः सतिसंपद्य न विदुः'** (छा० ६।९।१) सब प्राणी सदा-सर्वदा सत् नहीं हैं तथापि सत् उसका आयतन है। अपने सत् से सम्बद्ध होकर ही जीव विश्राम का अनुभव करता है। **'वीनाम् प्राणिनाम् ईराः ईरयन्ति इति ईराः प्राणाः।'** भगवान् ही सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण हैं।

अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे सखे! आप ही सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण, सुख के सुख हैं तथापि विशेषतः **'योषितां वीर'** व्रजाङ्गनाओं के प्राण हैं, सुख हैं। परमानुरागिणी व्रज-सीमन्तिनी जनों ने अपना अन्तरात्मा, अन्तःकरण रोम-रोम, सर्वस्व ही आपके चरणों से समर्पित कर रखा है। विधाता ने भी हमारे देह को बनाकर हमारी आयु आपके हाथ में दे दी है। अतः मरण से भी कोटि-गुणाधिक विप्रयोग व्यथा को सहते हुए भी अपने श्यामसुन्दर मदनमोहन के मिलन की आशा से ही हमारे प्राण-पखेरू उड़ नहीं पाते। अतः इस दुस्सह वेदना को झेलती हुई भी हम गोपाङ्गनाएँ जीवित हैं।

प्रयोजन सिद्धि का प्रेरक भी है। **'दुर्वारमारसंप्रहारमहाजिष्णो'** जिसके निवारण में देवाधिदेव भी असमर्थ हैं ऐसे दुर्वार-मार का शर-प्रहार भी जिसके सन्मुख अकिंचित्कर, निरर्थक हो जाता है, जिसने दुर्वार-मार पर भी विजय प्राप्त कर ली है; 'शरद्' ही इस दुर्वार-मार का मित्र है; **'शरं ददाति इति शरदः'** शर को देनेवाला ही शरद है। मनोज मार का यह सखा शरद अपने सखा की शक्ति का सदा उपबृंहण करता रहता है। संग्राम-रत वीर के लिए शस्त्रास्त्र की ही सर्वाधिक आवश्यकता है। यदि संग्राम काल में शस्त्रास्त्र की

पूर्णरूपेण प्राप्ति होती रहे तो पराजय की संभावना नहीं होती। शरद ऋतु में विविध प्रकार के पुष्प प्रचुर मात्रा में खिलते हैं। ये विविध प्रकार के पुष्प ही कंदर्प के पंचशर हैं। इनमें एक है पलाश पुष्प; यह रक्त-वर्ण और एक तरफ से कुछ मुड़ा रहता है; मानों यह विरही–जन हृदय-विदारक तलवार है जो उनके रक्त से रंजित है। कंदर्प का दूसरा शर है, केतकी पुष्प, जो भाले के तुल्य नुकीला एवं सफेद होता है। कुन्द-कुड्मल ही तीसरा शर है। तात्पर्य कि अत्यन्त सुन्दर, मनोहर, कोमल-सुगन्धित पुष्प भी विरही-जनों के लिये तीखे शरसम दुःखदायी ही होते हैं। मनोरम चन्द्रमा भी विरहजनार्ति-वृद्धि का ही कारण होता है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र का सुमधुर अधर-सुधारस वेणु छिद्रों में प्रविष्ट वेणुगीत-पीयूष रूप में गोपाङ्गनाओं के उपासना-संस्कार-संस्कृत निरावरण कर्ण कुहरों द्वारा उनके अन्तस्तम में प्रविष्ट होकर रुद्रकोपाग्नि-दग्ध-मनोज को पुनः उज्जीवित कर क्रमशः आप्यायित एवं उपोद्वलित तथा उत्तरोत्तर वृद्धिगंत करते हुए, उसके पूर्ण प्राबल्य का आसादन किया; कंदर्प-सखा शरद ने शीतल, मन्द पवन एवं विभिन्न प्रकार के प्रचुर पुष्पादि रूप शस्त्रास्त्र सामग्री का उपस्थापन किया, इस तरह पुनः प्रबलतम एवं शस्त्रास्त्र सुसज्जित होकर कंदर्प विश्व-विजय हेतु प्रस्तुत हुआ। ऐसे दुर्वार मार के तीव्र शर-प्रहार भी भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तःकरण पर विफल ही हुए अतः वे ही **'दुर्वार मार शरसंप्रहार महाजिष्णो'** हैं।

'वीरैः शूरा विजेतव्याः' शूर पर विजय प्राप्त करना ही वीरों की वीरता है। प्रबलतम बाह्य शत्रु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है परन्तु काम-क्रोधादिक अन्तः शत्रुओं पर विजय पाना ही वास्तविक शूरता है। अन्तः शत्रुओं में भी काम प्रबलतम है; स्वनिष्ठ काम पर विजय पाना ही सर्वोत्कृष्ट वीरता है; अन्य निष्ठ काम पर विजय पाना, उत्कृष्टाति-उत्कृष्ट वीरता है। योगीन्द्र, मुनीन्द्र अमलात्मा, परमहंस अन्तर्मुख होकर भगवद्-ध्यान के प्रभाव से स्वनिष्ठ काम को उपशांत कर लेते हैं तथापि वे भी अन्य-निष्ठ काम का उपशमन नहीं कर पाते। जीव-मात्र अपूर्ण है अतः जीव में प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक है। उदाहरणतः किसी एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो उनमें परस्पर द्वेष, भाव बना रहता है क्योंकि वह सबकी वांछाँ पूर्ति नहीं कर सकता; परन्तु पुण्य-सलिला गंगा से हजारों लाखों लोग प्रतिदिन हजारों लाखों कलश जल भरें तो भी भगवती गंगा का जल कभी न्यून नहीं होता अतः उसमें किसी को प्रतिस्पर्धा नहीं होती। •इसी तरह, अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणी भी यदि अचिंत्यानन्द, परमानन्द सुधा-सिंधु भगवान् का भजन करते हुए आनन्द-

सुधा से अपना-अपना कलश भरते रहें तब भी भगवत्-स्वरूप सदा ही अच्युत ही रहता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक अपने सम्प्रदाय की वृद्धि चाहता है।

कामित पदार्थ की सत्ता का अपलाप कर देना ही कामोपशान्ति का शुद्ध मार्ग है। सम्पूर्ण संसार ही अविचारतः रमणीय है। काम्य **पदार्थ** का विश्लेषण करने पर पदार्थ की सत्ता लुप्त हो जाती है! **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** (छा० ६।१।६)—केवल मृत्तिका ही सत्य है; घटादि सम्पूर्ण विकार वाचारम्भण मात्र है। सम्पूर्ण संसार ही वंध्या-पुत्र किंवा ख-पुष्पवत् कल्पना मात्र है।

'पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वं मितिमत्वा शमं व्रजेत् ॥'

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥'
(म० भा० आदिपर्व ८५) (१३)

अखंड ब्रह्माण्ड की रूप-गुण सम्पन्न दिव्यातिदिव्य स्त्रियां एवं धनधान्यादि भी किसी एक व्यक्ति की तुष्टि में असमर्थ है एतावता इन्द्रियनिग्रह, संयम एवं शान्ति को धारण करो। पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के विश्लेषण से ही धैर्य-धारण सम्भव है। सम्पूर्ण काम्य-पदार्थ कच्छप-रोम, गगन-कमलिनी किंवा शश-श्रृंग तुल्य केवल वाचारम्भण-मात्र है; इनके यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से स्वभावतः ही इनमें स्पृहा परिसमाप्त हो जाती है। वस्तुतः संसार अघटित-घटनापटीयसी मंगलमयी माया-शक्ति का चमत्कार ही है; इस वास्तविक स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी स्थिति, दृढ़ता-अत्यन्त दुर्लभ हैं।

'ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥'
(श्रो० भा० २।९/३३)

जिसके द्वारा अर्थ हुए बिना ही प्रतीत होता हो और अर्थ होने पर भी न प्रतीत होता हो वही माया है। तात्पर्य कि जो अनृत एवं सत्य के यथार्थ स्वरूप को परावृत कर दे वही माया है। जैसे रज्जु में सर्प ज्ञान का अपलाप होने पर रज्जु में भीषणता का भी अपलाप स्वतः हो जाता है वैसे ही संसार के अविचारतः रमणीय स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसके आकर्षण का भी अनायास ही अपलाप हो जाता; यही कामोपशान्ति का शुद्ध मार्ग है; अन्यथा कामोपभोग

से काम का उपशमन त्रिकाल में भी सम्भव नहीं। जैसे अग्नि में घृत की आहुति देते रहने पर अग्नि वृद्धिगत होती रहती है वैसे ही कामोपभोग से लालसा, तृष्णा सदा अभिवृद्धिगत होती रहती हैं। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर पर्यन्त उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुखोपभोग करने पर भी तृष्णा सदा ही वृद्धिगत बनी रहती है; तृष्णा-तृप्ति के गोरखधन्धे में पड़ा हुआ प्राणी कोल्हू की बैल की तरह जनन-मरण अविच्छेद-लक्षणा-संसृति रूप कोल्हू में घूमते हुए, अनेकानेक दुःख-परिप्लुत संसार चक्र में घूमते हुए सदा दुःखी ही बना रहता है। सम्पूर्ण कामनाओं एवं काम्य-पदार्थों का अन्तिम परिणाम सुख प्राप्ति ही है। वेद-उपनिषद् भी प्राणी को अपार सुख-सागर का ही साक्षात्कार कराते हैं।

मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं :—

'कान्तादिविषयेप्यस्ति कारणं सुखचिद्घनम्।
कार्याकारतया भाने प्यावृतं मायया स्वतः ॥११॥
सदज्ञातंच तद्ब्रह्म मेयं कान्तादिमानतः।
मायावृतितिरोभावे वृत्त्या सत्त्वस्थया क्षणम्' ॥१२॥

(श्री भगवद्भक्ति रसायन) (१।११-१२)

अर्थात्—तत्व-साक्षात्कार, अधिष्ठान-बोध होने पर काम्य-पदार्थ के विषय-प्रतीति का ही बोध हो जाता है। उदाहरणतः काम्य-पदार्थ घट की सत्ता का बोध होने पर घट ही घटावच्छिन्न अनन्त चैतन्य स्वरूप हो गया; अतः घट-विषयिणी कामना भी घटावच्छिन्न-चैतन्योपक्षित अनन्त चैतन्य में सम्मिलित हो जाती है।

'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहि मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे ॥

('मानस', सुन्दर काण्ड)

संसार के विभिन्न सम्बन्ध एवं उनकी ममता ही अनेकानेक कामनाओं का मूल है। सांसारिक सम्बन्धों में बिखरी इस सम्पूर्ण ममता-प्रीति की अनेक सूत्रमयी रस्सी बनाकर प्रभु चरणों में बाँध देने पर विभिन्न कामनाओं का मूल ही उन्मूलित हो जाता है। तत्व-बोध से संसार की अनित्यता का भान होने पर तत्-तत् पदार्थ विषयिणी कामनाएँ भी स्वभावतः ही भगवदुन्मुखी होने लगती है। भगवदुन्मुखी प्रवृत्तियों में क्रमशः दृढ़ता एवं अनन्यता आने पर

परिणामतः अंतःकरण, अंतरात्मा दशों इन्द्रियाँ, रोम-रोम सम्पूर्ण ही अनन्तानन्त अपार सुधासार से ओत-प्रोत हो जाता है। एकमात्र प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र ही सम्पूर्ण काम का निराकरण करते हुए आनन्द-समुद्र उद्बुद्ध करने में समर्थ हैं। अपने प्राणधन, प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द, हस्तारविन्द, मुखारविन्द, दामिनी-द्युति-विनिन्दक पीताम्बर एवं अन्य दिव्यातिदिव्य वसन-भूषण अलंकारादि के सौन्दर्य माधुर्य सौरस्य-रसास्वादन में तन्मय गोप बालाओं को स्वभावतः तत्व-बोध की अनुभूति होती है और वे स्वयं भी आत्मकामता, पूर्ण-कामता, परम-निष्कामता का अनुभव करने लगती हैं।

'विष्णु-पुराण' में एक कथा आती है। भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये; अपने प्रेयान् को खोजती गोपाङ्गनाएँ वन-वन में भटक रहीं हैं; अचानक किसी निकुंज में उनको भगवान् के शंख-चक्र गदा-पद्म धारी, दिव्यातिदिव्य पीताम्बर तथा मुकुट-कीरीट धारी, कोटि-कोटि सूर्यनारायण-तुल्य प्रकाशयुक्त दिव्य तेजोमय स्वरूप श्रीमन्नारायण विष्णु का दर्शन हुआ। इस दिव्य स्वरूप के प्रति सादर सविनय नमस्कार करती हुई **गोपाङ्गनाएँ अपने गोपाल श्याम सुन्दर के सम्मिलन** का वरदान माँगकर पुनः उनकी खोज में चल पड़ती हैं। प्रभु का दिव्यातिदिव्य तेजोमय स्वरूप भी उन प्रेम-विह्वला गोपालियों को क्षणार्ध के लिए भी आकर्षित न कर सका। ज्ञानी उद्धव के प्रति भी वे अपने प्रेम की तन्मयता का ही प्रदर्शन करती हैं। सूरदास जी लिखते हैं, वे कहती हैं **'उधौ मन न हुए दस बीस को आराधै ईस।'** गोपाङ्गनाओं के लिये उनके गोपाल श्याम-सुन्दर ही **'हारिल की लकड़ी'** हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—**'जहाँ काम तहाँ राम नहीं। जहाँ राम तहाँ काम नहीं।'**

बौद्ध शंका करते हैं कि जैसे भड़भूजे के भाड़ में पड़े हुए अन्न के बीज का अस्तित्व ही संदिग्ध है; उसके पल्लवित-पुष्पित एवं फलित होने की आशा ही व्यर्थ, वाचारम्भण मात्र है, वैसे ही, काम-क्रोध, लोभ-मद-मोहादि से अभिभूत अन्तःकरण में ज्ञान-विज्ञान के संस्कार का उद्बुध होकर दृढ़ एवं अनन्य होने की कामना भी सुखद कल्पना मात्र है। बौद्ध-ग्रन्थों में ही इस शंका का समाधान भी प्राप्त हो जाता है। कहते हैं, जैसे प्रकाश की प्रथम रश्मि-प्रवेश के साथ ही साथ युग-युगान्तरों से जमा हुआ अंधकार लुप्त हो जाता है वैसे ही मिथ्या-ज्ञान के आधार पर स्थित संसार-विषयक प्रत्यय स्वरूप अन्तस्थ घोर अन्धकार भी भगवत्-भक्ति, भगवत्-विज्ञान के संस्कार रूप प्रथम प्रभा-प्रवेश के साथ ही साथ निर्मूल हो जाता है। धर्मकीर्ति की कारिका है।

'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधो यत्नवत्त्वेपि बुद्धेस्तत्पक्ष-पाततः ॥'

अर्थात्—मिथ्या-ज्ञान विजृम्भित स्वाभाविक प्रत्यय द्वारा निरुपद्रव भूतार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान का बोध सम्भव नहीं क्योंकि बुद्धि तत्व-पक्षपातिनी होती है। **'तत्व पक्षपातो हि स्वभावोधियाम्'** ।

ब्रजाङ्गनाएँ प्रेममार्ग की आचार्या हैं। आर्यजनोंचित, शास्त्र-प्रतिपादित मार्ग की प्रस्तावना, शास्त्रार्थ का संचयन कर लोक-व्यवहार में प्रतिष्ठापित कर स्वयं भी तदनुसार आचरण करने वाला ही आचार्य है।

'स्वयमाचरते यस्मादाचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते ॥५॥

(लिंग पुराण १।१०)

'वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी ।
एतानि मान्यस्थानानि ॥'

(म० २।१३६)

उक्त पूजा के स्थान हैं अतः आचार्य पूज्य है; एतावता गोपाङ्गनाएँ भी पूज्य हैं; साथ ही आदर्श-रूपा भी हैं। गोपाङ्गनाएँ तो उपलक्षण हैं, वस्तुतः जीव-मात्र ही भगवदुन्मुख होकर सम्पूर्ण लौकिक क्षुद्र सुखों से विरक्त हो परमानन्द-परिप्लुत 'हो जाता है। **'हारे को हरि नाम'** जैसी भावना यहाँ सर्वथा असंगत सिद्ध होती है।

'जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस षट्रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥'

(विनय-पत्रिका-१६९)

राम में प्रेम हो जाने पर सम्पूर्ण संसार ही नीरस हो जाता है। **'काम-पूरोस्म्यहंनृणाम्'** (श्री० वा० ७।९।५२) राम ही प्राणी के सम्पूर्ण काम को पूर्ण करने वाले हैं। राम ही वह वांछाँ-कल्पतरु है जो समस्त प्राणियों की समस्त वांछाओं की अशेष-पूर्ति करने में समर्थ हैं। **'अद्वैत सिद्धि'** जैसे अद्वितीय ग्रंथ के व्याख्याता 'गौड़ ब्रह्मानन्दजी' लिखते हैं—

'नमो नवघनश्यामकाम-कामितदेहिने ।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥'

अर्थात्—नवनील-नीरद तुल्य कान्तिमान्, कोमल, दिव्य सौगन्ध्य-पूर्ण श्री अंग है तथा समस्त कमनीयता के अधिष्ठाता भगवान् मूर्तिमान् काम को भी जिसकी कामना नित्य बनी रहती है उस नवघनश्याम को नमस्कार है। धन की प्राप्ति

की आकांक्षा से आने वाले दीन-दरिद्र ब्राह्मण सखा सुदामा के तंदुल को चबा जाने वाले कमलापति नवनील घनश्याम को नमस्कार है।

गोपाङ्गनाएँ अपने श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रही है **'व्रजजनार्तिहन्'** हे सखे ! आप व्रजजनार्ति के नाशक हैं। हम भी व्रजाङ्गनाएँ, व्रज सीमन्तनी जन ही हैं : हमारी भी आर्ति का हनन आप का कर्तव्य है। तब, उनमें भगवत्-कृत प्रश्न का प्रबोध होता है; वे अनुभव करती हैं मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं,"हे सखी जनों ! **'व्रजजनानाम् आर्तिंहृतवान् इति व्रजजनार्तिहन् ।'**, व्रजजनों को विप्रयोग-जन्य ताप से हनन करने वाला ही व्रजजनार्तिहन् है। अथवा **'हन्हिं सा गत्योः व्रजजनानाम् आर्तिहन्ति, गमयति प्रापयति, इति व्रजजनार्तिहातत्सम्बुद्धौ'** व्रजजनों को पीड़ा देने वाला ही **'व्रजजनार्तिहा'** है अतः हे व्रजसीमन्तनी जनों तुम लोगों की प्रार्थना असंगत है; हम तो व्रजवासियों के पीड़क ही हैं। उत्तर देती हुई वे कह रही हैं, 'हे सखे ! व्रजजनार्तिहन् पद का स्वाभाविक अर्थ त्याग कर आप द्राविड़ प्राणायाम से ही ऐसा अनुचित अर्थ संपादित कर रहे हैं। हे सखे ! आप वीर हैं **'विःपक्षी गरुड़ः तं ईरयति प्रेरयति इति वीरः नारायणः'** गरुड़ पक्षी के प्रेरक, नारायण स्वयं है। नारायण प्राणियों में पीड़ा का सम्पादन कदापि नहीं करते; अपितु वे तो सदा ही प्राणियों की पीड़ा के विनाशक हैं। गर्गाचार्य जी महाराज ने आपका जन्म-पत्र बनाते हुए आप को **'नारायणसमो गुणैः'** नारायण तुल्य गुण-युक्त कहा है। नारायण सम गुणयुक्त नारायण से अन्य कोई हो ही नहीं सकता अतः आप स्वयं ही नारायण है। नारायण सदा ही व्रजजनार्तिहन् हैं; आपके इस अवतार विशेष का प्रयोजन भी व्रजजनों की आर्ति का हनन करना ही है। हे सखे ! हे वीर ! आप प्राणों के प्रेरक, प्राणों के प्राण हैं, प्राण तो कदापि किसी के आर्ति के जनक नहीं होते। आप अपनी दयालुता वश हो प्राणों के प्रेरक रूप से प्राणी को अपने शुभाशुभ कर्म का फल प्रदान करते हैं। जैसे कोई दयालु सम्राट भी अपराधी को सजा देकर उसको दोष-मुक्त कर देता है, वैसे ही, आप भी दयावश ही प्राणी को उसके शुभाशुभ कर्म का फल-भोग करा कर उसको मुक्त कर देते हैं। शंख, लिखित आदिकों के अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। सम्राट इन्द्रद्युम्न ने महर्षि लिखित के हाथ दण्ड-स्वरूप कटवा दिये, हाथ कट जाने से उनके द्वारा बने अपराध का प्रायश्चित हो गया। तदनन्तर 'बाहुदा' नदी में स्नान करने पर महर्षि के हाथ पुनः पूर्ववत् हो गये। कहा गया है **'राजभिर्धृत दण्डास्तु'**। राजाओं के द्वारा दण्ड जिसमें धृत हो जाय वह निष्किल्विष होकर दिव्य धामों को प्राप्त होता है। अस्तु, हे सखे ! आप अन्तर्यामी रूप से प्राणी को उसके स्वकर्म जन्य तात्कालिक दुःखद फल-भोग भी अन्ततोगत्वा उसके अशेषतः आर्ति-हनन हेतु ही प्रदान

करते हैं। नारायण में आर्ति-दातृत्व तो कदापि होता ही नहीं अतः हे सखे ! आप हमारी पीड़ा का भी हनन करें।

हे सखे ! आप **'व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां'** हैं, व्रज योषितांओं के ही विशेषतः प्रेरक हैं; प्राणों के प्राण हैं। हम व्रज-वनिताएँ अपने अन्तःकरण, अन्तर्मन एवं रोम-रोम को आप में समर्पित कर चुकी हैं। हम आपकी किङ्करी हैं। इतना कह चुकने पर वे पुनः अनुभव करती हैं मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'हे सखियों ! हम तुम्हारे स्वकीय, कांत तो नहीं हैं; परकीय प्रेमास्पद में ऐसे उत्कट प्रेम का होना अनुचित है। इस सर्वथा अनौचित्य-भाव का तुमको विशेष गर्व है, यह भी अपराध है। रासलीला के अन्तर्गत तुमलोगों को अहंकार हुआ तब तुम ही हम से अपने नूपुर-बाँधने के लिये कहने लगी; अब अपने को किंकरी कह रही हो। हे व्रजसीमन्त जनो ! यह भाव-परिवर्तन भी अनुचित है।' इसका समाधान करते हुए वे उत्तर दे रही हैं, हे सखे ! **'ईरयति इति ईराः'** आप सर्वप्रेरक हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार आदि जीव की सम्पूर्ण गति-विधि, प्रवृत्ति, निवृत्ति सब अन्तर्यामी मूलक होते हैं। सर्व-प्रेरक की प्रेरणा-वशीभूत हो विश्व की गति-विधि, प्रवृत्ति सम्भव है।

'बोले विहसि महेश तब, ज्ञानी मूढ न कोई।
जेहि जस रघुपति करहि जब, सो तस तेहि क्षण होई ॥'

('मानस' बाल० १२४क)

इस संसार में न कोई ज्ञानी है न कोई मूढ़; सवान्तर्यामी, सर्व-प्रेरक भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र, पूर्णतम पुरुषोत्तम जब जिसको जैसी प्रेरणा दें, तब वह वैसा ही हो जाता है।

'अज्ञो जन्तुरनीशो य मात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितोगच्छेत् स्वर्गं नरक भेवच ॥

(म० मा० ३।३०, २८)।

अर्थात्, अज्ञानी जन्तु, अनीश स्वयं अपने ही कर्माकर्म के तत्-तत् फलों से अनभिज्ञ है। ईश्वर-प्रेरित ही वह अपने शुभाशुभ कर्म द्वारा स्वर्ग अथवा नरक-गामी होता है।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'

(श्रीमद् भ० गीता १८।६१)

अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर ही यंत्री हैं, जीव-मात्र यंत्र है। जैसे यंत्र का

परिचालन यंत्री के परतंत्र रहता है वैसे ही जीव रूप यंत्र की परिचालना भी ईश्वर रूप यंत्री के परतंत्र ही होती है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं हे सखे! आप सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रेरक हैं तदपि विशेषतः हम व्रजाङ्गनाओं के प्रेरक हैं। हमारी गति, स्थिति, प्रवृत्ति सब आप के परतंत्र हैं, आप द्वारा परिचालित हैं। हे सखे! आप सब के मनो का अपहरण कर लेते हैं; आप अतिशय मनोहर हैं। हम योषिताओं के मन को भी आपने ही बलात् अपनी ओर खींच लिया है।

'दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः।
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः॥'

(श्री० भाग० १०।४७।१५)

हे सखे! द्यू लोक, भूलोक, रसालोक आदि में कौन ऐसी सहृदया नारी है जो आप के इस अतुलित मनोहरता पर मुग्ध न हो जाय। आप का मनोरम माधुर्य ही ऐसा अद्भुत है जो बरबस हमको अपने में खींच लेता है।

'यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्'

(श्री० भा० १०।२९।४०)

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के दिव्य श्री अंग की लोकोत्तर मधुरिमा, मनोहरता, सुन्दरता, अद्भुत चमत्कार पूर्ण दिव्य लावण्य के सन्निधान से जड़ द्रुमलतादि भी आकर्षित हो जाते हैं, फिर चेतन की तो कथा ही क्या?

एक कथा है; वृषभानु-कुमारी, राधारानी का एक क्रीड़ा शुक था। राधा-रानी के मुख-पद्म निःसृत कोई एक श्लोक शुक को कंठस्थ था। एक दिन उड़ते-उड़ते वह क्रीड़ा-शुक नन्दराय के अलिंद पर बैठ कर उस श्लोक को ही बोलने लगा। उस श्लोक को सुनकर मुग्ध हुए श्रीकृष्ण कहने लगे **'महाप्राज्ञ पक्षिन् आगच्छ स्वागतन्ते।'** हे महाप्राज्ञ पक्षी आओ मेरे हाथ पर बैठ जाओ और वही श्लोक पुनः सुनाओ। वह शुक उड़ कर भगवान् के हस्तारविन्द पर जा बैठा और उसी श्लोक का पाठ करने लगा।

'दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौस्थ्यंगता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
नजीवति तथापि किं परमदुर्भरोऽयं जनः॥'

इतने में ही राधा रानी की सखी उस क्रीड़ा-शुक को खोजती हुई वहीं पहुँच गयी और कहने लगी, 'हे मधुमंगल हमारी सखी राधा रानी इस अपने शुक के बिना अत्यन्त उदास हो रही हैं। अतः आप कृपया इसे लौटा दें।'

भगवान् श्रीकृष्ण के सखा मधुमंगल ने उत्तर दिया 'हे सखी ! यदि यह तुम्हारा है, तुम्हारे बुलाने से तुम्हारे पास आ जाय तो तुम अवश्य ही ले जा सकती हो।' उस सखी ने उत्तर दिया कि, 'हे मधुमंगल ! तुम्हारी यह शर्त असंगत है। बाँस की जड़ बाँसुरी भी तो तुम्हारे सखा के हाथ में पहुँच कर उनको छोड़ना नहीं चाहती; यह शुक तो चेतन है; यह क्योंकर तुम्हारे सखा के हस्तारविन्द को छोड़ पायेगा।' तात्पर्य कि जब जड़ भी भगवान् के मनोहर स्वरूप से मोहित हो जाते हैं तो हम सहृदया योषिताओं की दशा तो निश्चय ही अकथ है। **'हे सखे ! परकोया यां हि प्रीत्यतिशयः'** जैसे आप के प्रश्न का यही उत्तर है कि आप का स्वरूप ही ऐसा मनोमुग्धकारी है कि हम योषिताएँ विवश हो जाती हैं। हमारे इस गर्व का कारण आप का वेणु-वादन ही है। आपके मुखचन्द्र-निःसृत सुमधुर अधर-सुधारस वेणु-छिद्रों में प्रविष्ट होकर वेणु-गीत पीयूष रूप में हमारे निराकरण कर्ण-कुहरों द्वारा हमारे अन्तःकरण में सन्निविष्ट हो गया। आपके इस वेणु-गीत प्रवाह ने हमको बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

'सर्वः प्रवाहः सर्वत्र आनुकूल्येन कर्षति।
वेणुध्वनिप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति॥'

अर्थात् संसार के सम्पूर्ण प्रवाह अपने में निक्षिप्त वस्तु को अपनी अनुकूल धारा में खींच ले जाते हैं परन्तु यह वेणुगीत प्रवाह विलक्षण है; यह तो अपने में निक्षिप्त वस्तु को अपने उद्गम-स्थल तक खींच ले जाता है। हम तो वस्तुतः अपने इस मन को जो इस विलक्षण वेणु-गीत प्रवाह में बह रहा था खोजने चली थीं परन्तु अपने दुर्भाग्य से ही आपके इस प्रतिकूल्येन कर्षण वाले प्रवाह में पड़कर अनजाने ही आप तक खींची चली आयीं। आपने अपने मधुर कटाक्ष, मनोहर मुसकान, सुस्मिति ललित वक्रोक्ति एवं त्रिभंग ललित मूर्ति द्वारा हमारे मन को अपने में वशीभूत कर हमारे हृदय में अपने प्रति राग एवं अमर कामना को निर्मर्यादित एवं अभिवृद्धिगत किया; तदनन्तर आपके साथ हुए विहार द्वारा हमारा गर्व स्वभावतः वृद्धिगत हुआ। सामान्य सौभाग्य प्राप्ति से भी प्राणी में अहंकार उत्पन्न हो जाता है; हम व्रज-वनिताओं को तो असामान्य, अद्वितीय सौभाग्य प्राप्त हुआ अतः हमलोगों का गर्व भी स्वाभाविक है। अब आपके अन्तर्धान हो जाने से उदित हमारा यह दैन्य भी हमारे गर्व की तरह ही अत्यन्त स्वाभाविक है। हमारे इस गर्वउपशमन के लिये आपका अन्तर्धान हो जाना भी सर्वथा असंगत है। जो गुड़ से मर जाय उसको विष क्यों दिया जाय? हे सखे ! आपकी सुस्मिति से ही हमारे गर्व का ध्वंस हो

जायेगा। '**निजजनस्मयध्वंसनस्मित**' आपका स्मित ही स्वजनों के स्मय का, गर्व का ध्वंस करने वाला है। हे नाथ! आप ही हमारे '**निज जन**' हैं, स्वजन हैं।

'**कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्।**
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥'

(श्री० भा० १०।१४।५५)

सकल प्राणियों के अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं एतावता वे ही प्राणीमात्र के एकमात्र स्वजन हैं। सर्वान्तरात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण ही जगत् के कल्याण-हेतु वंशोविभूषित, मंजुल, मधुर, ललित, त्रिभंगमूर्ति, मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर, व्रजेन्द्र नन्दन, गोपाल स्वरूप में आविर्भूत हैं। हे गोपाल! आपने ही हमारा पाणिग्रहण भी किया है। जब ब्रह्मा द्वारा समस्त गो-धन सहित ग्वाल-बालकों का अपहरण किया गया था उस समय आप ही तत् गोप-बालक के स्वरूप में आविर्भूत हुए थे। उसी वर्ष हम सब गोप-कुमारियों का पाणिग्रहण संस्कार हुआ था; अतः वस्तुतः हम गोप-कन्याओं का पाणिग्रहण आपही के साथ हुआ। अतः आप हमारे परम स्वकीय कान्त हैं। कात्यायनी-व्रत के अनन्तर चीर-हरण के प्रसंग से भी आप ने हम गोप-कुमारिकाओं को वरदान दिया था। '**मयैमा रंस्यथ क्षपा**' (१०।२२।२१) अमुक-अमुक रात्रियों में तुमको हमारा संगम प्राप्त होगा। वेणु-वादन प्रसंग से आपने हम गोप-कुमारिकाओं में से प्रत्येक का नाम ले लेकर आह्वान कर हमें रति-सुख प्रदान किया; अतः हे सखे! आप हमारे निज-जन, परम स्वजन हैं। आप जिसके स्वजन हों ऐसे सौभाग्यतिशायी जनों में स्मय असम्भव ही है।

'**न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।**
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे॥'

(म० भा० १३।१४९।१३३)

अर्थात्, जो पुरुषोत्तम के भक्त हैं उनमें क्रोध, मात्सर्य लोभ, अशुभा मति आदि दोष असम्भव है। स्मय भी दोष है; आप के भक्तों में, निजजनों में गर्वादि दोष कदापि सम्भव नहीं। अपने श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन के प्रति रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राधा-रानी का मान भी दोष रूप गर्व नहीं अपितु परमानुरागिणी वामा के सौभाग्यातिशय का ही सूचक है। यह मान भी प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। इस प्रणयकोप-सुधा रस के आस्वादन हेतु भी प्रभु अन्तर्धानलीला करते हैं। यह स्मय, मान तो प्रेम-रस की वृद्धि करने वाला ही है।

योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंस भी जिस भगवान् श्रीकृष्ण का रहस्य न जान सके वही भगवान् श्रीकृष्ण कुञ्ज कुटीर में राधा के चरणारविन्द की सेवा करते देखे गये। भक्ति की पराकाष्ठा होने पर वस्तुतः भगवान् भी अपने भक्त के अधीन होकर उसका भजन करने लगते हैं। व्रजाङ्गनाओं का स्मय वस्तुतः दर्प नहीं अपितु केवल स्मयाभास है जो रस की लोकोत्तर वृद्धि का कारण है। वे कह रही हैं, हे सखे! हमारा स्मय तो वस्तुतः स्मयाभास, प्रणय-कोप जन्य ही हैं। हमारा यह स्मय भी आपके जलरुहानन-दर्शन से ध्वंस हो जावेगा अतः आप अपने सुरभि युक्त, सुशीतल, तापापनोदक जलरूहानन का दर्शन देकर हमारे सन्ताप का ध्वंस करें।

गोपाङ्गनाएँ पुनः अनुभव करती हैं कि मानों भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे सखी जनो! आप के पास तो अनेक जलरूह विद्यमान हैं। आपने जलरूह-माला धारण कर रखी है; आपकी इस माला से ही आपके क्षत्-ताप का शमन हो जाना चाहिए था। दर्पण में आप अपना मुख-कमल का दर्शन कर ही आनन्दित हो लें; इतना ही नहीं, आपके हस्त भी, चरण भी सब तो कमल तुल्य मंजुल एवं मनोहर हैं। इतने पर भी आप लोग हमारे ही मुखारविन्द-दर्शन की कामना क्यों करती हैं? उत्तर देते हुए वे कह रही हैं, हे सखे! आप का जलरूहानन चारू है। आपके इस चारु जलरूहानन के अदर्शन से अन्य सम्पूर्ण जलरूह दुर्वार-मार के तीखे शर ही हो जाते हैं अतः उनके कारण तो शर-प्रहार तुल्य पीड़ा ही होती है। **'विष-संयुत कर-निकर पसारी। जारत विरहवन्त नर नारी।'** आपके विप्रयोग में यह कुवलय-समूह ही कुन्तवन तुल्य, तीखे भालों के तुल्य ही हो जाते हैं।

'कुवलय विपिन कुन्तवन सरिसा, वारिद तपत तेल जनु बरिसा।
जेहितरुरहेउकरत सोइ पीरा, उरग स्वाससमत्रिविध समीरा॥'

(मानस सुन्दर १४।३,४)

शीतल, मंद, सुगन्ध त्रिविध समीर सुख कारक ही होती है परन्तु प्रिय के विप्रयोग में प्रेमी के लिये सब विपरीत प्रतीत होने लगते हैं। हे सखे! आप के जलरूहानन के अदर्शन में हमारा अपना यह जलरूहानन-समूह भी दुःख-वृद्धि का ही कारण हो रहा है अतः कृपा करो **'जलरूहाननं चारू दर्शय'**, अपने मुख कमल का शीघ्र दर्शन दें।

श्रुति वचनानुसार **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्व जाते'**।

(ऋ० सं १।१६४।२०)

आपही हमारे वस्तुतः सखा हैं **'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांति-**

मृच्छति' (श्री० भ० गी० ५।२९) एकमात्र भगवान् ही सब प्राणियों के सुहृद् हैं इस तथ्य को जो जान लेता है वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे श्याम सुन्दर ! आप तो प्राणी मात्र के सखा हैं परन्तु **'विशेषतः नः अस्माकं सखा।'** विशेषतः हमारे ही सखा हैं। प्राणी मात्र से भगवद्-सख्य होते हुए भी अस्पष्ट है। जीव द्वारा सख्य-भाव से भगवदाश्रयण किये जाने पर भगवत्-सौहार्द भी प्रस्फुटित हो जाता है। भगवदाश्रयण ही मायायवनिका का अपसरण होता है; माया-यवनिका के अपसरण के सर्व-भूत-हितैषी, सर्व-सुहृद, सर्व-सखा भगवत् स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है।

एक कथा है; भद्रतनु नामक एक व्यक्ति था; वह अत्यन्त दुराचारी एवं व्यसनी था तथापि किसी विशिष्ट जन्म-जन्मान्तर संस्कार एवं भगवदनुग्रह-वशात् उसका भगवत्-चरणारविन्दों में प्रेम, व्यसन हो गया। अब तो स्वयं भगवान् श्री मन्नारायण विष्णु-भक्ति वशीभूत हो अपने सखा भद्रतनु के संग खेलने प्रतिदिन वैकुण्ठ से पधारने लगे। इतने पर भी भद्रतनु दुर्बल ही होता जाता था। एकदिन भगवान् ने अपने सखा से उसकी दुर्बलता का कारण पूछा। वह कहने लगा 'महाराज ! मुझको सदा यही भय बना रहता है कि मैं ऐसा कोई अपराध न कर बैठूँ जिसके कारण आपके दर्शन दुर्लभ हो जाँय।' भगवान् श्री मन्नारायण ने सखा को आश्वासन दिया, 'सखे ! डरो मत ! एक बार किसी को स्वीकार कर लेने पर मैं उसको छोड़ता नहीं।

'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥'

(वा० रा० २।१।११)

जीव द्वारा शत-शत अपकार बन जाने पर भी प्रभु उसका त्याग नहीं करते परन्तु एक उपकार से, मनसा-वाचा-कर्मणा एक बार पुकारने पर भगवन् दौड़े आते हैं।

'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सयं बार हिए की॥
जेहि अध बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ किन्हीं का चाली॥
सोइ करतूत विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥

(मानस, बाल २८।५।७)

प्रसंगानुसार तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे सखे ! आप निश्चय ही प्राणी मात्र के सखा हैं परन्तु विशेषतः हमारे ही सखा हैं क्योंकि हमें तो आप प्रत्यक्षतः प्राप्त हुए हैं; हम लोगों को आप के श्री अंग संस्पर्श का

सौभाग्य मिला है। अपने सखा की और तिस पर भी विशिष्ट सखी-जनों की आर्ति का अपनोदन तो सखा का परम कर्तव्य है। हे सखे ! आप के जलरूहानन के दर्शन से ही हमारी आर्ति का शमन सम्भव है। अतः हमारे लिये शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जावें।

'सख्योः परस्परं भजनं उचितम्।' दो सखाओं का परस्पर भजन ही उचित है। उदाहरणतः राम और शिव परस्पर एक दूसरे को सदा भजते रहते हैं राघवेन्द्र राम ने **'लिंग थापि विधिवत् करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'** (मानस लंका १।६)।

तो भूत-भावन भगवान् शंकर भी

'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहुँ अनंग अराती।

(मानस लंका १०७)

अतः कहते हैं **'सेवक स्वामि सखा सीय पीय के'** (मानस) अतः सख्य-भाव में परस्पर भजन ही उचित है। जीव माया-मोह ग्रस्त होकर भगवत्-भजन में असमर्थ रहता है। अतः गोपाङ्गनाएँ कह रहीं हैं, हे सखे ! आप हमको भजें; यद्यपि सख्य में परस्पर भजन ही उचित है तथापि हम असमर्थ हैं, आप सर्व-समर्थ हैं अतः आप ही हम पर अनुग्रह करें। भगवत्नुग्रह होने पर ही जीव भगवत्-परायण होता है। यह भगव नुग्रह ही भगवत्-कर्तृक भक्त-भजन है।

'नाथ जीव तव माया मोहू। सो निस्तरहिं तुम्हारे छोहूँ।
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी नहिं निस्तार कला सत कोरी।'

(मानसः उत्तरकाण्ड)

निष्कर्ष की भगवत्-कर्तृक भक्त-भजन, भगवदानुग्रह से ही जीव भगवदुन्मुख हो पाता है। गोपाङ्गनाएँ भी कह रही हैं, हे सखे ! हम तो आपको खोजती हुई वन-वन भटक रही हैं तथापि जब तक आप स्वयं ही अनुग्रह कर प्रत्यक्ष नहीं हो जाते तब तक हम आप के दर्शन भी क्योंकर पा सकतीं हैं। अतः स्वानुग्रह पूर्वक आप शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जावें।

'सोहं तवाङ्घ्र्युपगतोस्म्यसतां दुरापं।
तच्चाप्यहं भगवदनुग्रहईशमन्ये ॥
पुंसां भवेत् यर्हि संसरणापवर्गः।
त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥'

(श्री० भाग० १०।४०।२८)

अर्थात् हे प्रभो ! हे नाथ ! आपके अनुग्रह से ही हम आज आप के मंगल-मय चरणारविन्दों की शरण आये हैं। जब प्राणी के संसरण से अपवर्ग का

अवसर उपस्थित होता है तब आपकी कृपा से ही सत्-पुरुषों का आश्रय प्राप्त होता है; सत्-पुरुषों द्वारा प्रेरित प्राणी भगवदुन्मुख होकर संसार-दुःख-दावानल से मुक्त हो जाता है।

'बिनु हरि कृपा मिलहीं न संता।
अब मोहिमा भरोस हनुमंता॥'

और—

'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौं तुम्ह मोहिं दरसु हठि दीन्हा।'

(मानस, सुन्दर ६।३।४)

जन्म-जन्मान्तर के अपूर्व-वश भगवदनुग्रह एवं भगवदनुग्रह वश प्रभु-चरणारविन्दों में उत्तरोत्तर प्रीति होती चलती है। जीव के स्वकर्म जन्य अपूर्व तथा भगवदनुग्रह में परस्पर हेतु हेतुमद्भाव सम्बन्ध बन जाता है।

रामानुजाचार्य कृत व्याख्या है :—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा, विवृणुते तनूं स्वाम्॥'

(कठो० १।२।२२)

अर्थात्, भगवत्-साक्षात्कार न तो बहु श्रवण से, न उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंग से और न तो वेदान्त एवं अन्यान्य शास्त्रों के महातात्पर्यभूत परात्पर परब्रह्म के निर्धारण में चातुर्यपूर्ण प्रवचन से ही सम्भव है। ऐसा भी नहीं कि शक्तिमती, मेधा से **परात्पर परब्रह्म का अधिगमन हो जावेगा। जिस** साधक को परमात्मा स्वकीयत्वेन स्वीकार कर लें वही उनका दर्शन पा सकता है। जैसे स्वयंवरा कन्या स्वकीयत्वेन को ही अपने सौन्दर्य का सांगोपांग अपरोक्ष अनुभव कराती है वैसे ही, परमात्मा भी वरण के द्वारा अपने स्वरूप को वृत-विवृत करते हैं। भगवत्-वृत भक्त ही भगवत्-साक्षात्कार, निरावरण भगवत्—स्वरूप का दर्शन पा सकता है। उपनिषदों में बारम्बार स्वाध्याय एवं प्रवचन के महत्व का वर्णन हुआ है; प्रवचन एवं स्वाध्याय के माध्यम से ब्रह्म-तत्त्व की अनुभूति सुगम हो जाती है तथापि केवल इसी आधार पर ब्रह्म-साक्षात्कार, निरावरण भगवत्-स्वरूप का अपरोक्ष दर्शन कदापि सम्भव नहीं। शंकराचार्य जी कहते हैं, **'एष साधकः यं परमात्मानं वृणुते'** जो साधक भगवान् को स्वकीयत्वेन स्वीकार कर लेता है उसको ही भगवान् भी स्वकीयत्वेन स्वीकार कर लेते हैं। **'ये भजन्ति तु माम भक्त्या'** (श्री म० गी० ९/२९) भगवद्-भक्ति ही भगवत् वरेण्य गुण है। सामान्यतः इस अपार संसार-समुद्र में निमग्न प्राणी अपने दुःख-निवृत्ति एवं सुख की प्राप्ति की आकांक्षा से ही

भगवत्-भजन करते हैं। उनको भी यथा-योग्य प्राप्ति होती है। यदाकदा ही कोई विशिष्ट भगवदनुग्रह भक्त ही स्वकीयत्वेन परम-प्रेमास्पद रूपेण भगवदुन्मुख होता है। भक्त हृदय में भगवत्-चरणारविन्दों में ममत्व, सख्य प्रादुर्भूत होने पर ही भगवान् उसको सख्य-भाव से स्वीकार कर लेते हैं। मंगल-मयी, भास्वती भगवती अनुकम्पा भी साक्षात् भगवत्-स्वरूप ही है अतः तारतम्य शून्य है तथापि भक्त की योग्यतानुसार अनुग्रहाभिव्यक्ति में भी तारतम्य सम्भव हो जाता है।' मनसा, वाचा, कर्मणा स्वकीयत्वेन प्रभु को वरण कर लेना ही भगवत्-प्रपत्ति है। भगवत्-प्रपन्नता ही सर्व-श्रेष्ठ है। 'प्रपत्ति' अर्थात् प्रकृष्ठ प्राप्ति, प्रखर प्राप्ति। सम्पूर्णविश्व-जाल से विमुख होकर, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार आदि से विमुख होकर एकमात्र सर्वा-धिष्ठान, सर्वान्तिर्यामी सर्वेश्वर प्रभु को ही सम्यक् रूप से प्राप्त हो जाना ही प्रखर प्राप्ति है। जैसे घटाकाश महाकाश में अथवा तरंग समुद्र में किंवा प्रति-बिंब बिम्ब में विलीन हो जाता है, वैसे ही जीवात्मा भी अपने निरुपाधिक एवं सोपाधिक स्वरूप को तत्-तत् स्वरूप में विलीन करते हुए परमात्म-निष्ठ हो जाय यही परम-पुरुषार्थ, प्रखर-प्रपत्ति का स्वरूप है। भगवत्-प्रपत्तिक हो जाने पर प्राणी शोकमोहातीत, कर्माकर्मातीत हो जाता है।

'यस्यांके शिर आधाय लोकःस्वपि निर्वृतः।' (श्री० भा० ६/२/५) भगवत्प्रपन्न व्यक्ति भगवदंक में सिर रख कर संसार से निर्भय होकर सुखपूर्वक होता है।

'सुखीमीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिशरन न एको बाधा।'

(मानस, किष्किन्धा, १६/१)

जैसे मछली अगाध जल को पाकर सुखी हो जाती है वैसे ही जीवात्मा भी अनन्तानन्द-समुद्र भगवदंक में आश्रय पाकर परमानन्द को प्राप्त होता है। सर्वेश्वर सर्वात्मा प्रभु अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय हैं, अशरण-शरण हैं, अनाथ-नाथ हैं।

दैन्य ही सर्वोपरि भगवत्-वरेण्य गुण है। अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान जीव संसार के विभिन्न विषय-जंजाल में आबद्ध है :

'तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः'

(श्री० भा० ७।९।३९)

'जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मा वितृप्ता'

(श्री० भा० ७।९।४०)

मन अत्यन्त चपल-चंचल है : विभिन्न इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में आकृष्ट हैं अतः प्राणी भगवत्-भजन में असमर्थ हैं। भक्त कहता है, हे प्रभो ! आप

सत्य-संकल्प हैं, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी हैं, हम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान, सांसारिक विषयाक्रान्त हैं; अतः हे नाथ ! हे सखे ! आप ही स्वानुग्रहवशात् हमारा उद्बोधन करें, हमारा भजन करें, हमें ग्रहण करें।

'भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो' हे सखे ! हम आपकी किंकरी हैं। आप हमारे सखा हैं; हमारा भी आपके प्रति सख्य-भाव है तथापि हम कैंकर्य को अंगीकार करती हैं क्योंकि आप भृत्यानुग्रह-कातर हैं। हे नाथ ! सख-निबन्धन-सामर्थ्य हम लोगों में नहीं है। हम तो आपके भृत्यानुग्रह-कातरता की ही कामना करती हैं। एतावता आप स्वानुग्रहवशात् शीघ्र ही प्रकट होकर दर्शन दें।

मुग्धा नायिकाएँ कहतीं हैं **'व्रजनार्तिहन्'** हे सखे ! व्रजजनों की आर्तिहरण आपका व्रत है। आपके विप्रयोग-जन्य संताप के कारण हमारे प्राण पखेरू अब और अधिक समय के लिये नहीं रुक सकते; अतः आप अपना व्रत-भंग होने के पूर्व ही हमें दर्शन दें। हे सखे ! यदि आपको हमारा त्याग ही अभीष्ट है, तब भी एक बार तो जलरूहानन का दर्शन दे ही दें। आपके मंजुल, मधुर, शीतल, तापापनोदक, परम सुरभित, आल्हादक, दिव्य, मुख-कमल का दर्शन पाकर हम भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जावें। हे सखे ! अपने परम सख्य का स्मरण कर कर भी दया परवश हो हमारे अन्तिम समय में तो अपने **'चारु-जलरूहाननं'** का दर्शन देते जाओ।

मानिनी कहती हैं **'शठं प्रति शाठ्यं'** शठ के प्रति शाठ्य ही उचित है। आप **'व्रजजनार्तिहन्'** होते हुए भी केवल हम व्रजाङ्गनाओं को अपने विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से संतप्त करने हेतु ही अन्तर्धान हो रहे हैं। यदि हम लोगों में ऐसी सामर्थ्य होती तो हम भी यही करतीं, हम भी अपने आपको तिरोधान कर लेतीं। हमारी मृत्यु से तुमको कुछ तो कष्ट अवश्य ही होगा। अतः हम मर रही हैं। एक बार आकर अपने जलरूहानन का दर्शन दे दो क्योंकि दर्शन की लालसा से प्राण निकल भी तो नहीं पाते।

'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निजहित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥'
(मानस, सुन्दर ३०/७-८)

हे सखे ! **'एताः भवत्किंकरी हि भज'** ये जो आपकी किंकरी, मुग्धाएँ हैं; कम से कम इनका तो भजन करें, इन पर तो अनुग्रह करें।

हे सखे ! आप ही प्राणी मात्र के प्राणों के प्राण हैं, सर्वान्तर्यामी हैं; अतः

आपही निरतिशय, निरवधिक, परम-प्रेम के आस्पद हैं; विशेषतः हम व्रजाङ्गनाओं के अन्तःकरण, अन्तरात्मा के प्रेरक, प्रवर्तक एवं साक्षी हैं। जो प्राणों के प्राण, सर्वान्तर्यामी, सर्वसखा, सर्वप्राणों परम-प्रेमास्पद, विश्व-नियामक है वही **'योषितां वधे वीरो भवेत्'** कहलाये तो निश्चय ही इसमें उसकी मानहानि ही होगी। अतः हे सखे ! हम तो आपके हितार्थ ही आपके प्रति हितोपदेश कर रही हैं। आपका अनन्त यश दिग्दिगन्त में विस्तीर्ण हो रहा है; आप के इस यश की हानि करेगी, साथ हो अपयश का विस्तार होगा इस आशंका से ही हम आपके प्रति हितोपदेश कर रही हैं। कोई स्वयं कितना ही विपद्-ग्रस्त क्यों न हों अपने सखा के प्रति तो शुभ-कामना ही करता है; अतः हम अत्यन्त संतप्त हो मरण समीप पहुँच रही हैं परन्तु आपकी तो कल्याण-कामना ही करती हैं क्योंकि आप हमारे सखा हैं। हम तो जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर से दुःख भोगते ही आ रहे हैं; अतः हम तो दुःख-भोग के अभ्यासी हैं, हमको तो केवल चिन्ता आपके विमल-यश-हानि की है।

'मम हृदय प्रभु भवन तोरा। तहं आयी बसे बहुचोरा ॥
चिन्ता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होय तुम्हारा ॥'

(विनयपत्रिका)

हे प्रभु ! हमारा हृदय आपका निकेतन है तथापि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि अनेक चोर उसमें प्रवेश कर गये हैं; अतः मुझको तो आपके अपयश की ही चिन्ता सता रही है।

एक कथा है; कर्तिवीर्य नामक एक राजा था। महात्मा दत्तात्रेय का शिष्यत्व ग्रहण कर कर्तिवीर्य ने योगाभ्यास किया; इस अभ्यास के द्वारा उन्होंने प्राणियों के मनोविकार जानने की योग्यता प्राप्त कर ली। **'अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भावश्चापधरः पुरस्तात्'** किसी भी व्यक्ति के मन से अकर्म-कर्म की भावना जागृत होते ही महाराज कर्तिवीर्य अपराधी को दण्ड देने तत्क्षण पहुँच जाते। जैसे इन्द्रादि देवगण योगबल से ही अनेकानेक यज्ञ-स्थलों में एक कालावच्छेदेन एक काल में ही पहुँच जाते हैं वैसे ही महाराज कर्तिवीर्य भी योगाभ्यास द्वारा प्राणियों के मन को जानकर अपराध-कर्म होने ही नहीं देते थे। प्राणी मात्र के शुभाशुभ संकल्प पर नियंत्रण रखना किसी लौकिक राजा के लिये सम्भव नहीं; ईश्वर ही प्राणी मात्र का अन्तर्यामी एवं प्रेरक है।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥'

(श्री० भ० गी० १८/६१)

अर्थात् प्राणी-मात्र के मन, बुद्धि, अहंकार, अंतरात्मा पर पूर्ण आधिपत्य रखने वाला ही ईश्वर है। एतावता ईश्वर ही प्राणी के सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म का प्रेरक है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे सखे! हम आपकी **'किंकरी'** हैं। **'किञ्चित् किमपि अनिर्वचनीयं सुखं करोति इति किंकरी'**। अद्‌भुत सुख देने वाली ही **'किंकरी'** हैं। कई सुख द्वैत-प्रधान हैं; उपासना हेतु उपास्य एवं उपासक दोनों ही समानतः अनिवार्य हैं। जिस भाव से भक्त भगवान् का भजन करता है उसी भाव से उपास्य द्वारा अनुसरण होने पर ही उपासना सम्भव हो सकती है। उपासना का भी वस्तुतः रसास्वादन उपास्य-स्वरूप के प्राकट्य में ही सम्भव है। गोपाङ्गनाओं के सम्पूर्ण कर्म ही उपासना हेतु हैं। अपने मदन-मोहन, श्यामसुन्दर को सुख पहुँचाने हेतु ही वे दिव्य भूषण, वसन, अलंकार एवं अंगरागादिको धारण करती हैं। एतद् साध्य सुख भी भगवदभिमुख होने पर ही सम्भव हो सकता है।

उपनिषद् की दृष्टि से व्रज का अर्थ ही गोष्ठ है। श्रुति रूपा गो का निवास स्थान ही गोष्ठ है। अनादि अपौरुषेय वेद-राशि ही गोष्ठ किंवा व्रज है। वैदिक मंडली ही व्रजजन हैं। पूर्वश्लोक में **'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहं'** का अर्थ किया गया है। **'नः अस्माकं श्रुतीनां शिरसि उपनिषद् भागे'**। अर्थात् उपनिषद् भाग में मोक्ष रूपी लक्ष्मी का सम्पादन करने वाले ग्रह, आग्रह को स्थापित करें। तात्पर्य कि अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु के अनुग्रह से ही सौभाग्यशाली जनों को उपनिषद्-भाग में दृढ़ आग्रह, अभिनिवेश उद्‌बुद्ध होता है। उस दृढ़ आग्रह से ही मोक्ष रूप लक्ष्मी का सम्पादन होता है। **'लब्ध ग्रहस्य वेद भागे'** उपनिषद् भाग में दृढ़ आग्रह प्राप्त प्रामाण्य-बुद्धि आस्तिक-शिरोमणिजन ही व्रजजन हैं। जनन-मरणाविच्छेद-लक्षणा संसृति ही आर्ति है। **'जन्मत मरत दुस्सह दुःख होई।'** सर्वेश्वर, सर्व-शक्तिमान् प्रभु ही वैदिक शास्त्रानुयायी साधक जन, व्रजजनों की संसार-परम्परा रूप आर्ति के हर्ता है अतः **'व्रजजनार्तिहन्'** हैं।'

'निज जन स्मयध्वंसनस्मित' भगवान् अपने स्मित से ही प्राणी के गर्वोपलक्षित, स्मयोपलक्षित विविध प्रकार के दोषों का ध्वंस कर देते हैं। **'हासो जनोन्मादकरी च माया।'** (श्री० भा० २।१।३१) भगवान् का हास-प्रहार ही माया है। प्रहास का संकोच ही स्मित है। माया का प्रवर्तन न होना ही माया का संकोच है। अतः भक्त प्रार्थना करता है। **'जय जय जह्यजामजितदोष**

गृभीतगुणाम्' अर्थात्, हे अजित ! आपकी जय हो; आप उत्कर्ष को प्राप्त हों। हे अजित ! आप इस अजायमान, अनुत्पन्न, अनादि अजा माया का मनन करें। **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'** (श्री० भ० गी० १३/१९) प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि हैं। तात्पर्य कि पुरुष अज है तो प्रकृति भी अजा है। उपनिषदवाक्य है :—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य ॥' (श्वे०४/५)

शुक्ल, लोहित एवं कृष्ण वर्णा तीन रंगों से युक्त कबरी बकरी तुल्य अजा, प्रकृति सत् रज तम, तीनों गुणों से युक्त है। 'एकल्' यह प्रकृति रूप अजा 'एका' है। इस अजा का सेवन करता हुआ कल्प-कल्पान्तर से शुक्ल, लोहित, कृष्ण वर्णा अजा का अनुसरण करता हुआ कोई अज, जीव, जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, संसार जाल में भटकता हुआ उसमें अपना प्रयोजन सिद्ध कर उसको त्याग देता है। इस त्रिगुणवती एका अजा ने अनेक कबरे बच्चे उत्पन्न किए; महत्-तत्व, अहं-तत्व, षोड़श विकार ही अजा रूपी प्रकृति के बच्चे हैं। ये सब बच्चे सुख-दुख-मोहात्मक हैं; तात्पर्य कि सत, रज तम मय हैं। जोव प्रकृति द्वारा ही विभिन्न भोगों को भोग कर प्रकृति द्वारा ही ज्ञान को प्राप्त कर संसार से विरक्त हो जाता है। तत्वज्ञान प्राप्ति का साधन भी प्रकृति ही है :—

'तेषां प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।
साविद्या परमामुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥'

भगवती का प्राकृत्यंश जड़ रूप ही है परन्तु अधिष्ठान रूप शुद्ध चिद्-स्व रूप है। **'या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता।'** अनन्त चित्, स्व प्रकाश चैतन्य, अखण्ड बोध यही भगवती का वास्तविक स्वरूप है। अस्तु, प्रकृति के अनुग्रह से ही विभिन्न भोगों को भोग कर अपवर्ग, स्वर्ग का सम्पादन कर **'भुक्तासंपादिताः भोगाः अपवर्गश्च ययासा भुक्तभोगाताम् अजां अन्यो जहाति।'** कोई जीव उसको छोड़ देता है। रूप-विन्यास-दृष्टया प्रकृति को ही अजा कहा गया है। भक्त प्रार्थना करता है 'हे अजित ! इस अजा को मारें।' परन्तु भगवान् अजा को मारते नहीं। **'गुणिनी अजा किमिति हन्तव्या।'** क्योंकि अजा त्रिगुणवती हैं। **'दोष गृभीत गुणां दोषाय जीवानां स्वरूपभूतस्य आनन्दस्य आवरणाय गृहीता गुणा यया सा।'** भक्त कहता है, हे प्रभो ! जैसे स्वैरिणी दूसरों को छलने के लिए ही विविध अंगराग एवं वस्त्रालंकार धारण करती है, सुन्दर आभा, प्रभा शोभा प्रदर्शित करती है वैसे ही, यह अजा भी जीव के आनन्दादि स्वरूप को आच्छादित करने के लिए ही सत्त्व, रज, तम तीन गुणों को धारण करती है। जो इस

अजा प्रकृति के माया-जाल में फँस जाते हैं उनका स्वरूप-भूत आनन्द एवं चैतन्य प्रावृत्त हो जाता है। प्रकृति के माया-जाल में फँसा हुआ जीव स्वयं परमानन्द चैतन्य स्वरूप होते हुए माया-मोहित होकर भ्रमवश आनन्द एवं ज्ञान का भिखारी बना हुआ भवाटवी में इतस्ततः भटकता रहता है। अजा वस्तुतः गुणवती न होते हुए भी जीव के आनन्द एवं चैतन्य स्वरूप को तिरस्कृत करने के हेतु ही सत रज तम त्रिगुणात्मिका बनी हुई है। हे प्रभो ! इसको मारें। आप अजित हैं। जैसे तमिस्रा रात्रि सूर्य के समक्ष कदापि स्थिर नहीं रह पाती वैसे ही परमानन्द, आनन्दघन, स्वप्रकाश परब्रह्म प्रभु के समक्ष **'तत्त्वान्यत्वाभ्यां निर्वक्तु मनर्हा'** अविचारित रमणीया माया भी कदापि सम्मुख नहीं हो पाती। हे प्रभो ! आप परम दयालु हैं; अतः इस अजा का हनन कर हमारी आर्ति का हनन करें। तब भी सर्वेश्वर प्रभु अजा का हनन नहीं करते **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। देवस्य स्वप्रकाशस्य परब्रह्मणो मम इयं दैवी।'** (श्री० भ० गी० ७/१४) यह दैवी माया त्रिगुणात्मिका है; तीन सूत्रों की बँटी हुई रस्सी की तरह ही सत रज तम रूप तीन सूत्रों से बँटी यह माया, अजा दुरत्यया है, इसका अतिक्रमण सम्भव नहीं।

'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं।'

(मानस, उत्तर काण्ड ७०/८)

ब्रह्मादि देवगण भी इस त्रिगुणात्मिका माया, अजा से सदा भयभीत रहते हैं, तब माया-मोहग्रस्त प्राणी की तो कथा ही अकथ है। भगवत्-कथन है :—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' (श्री० भ० गी० ७/१४) जो मेरी शरण में आ जाता है उसको माया नहीं सताती।

एक कथा है : कोई सन्त चले जा रहे थे कि उनको सामने से आती हुई अजा, माया लगाम लिये हुए मिल गई। सन्त ने उनसे पूछा, देवी ! आप कौन हैं ? यह लगाम लेकर क्यों चल रही हैं ? माया ने उत्तर दिया, 'यहाँ एक महात्मा रहते हैं; वे वश में नहीं आ रहे हैं अतः इस लगाम से उनको बाँधने जा रही हूँ। संत कहने लगे 'देवी ! हम जैसों को कैसे बाँधोगी ?' माया ने उत्तर दिया, 'तुम जैसे संतों के लिए लगाम की आवश्यकता नहीं होती; मैं तो यों ही उनके कंधे पर चढ़ जाती हूँ।' संत क्रुद्ध होकर अपने स्थान पर चले गये। सहसा भयंकर वर्षा एवं तूफान आ गया। शीतकाल की अँधेरी रात में वन-प्रान्तर, वर्षा एवं तूफान के कारण और भी भयंकर हो उठा। इतने में ही महात्मा ने देखा कि कोई संत्रस्त, कोमलांगी सुन्दरी युवती रात्रि भर के लिए आश्रय माँग

रही है। युवती को अपनी कुटी में विश्राम देना अनुचित मानकर वह महात्मा उस युवती को लेकर नदी के पार उसके घर पहुँचाने चल पड़े। बीच धार में पहुँचने पर युवती कहने लगी, 'बाबा ! अब मुझसे नहीं चला जाता'। संत ने विवश हो उसको कंधे पर बैठा लिया, युवती ने एड़ लगाते हुए कहा, 'चलो, बाबा ! चलो, हम तुम्हारे कंधे पर सवार हो गये हैं।' संत की मोह-निद्रा भंग हुई तो देखा कि कहीं कुछ नहीं है; वह सब दृश्य तो केवल अजा, माया का ही चमत्कार था। महात्मा अत्यन्त लज्जित होकर पूछने लगे, देवी ! क्या कोई ऐसा भी हैं जो आप की लगाम के वश में भी नहीं आता।' माया देवी ने उत्तर दिया, 'हाँ ! ऐसे भी कुछ उजड्ड लोग हैं जिन पर हमारी लगाम का प्रभाव नहीं होता। चलो तुमको दिखा दें।' सन्त माया देवी के साथ चल पड़े; कुछ दूर जाने पर देखा कि कोई महात्मा गंगा किनारे समाधिस्थ हैं; इतने में ही गाँव से कुछ स्त्रियाँ आईं और बड़ी श्रद्धा-भक्ति से महात्मा का पूजन किया; फिर कहने लगीं महाराज ! अब हम लोग गंगा-स्नान करना चाह रही हैं; यह हमारा बच्चा छोटा है इसको आप के पास बैठा जाती है; कृपा कर जरा इसको देखते रहें।' अपने बच्चे को वहीं लेटाकर औरतें गंगा-स्नान को चली गईं; कोई भेड़ियाँ आकर बच्चे को खा गया। लौटकर औरतों ने महात्मा से अपना बच्चा माँगा परन्तु महात्मा तो समाधिस्थ जड़वत् ही बैठे रहे। क्रुद्ध एवं दुःखित हो उन औरतों ने महात्मा को बहुत गालियाँ दीं और मारा-पीटा, फिर भी महात्मा तो समाधिस्थ ही रहे। तब मायादेवी ने कहा, देखो ! 'जो ऐसे उजड्ड हैं कि पूजा अथवा मारपीट, गाली-गलौज सब कुछ को शान्त हो सम भाव से सह जाते हैं उनपर मेरा वश नहीं चलता।' तात्पर्य कि एकमात्र भगवत्-शरणागति से ही माया का निस्तार सम्भव है। जो भगवत् शरण हो जाते हैं उन पर माया आक्रमण नहीं करती।

'विलज्जमानया यस्यस्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्तेममाह मिति दुर्धियः।'

(श्री० भा० २/५/१३)

जैसे सूर्य नारायण के सामने तमिस्रा रात्रि कदापि नहीं खड़ी हो सकती है वैसे ही भगवत्-दृष्टिपथ में माया भी कदापि खड़ी नहीं हो सकती। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'** (श्री० भ० गी० १५/७) जीव मात्र भगवदंश है; इस सनातन-अंश जीव को जनन-मरणाविच्छेद-लक्षण संसृति में फँसा कर दुःख-परम्परा में फँसा देने वाली, भगवदंश का अपकार करने वाली अजा, माया सर्वेश्वर सर्वाधिष्ठान, प्रभु के समक्ष खड़ी होने में भय खाती है।

**'नानाविधैश्च नैवेद्यैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम् ।
भूतावमानिनोर्चायां नाहं तुष्ये कदाचन ।।'**

नाना प्रकार के नैवेद्य एवं द्रव्यादि से भगवत्-पूजा कर दीन-दुःखियों को सताने वाले की पूजा राख में दी गई आहुति की भाँति निष्फल है। परात्पर परब्रह्म प्रभु ही जीव मात्र में विद्यमान हैं। एतावता धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी आदि विभिन्न भगवत्-प्रतिमा का पूजन करते हुए भी जीव मात्र में ही प्रभु-दर्शन करना सर्वोत्कृष्ट पूजन है। यही सर्वोत्कृष्ट भक्त का लक्षण है। जब तक जीव भगवदभिमुख नहीं होता तभी तक माया भी उसको सताती है : जैसे कोई घुड़सवार अपने घोड़े को कोड़ा लगाकर उसको तेज दौड़ने के लिए विवश करता है वैसे ही जीव के कंधे पर सवार माया भी उसको त्रिगुणात्मिक दुःख-रज्जु रूप कोड़े से मार-मार कर उसको भगवदुन्मुखी ही बनाना चाहती है। एतावता जीव को दुःख होते हुए भी माया का उद्देश्य पवित्र है ऐसा जानकर प्रभु उसका हनन नहीं करते। जो भगवत् प्रपन्न होते हैं वे माया से तर जाते हैं। भक्तों के अहंकारादि दोषों को मिटाने के लिये भगवान् अपने प्रहास रूपी माया का संकोच कर लेते हैं; अर्थात् उनमें माया की प्रवृत्ति न होने पर कामादि दोष भी सम्भव नहीं होते; अतः माया-विलास का ही अन्त हो जाता है।

हे प्रभो ! हम सब श्रुति-लक्षणागोपियाँ आप की किंकरी हैं। स्वयं वेद भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र की स्तुति कर रहे हैं।

**'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ।
ते कहहुँ जानहुं नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ।।'**

(मानस, उत्तर वेदस्तुति)

निर्गुण, निराकार, निर्विकार तो वर्णनातीत है अतः उनका संकेत मात्र ही सम्भव है। **'निज पिय कह्यो तिनहिं सिय सैननि'** शब्द वाणी से उनका वर्णन सम्भव नहीं; केवल निषेध-मुख से ही उनका संकेत किया जा सकता है। जैसे कोई नवोढ़ा अपनी सखियों द्वारा आँगुल्या-निर्देश से अपने पति का परिचय पूछे जाने पर तब तक नेति-नेति कहती चली जाती है; जब तक उसकी सखियाँ ठीक उसके पति की ओर संकेत नहीं करतीं; ज्योंही सखियों का संकेत उसके पति की ओर होता है वह लजाकर चुप हो जाती हैं। सखियाँ जान जाती हैं कि वही व्यक्ति सखी का पति है। इसी तरह सर्वाधिष्ठान, परम तत्व का केवल **'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। मूर्तं चैवममूर्तं नेति-नेति'** अतत् का व्यावर्तन कर कर ही **'अवचनेनैवान्नुभवन्नुवाच'** (तृ० ड० ता० ७।७) अशब्दतः ही प्रतिपादन

सम्भव है। परात्पर, परब्रह्म प्रभु अतत् ही ब्रह्माण्ड के उत्पादक, पालक, एवं संहारक है; सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस, बामनो, भामिनी दिव्यातिदि व्य गुणगणों से युक्त सगुण भी हैं; वेद-वेदांग, श्रुतियाँ सब लक्षण एवं अभिधा वृत्ति से परात्पर परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। भगवान् निर्गुण भी हैं; निर्गुण का तात्पर्य गुण-राहित्य नहीं; भगवान् तो अचिन्त्य, अनन्त-कल्याण-गुण-गण के आगर हैं। प्राकृत-गुणों से उपरत ही निर्गुण हैं। अचिन्त्य अनन्त दिव्यातिदिव्य अप्राकृत गुण-गण-संयुक्त ही सगुण है। वेदान्त दृष्टया भी भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम हैं, गुण-गण निरपेक्ष हैं। अतः निर्गुण हैं तथापि गुण-गणों की सार्थकता हेतु ही उनका धारण करते हैं अतः सगुण भी हैं।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।'
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेदकश्चन ॥४२॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्या पोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द आस्थायमांभिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ॥४३॥

(श्री० भा० ११/२१)

वेद-वेदांग ब्रह्म का ही अभिधान करते हैं, ब्रह्म का ही विधान करते हैं और अनात्म-प्रपंच भूत अंश का निषेध कर भगवत्स्वरूप का ही अवशेष करते हैं। अस्तु, उपक्रम, उपसंहारादि षडविध लिंगों के द्वारा सम्पूर्ण वेद-वेदांगों का महातात्पर्य परात्पर परब्रह्म ही है। **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (श्री० भ० गी० १५/१५)। सब वेद परात्पर परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं अतः श्रुतियाँ कह रही हैं **'भवत्किकरी'**, हे प्रभो हम आपकी किंकरी हैं। जैसे किसी महाराजाधिराज चक्रवर्ती नरेश के जागने के समय बंदीगण स्तुतिगान करते हैं वैसे ही, अनन्त-ब्रह्माण्ड नायक, ब्रह्माण्डाधिपति अखिलेश्वर प्रभु के जागने के अवसर पर श्रुतियाँ स्तुति करती हुई भगवत् प्रबोधन करती हैं। प्रलयकाल ही रात्रि है; प्रलयकाल में भगवान् शयन करते हैं; प्रलयान्तर पुनः सृष्टि काल, प्रभात होने पर श्रुतियाँ भगवत् प्रबोधन करती हैं।

'जलरुहाननंचारु दर्शय' भूः, भुवः, स्वः, जनः, महः, तपः, सत्य तथा तल, अतल, वितल, तलातल आदि चतुर्दश भुवनात्मक संसार रूप पद्म भगवान् श्री विष्णु की नाभि से ही उत्पन्न हुए हैं। सच्चिदानन्द प्रभु ही चतुर्दश भुवनात्मक जलरूह को सत्ता एवं स्फूर्तिमत्ता प्रदान करने वाले मुख्य भाग, **'आनन'** है अतः **'जलरुहानन'** हैं। किसी भी प्राणी के शरीर में उसका मुख ही मुख्य भाग होता है।

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।'

(मानस, बाल, ११६/८)

हे प्रभो ! जो आपके 'निज जन' हैं, उपासक हैं, भक्त हैं उनको चतुर्दश-भुवनात्मक जलरूह को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करने वाले अपने **'आनन'** का स्वानुग्रहवशात् दर्शन दें; उनके लिये प्रत्यक्ष हो जावें; उनको भगवत् साक्षात्कार प्राप्त हो !

●

'प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्' ॥ ७ ॥

अर्थात्, हे कान्त ! आपके चरणारविन्द शरणगतार्ति का अशेष उन्मूलन करने वाले हैं; वे समस्त सौन्दर्य एवं माधुर्य के कोष तथा श्रीदेवी के निकेतन हैं। इन निरावरण चरणारविन्दों से आप हमारे गाय-बछड़ों को चराते हुए वृन्दाटवी में भ्रमण करते हैं; हमारी रक्षा हेतु आपने अपने चरणारविन्दों को कालिय नाग के फणों पर भी विराजमान किया; हमारा हृदय आपके विप्रयोग-जन्य ताप से अत्यन्त सन्तप्त है; अतः हमारी आर्ति हनन हेतु आप अपने पदाम्बुजों को हमारे वक्षस्थल पर धारण करें।

'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्' तथा **'जलरूहाननं चारुदर्शय'** इत्यादि प्रार्थनाओं के बाद गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्यामसुन्दर से प्रार्थना कर रही हैं, 'हे कान्त ! आपके पदाम्बुज मंजुल, शीतल, मधुर सुरभि-युक्त हैं, तापापनोदक एवं आल्हादक हैं; आप अपने इन चरणारविन्दों को हमारे वक्ष-स्थल पर धारण कर हमारी हृच्छायाग्नि का उपशमन करें।

सर्वांग में हृदय ही मुख्य है। हृदय की रक्षा से ही सम्पूर्ण शरीर की रक्षा हो जाती है; अतः सावधानी पूर्वक हृदय की ही रक्षा होनी चाहिए। जैसे गृह के एक देश में रहकर दीपक समस्त भवन को प्रकाशित करता है, वैसे ही, शरीर के एक देश हृदय में ही अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति होती है परन्तु समस्त शरीर का प्रकाश और कार्य उसीसे होता है। भुवनात्मा महाविराट् का हृदय है भारतवर्ष; यही कारण है कि भारतवर्ष में ही परात्पर परब्रह्म परमेश्वर प्रभु बारंबार अवतरित होते हैं। भारतवर्ष समस्त भूमण्डल की नाभि है। चौदह भुवन के मध्य का भुवन है भूर्लोक; भूर्लोक में मेदिनी सप्तद्वीपा है; इन सप्तद्वीपों के मध्य में नववर्ष है; इन नव वर्षों में एक वर्ष भारतवर्ष है। भारतवर्ष ही भुवनात्मा महाविराट् का हृदय है। भारतवर्ष के श्रौत, स्मार्त धर्म का रक्षण वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित है। भागवतादिकों के प्रमाण से भारतवर्ष का परिमाण नौ हजार योजन है; इस परिमाण के आधार पर वर्तमान समस्त भूमण्डल ही भारतवर्ष के अन्तर्गत आ जाता है। 'श्रीमद्-भागवत' में प्राप्त वर्णन के अनुसार ही अन्य अष्ट वर्षों के निवासियों के लक्षण

दिव्य है; अतः प्रतीत होता है कि वे अष्ट वर्ष वर्तमान में अदृष्ट हैं। जैसे अतल, वितल, सुतल, तलातल आदि वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं अथवा जैसे स्वर्लोक आदिकों का स्थूल रूप होता ही नहीं वैसे ही उपर्युक्त अष्ट-वर्ष भी वर्तमान में अदृष्ट ही हैं। जैसे व्यापक होते हुए भी आत्मा का हृदय में ही विशेष रूप से प्राकट्य होता है, वैसे ही व्यापक धर्म तथा शास्त्र एवं उनके पालक भगवान् का भारत में विशेष रूप से प्राकट्य होता है। भारत के ही ज्ञानालोक और धर्म के प्रभाव से विश्व अवलोकित एवं धर्मप्राणित होता है। मनु कहते हैं,

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥'

(मनुस्मृति २।२)

अर्थात्, इस देश में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथ्वी मंडल के संपूर्ण व्यक्ति अपने धर्म को सीखें। जैसे शरीर के हस्त-पादादि अन्यान्य अंगों के शुष्क हो जाने पर भी जीवन रह सकता है, परन्तु हृदय के शुष्क हो जाने पर जीवन नहीं रह सकता वैसे ही पृथ्वी-मंडल के अन्य देशों के धर्म एवं ईश्वर से च्युत हो जाने पर भी विश्व रह सकता है परन्तु विश्व-हृदय भारत के धर्म-शून्य होने पर विश्व का संहार निश्चित है। एतावता भारत के धर्म और शास्त्र से विमुख होते ही विश्व-नाश की सम्भावना हो जाती है। जैसे सर्वांग की अपेक्षा हृदय की रक्षा का ध्यान अधिक होता है वैसे ही विश्व-हृदय भारत के धर्म एवं शास्त्रों की रक्षा हेतु ही यहाँ भगवान् का बारम्बार प्राकट्य होता है।

शास्त्रों को देखने से विदित होता है कि स्वर्गादिक के समान भूलोक में भी बहुत से खण्ड कर्म-भूमि नहीं अपितु भोग-भूमि ही हैं। समस्त भू-मण्डल में भारतभूमि ही विशेषतः कर्मभूमि है; अतः मानव-धर्म अथवा सामान्य धर्म अहिंसा, सत्य आदि की प्रतिष्ठापना अन्यत्र भी हुई परन्तु वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म का पूर्ण विकास भारत में ही हुआ। शतक्रतु इन्द्र भी यहीं के कर्मों से ऐन्द्र पद प्राप्त करता है; अतः देवता भी भारत में जन्म लेना चाहते हैं।

व्रजाङ्गनाएँ प्रार्थना कर रही हैं कि 'हे कान्त! आप अपने मंजुल, मृदु, मधुर, शीतल, सुरभित, तापापनोदक, परमाल्हादक पादारविन्दों को हमारे उर-स्थल पर धारण करें।' इसी समय उनके हृदय में भगवान् द्वारा की गई शंका का स्फुरण होता है। वे अनुभव करती हैं मानों श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'हे गोपाङ्गनाओ! तुम लोग अपने उरोजों पर, उर-स्थल पर मेरे पादार-

विन्दों को धारण करना चाहती हो; तुम तो निर्भीक हो परन्तु हम तो पाप-कर्म से भयभीत हैं। अतः तुम्हारे उर-स्थल पर अपने पदाम्बुजों का विन्यास कैसे करें ?' उत्तर देती हुई वे कह रही हैं **'प्रणत देहिनां पापकर्शनं'** आपके पादार विन्द प्रणत प्राणी के सम्पूर्ण पाप का कर्शन करने वाले हैं।

'एकोपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

(श्री० भा० १२/४७/९१)

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा के प्रति किया गया एक नमस्कार भी दशाश्वमेध के तुल्य है; इतना ही नहीं, दशाश्वमेध-याजी का तो पुनर्जन्म भी होता है किन्तु कृष्ण-प्रणामी प्राणी का पुनर्जन्म नहीं होता। जिसने एकबार भी मनसा, वाचा, कर्मणा आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्ण परमात्मा को नमस्कार कर लिया है वह जनन-मरण-विच्छेद लक्षण संसृति से विमुक्त हो जाता है। ऐसा एक प्रणाम भी भगवत्-पादारविन्द-प्रणत-जन, शरणागत प्राणी के जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर में किए गए सम्पूर्ण पापों का कर्शन कर लेता है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे कान्त ! आपके पादारविन्द **'प्रणत देहिनां पापकर्शनं'** हैं।

मद-अहंकारादि दोषयुक्त हृदय में भगवत्-पादारविन्द का विन्यास असम्भव है; अतः अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए ही यज्ञ, व्रत, दान एवं उपासना का विधान है। अपने स्वच्छ हृदय में भगवत्-पादारविन्द विन्यास ही प्रत्येक भक्त का ध्येय है। श्रुति-रूपा, मुनि-रूपा में गोपाङ्गनाएँ तो भक्ति मार्ग की आचार्या ही हैं; इनका तो सिद्धान्त ही है कि—

'ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसंपदः।'

(आनन्द वृन्दावन चम्पू ८-९५)

अर्थात्, जो ऐसे पुरुष-भूषण से अपने हृदय को अलंकृत नहीं करतीं ऐसी सुभ्रुओं के कुल, शील, यौवन रूप-सौंदर्य-संपत्ति एवं अन्यान्य गुणगणों को धिक्कार है। एतावता परमानुरागिणी ये गोपाङ्गनाएँ आकांक्षा करती हैं कि पुरुष-भूषण, सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण परमात्मा अपने परम पुनीत कल्याणकारी, मंजुल,कोमल, शीतल, पादारविन्दों को हमारे वक्षस्थल पर धारण कर हमारी रक्षा करें। बाह्य एवं अन्तः सम्पूर्ण दोष-परिहार के लिए अन्य आयास आवश्यक नहीं; भगवत्-शरणागति ही सर्वपापहारिका है।

'जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ।।

(श्री० भा० ११/१०/४)

अर्थात्, भगवत्–जिज्ञासा की प्रवृत्ति पूर्णतः जाग्रत हो जाने पर किसी अन्य कर्म परम्परा अथवा प्रायश्चित्तांतर की अपेक्षा ही नहीं रह जाती।

'यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ।।'

(श्री० भा० ११/२०/२५)

अर्थात्, जैसे योगी योग से ही अपने सम्पूर्ण अघों का अपनोदन कर लेता है वैसे ही भगवत्-परायण भी भगवत्-चिन्तन से ही अपने सम्पूर्ण कल्मषों का अपनोदन कर लेता है। श्रीकृष्ण परमात्मा के मधुर, मनोहर, मंगलमय, विग्रह के ध्यान से उनके पादारविन्दों के निरन्तर अनुसन्धान से महतातिमहत् पाप-पुंज का भी प्रायश्चित एवं समूल उन्मूलन हो जाता है। अस्तु, हे कान्त! आप अपने सर्वतापपनोदक पादारविन्द को हमारे उरस्थल पर विन्यस्त करें; हमारे उरस्थल पर आपके पादारविन्द विन्यास से कूप-खनकन्यायतः हमारे हृत्ताप की उपशान्ति एवं सम्पूर्ण दोषों का निराकरण होगा।

गोपाङ्गनाएँ पुनः अनुभव करती हैं कि श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'हे गोपाङ्गनाओ! तुम्हारे उरोज अत्यन्त कठोर है; हमारे पाद-पंकज अत्यन्त कोमल हैं, अतः तुम्हारे उर स्थल पर अपने पाद-पंकज विन्यस्त करने में हमको अत्यन्त पीड़ा होगी।' उत्तर में वे कह रहीं हैं : हे कान्त! **'तृणचरानुगं'** आप के पादारविन्द तृणचर पशुओं का अनुगमन करने वाले हैं। आप परम कृपालु हैं; यही कारण है कि आप गाय-बछड़ों को चराने हेतु वृन्दाटवी में निरावरण चरणों से भ्रमण करते हैं। वृन्दाटवी के कुश, काश एवं कंटक आपके इन निरावरण कोमल चरणारविन्दों में गड़ते होंगे : तब भी दयालुता-परवश आप इन पशुओं का भी पालन करते हैं। हे प्रियतम! यद्यपि हमारे उरोज अत्यन्त कठोर हैं तथापि वृन्दाटवी के कुश-काश-कंटकादि से तो अधिक ही सुगम्य हैं।

गोपाङ्गनाओं में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा किये गये प्रश्नों का पुनः पुनः स्फुरण होता है। वे अनुभव करती हैं मानों श्याम-सुन्दर कह रहे हैं, 'हे वनचारी! गोपालियो! तुम अनभिज्ञा हो : तुम्हारे उर-स्थल पर हमारा पद-विन्यास क्यों कर सम्भव हो सकता है?' इसका उत्तर देती हुई वे कह रही है,' 'हे सखे! तृणचर पशुओं से अधिक अज्ञ और कौन हो सकता है? तथापि स्वानुग्रहवशात् ही आप उनकी भी रक्षा करते हुए वृन्दाटवी में निरावरण चरणारविन्दों से उनका अनुगमन करते हैं। एतावता हम अनभिज्ञा वनचरी

गोपालियों की अपने विप्रयोग-जन्य तीव्र-सन्ताप से रक्षा हेतु हमारे उर-स्थल में आपके पद-पंकज का विन्यास असंगत न होगा। योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंस, तत्त्वदर्शी, भक्ताग्रण्य वही है जिसका उर-स्थल भगवत्-पादारविन्दों से समलंकृत हो गया है। लोकातीत दृष्टि कोण से गम्भीर विचार करने पर ही इस भावमय गीत की सम्यक् अर्थानुभूति सम्भव हो सकती है।'

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि गोपाङ्गनाएँ समर्थ रतिमती हैं; प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं में एक 'समर्थ-रति' अवस्था है। तत्-सुख-सुखि भाव ही गोपाङ्गनाओं की विशेषता है; वे स्वदुःख-निवृत्ति एवं स्व-सुख प्राप्ति, स्व-तापाप-नोदन तथा अभिमत सुख की आकांक्षा भी नहीं करतीं; साथ ही, सदा-सर्वदा मनसा-वाचा-कर्मणा अपने प्राणनाथ, प्राणाधार प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के सुख में ही सुख का अनुभव करती हैं। उनकी संपूर्ण चेष्टाएँ प्रियतम को प्रसन्नता हेतु ही होती हैं। परम-प्रेमवती इन गोपाङ्गनाओं का अनुराग लोकोत्तर है। शान्त, स्वस्थ हृदय एवं गम्भीर बुद्धि से विचार करने पर ही यथार्थ महत्त्व की अनुभूति सम्भव है। प्राकृत गोपालियाँ ऐसे गम्भीर महत्त्व को कदापि व्यक्त नहीं कर सकतीं; भाव-तन्मयता के कारण भक्त भगवान् को अपने पर निर्भर अनुभव करता हुआ उनके सुख के लिए प्रयासशील होता है; यही तत्-सुख-सुखित्व भाव है। करमा बाई की खिचड़ी की कथा प्रसिद्ध ही है।

एक और कथा है। किसी महात्मा के स्नेहवश अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर प्रभु ही बालरूप में उनके पास रहा करते थे; घूमते-फिरते महात्मा किसी जंगल में पहुँच गए; सन्ध्या-वन्दन की बेला होने पर बालक-प्रभु से महात्मा कहने लगे 'लाला ! तू यहीं बैठ; जब तक मैं सन्ध्या-वन्दन कर लूँ।' लाला बैठ गये परन्तु ज्योंही महात्मा जी सन्ध्या-वन्दन के लिए तत्पर हुए तो लाला चीखने-चिल्लाने लगे, 'बाबा ! बन्दर आया; मुझको डर लग रहा है।' महात्मा ने कहा, 'लाला ! लाठी ले ले फिर बन्दर नहीं आयेगा।' ऐसा कहकर महात्मा फिर ध्यान लगाने लगे। लाला तो फिर चिल्ला उठे, 'बाबा ! बन्दर मुँह चिढ़ा रहा है; लाठी दिखाने पर भी नहीं भागता बाबा ! मुझको बहुत डर लग रहा है।' अपने सन्ध्या-वन्दन में बारम्बार विघ्न पड़ते देख कर महात्मा जी झुँझला उठे और कह दिया कि 'तू जो सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् है तुझको बन्दर से क्या डर है ?' महात्मा के ऐसा कहते ही भगवान् अन्तर्धान हो गये। विचित्र लीला है भगवान् की। भगवान् के बालरूप के प्रति वात्सल्य एवं उनके अखिलेश्वर सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप की अनुभूति जैसे दो परस्पर-विपरीत भाव एक साथ नहीं बन सकते; ऐश्वर्य-भाव प्रस्फुटित होने पर माधुर्य-भाव तिरोहित हो जाता है।

ऐसी कथाओं का तात्पर्य है कि **'यथात्मनि तथा देवे'**—जो भाव, जो व्यवहार अपने में होता है वही देवता में होना उचित है। गोपाङ्गनाओं का तत्-सुख-सुखित्व भाव ही समर्थ-रति है। जैसे कोई सती-साध्वी, पति-परायणा स्त्री यही समझती है कि मेरे बिना मेरे पति को कल नहीं पड़ती अथवा उनका काम नहीं चल सकता; वैसे ही समर्थ-रतिमति ये गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में विभोर हो यही समझती हैं कि हमारे बिना हमारे श्यामसुन्दर, मदन-मोहन को कल नहीं पड़ती; वे हमारे बिना नहीं रह सकते। अस्तु, वे कामना करती हैं कि हे कान्त ! आप अपने पादारविन्दों को हमारे उर-स्थल में विराज-मान करें।

'प्रादुर्भावदिने न येनगणितो हेतुस्तनीयानपि।
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते॥
पीयूष प्रतिनादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं।
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥'

अर्थात्, प्रादुर्भाव के समय जिसने सूक्ष्मातिसूक्ष्म हेतु की भी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूप में अपराध-परम्परा से क्षय किंवा प्रणाम-परम्परा से वृद्धि नहीं होती, जो अपने निजी रस-स्वाद की तुलना में अमृत-रस-स्वाद को भी तुच्छ कर देता है, जो जगती-दुःख-द्रोही है, तीनों लोक के दुःखों का विनाशक है उस परम गौरवशाली प्रेम-देवता को वाणी का विषय बनाकर तुच्छ क्यों कर दिया जाय।

प्रेम हेतु-फलानुसंधानशून्य है।

'स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति॥'

(श्री० भा० १/२/६)

अर्थात्, भगवन्नामादि संकीर्तनादि लक्षणा-भक्ति ही पुरुषों का परम धर्म, परमोत्कृष्ट धर्म है जिससे अधोक्षज भगवान् में अहेतुकी, अप्रतिहता भक्ति होती है जिससे आत्मा का संप्रसाद होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'यतः' जब इस पंचम्यन्त से भक्ति का कार्य-कारण-भाव निर्धारित है तब उसे अहैतुकी कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान है कि वास्तव में भक्ति का कारण बनता नहीं, भक्ति श्रद्धा-पुरस्सर है।

'अत्र च प्रथमं महत्सेवा ततश्च तत्कृपा ततश्चतद्धर्मश्रद्धा ततो भगवत्कथा-श्रवणं ततोभगवति रतिस्तया च देहद्वयविवेकात्मज्ञानं ततो दृढा भक्ति स्ततो-

भगवत्तत्वज्ञानं ततस्तत्कृपयासर्वज्ञत्वादि भगवद्गुणाविर्भावइतिक्रमो दर्शितः।'
(इति १/५/३४ इत्यत्र श्रीधरस्वामी)

'आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोथ भजनक्रिया।
ततोनर्थनिवृत्तिः स्या त्ततोनिष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततोभाव स्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥'
(हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पूर्व ४/५–९)

भगवत्–प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को क्रमशः महापुरुषों की सेवा, उनके धर्म में श्रद्धा, भगवत्-गुण-श्रवण में रति, स्वरूप-प्राप्ति, प्रेम-वृद्धि, भगवत्स्फूर्ति और भगवद्धर्म-निष्ठा आदि अपेक्षित है। श्रद्धा स्वयं ही भक्ति है अतः यहाँ हेतु-हेतु सद्भाव ही बनता है। साध्य-साधन रूप से भक्ति ही दो प्रकार की है; अवस्था भेद मात्र से ही साध्य-साधन-भाव सिद्ध होता है; जैसे पक्व आम्रफल का हेतु अपक्व आम्रफल ही है वैसे ही साध्य रूपा भक्ति के साथ साधन-रूपा भक्ति का साध्य-साधन भाव होता है। **'भक्तया संजातया भक्त्या'** (श्रीमद् भागवत् ११/३/३१) भक्ति से ही भक्ति उत्पन्न होती है। रसात्मक-प्रेम रसस्वरूप ही है। यह रसात्मक-प्रेम अत्यन्त गोपनीय है; वाणी का विषय बनते ही प्रेम तुच्छ तो हो ही जाता है। यदा-कदा अस्त भी हो जाता है।

'प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीपएव।
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति॥
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे।
निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

अर्थात्, दो रसिकों के हृदय में पलने वाला प्रेम एक दीपक के समान है जो दो हृदय रूपी गृहों को निश्चल रूप से प्रकाशित करता रहता है। यदि इस प्रेम दीप को वाणी रूप द्वार पर रख दिया जाय तो कदाचित् वह अस्त भी हो जाता है अथवा मन्द तो अवश्य ही हो जाता है। दीप पर जल मरने वाले पतंग स्वाती-बूंद की रटना में ओलों की मार से आहत चातक, चन्द्र-प्रेमी चकोर के हेतु-फल-संधान-शून्य, तत्-सुख-सुखीत्व भाव की महिमा कवियों ने बारम्बार गाई है।

जलद जनम भरि सुरति बिसारेऊ।
मांगत जल पवि-पाहन डालेऊ॥
चातक रटनि घटे घट जाई।
बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥

'विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः' जैसे सोना जितना ही तपाया जाय उतना ही निर्मल होता जाता है, वैसे ही प्रेम भी प्रियतम की वियोगाग्नि-दग्ध हो अत्यन्त निर्मल हो जाता है। यही प्रेम की पराकाष्ठा है। प्रेम-तत्व ही प्रेम का आलम्बन है; वही उसका आश्रय भी है। भगवत्-हृदयस्थ पूर्णानुराग रस सार-सागर समुद्भूत, निर्मल, निष्कलंक चन्द्र-स्वरूपिणी श्री वृषभानु-नन्दिनी राधा रानी एवं श्री राधा-रानी के हृदय में विराजमान श्रीकृष्ण विषयक प्रेम-रससार-सागर समुद्भूत चन्द्ररूप ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण हैं; यह प्रेम सदानन्दैक रस-स्वरूप ही है क्योंकि विषय एवं आश्रय दोनों ही रस-स्वरूप हैं।

पारमार्थिक सत्य की अपेक्षा किञ्चित् न्यून सत्ता का एक और सत्य माना जाता है जो भजनोपयोगी होता है; अतः पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ज्यों का त्यों बना रहता है। पारमार्थिक अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वैत मान कर भगवान् में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियों से भी अधिकाधिक श्रेष्ठ है।

'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजन हेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका।
भक्तयर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।'

अर्थात् प्रत्येक चैतन्याभिन्न पर-ब्रह्म का विज्ञान होने के पूर्व द्वैत बन्धन का कारण है किन्तु विज्ञान के पश्चात् भेद-मोह के निवृत्त हो जाने पर मुक्ति के लिए भावित द्वैत अद्वैत से भी श्रेयस् है।

'गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये' प्रेम की रस-स्वरूपता को बनाये रखने के लिए उसका गोपन परमावश्यक है। एतावता अपनी हृच्छायाग्नि-उपशमन की प्रार्थना के व्याज से ही गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की आन्तरिक भावनाओं को उत्तेजित करना चाहती हैं। वे कह रही हैं कि हे कान्त! हम लोग स्वयं ही कंदर्प-व्यथा से व्यथित हैं; अतः आप अपने इन कोमल चरणारविन्दों को हमारे उरस्थल पर धारण करें। अपने दिव्य सौन्दर्य, माधुर्य से, दिव्य अंगरागादिक एवं भूषण वसनादिकों से अपने प्रियतम श्रीकृष्ण परमात्मा का मनोरंजन करना ही उनकी एकमात्र अभिलाषा है।

'प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनं' जैसी अपनी उक्ति में गोपाङ्गनाओं ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। इन विभिन्न विशेषणों का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न है। सामान्य प्रयोजन है **'प्रणतदेहिनां पापकर्शनं'** प्रणत-प्राणी के सम्पूर्ण पापों का कर्शन, अपनोदन। द्वितीय प्रयोजन है विशेष भगवदीय अनुकम्पा; अपनी विशेष अनुकम्पावशात्-

'तृणचरानुगं' तृणचर पशुओं के पालन-हेतु ही निरावरण चरणों में उनका भी अनुसरण करते हैं। **'नलिनसुन्दरं नाथ ते पदं'** हे नाथ ! आपके चरणारविंद नलिनादपि सुन्दर है; इन निरावरण चरणारविन्दों से आप वृन्दाटवी में गोचारण करते हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते हैं। इन निरावरण चरणों में वृन्दावन के कुश-काश तृण गड़ते होंगे। आपके चरणारविन्दों की कोमलता के कारण ही आपकी माता यशोदा ने भी आपको निरावरण-चरणों से भ्रमण करने के लिए वर्जन किया था; परन्तु गौ ही आपकी इष्ट देवता हैं अतः आप भी अपने इष्ट देवता की भाँति ही निरावरण चरणों से भ्रमण करते हैं। गौओं के चलने से आप पर जो धूल उड़ती है उसी को आप गंगा-स्नान तुल्य मानते हैं। तात्पर्य कि विशेष अनुकम्पा वशात् ही भगवान् श्रीकृष्ण **'तृणचरानुगं'** हैं।

'श्रीनिकेतन' जैसा विशेषण विशेष सौभाग्य का सूचक है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मीश्री जिन चरणों में निवास करती हैं वही 'श्री निकेतन' है।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीम०भा० १०/२९/३७)

अर्थात्, भगवान् के मंगलमय वक्षस्थल में निस्सपत्न पद प्राप्त होने पर भी श्री महालक्ष्मी जिन चरणों में तुलसी सपत्नी के संग रहना भी श्रेष्ठतर समझती हैं उन अपने कोमलातिकोमल, सुन्दर सुरभियुक्त श्रीनिकेतन चरणों को हे नाथ ! आप हमारे उरस्थल पर विराजमान करें।

श्रीधर स्वामी की व्याख्यानुसार—**'सौभाग्येन श्रियो निकेतनं वीर्यातिरेकेण'** सौभाग्यातिशय श्री रूप है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—'हे कान्त ! आप अपने इन श्री निकेतन पदाम्बुजों को हमारे उर-स्थल पर धारण करें। आपके पदाम्बुजों से सम्पृक्त हमारे उरोज भी दिव्याम्बुज-मंडित कनक-कलशवत् सुशोभित हो उठेंगे। हे कान्त ! कालिय नाग के जन्म-जन्मान्तर के पुण्यवशात् ही उसके फ़णाओं पर भी नृत्य करने वाले इन चरणारविन्दों को हमारे उरस्थल पर धारण करें ताकि हमारी हृच्छयाग्नि एवं सम्पूर्ण पाप-तापों का अपनोदन हो जाय।' गोपाङ्गनाओं में पुनः श्रीकृष्ण-कृत प्रश्न का स्फुरण होता है; वे अनुभव करती हैं मानो भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे व्रजाङ्गनाओ ! पापहन्तृत्व, श्रीनिकेतनत्व, तृणचरानुगत्व आदि कृपापेक्षित, सौभाग्यातिशयापेक्षित ही है;

अस्तु, अपने उरस्थल में हमारे पादाम्बुज-विन्यास द्वारा क्या तुम लोग हमारी कृपा एवं तज्जन्य सौभाग्य की ही आकांक्षा करती हो ?' वे उत्तर देती हैं, हे कान्त ! हम तो अपनी हृच्छयाग्नि अपनी स्मरव्यथा उपशमन की ही प्रार्थना करती हैं। भगवत्-सम्मिलन विषयणी उत्कट उत्कंठा ही सोत्कट सानुराग स्मर है; **'सामीप्येन सानुरागस्मरणमेव स्मरः'** दृढ़ अभिनिवेश युक्त सानुराग स्मरण-जन्य सामीप्य ही स्मर है। यह स्मर ही हृच्छय है। **'हृदिशेते हृच्छयः'** हृदय में शयन करने वाला ही हृच्छय है। गंगा-स्नान ही माहात्म्यातिशय-संयुक्त है : तज्जन्य पाप-ताप-निवृत्ति, मनोमल-निवृत्ति आदि आनुसंगिक फल है, इसी तरह प्रभु-पादम्बुज-सम्मिलन-दृष्ट्या ही सम्पूर्ण आयास अपेक्षित है; प्रभु के वीर्यातिरेक जनित कृपा, रक्षण, सौभाग्यातिशय आदि तो स्वभावतः ही प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्व प्रसंगों में बताया जा चुका है कि बालपन में ही व्रजाङ्गनाओं के अंग-अंग में सांग श्यामांग समाविष्ट हो चुके थे; जहाँ अंग-अंग में सांग श्यामांग समाविष्ट हों वहाँ अनंग-संचार सर्वथा ही असम्भव है। एकमात्र शुद्ध प्रेम-रस में तन्मय भक्तों के लिए भगवान् भी कह उठते हैं।

'अनुज राज संपति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही।
सबमम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥'

(मानस, उत्तर १५/७-८)

'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥'

(श्री० भा० ११/१४/१५)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कह रहे हैं, 'हे उद्धव ! आत्मयोनि ब्रह्मा, मेरा ही स्वरूप शंकर, संकर्षण, श्री, रुक्मिणी आदि भी मुझको उतने प्रिय नहीं हैं; इतना ही नहीं, मेरा आत्मा भी मुझको वैसा प्रिय नहीं है, जैसे तुम हो।' सनकादिकों के सम्बन्ध में भागवत् कथन है :—

'छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्'। (श्री० भा० ३/१६/६)

अर्थात् यदि मेरे बाहु भी तुम्हारे प्रतिकूल करने लग जायँ तो मैं उन बाहुओं को भी तत्काल ही काट डालूं। तात्पर्य कि सोपाधिक प्रेम की अपेक्षा विधि-निरपेक्ष हेतु फलानुसंधान-शून्य प्रेम का ही उत्कर्ष अधिक है।

भक्तों ने भक्ति में भी दो रूप माना है—एक वैधी, दूसरी रागानुगा। विधि से प्राप्त भक्ति वैधी है। **'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'** के अनुसार अप्राप्ति में

ही विधि होती है; जहाँ स्वारसिक रागानुगामी प्रवृत्ति नहीं है वहीं विधि की अपेक्षा है। किं बहुना; माता-पिता, गुरुजनों एवं लौकिक विषयों में भी विधि का संस्पर्श है अतः वहाँ भी स्वारसिक प्रीति में कुछ कमी हो जाती है। जहाँ स्वारसिक प्रेम है वहाँ निषेध होता है—जैसे बहते जल में बाँध डालने से वेग उत्कट हो जाता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रेम-प्रवाह भी निषेध से उत्कट रूप धारण कर लेता है। इस रागानुगा प्रीति का सम्पादन करने हेतु ही भगवान् अलौकिक, अप्राकृत, अग्राह्य एवं अदृश्य होते हुए भी लौकिक, प्राकृत, ग्राह्य एवं दृश्यवत् प्रकट होते हैं; सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा होते हुए भी पुत्रवत् तथा सबके परमपति होते हुए भी उपपति रूप से भी प्रकट होकर विभिन्न विषयों में लिप्त मन को विषयों से प्रत्यावर्तित कर अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। एकमात्र शुद्ध प्रेममार्ग का अनुगामी भक्त ही सर्वाधिक अनुकम्पनीय है।

भगवान् के प्रति आत्मीय भाव भी स्पृहणीय एवं महत् है तथापि विधि-ग्रस्त है; उदाहरणतः लक्ष्मण की अनुपम सेवा, भरत का अनुपम त्याग, माता यशोदा का अतुल वात्सल्य तथा रुक्मिणी आदिकों का अनन्य अनुराग आदि; इन सब में आत्मीयता के कारण कर्तव्य है; यह कर्तव्य-भावना ही सोपाधिक प्रेम का अपकर्ष है। नन्दरानी, व्रजेन्द्रगेहिनी यशोदा रानी अपवाद भी हैं; यशोदा रानी का अपने पुत्र बाल-कृष्ण के प्रति सोपाधिक प्रेम, वात्सल्य-भाव भी है तथापि उससे कोटि गुणा अधिक भगवान् श्रीकृष्ण आनन्द-कन्द के प्रति निरुपाधिक प्रेम, स्वाभाविक प्रेम है। विधि-निषेध रहित स्वाभाविक प्रेम में कर्तव्य की भावना नहीं अपितु लोकरीति से वैपरीत्य है।

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीम० भा० १०/४७/६१)

गोपाङ्गनाएँ आर्य-मार्ग को त्याग कर कुलटात्व जैसे मरण से भी कोटि गुणित दारुण दाह तुल्य लांछनों को सहती हुई, सुख-सम्पत्ति को तिरस्कृत करती हुई भी कृष्णानुराग में प्रवृत्त रहीं, अतः ये श्री रुक्मिणी आदि से भी अधिक अनु-कम्पनीय हैं।

अस्तु, भक्त के उर-स्थल में भगवत् पदाम्बुजों का धारण ही सर्वानर्थ-निर्वहण एवं भगवदानन्द-प्रस्फुटन दोनों ही दृष्टि से सर्वोत्कर्ष का हेतु है।

'तृणचरानुगं तृणचरैः' सर्वभोगविवर्जितैः मुनिभिः अनुगीयमानम्'

अर्थात् सम्पूर्ण भोगों का त्याग करने वाले **'वाताम्बुपर्णाशनैः'** वायु-भक्षी, अंबु-भक्षी, पर्णाशी, कन्द-मूल फलाशी, योगीन्द्र-मुनीन्द्र, अमलात्मा ,परमहंसों द्वारा आप के चरणाम्बुज अनुगम्यमान हैं। तात्पर्य कि आपके चरणांबुज ही सम्पूर्ण कर्म-काण्ड एवं उपासना-काण्ड के महातात्पर्य हैं अतः आप अपने चरणारविन्दों को हमारे उर-स्थल पर विराजमान करें।

■

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती
रधरसीधुना प्यायस्व नः ॥८॥

अर्थात् हे पुष्करेक्षण ! हे कमलनयन सुन्दर शब्द एवं वाक्य-विन्यासयुक्त आप की मधुरवाणी बड़ी मधुर है; बुधजन भी इससे मोहित हो जाते हैं । हे वीर ! तुम्हारी इस वाणी से मोहित हो हम तुम्हारी क्रीतदासी बन गई हैं अतः अब आप स्वमुखचन्द्र के अधरामृत से हमारा आप्यायन करें, हम दासियों को तृप्त करें ।

'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया' गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे पुष्करेक्षण ! आपकी सुन्दर शब्द विन्यास युक्त मधुर वाणी के कारण हम मोह को प्राप्त हो रही हैं । मरण के पूर्वकाल में होनेवाला मोह अथवा मूर्छा ही अर्द्ध अन्तावस्था है **'मुग्धेऽर्द्धं सम्पत्तिः परिशेषात्'** (३:२:१०) उत्तर मीमांसाकार कहते हैं मुग्धावस्था में जीवात्मा की परमात्मा के साथ अर्द्ध सम्पत्ति होती है । आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि आसवानुरागी, आसवोपभोगी को आसव की अप्राप्ति में जो मूर्च्छा होती है, उसका उपचार भी आसवोपभोग ही है । गोपाङ्गनाएँ भी कह रही हैं कि हे कमलनयन ! आपकी मधुर वाणी के कारण ही हम मुग्धावस्था को प्राप्त हो रही हैं । **'भावतोऽभ्योन्यत् न किमपि में प्रियतम्'** आप लोगों से भिन्न अन्य कोई मुझको प्रियतर नहीं है, 'तुम ही मेरी सर्वाधिक प्रेयसी हो' आदि आप की मधुरवाणी के कारण ही हम व्यामोह को प्राप्त हो रही हैं; हम मूर्च्छा की प्रत्यक्ष मूर्ति बनी हुई हैं; हमारी दशा को देखो ! हे वीर ! हमारी रक्षा एवं संवर्द्धन करो ।

भगवान् श्यामसुन्दर मदनमोहन की वाणी **'मधुरा'** है । **'मधु मद्यं तदिव राति इति मधुरा'** मद की भाँति उन्मत्त बना देनेवाली अथवा **'मधु, अमृतं तद्वत् मिष्टं'** अमृत की तरह मधुर अथवा **'मधुराति ददाति इति मधुरा'** मधु देने वाली है अतः मधुरा है । भगवद्-वाणी ही मोह-निवृत्ति का साधन है । माया का रूपान्तर ही मोह है । सच्चिदानन्दघन भगवद्-स्वरूप-साक्षात्कार से ही माया-निवृत्ति सम्भव है । वल्लभाचार्यजी की कारिका है :—

'हस्तेन च स्वरूपेण यदा चोपकृतिमंता ।
मुखेन चोपकारोहि कर्तव्यइतिता जगुः ॥'

अर्थात्, हे मदनमोहन ! आप सर्वतोभावेन हमारा संरक्षण करें। **श्रीकरग्रहं नः शिरसि धेहि'** हमारे शिर पर अपना श्रीकर विन्यास करें; **'जलरूहाननं चारु दर्शय'** हमको स्वरूप दर्शन दें; **'पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्'** हमारे उरस्थल में अपने पादारविन्द को धारण कर हमारी हृच्छयाग्नि का शमन करें। हे सखे ! अपने अधर-सुधा को पिला कर हमारा उपकार करना ही आपका परम कर्तव्य है।

श्री वल्लभाचार्यजी की ही एक और कारिका है :—

'प्रायुक्तमपि तत्सर्वं यावत् स्पष्टं न भासते।
तावद् सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥'

अर्थात्, जब तक 'उपकार हुआ' ऐसी अनुभूति नहीं होती तब तक वस्तु में सरसता नहीं आती। वस्तु में सरसता लाने की दृष्टि से भी स्पष्ट वर्णन आवश्यक है। जैसे किसी की मूर्च्छा-निवारण हेतु मंत्र-पाठ, शीतल सन्निधापन द्वारा तापापनोदन एवं अमृत पान वांछित होता है, वैसे ही इन कृष्णानुरागी, कृष्ण प्रेमोन्मादिनी गोपिकाओं की मूर्च्छा-निवारण के लिए सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप दर्शन, एवं उनकी मधुरा वाणी श्रवण अनिवार्य है। मोह का, जो माया का ही रूपान्तर है, एकमात्र निवर्तक श्रीकृष्ण ही हैं। भगवान् की मधुरा वाणी ज्ञानदायिनी है, ज्ञान से मोह की निवृत्ति स्वाभाविक है, भगवत्-दर्शन से ही जीव की मूर्च्छा, मोह-निवृत्ति सम्भव है।

'वल्गु वाक्यया, वल्गूनि मनोहराणि वाक्यानि यस्याम् तया' मनोहर वाक्य से युक्त मधुरा वाणी ही **'मधुरगिरा वल्गुवाक्या'** है। **'अर्थस्य प्रियत्वादिना'** जिस वाणी का अर्थ प्रिय हो, शब्द सुन्दर हो, वर्ण-बन्ध सुसंगत हो तथा उत्तम स्वर हो वह मधुरा गिरा वल्गु वाक्या है।

'तया कवितया किंवा किं वा वनितया तया।

पद-विन्यासमात्रेण न ययापहृतं मनः' अर्थात् उस कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद-विन्यास मात्र से मन को आकर्षित नहीं कर लेती।

'बुध मनोज्ञया' 'बुधानां विदग्धानां मनोज्ञया' अर्थात् जो उस वाणी से विदग्ध है : तात्पर्य कि रसिकों की वाणी को समझने वाले बहुत से परम चतुर बुद्धिमान् हैं परन्तु ब्रजसीमंतिनी जनों की वाणी को समझने में एकमात्र विदग्ध-चूड़ामणि, भगवान् श्रीकृष्ण ही समर्थ हैं। मदनमोहन, श्यामसुन्दर, ब्रजेन्द्रनन्दन की सुमधुर वाणी का अर्थ एकमात्र श्री रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी ही जानती हैं। वह अर्थ सर्व-साधारणगम्य नहीं। एतावता, **'बुध-मनोज्ञया'** बुध-विदग्ध के लिए ही वह वाणी मनोज्ञा है, बुध के मन को

आकर्षित करने वाली है। कवि विधाता से प्रार्थना करता है, **'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख'** हे प्रभो ! मेरे भाल में तू और जो भी दुस्सह दुर्भाग्य लिख दे परन्तु अरसिक के सम्मुख अपनी कविता को निवेदन करना न लिखना, न लिखना, न लिखना।

'बुध मनोज्ञया' उक्ति का अकारच्छेद से **'अबुधानामपि मनोज्ञया'** ऐसा अर्थ भी सम्भव है। तात्पर्य कि भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी ऐसी मनोज्ञा है कि अबुध, अपंडित, मोह-ग्रस्त प्राणी के मन को भी आकर्षित कर लेती है, फिर **'किमुत पण्डितानां'** पण्डितों के मन को आकर्षित कर लेना तो स्वाभाविक ही है। अथवा **'बुधानाम् ज्ञानिनाम् अपि मनोज्ञया'** ऐसा अर्थ भी सम्भव है। यह मधुर वाणी शुष्क-हृदय ज्ञानियों को भी आकर्षित कर लेती है। **''सर्वं निर्विशेषं परम् ब्रह्म न तदतिरिक्तं किंचित् दृश्यजानं मिथ्याभूतम् एतादृशं हृदयं येषां तेषामप्या कर्षणम्किम् वक्तव्यम् भक्तानाम्'** श्रीकृष्ण की मंगलमयी मधुर वाणी अद्वैत ज्ञानियों के शुष्क हृदय को भी बरबस आकर्षित कर लेती है तब फिर भक्त-हृदय के आकर्षण की तो बात ही क्या है ?

'बर्हापीडं नटवर वपुः कर्णयोः कर्णिकारं' (श्री० भा० १०।२१।५) भगवत्-सम्बन्धिनी वाणी कथंचित् सनकादि, शुकादि महर्षिगणों के कानों में पड़ी और उनके चंचल मन स्वतः उस ओर आकर्षित हो गए; महर्षिगण भगवत्-चरणानुरागी बन गए।

भगवान् श्रीकृष्ण के विरहजन्य दुस्सह तीव्रताप से संतप्त हो मूर्च्छा को प्राप्त इन ब्रजसीमन्तनी-जनों की मूर्च्छा-निवृत्ति में उनके परम-प्रेमास्पद, श्रीकृष्ण की वल्गुवाक्य मधुरा गिरा ही मूल मंत्र है।

'कठोरा भव वा मृद्वी प्राणात्वमसि राधिके।' हे राधिके। तुम कठोर हो जावो अथवा परम मृदु हमारी प्राणेश्वरी तो तुम्हीं हो आदि वचनों से श्यामसुन्दर व्रजेन्द्र नन्दन अपनी हृदयेश्वरी, राजराजेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी भगवती राधा-रानी को सम्बोधन करते हुए जो मधुर-विन्यास करते हैं वही उनकी मूर्च्छा-भंग करने वाले दिव्य मंत्र **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** हैं।

'पुष्करेक्षण पुष्करवत् ईक्षणे नेत्रे यस्य तत्संबुद्धौ हे पुष्करेक्षण' पुष्कर-कमल तुल्य मनोरम ईक्षण है जिनके वह पुष्करेक्षण। तीव्र-ताप-निवृत्ति के लिए मंत्र-प्रयोग के साथ ही साथ शीतोपचार भी अनिवार्य है अतः गोपाङ्गनाएँ आकांक्षा कर रही हैं कि हे पुष्करेक्षण ! **'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया'** रूप मंत्र-प्रयोग के साथ ही साथ अपने कमल तुल्य नयनों से सस्नेह, सरस, स्निग्ध सुस्मित अवलोकन द्वारा हमारे तीव्रताप का अपनोदन करें क्योंकि तापापनोदन होने पर ही मूर्छा भंग हो सकती है।

'अधर सीधुनाऽऽप्यायस्व नः' हे पुष्करेक्षण! आपके मंगलमय अधर में जो सीधु-अमृत है उससे हमारा आप्यायन करें; अन्त्य-दशा, मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हमको अपने अधर सुधारस द्वारा आश्वासन दें।

हे वीर! आर्त प्राणी की आर्ति का हनन करना ही सर्वोत्कृष्ट शौर्य है। आप कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थ हैं, पूर्णतः सामर्थ्यवान् हैं; आपकी वाणी में अद्भुत चमत्कार है। आपकी सुमधुर अधर सुधा यद्यपि अत्यन्त अदेय, दुर्लभ है तथापि आप दयावीर, दानवीर हैं अतः इस अत्यन्त अदेय अधर-सुधा दान से हम मरणासन्न ब्रज-वनिताओं की आर्ति का अपनोदन करें।

'स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः' (श्रीमद्० भा० १०।२९।१८) हे महाभागाओं तुम्हारा स्वागत है! मैं तुम्हारा कौन प्रिय करूँ? जैसे आपके मुखचन्द्र से निःसृत मधुर, मनोहर तथा श्रेष्ठ विन्यास-युक्त वचनामृत हमारे कर्णपुटों को परमानन्द-प्रदान करते हुए हमारे हृदय में प्रविष्ट कर गया फलतः हमारे हृदय में भी परमानन्द-रस-समुद्र से आप्लावित हो उठे। अब आपके अन्तर्धान हो जाने पर आपके विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप के कारण उस **'मधुरया गिरा वल्गु-वाक्यया** के स्मरण से भीषण उद्वेग होता है और हम मूर्च्छा को प्राप्त हो जाती हैं।

'विधिकरीरिमाः' विधि अर्थात् आज्ञा, **'आदेश; विधानं विधिः'** अर्थात्, आज्ञा का पालन करने वाली **'विधिकरीरिमाः'** आज्ञा का पालन करने वाली किंकरी दासी व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे पुस्करेक्षण! हम आपकी **'विधिकरी-रिमाः'** आज्ञा का पालन करने वाली दासी हैं अतः दया की पात्र हैं। हम किंकरी जनों का प्राणरक्षार्थ, व्यामोह-निवृत्ति हेतु अदेय-दान में भी आपको संकोच उचित नहीं है क्योंकि आपकी **'मधुरया गिराविधिकर्यः संजाताः'** अमृत से अधिक मधुर, मनोहर वाणी के वशीभूत हो हम आपकी किंकरी हो गई हैं। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं :—

'अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥'

अर्थात् गोपबंधुओं का विट् ही वह शठ है जिसने अद्वैत वीथी के आचार्य, स्वाराज्य सिंहासन में दीक्षा प्राप्त हमें बलात् अपना दास बना लिया है। परमहंस, परिव्राजकाचार्य, मुनीन्द्र की ही जब ऐसी परिस्थिति है तो इन प्रेम-मार्ग की आचार्या गोपाङ्गनाजनों की स्थिति स्वभावतः अकल्पनीय है।

भगवन् की अनन्तानन्त, अचिंत्य दिव्य शक्तियाँ ही गोपाङ्गनाओं के रूप में प्रकट हुईं; परा प्रकृति की जीव रूपा अनंतानन्त शक्तियाँ ही मूर्तिमती होकर

गोपाङ्गना रूप में सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, परात्पर, प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र की सेवा में उपस्थित हैं।

'अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभि विभूतिभिः।
चतुर्विशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥५२॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभि र्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥५३॥'

(श्रीम० भा० १०।१३।५२-५३)

अर्थात्, प्रत्येक गोपबालक एवं प्रत्येक गाय एवं बछड़े में ब्रह्मा ने शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, तेजोमय दिव्य चतुर्भुज श्रीमन्नारायण साक्षात् विष्णुरूप का ही दर्शन किया। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चौबीस तत्व होते हैं। प्रकृति तत्व, महत् तत्व, अहं तत्व, पंचतन्मात्राएँ एवं षोडश विकार ही चौबीस तत्व हैं। प्रति ब्रह्माण्ड की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। **'अष्टावरण भेद करि जहँ लगि गति रही मोरि।'** अग्निरूपा, अग्निकुमार रूपा, अनादि, अपौरुषेय मंत्र ब्राह्मण की अधिष्ठात्री महाशक्तियाँ, देवाङ्गनाएँ, दण्डकारण्यवासी मुनीन्द्र, ऋषिगण तथा जनकपुर की दिव्यातिदिव्य ललनाएँ जो राघवेन्द्र रामचन्द्र के रूप पर मोहित हुई थीं वे सब भगवान् की **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** वशीभूत हो भगवत्-किंकरी बनने की इच्छा से गोपाङ्गना रूप में आविर्भूत हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड नायिका अखिलेश्वरी, भगवती श्री लक्ष्मी भी श्री भगवत् किंकरी बनने की इच्छा रखती हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे सखे! अब आप आकर अपने विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से संतप्त अपनी प्रेयसीजनों की मूर्च्छा को प्रत्यक्ष देखें।—**'इमा, इदं'** का प्रयोग मूर्च्छा की प्रत्यक्षता को व्यक्त कर रही है। हे सखे! अपनी प्रेयसी-जनों की इस मूर्च्छा को देखने में ही आपका पुष्करेक्षणत्व सफल होगा।

'पुष्करं, हृदयकमलं तस्मिन् ईक्षणं यस्य' जिसका हृदय कमल में ही दर्शन होता है वही पुष्करेक्षण है। **'न बहुवक्तव्यं भवतां पुरतः'** हे नाथ! सर्वान्तर-यामी सर्वाधिष्ठान आप से क्या बात छिपी है अतः आपके लिये बहुत कहने की आवश्यकता ही नहीं।

निर्मल हृदयसे उपर्युक्त सम्पूर्ण युक्तियों का यथार्थ-ज्ञात अनुभूत हो सकता है।'

'क्रिया सर्वापिसैवात्र परं कार्यौ न विद्यते' अर्थात् क्रिया लौकिकवत् ही है तदपि लौकिक वासना से रहित है।

'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥'
(मानस, उत्तर १३०)

विष्णुपुराण की उक्ति है :—

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सामेहृदयान्मापसर्पतु॥१९॥'
(विष्णुपुराण १/२०)

ये कथन लौकिक विषयों में स्वाभाविक अनुराग के द्योतक हैं। इनका तात्पर्य यही है कि जैसा अनुराग अविवेकी प्राणी को लौकिक विषयों में होता है वैसा ही, स्वाभाविक अनुराग भगवत् चरणारविन्दों में हो जाय तो प्राणी का अशेष कल्याण हो जाता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ही उपर्युक्त उक्तियाँ युक्तिसंगत अनुभव हो सकती हैं।

'मधुरया गिरा वल्गु-वाक्यया।
बुधमनोज्ञया वीर मुह्यतीः॥'

आप की इस मधुर वाणी, अर्थ-रूप वाणी से बुध, आस्तिक जन भी मोह को प्राप्त होते हैं।

'अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति।'
(शतपथ ब्राह्मण २/६/३१)

चातुर्मास्ययाजी का सुख अक्षय होता है। **'अपाम सोममृता अभूम'** (ऋ० सं० ८/४८/३) हम सोम-पान द्वारा अमर हो गये आदि अर्थवाद रूपी वाणी ही मधुर या गिरा वल्गु वाक्यया है।

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥'
(श्रीम० भ० गी० २/४२)

अर्थात्, अनादि, अपौरुषेय, मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद की पुष्पवत् बहुशोभायमाना वाणी ही भगवान् की **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** है। **'मधुवत् स्वर्गादिफलं तत्र प्रलोभनं च राति'** स्वर्गादिफल अत्यन्त मनोहर हैं; इस मनोहर फल के प्रति आकर्षण करने वाली **'वल्गूनि मनोहराणि वाक्यानि यस्यां'** जिसकी वाणी **'बुध मनोज्ञयां'** बुध, लौकिक-पारलौकिक व्यवहार में दक्ष आस्तिक विद्वत्-समाज को स्वर्गादि मधुर फल में आकर्षित कर लेती है। सांसारिक अनाचार-दुराचार से निवृत्त होकर वेद-विहित सदाचार में लगना विवेकी के लिए ही सम्भव है।

किन्तु यह भी सम्पूर्ण लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से विनिर्मुक्ति रूप उन्च उन्नति से कुछ निम्न श्रेणी की ही स्थिति है। अतः गोपाङ्गनाजन कह रही हैं कि हे सखे ! आपकी इस अर्थवाद रूपा मनोहर वाणी से मोहित होने वाले विद्वत् आस्तिक जनों को **'अधरसीधुना प्यायस्व नः। अधरे वेदान्ते सीधु-सीधुरूपं ब्रह्मज्ञानं'** ब्रह्मज्ञान द्वारा आश्वस्त करें। भगवत्-साक्षात्कार ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है अतः केवल अर्थवाद वाक्यों द्वारा कर्मकाण्ड में निरत रहना ही बंधुजनों के लिए मोह-मूर्च्छावत् है। जैसे सुन्दरातिसुन्दर, ऐश्वर्यसुख पूर्ण नौका नदी को पार कर गन्तव्य-स्थान तक पहुँचने का माध्यम-मात्र है, वैसे ही वेद-विहित, कर्म-काण्ड रूपी नौका से भी पाशविक कर्म ज्ञान रूपी मृत्यु को पार कर **'विद्ययाऽमृत मश्नुते'** भगवत्-तत्व-विज्ञान, भगवत्-भक्ति के द्वारा ऊर्ध्वभाव को प्राप्त होना ही अंतिम लक्ष्य है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे ! आपकी इस सस्मित, स्निग्ध सावलोकन, अमृतवर्षिणी वाणी के श्रवण से ही मोहित होकर प्राणी देह-गेह आदि सर्वविध राग-विस्मृत हो जाता है; **'इतर राग विस्मारणं नृणां'** ज्ञान, ध्यान द्वारा अनेकानेक प्रयास करते रहने पर भी विश्व-स्मृति प्रेत की तरह सदैव प्राणी के सिर पर सवार रहती है परन्तु भगवान् की मंगलमयी अमृत-वर्षिणी कथा-सुधा के पान में जिन का चित्त एक क्षण के लिए भी लग गया उनको सम्पूर्ण इतर राग नीरस लगने लगते हैं। श्रीमद् भगवत्गीता में भगवत्-वाक्य है :—

'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥'

(श्री० भ० गी० ९/३२)

अर्थात्, हे पार्थ ! मेरी शरण ग्रहण करने पर स्त्री, शूद्र, तथा अनेकानेक पाप योनि प्राणी भी मुझ परात्पर, परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

(श्री० भ० गी० १८/६६)

अर्थात्, सम्पूर्ण कर्म-काण्ड का परित्याग कर एकमात्र मेरे ही शरणागत हो जाओ; तुम द्विविधा में न फँसो, मैं तुमको निश्चय ही मोक्ष दूँगा। ऐसी उक्तियाँ ही भगवान् श्रीकृष्ण के **'वल्गु वाक्य'** में हैं। इन्हीं **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** के श्रवण से सम्पूर्ण लौकिक राग, धन-धान्य, पुत्र-पौत्रादि विविध ऐश्वर्य से अनायास ही वैराग्य हो जाता है।

मुग्धा गोपाङ्गनाएँ **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'**, जैसी उक्ति से भगवान्

श्रीकृष्ण की निन्दा कर रही हैं; यह निन्दा भी प्रकारान्तर से स्तुति ही है।

'यदनुचरितलीलाकर्ण-पीयूष विपुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

(श्री० भा० १०/४७/१८)

गोपाङ्गनाएँ परस्पर कह रही हैं, हे सखी! जिसने भी इस मदनमोहन श्यामसुन्दर की कर्ण-पीयूष दिपुट् अनुचरित लीलाओं को सुना उसके ही द्वन्द्वधर्म, गृहस्थ-धर्म प्रकम्पित हो जाते हैं; वह विरक्त होकर विनष्ट हो जाता है।

'एतेभ्योभूतेभ्यो: समुत्था तान्येवानु विनश्यति। न प्रेत्यसंज्ञास्ति' (बृ० उ०, ४/५/१३) देहेन्द्रियादि रूप में परिणत भूतों से व्युत्थित होकर उसके विनाश के साथ विनष्ट हो जाता है। जैसे, समुद्र में डाले गये सैन्धव-खिल्य की उपाधि-नाश के साथ ही साथ उसके पृथक अस्तित्व का भी विनाश हो जाता है वैसे ही, तत्व-साक्षात्कार से काल्पनिक जीव-भाव भी विनष्ट हो जाता है। जिसके देहेन्द्रियादि रुपेण परिणत भूतों से तादात्म्याभिमान् का अन्त हो गया, जिसके काल्पनिक जीव-भाव का विनाश हो गया वही **'विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः'** विरक्त होकर विनष्ट हो जाता है और **'सपदिगृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना:, मातापितरौ रुदन्तौ संतौ परिहाय स्वयमपि दीनाः बहवइव विहंगा भिक्षुचर्याम् चरन्ति'** वह विनष्ट पुत्र रोते हुए माता-पिता को छोड़ कर स्वयं भी दीन होकर जीवन-यापन के लिये भिक्षु वृत्ति को स्वीकार कर विहंग की भाँति इतस्ततः भटकता रहता है। **'विहंगा-हंसा'** हंसवत् नीर-क्षीर का विवेचक; आत्मा-अनात्मा, हेय-उपादेय का विश्लेषण करने वाले योगीन्द्र, मुनीन्द्र भगवत् कथामृत-पान से उन्मत्त भगवत्-भक्त विरक्त होकर भिक्षुचर्योपलक्षित आश्रम को धारण कर लेते हैं। यह चमत्कार भगवान् की 'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया' का ही है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे! आपकी इस वाणी के प्रभाव से देह-गेह अनुसंधान-शून्य होकर निरन्तर आपकी ही आराधना में संलग्न भगवत्-भक्त भी **'मुह्यन्ति'** मोह को प्राप्त हो जाते हैं। आपके जलरूहानन पुष्करेक्षण एवं अधर सीधु ही उनके आकर्षण का केन्द्र है। **'अधतुम् हर्तुम् अशक्यं यत् सीधु तत् अधरसीधु'** श्यामसुन्दर मदन मोहन के अधरों का सीधु, अमृत जो धर्तुम अशक्य है, निवारण के लिए अनिवार्य है, स्वयं ही अभिव्यक्त हो हमारा आप्यायन करें।

हे सखे! 'स्वागतंवो महाभागाः' जैसी छल-छद्म युक्त प्रतारणा पूर्ण वाणी,

मनोहरा वाणी से मुग्ध होकर देह-गेह से विरक्त होकर हम यहाँ चली आई हैं। **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया न तु वज्रवत् कठोरया प्रतियात ततो गृहान्।** (श्री० भा० १०/२९/२७) **पतिः स्त्रीभिर्नहातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी।** (श्री० भा० १०/२९/२५) इत्यादिरूपया अर्थात् लोकेप्सु नारी को अपने पति का अतिलंघन नहीं करना चाहिए अतः तुम अपने-अपने घरों को लौट जाओ ऐसी कठोर वाणी न कह कर अपनी मधुर वाणी से हमें आश्वासन दें। अपने पुष्क-रेक्षण से, शीतल-अमल-कमल-दल तुल्य विशाल नेत्रों से निहार कर हमारे ताप का शमन करें तथा अपने अधर-सीधु से हमारे संताप का उपशमन करें।

हे श्याम सुन्दर ! हम आपकी विधिकरी, किंकरी, दासी हैं, अतः निजानु-ग्रहवशात् हमारी याचना की पूर्ति करें; **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** द्वारा हृदयाह्लादन, अमल-कमल-दल-तुल्य विशालाक्षों द्वारा निहार कर हृत्ताप उपशमन एवं अधर-सीधु दान द्वारा हमारी मूर्च्छा का अपनयन ही हमारी याच्ञा है।

हे सखे ! आपकी इस मधुरया गिरा वल्गुवाक्य, पुष्करेक्षण एवं अधर-सीधु के प्रतिदान में हम सर्वथा असमर्थ हैं अतः हम आपकी दासी, विधि करोरिमा बन जाती हैं। हम अपने अन्तःकरण अन्तरात्मा को जन्म-जन्मान्तर युग-युगान्तर कल्प-कल्पान्तर पर्यन्त आपके श्री चरणों में अर्पित करती हैं। इतने पर भी तो आप के अनुग्रह से हम उऋण नहीं हो सकेंगी। हे सखे ! आप दानवीर हैं। प्रत्युपकार निरपेक्ष हैं अतः सद्वैद्य के तुल्य आपही हम पर अनुग्रह करें।

मानिनी नायिकाएँ **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया, पुष्करेक्षण एव अधर सीधुना प्यायस्वनः'** जैसी उक्तियों द्वारा अपने प्रति भगवान् श्रीकृष्ण की आतुरता की ही कल्पना करती हैं। वे कहती हैं, हे श्याम-सुन्दर ! यद्यपि आपने हमारा अपकार ही किया है तथापि हम तो आपका उपकार ही करेंगी क्योंकि अपकार-कर्ता का भी उपकार करना ही सज्जनों का कर्तव्य है।

'कठोरा भव वा मृद्वी प्राणीस्त्वमति राधिके।
गतिर्नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना यथा।'

अर्थात्, हे राधिके ! तुम कठोर हो जाओ अथवा मृदु ही रहो, तुम ही मेरी प्राण हो; जैसे चकोर की चन्द्र से अन्य और कोई गति नहीं, वैसे ही, मेरी भी तुम्हारे सिवा अन्य कोई गति नहीं है। श्मशान-भूमि की राख धारण करने वाले तरुणेन्दु शेखर भगवान् शंकर कदाचित् मेरी देह की राख को भी अपने ललाट पर लगा लें तो प्रियतम सम्मिलन हो जावेगा यही अग्निभक्षी चकोर पक्षी की

एकमात्र आकांक्ष है। इसी तरह राधे! तुम ही मेरी एकमात्र गति हो ऐसी आपकी वाणी प्रतारणा-पूर्ण, छल-छद्म-युक्त ही थी, अन्यथा आप तिरोहित होकर हमको अपने विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से विदग्ध नहीं करते। **'बुध मनोज्ञया मुह्यतीः'** बुध हृदय को भी आकर्षित कर लेने वाली इस मनोहरा वाणी से मुग्ध हो जाने के फल स्वरूप ही आज हम विदग्ध, संतप्त हो मूर्च्छा की अन्त्यदशा को प्राप्त हो रही हैं। एतावता, हे सखे! तुमने हमारा अपकार ही किया परन्तु हम तो सदा ही तुम्हारा शुभ चाहती हैं; अतः **'आत्मानं आप्याययस्व अधर-सीधुना'** आओ, हमारे अधर-सुधा-रस से अपना उपोद्वलन करो। **'अधरं अवरं सिध्वयि यस्मात्'** हमारी इस अधर-सुधा से अमृत भी निकृष्ट है। हे सखे! आप वीर हैं; आपकी भृकुटियाँ ही आपका धनुष एवं ईक्षण ही आपका बाण है; अतः आप भयभीत न हों प्रत्यक्ष हो जावें और हमारे **'अधरं अवरं सीधु यस्मात्तेन अधर सीधुनाऽऽप्याययस्व नः'** साथ ही आप उन **'विधिकरीरिमा'** मुग्धा नायिकाओं का जो आपकी किंकरी हैं आप्यायन भी करें।

उक्त उक्तियों का निर्वृत्ति-पक्षीय अर्थ हैं; परात्पर परब्रह्म ही वेदों का महातात्पर्य हैं। कर्म-काण्ड एवं उपासना परक श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य भिन्न होते हुए भी महातात्पर्य परब्रह्म में ही है अतः वेद-ऋचाएँ गोपाङ्गना रूप से मूर्तिमती हो भगवत्-स्तुति कर रही हैं :—हे सर्वाधिष्ठान! सर्वेश्वर! **'लीलाविग्रहं धृत्वा'** लीला-विग्रह धारण कर अपनी अमृत-वर्षिणी वाणी **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** द्वारा **'श्रुतिरूपा अस्मान् आप्याययस्व'** हम श्रुति रूपाओं का आप्यायन करें। वाणी द्वारा उद्भाषित नानाविध कर्कश तर्कों का अपनोदन एवं उनके प्रामाण्य को सुव्यवस्थापित करना ही श्रुतियों का आप्यायन करना है। **'ईशावास्यमिदं सर्वं', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।'** इत्यादि श्रुतियाँ बताती हैं कि सर्वाधिष्ठान; सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्राणिपरम-प्रेमास्पद, सर्वसंभजनीय, सर्व-प्रार्थनीय भगवान् का साक्षात्कार ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है, सार है। वादी-जन अपने तर्कों द्वारा इन श्रुतियों का अन्यथा अर्थ कर देते हैं। मीमांसक-जनों के मतानुसार विधि-शेषत्वेन श्रुतियों में अर्थवाद वचन, उपासना विधि एवं विधि के अंगोपांग रूप का ही वर्णन है। सम्यक् कर्मकाण्ड के लिए ही सम्पूर्ण विधि का सांगोपांग वर्णन अनिवार्यतः अपेक्षित है। देवता एवं द्रव्य ही कर्मकाण्ड के आधार हैं अतः कर्मकाण्ड में ही वेदान्त सर्वथा गतार्थ हैं। वेदान्त का स्वप्राधान्येन परात्पर परब्रह्म परमात्मा में कोई तात्पर्य नहीं है। वेदान्त तो कर्म-विधि शेष कर्ता का ही प्रतिपादन कर उपक्षीण हैं; देवता-स्वरूप का प्रतिपादन करने में

ही वेदान्त की सार्थकता है; वेदान्त के द्वारा कर्म-शेष-भूत देवता का ही प्रतिपादन किया जाता है; जो विविध कर्कश तर्क मीमांसकों द्वारा उपस्थित किए जाते हैं। उनके अपनोदन के लिये आप लीला-विग्रह धारण करें। परात्पर परमात्मा के लीला विग्रह सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्द कन्द ने ही 'गीता' द्वारा उन कर्कश तर्कों का अपनोदन किया और वेदान्त तात्पर्य को सुस्पष्टतः व्यक्त किया।

'वेदाः श्रीकृष्ण वाक्यानिः' भगवान् श्रीकृष्ण के वाक्य ही वेद हैं। वेद परम प्रमाण है, धर्म एवं ब्रह्म-स्वरूप निर्णय में वेदों का अनपेक्ष प्रामाण्य है। श्रीमद्-भगद्गीता, बादरायण-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ वेदार्थ को ही सुव्यवस्थापित करते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थों का सार, श्री व्यासजी की समाधि-भाषा, 'श्रीमद्भागवत्' में परात्पर प्रभु भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार है। देवर्षि नारद व्यास जी से कह रहे हैं **'समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्।'** (श्री० भा० १/५/१३) अर्थात् समाधि के द्वारा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का साक्षात्कार कर उनको लिखो। भगवान् व्यास ने समाधि अवस्था में परात्पर प्रभु के लीला-विग्रह भगवान् श्रीकृष्ण की अनेकानेक लीलाएँ एवं लीला-परिकरों के हसित, भाषित, इंगित, चेष्टित, दृष्ट त्याग आदि सम्पूर्ण व्यापारों का तथा जीव, भक्ति, मुक्ति के स्वरूप का अपरोक्षतः साक्षात्कार कर उनको तद्वत् 'श्रीमद्भागवत्' में उतार दिया; अतः 'श्रीमद्भागवत्' प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत मान्य है। एतावता, गोपाङ्गनोपलक्षित श्रुतियाँ प्रार्थना करती हैं, हे प्रभो ! आप लीला विग्रह धारण कर, प्रत्यक्ष होकर अपनी **'मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया'** 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा उपनिषदर्थ का प्रतिपादन करें।

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।'
'पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।'

अर्थात् उपनिषद् रूप गायों के दूध को दूहने वाला गोपाल नन्दन ही आभीर नन्दन है। **'वेदलक्षणा गाः पालयन्ति इति गोपालाः'** वेद रूप गाय को पालने वाला ही गोपाल है। व्रज रूप गोष्ठ में उपनिषद् रूप गौओं का नियंत्रण करने वाला, गौओं को चराने वाला, पालन-कर्ता ही गोपाल है। **'गोपालः स एव-नन्दन, नन्दयति इति नन्दनः; सम्पूर्ण विश्वं नन्दयति'** अपने आनन्द सुधा–सिन्धु के एक कण मात्र से जो सम्पूर्ण विश्व को आनन्द प्रदान करता है वही नन्दन है।

वेद-ऋचाओं की अधिष्ठात्री-शक्तियाँ ही व्रजधाम की परम सौभाग्यशालिनी गो रूपा है।

'गावश्च कृष्ण मुखनिर्गत वेणुगीत पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रु कलाः स्पृशन्त्यः ॥'

(श्रीम० भा० १०/२१/१३)

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुखचन्द्र पर वेणु को धारण कर उसके छिद्रों को अपने अधरामृत से परिपूरित किया । यह भगवताधरामृत ही वेणुगीत-पीयूष रूप से व्रजधाम में अनवरत रूपेण प्रवाहित हुआ; व्रजधाम की गायों ने अपने उच्छ्वसित कर्णपुटों से इसे पान किया । इस अधरामृत को पान कर गायें इतरराग-विस्मृत हो अपने शावकों को दुग्ध-पान कराना भी भूल गईं; वे शावक-गण भी मुँह में पहुँचे हुए दुग्ध-कवल को गले में उतार लेना भूल गए और वह दुग्ध भूमि पर गिरने लगा; अतः वृन्दावन-धाम की भूमि श्वेत-द्वीप तुल्य शोभायमान हुई ।

सांगोपांग अनेक शाखोपहित वेद ही व्रजधाम के द्रुम हैं । माध्यंदिनी, कौथुय तैत्तिरीय आदि अनेक शाखाएँ ही इस द्रुम की विभिन्न शाखाएँ हैं : उपनिषद् ही पल्लव है, परमहंस परिव्राजक ही इस वेद-द्रुम पर बैठने वाले पक्षी है ।

ज्ञान द्वारा यह मान लेने पर भी कि श्रुतियाँ अनन्त, अखण्ड, निर्विकार परब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, परात्पर परब्रह्म का प्रबोध सम्भव नहीं; अतः वेदों में अनुष्ठापकत्व लक्षण अप्रामाण्य की संभावना हो जाती है; एतावता श्रुतियाँ प्रार्थना करती हैं कि हमारे प्रामाण्य-हेतु आप मंगलमय श्रीविग्रह धारण कर सगुण, साकार, सच्चिदानन्द घनरूप में प्रकट हों । आपके प्राकट्य से आपकी वाणी से ही हमारी सुरक्षारूप प्रामाण्य-सिद्धि एवं उपोद्बलन होगा ।

'सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥'

(श्रीम०भा० १०/२/३५)

अर्थात्, हे धाता ! यदि आपका यह मधुर मनोहर मंगलमय विशुद्ध सत्त्वात्मक श्रीविग्रह प्रकट न होता तो अपरोक्ष-साक्षात्कार-शून्य विज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति न होती । अपरोक्ष साक्षात्कार से ही सम्पूर्ण भ्रान्ति एवं अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है; गुड़ खाने से ही गुड़ की मिठास का अनुभव होता है । अनेकानेक विज्ञजनों द्वारा प्रतिपादित होने पर भी गुड़ न खानेवाले के लिये उसकी मिठास का अनुभव सम्भव नहीं होता वैसे ही, श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित

वेदों के महातात्पर्य, परात्पर, परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार उनके विशुद्ध सत्वात्मक लीला-विग्रह के प्राकट्य पर ही सम्भव हैं।

'अज्ञानभिद्विज्ञानम् अज्ञानंभिनत्ति इति'—अज्ञान को भेद करने वाला विज्ञान **'जगति मार्जनम् आप नाशं प्राप्तं भवेत्'** ही जगत् से लुप्त हो जाता यदि लीलाविग्रह रूप प्राकट्य द्वारा आपका अपरोक्ष साक्षात्कार न हुआ होता। **'प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः गुण प्रकाशैरनु मोयते भवान्'** गुण-प्रकाश से आपका अनुमान हो जाता है। **'शब्दादयो विषया येन भासन्ते तत् किमपि वस्तु विद्यते'** शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधादिविषय जिस ज्ञान से, जिस भान से प्रकाशित होते हैं वह प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय-व्यापार सम्भव होता है। **'यस्यकृते इन्द्रियैः मनसा बुद्धया च शब्दादयो विषया अवद्योत्यन्ते'** भान कोई वस्तु है वह संघात से अतिरिक्त देहइन्द्रिय मन बुद्धि से भिन्न जागरण-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से पृथक है।

'संघातस्य परार्थत्वात्' संघात स्वविलक्षण किसी असंहत चेतन के लिये हुआ करता है। इस प्रकार से समझा जाता है तथापि यह भी अनुमान-प्रमाण ही हुआ। अतः अज्ञान को भेद करने वाला विज्ञान स्वतः विशुद्ध सत्वात्मक लीलाविग्रह, आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में प्रकट हो गया।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥'

(श्रीम०भा० गी० १०/९)

अर्थात्, जो मेरे दिव्य मंगलमय पवित्र चरित्रों का दिव्य गुण-गणों का एवं मधुर-मनोहर-मंगलमयी मूर्ति का निरंतर श्रवण, मनन एवं चिन्तन करते हैं, परस्पर अन्योन्य सम्बोधन करते है—

'तेषामेवानुकंपार्थ महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'

(श्रीम०भा० गी० १०/११)

उनके अनुकम्पार्थ उनके हृदय में स्वतः मैं ही ज्ञान-दीप को प्रज्वलित कर आत्मस्वरूप का सुस्पष्ट प्रकाशन कर देता हूँ। अनायास अन्वय व्यतिरेक आदि युक्तियों से नाना प्रकार के प्रयास के बिना ही निजानुग्रहवशात् स्व-स्वरूप का पूर्ण प्राकट्य कर देता हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं:—

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'

(मानस, अयोध्या १२६/३)

'श्रीमद्भागवत' के एकादश स्कन्ध में भगवान् के निराकार, निर्विकार, निर्गुण रूप का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। **'तत्रोपाय सहस्राणामयं भगवतोदितः'** (श्रीम०भा० ७।७।२९) निर्गुण, निर्विकार, निराकार, परात्पर प्रभु को जानने के लिये चित्त की एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है; चांचल्य-युक्त चित्त से वस्तु-तत्व को समझना असम्भव है; चित्त की एकाग्रता के अनेकानेक उपाय शास्त्रों में कहे गए हैं तथापि भगवद्ध्यानरूप उपाय का भगवान् ने स्वमुख से निरूपण किया है। अतः भगवद्ध्यान ही साध्य भी है; जो लोग भगवद्ध्यान को साधन-रूप से अपनाते हैं उनको बीच में ही वह ध्यान छोड़ना पड़ जाता है। **'तच्चत्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिंतयेत्।** (श्रीम०भा० ११/१४/४४) भगवद्-भक्त के लिये भगवद्-ध्यान साधन नहीं अपितु साध्य ही है अतः कभी त्याज्य नहीं होता। भगवान् कपिलदेव ने देवहूति को निर्गुण निर्विकार, निराकार, ब्रह्म का उपदेश देते हुए भी सगुण, साकार, सच्चिदानन्द-घन भगवान् का ध्यान करने का ही आदेश दिया। भगवान् कपिलदेव द्वारा कथित भगवान् का नख-शिख ध्यान लगभग १९-२० श्लोकों में है, जिसका प्रथम श्लोक निम्नांकित है।

'सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दम् वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥'

(श्रीम०भा० ३/२८/२१)

विषयों का ध्यान करते-करते प्राणी का जीवन विषयों में ही फँसने लगता है।

'ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥'

(श्रीम०भ० गी० २/६२)

विषयों के संग से ही उनमें राग उद्भूत होता है; श्रेष्ठातिश्रेष्ठ विषय-सामग्री की उपस्थिति मात्र से उसमें स्वभावतः राग नहीं होता; तत् विषय के बारम्बार चिन्तन से ही उसमें राग प्रादुर्भूत होता है। जैसे विषयों के चिन्तन से उनमें राग उत्पन्न होने लगता है वैसे ही निरंतर भगवदानुसंधान से **'मामनुस्मरतश्चित्तं'** (श्रीम०भा० ११/१४/२७) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, व्रजेन्द्र-नन्दन, गोपाल के दिव्य श्रीविग्रह के निरन्तर चिन्तन से प्राणी भगवत्-स्वरूप में आसक्त हो जाता है। एतावता जिस किसी भी भावना से एकबार भी भगवादनुसंधान में प्रवृत्त होने पर भगवत् स्वरूप की महिमा से मन उसी में विलीन होने लगता है। भगवत्-चिन्तन से ही जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरों की अनन्त पापराशि भी तत्क्षण विनष्ट हो जाती है।

'अतिपातकयुक्तोपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥

'अर्थात् अति पातकी प्राणी भी एक निमिष मात्र के लिए भी अच्युत का ध्यान कर ले तो वह अत्यन्त उत्कृष्ट एवं पतितों का उद्धार करने वाला हो जाता है । जिसका अन्तःकरण जितना ही शुद्ध है वह उतने ही अल्प आयास से अपने हृदय में भगवत्-स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है । भगवत्-स्वरूप प्राकट्य, भगवत्-साक्षात्कार बुद्धि-शुद्धि सापेक्ष्य है । एकाग्रता से चित्त शुद्धि होती है; शुद्धता से भगवत्-स्वरूप माधुर्य अत्यन्त दिव्य रूप में प्रकट होता है । जैसे अयस्कान्तमणि शुद्ध लौह का आकर्षण कर लेतो है अथवा जैसे सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति विशेष से ही राहु का दर्शन होता है अन्यथा नहीं, वैसे ही आत्माराम चित्ताकर्षत्व भगवान् का गुण है; आत्मरामों के भी चित्त का आकर्षण कर लेते हैं ।

'स्वसुखेनैवनिभृतं परिपूर्णं चेतोयस्यासौ स्वसुखनिभृतचेताः तद्व्युदस्तान्यभावः तेनैव व्युदस्तः अन्यपदार्थस्य भावः सत्तायेनासौ ।'

अर्थात्, जिसका चित्त स्वरूप भूत परमानन्द सुधा-सिन्धु से परिपूरित है अत-एव जिसकी बुद्धि में तद्भिन्न किसी वस्तु में भावना उद्बुद्ध ही नहीं होती ऐसे व्यास नन्दन भगवान् शुकदेव का मन भी ध्यान करते ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द कंद में आकृष्ट हो गया; आत्म-काम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, आत्माराम भगवान् शुकदेव का चित्त आनन्दकन्द, सच्चिदानन्दघन, पूर्णतम पुरुषोत्तम, परात्पर प्रभु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में बलात् आकृष्ट हो गया । अस्तु, भगवत् चिन्तन से ही भगवत्-स्वरूप में आकर्षण एवं राग होता है । प्रेम के उत्कर्ष से चित्त शिथिल हो जाता है । **'द्रवते यस्य चित्तं'** वाक् गद्गद् हो जाती है; नेत्र आनंदाश्रु परिपूरित हो जाते हैं तथा अंग-अंग रोमांच-कंटकित हो जाते हैं । क्रमशः प्रेमोद्रेक-जन्य विशेष शैथिल्य के कारण चित्त ध्येय-स्वरूप को ग्रहण करने में भी विवश हो जाता है ।

'परम प्रेम पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमित बिसराई ॥
(मानस, अयोध्या २४०)

मन-बुद्धि-चित्त एवं अहंकार का विस्मरण हो जाने पर चित्त निर्विकार हो जाता है, निर्विकार, एकाग्रचित्त से ही भगवत्-साक्षात्कार सम्भव है । विलय एवं विक्षेप-शून्य एकाग्रचित्त में ही प्रभु-प्राकट्य सम्भव है । क्षण भर के लिए भी चित्त का वृत्ति-शून्य हो जाना अत्यन्त कठिन है तथापि चित्त के निर्वृत्तिक होते ही तत्क्षण भगवत्-प्राकट्य, भगवत्-साक्षात्कार हो जाता है । तुरीय-तत्व अनुभव हेतु चित्त का निर्वृत्तिक होना अनिवार्य है । सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन,

परमात्मा की उपासना करते-करते अन्तःकरण अनायासेन निर्वृत्त हो जाता है; अतः प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता की परिसमाप्ति हो जाती है। यही तुरीय तत्व है।

'एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयंतत्र योवेद सआत्मास्वाश्रयाश्रयः ॥

(श्रीम०भा० २/१/९)

अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों में किसी एक के अभाव में अन्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इन तीनों का साक्षात्कार आत्मा से होता है। आत्मा अनन्याश्रय होते हुए अन्य सब का आश्रय है।

उपासना-लक्षण क्रिया में अनन्त, अखण्ड, निर्विकार दिव्य-स्वरूप का अनायासेन प्राकट्य हो जाता है।

'वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तथार्हणं येन जनः समीहते।'

(श्रीम०भा० १०/२/३४)

'देवक्रियायां प्रतियन्त्यथापिहि।'

(श्रीम०भा० १०/२/३६)

ब्रह्माजी कहते हैं—

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥

(श्रीम०भा० १०/१४/२९)

अर्थात्, हे प्रभो ! जो अन्वय वितरेक आदि तर्कों का अवलम्बन कर अन्नमयादि कोषों का विश्लेषण करता हुआ बहु-काल पर्यन्त भी आपको वेद-वेदांगों में खोजता है वह भी आपको नहीं पाता परन्तु **'पदाम्बुज द्वय प्रसाद लेशानुगृहीत एव हि'** आपके चरणारविन्दों का लेश-मात्र अनुग्रह प्राप्त करने वाला निश्चय ही आपको प्राप्त कर लेता है; तात्पर्य कि आपके तत्व को जान लेता है। अस्तु, श्रुतियाँ प्रार्थना करती हैं कि, "हे प्रभो ! सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन, मंगलमय, श्रीविग्रह धारण कर प्रकट होकर आप अपने में आसक्ति उत्पन्न करें। साथ ही, अपने स्वरूप-साक्षात्कार से ब्रह्म-बोधक वेदान्त-वाक्यों का अननुष्ठापकत्व लक्षण अप्रामाण्य का निराकरण करें क्योंकि वेदान्त द्वारा जिस निर्विकार परब्रह्म का प्रतिपादन होता है वह असद् असम्भावित नहीं अपितु सद् सम्भावित है।

समय-समय पर अनेक भक्त जनों ने भगवत् स्वरूप-साक्षात्कार किया है। ध्रुव कृत स्तुति जो सम्पूर्ण केनोपनिषद् तथा कठोपनिषद् का सार सर्वस्व है :—

जिसका पहला श्लोक निम्नांकित है :—

'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम् ।
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ॥
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादान् ।
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाप तुभ्यम् ॥'

(श्रीम०भा० ४/९/६)

इस उच्चातिउच्च कोटि के वेदान्त सिद्धान्त को विभिन्न वादियों ने दूषित कर दिया है। उसका अपनोदन करें और वेदान्त, उपनिषद्-वाक्यों को ब्रह्म-पर्यवसायी निर्धारित करें। इसमें महान् क्लेश है, अतः गोपाल नन्दन श्रीकृष्ण ने उपनिषद्-रूप गौवों का सार-स्वरूप दुग्धामृत का दोहन किया; वही उपनिषदों का स्पष्टार्थ है। इससे वेदान्त वाक्यों में आरोपित अन्यपरता खण्डित हो जाती है; तात्पर्य कि जब तक आप के मंगलमय, सगुण, साकार श्रीविग्रह का प्रादुर्भाव नहीं होता तब तक ब्रह्म-विज्ञान बोधक श्रुतियाँ अननुष्ठापकत्त्व-लक्षण-अप्रामाण्य-दोष से दूषित रहेंगी; ब्रह्म-विज्ञान-बोधक श्रुतियों द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर ही वह अनुभूत सत्य सिद्ध होगा अन्यथा ब्रह्म-साक्षात्कार केवल मात्र पोथी-पन्ने का प्रलाप ही होगा। अस्तु, आप मंगलमय, सगुण, साकार स्वरूप में प्रकट हों।

कथा-प्रसंगानुसार, गोपाङ्गनारूप श्रुतियाँ कहती हैं, 'हे विभो! मंगलमय, सगुण, साकार स्वरूप धारण कर अपनी मधुर वाणी **'मधुरया गिरा'** एवं श्रेष्ठ वाक्यों **'वल्गु वाक्यया'** द्वारा साधकों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लें। आप की वाणी **'बुध मनोज्ञा'** विज्ञ-जनों के चित्त को आकर्षित करने वाली है अथवा **'अबुध मनोज्ञा'** अबुध, चेतना-शून्य पशु-पक्षी आदिकों को भी सम्मोहित कर लेने वाली है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय मुख-निःसृत वेणु गीत-पीयूष के संसर्ग से वृन्दावन के पशु-पक्षी तथा वृक्ष-लतादिक, चेतनाचेतन, बुधाबुध सब भगवत्-स्वरूप से आकृष्ट हुए। **'पुष्करेक्षण'** पुष्कर-तुल्य नयन; अमल-कमल-दल के तुल्य है नयन जिसके ऐसा जो मनोरम मुख-कमल युक्त आपका दिव्य स्वरूप है उसका दर्शन देकर प्रजा का आकर्षण करें। **'अधर सीधुना अधरे वेदान्ते, अधर भागे वेदान्ते'** अपने अधर भाग में उत्पन्न ज्ञान रूप सीधु अमृत से इनका आप्यायन एवं उपबृंहण करें। **'अपाम सोमममृता अभूम'** आदि अर्थवाद रूपिणी भगवद्-वाणी है। **'बुधानाम् मनोज्ञा'**, लौकिक-व्यवहार में दक्ष ही बुध है। आप की अर्थवाद रूपिणी वाणी बुधजनों के लिए रुचिकर है। इस अर्थवाद रूप वाणी के कारण मोह को प्राप्त हुए बुधजनों का **'अधर-सीधुना'** वेदान्त-महावाक्य जन्य ज्ञानामृत से आप्यायन करें।

तव कथामृतं तप्त जीवनं ।
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ॥
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं ।
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

अर्थात्, हे प्रभो ! तुम्हारी लीला-कथा श्रवण मात्र से ही मंगल कारिणी तथा परम शोभा एवं षडैश्वर्य युक्त और विस्तृत है; संतप्त आतुर जनों के लिए अमृत स्वरूप है; वह सब पाप-तापों का नाश करती है तथा कवियों द्वारा प्रशंसित परमादृत है। जो तुम्हारी इस लीला कथा का गान करते हैं वस्तुतः वे ही सर्वोपरि महान दानी हैं।

'तप्त जीवनम्' हे श्याम-सुन्दर आपकी कथा संतप्त प्राणी के लिए अमृत है। **'तप्तानामस्माकमपि तदेव जीवनम्'** आपके विरह-जन्य तीव्र ताप से संत्रस्त होते हुए भी हम इस कथामृत के कारण ही जीवित हैं। विरह विवश हम व्रजाङ्गनाएँ परस्पर आपकी चर्चा करने लगती हैं फलतः मरण से भी कोटि गुनाधिक दारुण ताप को सहते हुए हम मर नहीं पातीं।

हे श्याम-सुन्दर ! आपकी कथा त्रिविध-ताप का शमन करने वाली है। **'तप्तान् जीवयति इति तप्त जीवनं'** आपकी कथा संसार-ताप से संत्रस्त प्राणी को जीवन देती है। संसार में दो प्रकार के अमृत हैं; एक समुद्र-मन्थन से प्राप्त हुआ है और दूसरा आपका कथामृत। समुद्र-मन्थन से प्राप्त अमृत से देवगण अमर तो हो गए तथापि न ईर्ष्यादि दोषों से निवृत्त हो सके, न शान्ति-लाभ ही कर पाए और न मोक्ष ही प्राप्त कर सके। इस अमृत-घट को पाने की इच्छा से ही देवासुर-संग्राम हुआ। आपकी कथा-सुधा संतप्त प्राणी के ईर्ष्यादि दोषों का शमन करते हुए उसको शान्ति एवं मोक्ष दोनों ही प्रदान करती है। यही कारण है कि स्वर्गवासी देवगण भी आपके कथामृत-पान की लालसा से भारतवर्ष में उत्पन्न होने के लिए आतुर रहते हैं।

'कल्मषापहम्' श्रीधर स्वामी लिखते हैं---**'काम-कर्म-निरसनं'** भगवत् कथामृत विविध प्रकार के काम एवं शुभाशुभ-कर्म का निरसन करने वाला है। तात्पर्य कि भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार से काम एवं कर्म दोनों का ही समूल उन्मूलन हो जाता है।

'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।' (श्रीम०भा० गी० ४/३७)
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः ॥ (मुण्डको० २/२/८)

अर्थात् काम-रूपेण-विख्याता हृद-ग्रन्थि भगवत्-साक्षात्कार से तथा कर्म रूप बन्धन ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। भगवत्-कथामृत-पान में निरत व्यक्ति को भक्ति, विरक्ति एवं भगवत्-प्रबोध साथ-ही-साथ होते चलता है; जैसे मधुर मनोहर पक्वान्न के भक्षण से

'तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्' (श्रीम०भा० ११।२।४२) पुष्टि एवं क्षुधा-निवृत्ति प्रत्येक ग्रास के साथ होती चलती है।

सनातन गोस्वामो **'कल्मषापहम्'** का अर्थ करते हैं कि जो व्यक्ति भगवत्-कथामृत पान करने में निरत हैं उसके लिए संसार एवं संसार के मूलभूत कारण शुभाशुभ कर्म ही बाधित हो जाते हैं। जैसे देव-भोग्य अमृत रोग-दोष-निवारक एवं बल-पुष्टि का आधान-कर्ता है और साथ ही परमामृत रसमय होने के कारण स्वयं ही फल-स्वरूप भी है, वैसे ही भगवत्-कथामृत भी संसार एवं उसके मूलभूत कारण शुभाशुभ कर्म का निवारक एवं सर्वार्थ प्रापक है। **'कविभिः सर्वार्थप्रापकत्वेन ईडितं संस्तुतम्'** व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षियों ने सर्वपुरुषार्थ साधकत्वेन, सर्वपुरुषार्थ-प्रापकत्वेन आप के कथामृत का संस्तवन किया।

'शृण्वन् रामकथानादं को न याति परांगतिम्' अर्थात्—वह कौन व्यक्ति है जो राम-कथा-नाद को पान कर परम-गति को प्राप्त नहीं होगा? तात्पर्य कि आपके कथामृत का पान कर प्राणी निश्चय ही परमगति को प्राप्त होता है; साथ ही

'पुत्रार्थी लभते पुत्रम् धनार्थी लभते धनम्' पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदि विविध लोकैषणा की भी प्राप्ति होती है। देव-सुधा भी कल्मष-हनन में समर्थ नहीं है अतः कवि कहता है

'क्व कथा क्व सुधा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्?' कथामृत एवं देवसुधा में तुलना करते हुए कविवर शुकदेव जो कहते हैं 'कहो, कहाँ तो यह कथामृत और कहाँ वह देव सुधा? जैसे महामणि और काँच में कोई तुलना सम्भव नहीं, वैसे ही भगवत् कथामृत और देव-सुधा में भी कोई तुलना सम्भव नहीं क्योंकि भगवत्-कथामृत-**कल्मषापह** है परन्तु देवसुधा को पान करने वाले, नन्दन-वन, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष का भोग करने वालों की तो संसार एवं उसके मूलभूत अविद्या-काम-कर्मों की निवृत्ति नहीं होती।

श्री पंचशिवाचार्य जी कहते हैं :—

'स्वल्पसङ्कुरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्षः' इति, स्वल्पसङ्कुरः ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य स्वल्पेन पशुहिंसादिजन्मना अनर्थहेतुनाऽपूर्वेणसङ्कुरः।

सपरिहरः क्रियतापि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः, अथ च प्रमादतः प्रायश्चित्तमपिनाचरितंतदा प्रधानकर्मविपाकसमये स पच्यते।

तथापि यावदसावनयर्थं सूते तावत् प्रत्यहमर्शेण सहिष्णुतयावर्तते इति सप्रत्यवमर्षः।

मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गमहा। सुधाह्लदा वगहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादिता दुःखवह्निकणिकाम्। (सां त कौ० १)

अर्थात्, जो सुधा-महा-ह्रदा अवगाही, परम-कुशल देवगण हैं उनको भी पाप-जन्य दुःखाग्नि-कणिका को भोगना पड़ता है। अग्निहोत्रादि जन्य पुण्य के रहते हुए भी अग्नि-सौम्यादि-पश्वालम्ब जनित स्वल्प प्रत्यवाय को भी भोगना ही होता है। **'प्रार्याश्चितेनापिहर्तुम् अशक्याः** प्रायश्चित भो हिंसादि जनित प्रत्यवाय का निराकरण नहीं कर पाता अतः देव-सुधा के पान-कर्ता को प्रत्योत्कर्ष भी भोगना ही पड़ता है; एतावता इतर अमृत से कथामृत ही श्रेष्ठ है।

'श्रीमदाततं भगवत् कथा श्रीमत्' श्रीयुक्त एवं सुशान्त है; इतर अमृत देव-सुधा मादक है। देव-सुधा का पान कर लोग मत्त हो जाते हैं, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भूल जाते हैं। इंद्र जैसे भी देव-सुधा से मदान्ध हो अनर्थ के भागीदार हुए भगवत्-कथामृत व्यक्ति को भी सान्त्वना एवं शान्ति प्रदान करता है।

'आततं' 'व्यापकं' यह कथामृत सर्व-व्याप्त है; देव-सुधा परिछिन्न है अतः उसको प्राप्त करने के लिये देवासुर-संग्राम हुआ परन्तु कथामृत अपरिछिन्न है अतः सर्व-हितकारी है। भगवत्-कथामृत **'श्रीयुक्त सुशान्त'** एवं **'आततम्'** श्रीयुक्त, सुशान्त एवं सर्व-व्याप्त है अतः **'श्रीमदाततम्'** है।

'श्रवण मंगलम्' भगवत्-कथामृतं श्रवण मात्र से ही मंगलकारी है। देव-सुधा अनुष्ठान-सापेक्ष है **'तत्र अनुष्ठानसापेक्षम्'**—इतना ही नहीं, उसका विधि-पूर्वक पान ही फल-पर्यवसायी है, परन्तु कथामृत के श्रद्धाभक्तिपूर्वक श्रवण से ही काम-क्रोधादि दुर्गुणों का शमन एवं कथामृत प्राप्ति में आने वाले विघ्नों, अन्तरायों का अपनोदन हो जाता है। अतः भगवत्-कथामृत साधन रूप भी है, साध्य फलस्वरूप भी है। दुर्गा सप्तशती का श्लोक है :—

'श्रुतं हरति पापानि तथारोग्यं प्रयच्छति'

अर्थात् भगवती का मंगलमय, परम पवित्र चरित्र सुनने से ही पाप का नाश एवं आरोग्य-लाभ होता है। तात्पर्य कि भगवती का पुनीत चरित्र-श्रवण से ही पाप-ताप की निवृत्ति एवं सर्व प्रकार के कल्याण का सम्पादन हो जाता है।

भगवत् कथामृत श्रवण के लिये चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है।

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।'

(श्रीम०भा० ११/२०/९)

जब तक लोकैषणा, वित्तषैणा, पुत्रैषणा से पूर्णतः विनिर्मुक्त न हो जाय, जब तक भगवत् कथामृत श्रवण में पूर्ण श्रद्धा जाग्रत न हो जाय तब तक श्रद्धा-भक्ति के साथ कर्म-काण्ड का सम्पादन करना चाहिए। भगवत् कथामृत रसास्वादन-हेतु कर्म-काण्ड, उपासना, अनुष्ठान आदि के द्वारा तदनुसार योग्यता का सम्पादन अपेक्षित है।

'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः' जो भूमण्डल में आपकी कथामृत का वितरण करते हैं वे **'भूरिदा जनाः'** बड़े दानी हैं।

'जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्' अर्थात्, अनेकानेक प्रकार के दान, यज्ञ, अनुष्ठान आदि का महत्व उस महत्व की षोड़शी कला की भी बराबरी नहीं कर सकते जो जीव को अभय प्रदान करने से होता है। **'किमहं ॐ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवम्।'** (तै० २/९/१) **'नैनं कृताकृते तपतः'** (बृ० ४/४/२२) मरते समय जीव को संताप होता है मैंने क्यों साधु-कर्म नहीं किया ? क्यों असाधु-कर्म किए ? परन्तु जो भगवत्-कथामृत का श्रवण करता है वह कृताकृत संताप से मुक्त हो जाता है। भगवान् व्यास-पुत्र श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं,

'त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि' (श्रीम०भा० १२/५/२) अर्थात्, हे राजन् ! मैं मरूँगा, यह पशु-बुद्धि है। मन, बुद्धि, अहंकार से अतीत अजर, अमर, अखण्ड सच्चिदानन्दघन, परात्पर, परब्रह्म का अंश-स्वरूप मैं मर रहा हूँ यह पशु बुद्धि है। परीक्षित ने भी अनुभव किया **'ब्रह्माहं परमं परं'** (श्रीम०भा० १२/५/११) हे गुरुदेव ! आपके अनुग्रह से मैं भगवान् के मंगलमय मधुर मनोहर स्वरूप में प्रविष्ट हो गया; अब सम्पूर्ण ताप-संताप से विनिर्मुक्त हूँ, सम्पूर्णतः अभीत हूँ।

'श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।' (श्रीम०भा० २/१/२)
'तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।' (श्रीम०भा० २/२/५)

संसार में यों तो श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य का पारावार नहीं है, हे राजन् ! एकमात्र सर्वात्मा हरि ही सर्वश्रेष्ठ श्रोतव्य, मन्तव्य, कीर्तितव्य, स्मर्तव्य तत्व है अतः सर्वतो भावेन, सदा सर्वदा उन्हीं का श्रवण, मनन एवं विचार करना ही जीवन का सार है अन्यथा जीवन का अपव्यय होता है जो व्यर्थ है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे सखे! मरण के दारुण दुःख से भी कोटि-गुणाधिक आपके विप्रयोग-जन्य तीव्रताप को सहन करती हुई हमको इन भूरि-दाताओं ने आपका कथामृत सुना-सुना कर जिला रखा है। हे सखे! ऐसा नहीं है कि हमें आपके चरणों में प्रेम नहीं है। आपके कथामृत श्रवण से जीवन-यापन करने वाली हम बनिताओं के लिए आप अवश्य ही अपने जलरूहानन के मधुर अधरामृत रूप महौषध को कृपा कर प्रदान करें।

हे सखे! आपके विप्रयोग-जन्य सन्ताप से दग्ध होते हुए भी हम जीवित हैं यही हमारा कलंक है। हमारे इस कलंक का, हमारे इस जीवन का रहस्य आपका कथामृत है जो संतप्त जीवों को जीवन प्रदान करने वाला है। ब्रह्मा जी कह रहे हैं :—

'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थानेस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्।
(श्रीम० भा० १०/१४/३)

अर्थात्, जो भक्त जन ज्ञान में तनिक भी प्रयास न कर केवल तुम्हारी कथा-सुधा को नमन करते हैं, कानों से सुनी हुई तुम्हारी कथा का मनसा-वाचा सम्मान करते हैं वे मुक्ति पदके दायभागी होते हैं।

भक्ति से रहित ज्ञान निरर्थक है। जैसे **'तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।'** (श्रीम० भा० १०/१४/४) स्थूल तुश (भूसी) को कूटने का परिश्रम निरर्थक है। भक्त तो मानता है—

'मोहे इतनो जान भलो
ठाकुर श्री ब्रजराज रगीलो, ठकुरानी वृषभान लली।'

तात्पर्य कि भगवत्-प्रीति के उपयुक्त ज्ञान ही वांछित है क्योंकि

'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥'
(मानस, उत्तर ८८/७-८)

मोक्ष भी अमृत कहा जाता है। **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते यनाय। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तमेव विदित्वा अमृत इह भवति।' 'अमृतत्वस्यतु नाशास्ति वित्तेन' 'एतद् अभयं अमृतं एतद् ब्रह्म'** आदि स्थलों में अमृत शब्द से मोक्ष ही निर्देशित होता है। मोक्ष रूपी अमृत संसार-सन्ताप का नाश कर देता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे सखे! देवभोग्य अमृत रोगादि दोष एवं महा सन्तापों का नाश कर देता है परन्तु आपका

कथामृत तो रोगादि दोष के साथ ही साथ संसार के महा सन्तापों का भी नाश कर देता है। अतः हम आपके विप्रयोग-जन्य दारुण ताप से विदग्ध होती हुई भी मृत्यु को प्राप्त नहीं हो पा रही हैं। हे सखे ! जिसका हमने अन्तःकरण, अन्तरात्मा, रोम-रोम से आलिंगन-परिरंभण किया उसकी केवल कथा सुनकर हमारी वही दशा होती है जो तप्त-लौहपात्र में पड़े हुए जलबिन्दु की होती है। **'तप्ते लौह पात्रे यथा जीवनं जलं निक्षिप्तं सत् तत्क्षणम् विलीयते।'** जैसे तप्त-लौह पात्र में पड़ा हुआ जल-बिन्दु तड़फड़ा कर तत्क्षण विनष्ट हो जाता है वैसे ही, आपके न रहने पर आपकी केवल कथामात्र सुन कर हमको भी तड़फड़ाहट होती है तथापि हम मर नहीं पाती क्योंकि आपकी कथा ही अमृत है।

'सन्त्यज सखि तदुदंतं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥'

अर्थात् कोई गोपाङ्गना अपनी सखी से कह रही है, हे सखी ! यदि अपनी इस प्राणप्रिय सखी को एक क्षण के लिए भी सुख पहुँचाना चाहती हो तो उनका उदन्त न छेड़ क्योंकि उनको सुनकर इसकी मूर्च्छा भंग हो जावेगी; मूर्च्छा में तो कुछ देर के लिये शान्ति भी मिलती है। हे सखी ! तू कोई और ही चर्चा चला जिससे कि यह कुछ देर के लिये कृष्ण को भूल जाय।

'प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति,
वालासौविषयेषुधित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः।
यस्य स्फूर्तिलवायहन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं किलपश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्ति माकाङ्क्षते॥' (२/१७)

योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि के द्वारा संसार से मन को हटा कर भगवत् चरणों में लगाने का सतत प्रयास करते हैं परन्तु ये प्रेमरस पगी गोपालियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को भूलकर एक क्षण के लिये भी उनके विप्रयोग-जन्य दारुण-दाह से शान्ति पाना चाहती हैं।

'कविभिरीड़ितं' व्यास, वशिष्ठादिक महर्षिगण भी देव-भोग्य अमृत एवं मोक्षरूप अमृत, दोनों का ही वर्णन नहीं करते क्योंकि ज्ञानी को मोक्ष में स्पृहा नहीं रह जाती। **'तत्परं पुरुषख्याते गुंणवैतृष्ण्यम्'** (पा० यो० सू० १/१६) अर्थात् पुरुष-साक्षात्कार से गुणों में वितृष्णा हो जाती है। तात्पर्य कि, **'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्हेयपक्षे वर्त्तते'** **सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप** जो सर्वोत्कृष्ट सत्त्व-परिणाम है, वह भी हेय-पक्ष में हो जाता है क्योंकि शक्ति अपरिणामिनी,

अप्रतिसंक्रमण शीला, नित्या, शुद्धा एवं शान्ता है एतावता **'गुणवैतृष्ण्यं'** गुणों से भी वितृष्णा हो जाती है।

'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधात् श्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्॥'

(श्रीम० भा० १०/१/४)

अर्थात्, निवृत्त हो गई तृष्णा, आशा, आकांक्षा, लालसा जिन लोगों की, जो आप्तकाम, आत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम है। ऐसे मुक्त पुरुष भी आपके गुण-गण का गान करते हैं। भगवत्कथा-अमृत इस भवरूपी रोग की अचूक महौषध है **'श्रोत्रमनोभिरामात्' 'श्रोत्रं मनश्च अभिरमयति इति'** यह श्रोत्र और मन दोनों को आनन्द देने वाली है **'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्'** अर्थात् वीतराग, वितृष्ण ज्ञानियों द्वारा उपगीयमान एवं मन व कानों को आनन्द देने वाला महौषध रूप जो भगवद्-गुणानुवाद है उससे किस को अपराग हो सकता है? **'पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्। अपगताशुक् यस्मात् स अपशुक् तंहन्तियः सः।** अर्थात्, जो शोक-मोहातीत आत्मा को हनन करने वाले आत्मघाती है अथवा जो ब्रह्मविद् वरिष्ठ जन के हत्याजनित पाप से लिप्त है, ऐसे ही किसी अपशुघ्न का भगवत् कथामृत में अनुराग नहीं होता; **'श्रवणवत अस को जगमाहीं। जाहि न रघुपति कथा सुहाहीं।'** संसार में ऐसा कौन है जिसको भगवत् कथामृत न सुहाता हो। **पशवो हन्यन्ते अनेन इति पशुघ्नं शुष्कं काष्ठं'** हृदयहीन, शुष्क काष्ठवत् हृदय एवं कर्ण-कुहरों से रहित व्यक्ति के लिए ही भगवत् कथामृत से अपराग सम्भव है।

भगवत्-कथामृत सबके लिए परमानन्द दायक है—

'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई।
खगपति रामकथा मैं बरनी। स्वमति-बिलास-त्रास-दुख हरनी॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी॥'

(मानस, उत्तर १४।५-७)

अर्थात्, विरक्त मुमुक्षु को भी भगवत्-कथामृत श्रवण से भक्ति एवं मुक्ति मिलती है और

'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥
सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति-पुर जाहीं॥'

(मानस, उत्तर १४।३-४)

विषयी, सकाम प्राणी भी भगवत्-कथामृत श्रवण से इहलोक में उत्तमोत्तम भोग का सम्पादन करता हुआ अन्त-काल में उत्तम सद्गति को प्राप्त होता है।

मुग्धा ब्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्याम-सुन्दर **'कविभिरीड़ितं'** आपका यह यश कवियों द्वारा प्रशस्त है अतः वास्तविकता को स्पर्श नहीं करता। **'कवयः किं न जल्पन्ति'** कवि क्या नहीं कह सकता ? कविगण स्वानुभूत विषय की कल्पना करने में परमकुशल होते हैं **'अतिशयोक्ति परायणे'** साथ ही वे अतिशयोक्ति परायण भी होते हैं। अतः कवियों द्वारा की गई स्तुति मान्य नहीं हो सकती।

'कविभिरीड़ितं' आपकी कथा तत्वदर्शी त्रिकालज्ञ कवियों द्वारा प्रशस्त है। श्री ध्रुव जी की उक्ति है :—

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानात् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किन्त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्।
(श्रीम० भा० ४/९/१०)

अर्थात्, हे प्रभो ! अंतक की तलवार से विलुलित विमानों से गिरने वाले देवगणों के अमृत में वह स्वाद नहीं है जो आप के कथामृत में हैं। जो निर्वृति सुख, आनन्द आपके चरणारविन्द के ध्यान एवं भवज्जन भगवद्-भक्तों की कथा-श्रवण से होता है वह स्वप्रकाश ब्रह्म में भी नहीं प्राप्त होता। भक्तों की कथा में भक्त के सम्बन्ध से भगवान् की भी कथा निश्चय ही आती है अतः भक्त-कथा-श्रवण भी आनन्दप्रद है।

स्वप्रकाश ब्रह्म स्वयं आनन्द का निधान है। आनन्द की कल्पना करते हुए जहाँ वाचस्पति की मति भी श्रान्त हो जाय ऐसा निरतिशय, अनन्त आनन्द ही ब्रह्मानन्द है; ब्रह्म-सुख निर्विवादतः अचिन्त्य, अनन्त, एवं निरवधिक है तथापि उसकी अनुभूति अन्तःकरण-शुद्धि सापेक्ष है। भिन्न-भिन्न साधक की अनुभूतियों में उनकी अपनी मनः स्थिति के अनुकूल अन्तर हो जाता है फलतः अनुभविता में तारतम्य मान्य है। इसी आधार पर ज्ञानियों में भी क्रमभेद स्वीकृत है। तत्व-साक्षात्कार होने पर भी अन्तःकरण में विक्षेप बाहुल्य के कारण ब्रह्म-तत्त्व की अनुभूति नहीं हो पाती; समाधि के दृढ़ अभ्यास से विक्षेप-शून्य अन्तःकरण से ही ब्रह्म-साक्षात्कार एवं जीवन्मुक्ति सुख का पूर्णतः अनुभव सम्भव है। जैसे सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रोपादित सूर्य-स्वरूप में विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है वैसे ही, भक्त अन्तःकरण पर लीला-शक्ति रूप सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्रो-पादित भगवद्-स्वरूप में विचित्र चमत्कृति प्रादुर्भूत होती है। वल्लभाचार्य जी कहते हैं :—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसःश्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु० ६।५।७४)

अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य एवं श्री इन छह भागों की सम्पूर्णता से संयुक्त जो हो वही भगवान् है। अस्तु, भगवद्-कथामृत में भी षड्-भग विद्यमान है एतावता भगवत्-कथामृत ज्ञान-शक्ति संयुक्त है।

भगवत् तत्व-विज्ञान ही शोक-मोह निवर्त्तक है। भगवत् साक्षात्कार के बिना शोक-मोह निवृत्ति सम्भव नहीं।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

(श्रीम०भा० गी० १०)

तात्पर्य कि जो भगवत्-चरित्र चिन्तन में, भगवद्-गुणानुसंधान में, भगवान् की मधुर, मनोहर, मंगलमयी मूर्ति के चिन्तन में निरंतर संलग्न रहते हैं उनको भगवदनुकम्पा से भगवत्-साक्षात्कार हो जाता है। भगवत् कथन है,

'ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयांति ते।' अर्थात्, जिस बुद्धि योग से मुझको प्राप्त किया जाता है वह बुद्धि-योग मैं अपने भक्त को दे देता हूँ। निपट-गंवारिन शबरी भीलनी के स्नेह से विवश हो भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र उसके घर पधारे। पाणिनि के साथी कात्यायन कहते हैं:—**'कल्पिसंपद्यमाने च भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'** अर्थात् भक्ति ही ज्ञान का कारण हो जाती है। **'भक्ति-र्ज्ञानाकारेण परिणमते इति'** तात्पर्य कि भक्ति ही ज्ञान बन जाती है; अतः भगवत् कथामृत-श्रवण से ही ज्ञान भी हो जाता है।

भगवत्-कथामृत से वैराग्य का भी सम्पादन होता है। वैराग्य का अर्थ है दोषों का त्याग; दोष दो प्रकार के होते हैं; एक का संस्कार एवं दूसरे का त्याग किया जाता है। जिन रागादि का संस्कार कर उनको भगवत् भक्ति के अनुकूल बना लिया जाता है वे ज्ञान-दृष्टि से भक्त के लिए उपयोगी बन जाते हैं अतः उनका सम्पादन किया जाता है।

'तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावत् मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥'

(श्रीम०भा० १०/१४/३६)

अर्थात्, जब तक भगवान् श्रीकृष्ण में राग नहीं होता तभी तक विभिन्न रागादि रूप चोर आत्मा के अचिन्त्य, अनन्त आनन्द रूप धन को चुराते हैं; स्वगृह ही कारागृह रूप बन्धन बन जाता है। कृष्णानुरागी होने पर वही राग वैराग्य हो

जाता है, वह घर ही आनन्दप्रद हो जाता है। अन्य सम्पूर्ण गृह, सत्त-रज-तम-प्रधान त्रिगुणात्मक होते हैं, केवल मात्र भगवत्-आवास ही निर्गुण होता है। संसार-विषयक रागादिक का संस्कार कर उनको भगवद् विषयक बना लेना ही भक्ति है; भगवत्-भक्ति के प्रतिकूल विषयों का त्याग ही वैराग्य है। अस्तु, भगवत्-कथामृत श्रवण से वैराग्य-सम्पादन होता है।

'कल्मषापहम्' भगवत् कथामृत सम्पूर्ण कल्मषों का नाश करने वाला है। संसार का मूलभूत हेतु-शुभाशुभ कर्म ही कल्मष है; भगवत्-कथामृत श्रवण से सम्पूर्ण सांसारिक कर्म-जाल का हनन हो जाता है। दिव्य धर्म ही सम्पूर्ण कल्मष हनन में समर्थ है। सांख्य-वादियों के अनुसार **'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनः'** (योग दर्शन ४/७) धर्म कर्म भी अनेक प्रकार के हैं; शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण तथा अशुक्ल-अकृष्ण। पापादि कर्म कृष्ण कर्म हैं; हिंसादि दोषयुक्त अश्वमेधादि कर्म शुक्ल-कृष्ण कर्म हैं; जपादि शुक्ल कर्म है; समाधि जन्य कर्म अशुक्ल-अकृष्ण कर्म है।

वेदान्तियों के सिद्धान्तानुसार कर्माकर्म निर्णय में श्रुति ही प्रमाण है। **'अशुद्ध मिति चेन्न शब्दात्'** (ब्रह्मसूत्र ३।१।२५)

अतः वेद-विहित सम्पूर्ण कर्म शुद्ध तथा वेद-विरुद्ध सम्पूर्ण कर्म अशुद्ध हैं। **'वैदिकं कर्म अशुद्धं हिंसादि दोष युक्तत्वात् इति चेन्न'**, श्री रामानुजाचार्य कहते हैं :—

'हिंसनीयं प्रति अननुग्राहकत्व विशिष्ट प्राणवियोगानुकूल व्यापारत्वं हिंसात्वम्।

अतिशयिताभ्युदय साधनभूतो व्यापारोऽल्पदुःखदो पि न हिंसा प्रत्युत रक्षणमेव।'

अर्थात् वही हिंसा है जो हिंसनीय का अननुग्राहक प्राण-वियोगानुकूल व्यापार है। तात्पर्य कि हिंसनीय का अनुग्रह रहित प्राण-वियोग व्यापार ही हिंसा है। यज्ञादि में हिंसनीयननुग्राहक प्राण-वियोगानुकूल व्यापार नहीं है अतः वहाँ हिंसा नहीं अपितु रक्षा ही होती है **'हिरण्यशरीरः ऊर्ध्वा स्वर्ग लोकमेति'** (श्री भाष्य ३/१/२५१) विधि-पूर्वक जिस पशु का आलम्भन होता है वह पशु हिरण्य-शरीर होकर ज्योतिर्मय शरीर धारण कर लेता है। भगवत्-कथामृत से सम्पूर्ण कल्मषों का हनन एवं दिव्य धर्म का अर्जन होता है। अतः भगवत्-कथामृत 'कल्मषापहम्' दिव्य धर्मयुक्त है।

'श्रीमदाततं'. **'श्रीमदं'** अर्थात् नित्य श्री युक्त भगवत्-कथामृत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म, यश एवं श्री षड् भगों की समग्रता से युक्त है अतः

'श्रीमदं' है। **'आततं'** भगवत्-स्वरूप होने के कारण भगवत्-कथामृत **'आततं'** है; कथामृत यश रूप ऐश्वर्य से युक्त है, **'कविभिरीड़ितं'** कवियों द्वारा संस्तवित गुण-गान ही यश है; अतः धर्म-ऐश्वर्य युक्त होने के कारण भगवत्-कथामृत भी भगवत्-स्वरूप ही है; जैसे भगवत्-स्वरूप सर्वान्तरात्मा एवं सर्वव्यापक है वैसे ही भगवत्-कथामृत भी सर्वव्यापक है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभो! आप तो अन्तर्धान होकर हमको अपने विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से भस्म कर रहे हैं परन्तु आपकी यह कथा जो हमारे खेद का शमन करती है कदापि तिरोहित नहीं होती। विज्ञ जन कहते हैं स्वप्रकाश ब्रह्म में भी वह आनन्द नहीं जो भगवत्-कथामृत में है। इसमें एक और गुण है :—

'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।'
(मानस, बाल १/१२)

समुद्र से प्राप्त देव-भोग्य अमृत रोगादि दोष-जन्य सन्तापों का हनन करने वाला है, मोक्ष रूप अमृत संसार-सन्ताप का नाश करने वाला है, परन्तु यह भगवत्-कथामृत-रोगादि-दोष-जन्य त्रास एवं संसार-संताप-जन्य क्लेश, दोनों का ही समूल उन्मूलन करने वाला है, साथ ही, आपके विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप का भी शमन कर देता है अतः हम मरणादपि कोटि गुणाधिक ताप को भोगते हुए भी मर नहीं पातीं। हे श्याम-सुन्दर! हे सखे! जैसे चन्द्रमा भी विरही-जनों को दग्ध ही करता है, **'विष-संयुत कर निकर पसारी, जारत विरह वंत नर नारी।'** किंवा **'कुबलय-बिपिन कुन्तबन सरिसा'** (मानस, सुन्दर १४/३) जैसे साक्षात् पद्मा का अलाम, शीतल, मंजुल, कोमल कमल भी विरही जनों के सन्ताप का ही कारण बनता है अथवा जैसे वारिद में दामिनी का अवद्योतन अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होते हुए भी विरही को **'वारिद तप्त तेल जनु बरसा'** की ही अनुभूति होती है वैसे ही, आपका यह कथामृत भी विरह-व्याकुला, विरह-विदग्धा हम संतप्ता गोपाङ्गनाओं के लिये संतापकारी ही है क्योंकि इस कथामृत के कारण ही हम दारुण दुःख सहती हुई भी कलंक रूप इस जीवन को ढो रही हैं। अतः हे सखे! हम पर अनुग्रह कर दर्शन दो!

प्रहसितं प्रिय ! प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यान मङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

अर्थात्, हे प्रिय ! तुम्हारी प्रेममयी मुसुकान एवं क्रीड़ाओं की स्मृति भी आनन्द प्रदायिनी है । हे कुहक ! तुम्हारे साथ एकान्त में की गई मधुर लीलाओं की स्मृति हमारे मन को क्षुब्ध कर देती है ।

'कुहक नो मनः क्षोभयन्ति' अर्थात् हे छलिया ! हे कपटी ! तुम्हारे कारण हमारे मन में क्षोभ हो रहा है । गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कुहक, कितव, छलिया आदि संबोधनों का प्रयोग करती हैं । भगवान् श्रीकृष्ण से अंगीकृत उच्चकोटि के भक्त ही भगवान् के प्रति इस तरह के सम्बोधनों का प्रयोग करने में समर्थ होते हैं । श्रीकृष्ण को भी ऐसे अटपटे प्रेमरसभीने सम्बोधन विशेषतः प्रिय हैं ।

सामान्यतः प्राणी अपने मन को बरबस संसार से हटा कर भगवान् में लगाने का प्रयास करता है परन्तु गोपाङ्गनाएँ अपने मन को भगवान् श्रीकृष्ण से हटाकर संसार में लगाने का प्रयास करती हैं । ऐसी उच्च भावना उन भक्तों की ही हो सकती है जो भगवद्-संग, भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त कर चुके हैं; जिन्होंने अन्तरात्मा में, अन्तःकरण में, प्राणों में, रोम-रोम में प्रेम को धारण कर लिया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण मायापति हैं अतः वे ही सर्वाधिक कुहक हैं, छलिया हैं ।

'माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता' अर्थात्, जिसने माया बनाई उससे माया न करें । ब्रह्मा ने मायापति में ही 'माया' का प्रयोग किया; जैसे रात्रि में कुहासे का प्रभाव नहीं पड़ता वैसे ही मायापति पर की गई माया व्यर्थ हो जाती है । मायापति भगवान् अपनी मंगलमयी लीला-शक्ति द्वारा जीव के कल्याण हेतु ही लीला करते हैं । इस लीला से भी भगवद्-भक्त को क्षोभ होता है, यह क्षोभ भी भक्ति का स्वरूप ही है ।

भगवान् के अन्तरंग पार्षद ही लीला-उपकरण है; उनमें प्राकृत कन्दर्पादिकों का सन्निवेश नहीं होता अतः वहाँ प्राकृत ईर्ष्या, क्रोध, दम्भ, मान, क्षोभ आदिकों का सम्प्रवेश ही सम्भव नहीं, तथापि केवल भगवत्-लीलोपयोगी अपूर्व, रसात्मक एवं अलौकिक अनेकानेक भाव ही सम्पूर्णतः अभिव्यक्त होते हैं ।

वस्तुतः ये सम्पूर्ण भाव निखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् के ही रूपांतर मात्र हैं।

'कृष्ण भाव रस भाविता मतिः क्रीयताम् यदि कुतोऽपि लभ्यते' यदि कृष्ण भाव-रस भाविता मति कहीं मिल सके तो अवश्य ही खरीद लो। **'तत्र मूल्य मपि लौल्यमेकलम्।'** असीम व्याकुलता, विह्वलता ही उसका मूल्य है। **'जन्म कोटिसुकृतैर्न लभ्यते।'** कोटि-कोटि जन्म-जन्मान्तरों के सुकृत से ऐसी भगवद् विषयक व्याकुलता, विह्वलता प्राप्त होती है। जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज के प्राकट्य से ही इन सौभाग्यशालिनी, व्रज-सीमन्तनी जनों में श्रीकृष्ण विषयक क्षोभ उत्पन्न हुआ। इन गोपाङ्गनाओं के लिए सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अनन्त ब्रह्माण्ड नायक अखिलेश्वर प्रभु ही उनके परम आत्मीय, प्राणनाथ, प्रियतम हृदयेश्वर हैं। गोपाङ्गनाओं का अन्तःकरण अपने प्रभु के प्रति लोकोत्तर अनुराग से ओतप्रोत है। जैसे, विषयी को सांसारिक विषयों में स्वभावतः ही प्रीति होती है, वैसे ही, इन व्रज सीमन्तनी जनों को भी अपने श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन, आनन्द-धन में स्वभावतः ही प्रीति है। यही रागानुराग प्रीति का स्वरूप है। आत्म-कल्याण, विश्व-कल्याण हेतु सर्वाधिष्ठान प्रभु का चिन्तन करना प्राणी मात्र का कर्तव्य है; यही वैधी भक्ति का स्वरूप है।

भगवत्-स्वरूप मायातीत भी है और माया-विशिष्ट भी है। जैसे आकाश का अनन्त-रूप मेघ शून्य भी है, साथ ही, अंशतः मेघ-मण्डल-समावृत भी है, वैसे ही भगवत् स्वरूप मायातीत भी है और माया-समावृत भी है; जो माया भगवान् की नियम्या है, आज्ञाकारिणी है, उसी माया को धारण कर भगवान् क्षोभक स्वरूप में भी रहते हैं। भगवान् के इस क्षोभक-स्वरूप से ही भक्त-हृदय में क्षोभ होता है, यह क्षोभ भी अत्यन्त कल्याणप्रद है। भगवान् का यह क्षोभक गुण ही भक्त को भगवत् तुल्य षडैश्वर्य युक्त भगवत्-चरित्रामृत पान में भी विश्रान्त नहीं होने देता। श्री वल्लभाचार्य कहते हैं—'जैसे अन्न विरस न होने पर भी ज्वर ग्रस्त प्राणी को विरस प्रतीत होता है, वैसे ही, भगवान् के परमानन्द स्वरूप में भी आत्मीयताभिमानी भक्तों को क्षोभकत्व की ही प्रतीति होती है।' कोई गोपाङ्गना अपनी सखी से कह रही है—

'सन्त्यज सखि ! तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितर द्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥'

हे सखी ! तू उनका, श्रीकृष्ण का उदन्त न छेड़; उनके उदन्त-श्रवण से हमारी इस सखी की मूर्छा भंग हो जावेगी; मूर्छा भंग होने पर इसकी अशान्ति बढ़ जावेगी क्योंकि श्रीकृष्ण का क्षोभक स्वरूप इसके हृदय को मथ डालेगा।

'विहरणं च ते ध्यान मंगलम्' निखिल सार-सर्वस्व, निखिल रसामृत मूर्ति,

संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक एक कालावच्छेदेन उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गार-रस-सार सर्वस्व भगवान् की त्रिभंग ललित मधुर मनोहर मूर्ति ध्यानमात्र से ही मंगलकारिणी है।

'दैवतं देवतानांच, मंगलानां च मंगलम्' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही सम्पूर्ण देवताओं के देवता एवं मंगलों के मंगल हैं। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे प्रभो! आपकी इस त्रिभंग-ललित दिव्यमूर्ति के विहरण के अन्तर्गत ही भगवदीय आनन्द, वेणुगीत-पीयूष द्वारा तत्-तत् भक्त के हृदय में स्थापित हुआ, अतः यह मधुर मनोहारिणी मूर्ति ही विशेषतः मंगलमयी है। आपके इस दिव्य स्वरूप का ध्यान ही सम्पूर्ण अनर्थं की निवृत्ति एवं सम्पूर्ण आनन्द की प्राप्ति कराने वाला है।

'जो मांगे पाइय विधि पाही, सखि राखिअ इन नैनन माही'

हे सखी! यदि विधाता मनोवांछित फल प्रदान करें तो यही माँगा जाय कि उस स्वरूप को आँखों में ही बसा लूँ।' तथापि **'इदानीं तदेव क्षोभकं जायते'** इस समय तो आपका यह मनोहर स्वरूप ही हमारे क्षोभ का कारण बन रहा है। क्षण-मात्र के लिए भी जिसका वियोग असह्य है वह मधुर, मनोहर, मंगलमय स्वरूप ही इस समय, **'तिरोधाय'** तिरोहित होकर हमारे क्षोभ का कारण बन रहा है। सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्व शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही अपने मुखचन्द्र के प्रतिबिम्ब पर मुग्ध हो जाते हैं।

'रूपरासि नृप अजिर बिहारी, नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।'

(मानस, उत्तर ७६/८)

आनन्दोद्रेक से ही प्राणी स्वभावतः नाच उठता है।

'रत्नस्थले जानुचरः कुमारः ,संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदात् विलोक्य धात्रीवदनं रुरोद॥'

(कृष्णकर्णामृत–२/५४)

मणिमय प्रांगण में घुटनों के बल चलते हुए शिशु कृष्ण उन मणियों में अपने अद्‌भुत प्रतिबिम्ब को देखकर मुग्ध हो उसको प्राप्त करने की इच्छा से खेद करते हुए माँ के मुख की ओर निहारते हुए रोने लगे।'

जो जितना ही प्रिय होता है उसमें सान्निध्य की भावना भी उतनी ही अधिक होती है।

'यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥'

(श्रीमद्० भा०३/२/१२)

आपके मंगलमय मुखचन्द्र के लोकोत्तर सौरस्य युक्त माधुर्यमय प्रतिबिम्ब

स्वरूप को देखकर स्वयं आपको ही विस्मय हो गया अतः आपके मुखचन्द्र की क्षोभकता स्वतः सिद्ध है ! गोस्वामी तुलसीदास कृत 'कृष्ण गीतावली' में एक पद है जिसका अर्थ है कि, एकबार माता यशोदारानी श्रीकृष्णचन्द्र के मुखार-बिन्द को निहारती हुई रोमांचकंटकित हो उठीं, उनके नेत्र आनन्दाश्रु पूरित हो गए। माता की इस दशा को देखकर बालकृष्ण कारण पूछने लगे। माँ ने कहा, **'देखत तव वदन कमल अति आनन्द होई'**। बालकृष्ण मचलने लगे, 'मेरे उस सुन्दर मुख को मुझको भी दिखा'। अम्बा उत्तर देती हैं, **'मो सम अति पुण्य-पुंज बाल नहिं तोरे'** हे बालक ! मेरे पुण्य-पुंज के समान तेरा पुण्य-पुंज नहीं है अतः तू उस बिम्ब को नहीं देख सकता जिसका मैं दर्शन कर रही हूँ। तू तो अधिक से अधिक प्रतिबिम्ब का ही दर्शन कर सकता है।

अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि जिस स्वरूप की मधुरिमा का अनुभव करने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी गोपाङ्गनारूप प्राप्ति हेतु तप करने के लिए तत्पर हैं जो हमारे अंतःकरण, अन्तरात्मा में, अंग-प्रत्यंग में समाविष्ट हो चुके हैं उसके अधिकाधिक सान्निध्य की आकांक्षा स्वाभाविक ही है। तदपि **'तिरोधाय इदानीं तु नः अस्मान् क्षोभयति'** अब आप तिरोहित होकर, अन्तर्धान होकर हमारे क्षोभ का ही कारण बन रहे हैं।

'रहसि संविदो या हृदिस्पृशः रहसि इतः अन्यत्र गत्वा।'

यहाँ से अन्यत्र, वृन्दावन जाकर आप वेणुवादन करते हैं। इस वेणुवादन द्वारा आप हमारे अंग-अंग की प्रशंसा करते हुए हमारे नाम ले लेकर हमें बुलाते हैं; हमारे सम्मिलन हेतु व्याकुल होते हैं। **'संविद् संकेते'** वेणुनाद द्वारा वाङ्मय, गीतमय, रवमय, नादमय जो संकेत हैं **'हृदि स्पृशः'** वे हृदय को स्पर्श कर लेते हैं, हृदय में संलग्न हो जाते हैं। **'रहसि संविदः एकांतं गत्वा'** एकान्त में जाकर वेणुनाद द्वारा संकेतात्मक भंगियों, विविध प्रकार के संकेतात्मक नामों के द्वारा हमारा आह्वान एवं तदनुकूल क्षोभक भावों का वर्णन करते हैं; वे सब हमारे हृदय को स्पर्श करते हैं, हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करते हैं क्योंकि तुम हमारे प्रिय हो। यदि तुम हमारे प्रिय नहीं होते तो हमको यह सब सन्ताप नहीं होता। जैसे शीतल, अमृतमय, रश्मियुक्त चन्द्रमा अथवा कुवलयादिक भी विप्रयोग जन्य तीव्रताप से सन्तप्त प्रेमी को क्षोभक ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही, आपके तिरो-हित हो जाने के कारण आपका मंगलमय स्वरूप भी हमारे लिए अत्यन्त क्षोभ-प्रद सिद्ध हो रहा है क्योंकि जिस स्वरूप का विहरण हमारी अन्तरात्मा, अन्तः-करण एवम् रोम-रोम में प्रविष्ट हो चुका है उसके केवल कथामृत श्रवण से हमको केवल गम्भीर क्षोभ ही होता है।

जिनके लिए कुल एवं लोक-मर्यादाएँ निरर्थक एवं अविचारणीय हो गई हैं ऐसी कुलटाओं के द्वारा मर्यादा त्याग का कोई महत्त्व नहीं रखता। परन्तु कुलललनाओं के लिए लोक एवं मर्यादा का त्याग मरण से भी कोटि गुणाधिक दारुण दुःखप्रद है। गोपाङ्गनाएँ पतिव्रता-शिरोमणिभूता हैं; लोपामुद्रा, अरुन्धती आदि महासतियाँ भी इनके पाद-पद्म रज-संस्पर्श की सदा कामना किया करती हैं। गोपाङ्गनाओं को अपने श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन, गोपाल, श्रीकृष्ण-स्वरूप में अखण्ड निष्ठा है; व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण स्वरूप से अन्य अनन्त ऐश्वर्य सौरस्य, सौगन्ध्य-सुधा-जलनिधि, नित्य-निकुंजेश्वर मंदिराधीश्वर, साक्षात् श्रीमन्नारायण, पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वरूप में भी वे आकृष्ट नहीं होतीं। क्षणमात्र के लिए भी उनकी मनोवृत्ति अन्यत्र नहीं जाती।

'दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपाभूयसी,
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये।
गुरुक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थं गता,
नजीवति तथापि किं परमदुर्मरोयं जनः॥

(आनन्द वृन्दावन चम्पू ८-१००)

अर्थात्, हे सखी ! दुष्प्राप्य पुरुष में हमारा प्रेम हो गया है; जैसे रंक को चिन्तामणि दुष्प्राप्य है, वैसे ही, हमारे लिए भी श्रीकृष्णचन्द्र दुर्लभ हैं; तिस पर भी यह निगोड़ी लज्जा इतनी भीषण है कि अपने प्रियतम की ओर पलक उठाकर देखने भी नहीं देती। इस लज्जा को बरबस हटाकर अपने नयनों को उनके मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन में प्रवृत्त किया भी तो गुरुजनों की कटूक्ति रूप विषवर्षण से मति अस्थिर हो जाती है। **'लोकापवाद-दावानल दलिता'**—होते हुए भी इन गोपाङ्गनाओं ने **'दुस्त्यज मार्यपथं'** दुस्त्यज आर्य-मार्ग, लोक-मर्यादा को त्याग कर भी, गुरुजन एवं स्वजनों को त्याग कर भी

'क्वैताः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः' जैसे लोकापवाद को भी अवकाश दे दिया। गोपालियां तो कह रही हैं—

'माधवो यदि निहन्ति हन्यतां बान्धवो यदि जहाति हीयताम्।
साधवो यदि हसन्ति हस्यतां माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥'

(आनन्द वृन्दावन चम्पू ८/९०)

अर्थात्, साधुलोग हमारे कार्यों को काले कारनामे समझ कर भले ही हँसते रहें परन्तु हम तो डंके की चोट यही कहती हैं कि हमने तो माधव का अंगीकार लिया है। माधव स्वयं भी यदि हमारा हनन करना चाहें तो अवश्य ही करें पर

हमारे लिए तो वही एकमात्र परमाराध्य हैं। उनका श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम किसी हेतु की आकांक्षा भी नहीं रखता।

'असुन्दरः सुन्दरशेखरोवा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम् ॥'

अर्थात्, श्रीकृष्ण सुन्दर शिरोमणि हों अथवा असुन्दर हों, सर्वगुण-सम्पन्न हों अथवा सर्वथा गुण-विहीन हों, द्वेषयुक्त हों अथवा करुणानिधि हों, हम तो उन्हीं से प्रेम करते हैं। भगवत्-प्रेम में देह-गेह को भूली हुई ये व्रज-सीमन्तनी जन लोकापवाद से भयभीत नहीं होतीं। **'श्रीकृष्ण चरणाम्भोजं सत्यमेव जानताम् जगत् सत्यमसत्यं वा।'** वे तो इतना ही जानती हैं कि जगत् सत्य हो अथवा असत्य हो हमारे लिए तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरण सरोरुह ही एकमात्र सत्य हैं। अम्बा पार्वती भी कहती हैं :—

'महादेव अवगुण-भवन, बिष्णु सकल गुणधाम।
जाकर मन रम जाहि सन, तेहिं तेही सन काम ॥'

(मानस, बाल ८०)

'अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै विचारा।
जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुंवारी ॥'

(मानस, बाल ८०/२ और ५)

एक भक्त हमको मिले, वे कहने लगे 'महाराज! हमारे शिव हैं न, उन्हीं से हमको मिला दीजिए—न उन से कुछ कम, न उनसे अधिक-बस, हमारे शिव से ही हमको कृपा कर मिला दीजिए। यह अन्यूनातिरिक्त-भाव ही अत्यन्त स्तुत्य है। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में तन्मय ये व्रजसीमन्तनीजन दारुण लोकापवाद के प्रति सर्वथा उदासीन हैं—**'अपने पिया के मैं अंक लगौंगी कलंक लगे तो लगै मोहि आली।'** इस अविचल कृष्ण-निष्ठा, लक्ष्य-निष्ठा के कारण ही गोपाङ्गनाएँ सर्ववन्द्या हैं। मीराँ ने भी गया है—**'मीरां गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगरी।'**

भागवत् की कथा है श्री गर्गाचार्यजी ने व्रज-वासियों को बताया था कि यदि एक बार भी व्रज-युवतियों को कृष्ण-सम्मिलन प्राप्त हुआ तो सम्पूर्ण व्रज-वासियों को सौ वर्ष पर्यन्त कृष्ण-वियोग सहन करना पड़ेगा एतावता गुरुजनों द्वारा गोपकन्याओं को कृष्ण दर्शन एवं संस्पर्श के लिए बारम्बार वर्जन किया गया परन्तु जैसे प्रवाह के अवरोध से गति का वेग अधिकाधिक वृद्धिगत होता जाता है, वैसे ही, गोपाङ्गनाओं का कृष्ण-प्रेम भी गुरुजनों द्वारा बारम्बार अवरोध किए जाने पर अधिकाधिक प्रस्फुरित हुआ।

नित्य-निकुंजेश्वरी, श्री राधारानी के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही चिंतित हों ललिता आदि से कह रहे हैं—

'पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि लोकापवाददलितामथ मद्वियुक्तौ।
दावानलज्वलितजातिवनोसदृक्षामेतां कथं कथमहो बतसान्त्वयामि ॥'

अर्थात्, हे ललिते ! यह राधारानी तो मेरे पूर्वराग में ही गलित हो गई; मेरे सम्मिलन का आनन्दाद्रेक भी लोकापवाद के भीषण संताप से प्रभावित हैं; मेरे वियोग में तो दावानल दग्धा यह जाति लता, यूथिका लता की तरह मेरे वियोगजन्य तीव्रताप से दग्ध हो भस्मीभूत हो जाती है। हे सखी ! ललिते ! बताओ तो मैं इनको किस प्रकार सान्त्वना दूँ ? तात्पर्य कि कुल-ललना के लिए लोकापवाद का ताप इतना दुस्त्यज होता है कि प्रियतम सम्मिलन के आनन्दोद्रेक में भी उसका भान बना ही रहता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण उक्तियों का तात्पर्य यही है कि सम्पूर्णतः आत्म-समर्पण करने पर ही जीवात्मा का परमात्मा से सम्मिलन संभव है; किसी प्रकार का भी लौकिक बाध शेष रह जाने पर जीवात्मा-परमात्मा का सम्मिलन सर्वथा असम्भव हो जाता है। जैसे सिंहनी का दूध सूवर्णपात्र में दुहा हुआ विशेष लाभदायी होता है किन्तु अन्य पात्र में दुहे जाने पर पात्र के ही विनाश का कारण बन जाता है। वैसे ही, उपर्युक्त उक्तियों के मर्म को समझने पर ही प्राणी का उत्कर्ष संभव है, अन्यथा अनर्थ एवं अपकर्ष का कारण बन सकता है।

'जन्म कर्म च दिव्यमेवं योमेवेति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥'

(श्रीभ० गी० ४/९)

संसार के जन्म-कर्म को सुनते-सुनते प्राणी भवाटवी में ही अधिकाधिक उलझता जाता है परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य-कर्म को सुनने पर प्राणी, जन्म-मरण-लक्षणा-संसृति से विनिर्मुक्त हो जाता है। भक्त की तो एकमात्र वांछा है–

'कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहुं मोहि राम ॥'

(मानस, उत्तर १३० ख)

कामी को कान्ता में अथवा लोभी को धन में जितनी उत्कट अभिलाषा होती है, उससे शतगुणाधिक लोकोत्तर अनुराग भक्त को अपने आराध्य पादाम्बुजों में होता है।

इस सम्पूर्ण प्रसंग का अन्ततोगत्वा लक्ष्य यही है कि पूर्वानुराग द्वारा विश्व-बंधन की निवृत्ति तथा भगवत्-पदारविन्द संस्पर्श से भगवत्-संयोग-सुख की

प्राप्ति हो एवं भगवत्-स्वरूप में मन का पूर्ण निरोध हो जाय। निरोध के भी तीन भेद हैं, प्रेम-निरोध, आसक्ति निरोध एवं व्यसन-निरोध। आसक्ति-निरोध ही उच्चतम स्थिति है। परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र स्वयं नित्य अखण्ड एवं एकरस हैं, उनकी लीलाएँ भी नित्य अखण्ड एवं एकरस हैं, गोपाङ्ग-नाएँ भी नित्य, अखण्ड एकरस हैं, गोपाङ्गनाओं का अपने प्राणधन प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ सम्मिलन भी नित्य, अखण्ड एवं एकरस ही है।

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

पारमार्थिक दृष्टया व्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण से कदापि वियोग नहीं होता तथापि व्यवहारतः श्रीकृष्ण मथुरा पधारे फलतः गोपियों की आजीवन उनके वियोग का दारुण दुःख भोगना पड़ा।

सिद्धान्त है कि भगवदीय-लीला के तीन प्रभेद हैं—प्रकट लीला, अप्रकट लीला तथा प्रकटाप्रकट लीला। अनन्त, अखण्ड निर्विकार परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीकृष्ण के स्वरूप संयोग सुख तदन्तर उनका वियोग गोपाङ्गनाओं को प्रत्यक्षतः प्राप्त हुआ; यही प्रकट लीला है। इस प्रकट लीला के आधार पर ही पूर्वानुराग द्वारा विश्व-विस्मरण पूर्वक भगवान् में अनुरक्ति, भगवद् स्वरूप में मन का अवरोध तदनन्तर संयोग-सुख द्वारा सर्वांगीण भगवद्-सम्मिलन सुख का अनुभव और उसके बाद विप्रयोगजन्य संताप का अनुभव अनिवार्य है। संयोग सुख में वस्तु का अनुभव होता है, अनुभव से स्पृहा होती है, स्पृहा से निरंतर अबाध चिन्तन होता है; यह अबाध, अखण्ड चिन्तन ही आन्तर-रमण है। अतः वेणुगीत के द्वारा पूर्वानुराग, रासलीला के द्वारा सम्प्रयोग-शृंगार-सुखानुभूति तथा गोपी गीत द्वारा विप्रयोग की अनुभूति मान्य है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं :—

'भजतोऽनु भजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजंत्येक एतन्नोब्रूहि साधु भोः॥'

(श्री भा० १०/३२/१६)

हे प्रिय ! कोई तो अपने को भजने वाले को ही भजता है, कोई न भजने वाले को भी भजता है और कोई भजन करने वाले को भी नहीं भजता। भजने वाले को भी न भजने वाला कृतघ्न, गुरुघ्न होता है। हे सखे ! हम तो लोक-वेद-मर्यादा एवं सर्वस्व का त्यागकर आपके सन्निधान में वन-प्रान्तर में भी चली आई हैं परन्तु आप हम अनुरागिणीजनों को त्याग कर अन्तर्धान हो रहे हैं, अतः हे प्रिय ! हम आपकी गणना किस श्रेणी में करें ?

व्यापक का सिद्धान्त है कि—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (श्री भा० गी० ४/११) भागवत में एक उदाहरण प्राप्त है। कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली में युद्ध-विश्राम कालांतर्गत महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के डेरे में गए; वहाँ पहुँचने पर महाराज युधिष्ठिर ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण गद्गद् कण्ठ एवं अश्रुपूरित नयन हो किसी के ध्यान में मग्न हैं; स्वभावतः महाराज युधिष्ठिर आश्चर्यचकित हुए। ब्रह्मादि देव-शिरोमणि एवं अमलात्मा परमहंस योगीन्द्र मुनीन्द्र भी जिसका ध्यान कर रहे हैं वे परात्पर स्वयं किस के ध्यान में मग्न हैं? युधिष्ठिर की आहट पाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने आखें खोलीं और युधिष्ठिर से बैठने के लिए कहा। महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण से अपना संदेह निवेदन करते हुए स्पष्टीकरण हेतु प्रार्थना की। महाराज श्रीकृष्ण ने कहा 'कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली में शर शैय्या पर पड़ा हुआ भीष्म मेरे ध्यान में तल्लीन है अतः मैं भी अपने भक्त का ध्यान कर रहा हूँ।

'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' भक्त मुझसे भिन्न कुछ नहीं जानता और मैं भी भक्त से भिन्न कुछ नहीं जानता।

'श्री राधामेव जानन् व्रजपतिरनिशं कुञ्जवीथी मुपास्ते।
दूरेसृष्टयादिवार्ता न च मिलति कदा नारदादीन् स्वभक्तान्॥

(राधासुधानिधि)

अर्थात्, विश्व प्रपंच की सृष्टि, पालन एवं संहार कृष्ण की ईश्वरी शक्ति का कार्य है; वे तो नारदादिक भक्तों को भी नहीं मिलते; श्रीकृष्ण तो अहर्निश रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राधारानी के ही ध्यान में निमग्न रहते हैं। तात्पर्य कि भक्त को भगवान् में निजत्व का अभिमान होने पर भगवान् को भी भक्त में अनुराग होता है। भक्त कहता है—**'ना मैं देखूं, और को ना तोहे देखन दूं।'**

'स्वेच्छामयस्य स्वीयानां यथा इच्छा भवति तथैव भगवान् भवति' भक्त की इच्छामयता ही भगवान् का स्वरूप है।

'यद् यद् धियात उरुगाय विभावयन्ति तद् तद् वपुःप्रणयसे सदनुग्रहाय'

(श्री भा० ३/९)

भक्ति-रस परिप्लुत मन से भगवान् भी वैसा ही शरीर धारण कर लेते हैं। अस्तु, प्रत्येक भक्त का भगवान् सर्वथा अपना होता है। भगवान् के प्रति यह ममत्व भाव ही भक्ति का उत्कर्ष है। **'अभीषामनुवृत्ति वृत्तये'** अनुवृत्ति में प्रवृत्त हेतु भगवान् भी भक्त को परोक्षतः ही भजते हैं। उदाहरणतः कहीं किसी रंक का कदाचित् चिन्तामणि मिल जाय परन्तु दुर्भाग्यवशात् कहीं गिर जाय, किंवा

खो जाय तो वह रंक स्वभावतः ही अत्यन्त आकुल-व्याकुल होकर चिन्तामणि के ध्यान में ही निरन्तर रत हो जाता है; इसी तरह विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप से प्रेमी-हृदय में भी अत्यन्त उत्कट भावोद्रेक उद्बुद्ध होता है।

विरह का अन्तिम फल है आन्तर-रमण।

'संगम विरहविकल्पे वरमिह विरहोन संगमस्तस्याः'

संगम और विरह में से किसी एक का वरदान मिलता हो तो भक्त विरह की ही माँग लेता है क्योंकि संगम में तो प्रियतम का दर्शन एक स्थानीय होता है जबकि विरह में सदा-सर्वदा-सर्वत्र ही सर्वस्वरूप में प्रिय का ही दर्शन होता रहता है।

'विरहीव विभो प्रियामयं परिपश्यामि भवन्मयं जगत्'

हे प्रभु !

> **'प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरःसा**
> **पर्यंके सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।**
> **हंहो चेतःप्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा**
> **'सा, सा सा जगति सकले कोऽय मद्वैत वादः।'**

जैसे विरही जगत् को प्रियामय देखता है, वैसे ही मैं भी आपको सदा-सर्वदा-सर्वव्याप्त अनुभव करूँ। यही आन्तर रमण है।

कल्प-कल्पान्तरों के जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-परिपाक से प्राणी में श्रीकृष्ण-विषयक अनुराग प्रादुर्भूत होता है। पर वह सीमित नहीं रह जाय तभी उसका महत्व या पूर्णता है। श्रीश्याम-सुन्दर, मदन-मोहन, व्रजेन्द्रनन्दन की कोटि-कोटि कंदर्प-दलन पटीयसी मनोहारिणी छवि निहारने के लिय सब प्रपंच भूल जायं, व्याकुलता क्रमशः वृद्धि प्राप्त होती रहे, मन तड़पने लगे, अस्वस्थ हो जाय, धैर्य छूट जाय, तभी इसका महत्त्व है, तभी सफलता है। जितनी अधिक व्याकुलता, व्यग्रता, बेचैनी बढ़ेगी अनुराग में उतनी ही अधिक उत्कृष्टता आयेगी। पुत्र, धन, दारा, नेह, गेह के न मिलने पर तो अधैर्य सभी को होता है और वह स्वाभाविक भी है परन्तु भगवदर्थ अधैर्य, व्याकुलता, अस्वस्थता का होना अत्यन्त दुर्लभ है; एतावता जो लोक में दूषण है, वहीं यहाँ भूषण है।

कृष्ण-सखा उद्धव स्वयं वृहस्पति के शिष्य थे, भगवान् कहते हैं—'नोद्धवोण्वपिमन्यूनः उद्धव मुझसे अणुमात्र भी न्यून नहीं हैं; ऐसे ज्ञानी-शिरोमणि नीति-निपुण उद्धव गोपाङ्गनाओं के वियोग से विह्वल भगवान् श्रीकृष्ण को संतप्त देखकर हँसा करते थे; उद्धव कहते हैं राजनीति में अष्टादश,

व्यसन त्याज्य हैं, हे कृष्ण ! इन वनचरी गोपालियों के प्रति तुम्हारा यह व्यसन भी त्याज्य है। अस्तु, भगवान् ने अपने सखा को अपना दूत बनाकर वृन्दावन-धाम भेजा; वृन्दावन-धाम पहुँचकर उद्धव को वहाँ की रज का संस्पर्श प्राप्त हुआ; वहाँ के गुल्म, लता, तृण एवं गो-बछड़ों का तथा नन्दराय एवं यशोदारानी का, गोपाङ्गनाओं का तथा राधारानी का दर्शन हुआ। उन्होंने उन सबके लोकोत्तर अनुराग का अनुभव किया। उद्धव ने गोपाङ्गनाओं को ध्यान-ज्ञान समझाने का भी प्रयास किया; अन्ततोगत्वा श्रीकृष्ण के प्रति गोपाङ्गनाओं के लोकोत्तर प्रेम के अनुभव से उद्धव के ज्ञानाहंकार का मार्जन हुआ एवं वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के परम भक्त होकर ही द्वारिका लोटे।

जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्जवशात् ही देवर्षि नारद का सत्संग प्राप्त हो सकता है। भक्त प्रह्लाद ने गर्भावस्था में ही नारदजी के वचनामृत सुने, फलतः परम भक्त होकर दिव्यगति को प्राप्त हुए। तैलधारावत् अविच्छिन्न, गम्भीर, ध्यान-परम्परान्तर्गत देवर्षि नारद के दुर्लभ दर्शन भी विघ्न स्वरूप ही भासित होने लगते हैं। तात्पर्य कि सम्पूर्ण सुध-बुध भूल कर किसी एक में तन्मय हो जाना ही आसक्ति है। उदाहरणतः, अनादि-काल से लाख-लाख पतंगे स्वभावतः ही दीपशिखा पर मर मिटे; इन मरणोन्मुख पतंगों को दीपशिखा से कदापि हटाया नहीं जा सकता; ये सदा-सर्वत्र ही दीपशिखा पर अपने प्राणों का विसर्जन करते रहे हैं और करते रहेंगे। आसक्ति निरोध का यही सर्वोत्कृष्ट रूप है। अपने प्राणधन प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में पगी इन गोपाङ्गनाओं को भी इतर सम्पूर्ण जगत् का विस्मरण हो गया।

'प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणम्' हे प्रिय ! तुम्हारा प्रहसित ही उद्वेजक है। **'उद्भट हसित'** ही प्रहसित है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रिय ! हम आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से सन्तप्त हैं परन्तु आप अन्यत्र हास-विलास कर रहे हैं अतः आपका यह हास हमको क्षुब्ध ही करता है। अपने संताप में प्रियतम को भी संतप्त देख कर प्रेमी को स्वभावतः कुछ आश्वासन प्राप्त होता है; परन्तु स्वयं संतप्त रहते हुए अपने प्रेमास्पद की अन्यत्र हास-विलास करते देख कर निश्चय ही प्रेमी को असह्य वेदना होती है। अथवा उस हसित के स्मरण से भी हमें क्षोभ ही होता है क्योंकि उससे भी आपके विहरण की ही स्मृति जाग्रत् हो जाती है। **'स्वविषयमपि प्रेम वीक्षणम्। तस्मिन् कृते तत् क्षोभयेत्'** स्वविषयक सानुरागावलोकन अनुभूत होकर भी क्षोभक ही हैं; श्यामसुन्दर ने अत्यन्त अनुरागमयी दृष्टि से हमारी ओर निहारा था यह स्मृति ही दुःखप्रद है क्योंकि इसमें भी हमें छद्म की ही प्रतीति होती है। यदि वह प्रेम-वीक्षण सत्य होता तो अवश्य ही आप अन्तर्धान नहीं हो पाते।

'विहरणं च ते ध्यान मंगलम्' हे प्रिय ! आपकी स्वविषयक अथवा अन्य संबंधी विहरण की स्मृति हमारे लिए अत्यन्त क्षोभक है।

'विहरणं, वेणुना भगवदीयस्य रसस्य भक्तहृदयेषु स्थापनम्'

अचिन्त्य, अनंत, सच्चिदानन्दघन, आनन्दकन्द परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र के वेणुनाद द्वारा भक्तों का हृदय भगवदीय रस-परिप्लावित हुआ, यही विहरण है "भगवदीयस्य, रसस्य विशेषतः हरणं यस्मात् तत्विहरणं" जिसके द्वारा भगवदीय रस भगवदीय आनन्द का अन्यत्रविहरण हो वही **"विहरणम्"** है। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का त्रिभंग-ललित मधुर मनोहर श्रीविग्रह ही **"ध्यान मंगलम्"** ध्यान करने मात्र से मंगल प्रदान करने वाला है।

अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजनावृत्ति से वेद-वचन भी जिसका प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं वही मनोवचनातीत, लोकातीत परात्पर परब्रह्म तत्त्व ही लोक-रंजनार्थ व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण स्वरूप में आविर्भूत हैं; परमानुरागिणी गोपाङ्गनाओं में भी सत्त्व, तम, रज तीनों गुणों का सन्निवेश नहीं है तदपि अतुलित अलौकिक रसोद्रेक हेतु ही सम्पूर्ण व्यंजक लौकिक रसवत् ही प्रकट होते है। ईर्ष्या क्षोभ आदि विभिन्न भावों का प्राकट्य विशेष रसवर्द्धन हेतु ही हैं। नित्य अखण्ड सच्चिदानन्दघन परब्रह्म स्वरूप ही व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण, नित्य-निकुन्जेश्वरी राधारानी, बहुसंख्यक गोपाङ्गनायें एवं वृन्दावन-धाम आदि सम्पूर्ण लीला-परिकर स्वरूप में प्रस्फुटित हो गया; एतावता, गोपाङ्गनाओं द्वारा अभिव्यक्त विभिन्न भाव भी वस्तुतः इस रसात्मक-समुद्र की भाव-लहरियां ही हैं।

■

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

हे नाथ ! आपके चरणारविन्द स्वतः विकसित कमल से भी अधिक सुन्दर एवं सुकोमल हैं। अतः हे कान्त ! जब आप गोचारण करते हुए वृन्दावन में निरावरण चरणों से अटन करते हैं तब इस दुस्सह आशंका से कि कहीं वृन्दाटवी के कुश-काश, शिल, तृणांकुरादि आपके निरावरण चरणारविन्दों में गड़ते होंगे, हमारा मन विकल हो जाता है।

गोपांङ्गनाएँ कह रही हैं, हे नाथ ! वस्तुतः आपकी संयोग एवं वियोग दोनों ही अवस्थाओं में हम तो संतप्त ही रहती हैं। "अदर्शने दर्शनाकांक्षा, अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा, दृष्टे विश्लेष-भीरुता। अदर्शन में दर्शन की आकांक्षा, विशिष्ट दर्शनोत्कण्ठा के कारण हमको पल भर भी चैन नहीं मिलता और दर्शन-काल में भी विप्रयोग की आशंकावशात् हम सुखी नहीं हो पातीं। पुराणों में भद्रतनु की जो कथा आती है वह इसी तथ्य की द्योतक है। छठे श्लोक का अर्थ करते हुए भद्रतनु की कथा विस्तृत रूप से कही जा चुकी है। आसक्ति ही महत्त्व है; जो कभी विषयों में आसक्त हो चुका है। ऐसा प्राणी भगवदनुकम्पावशात् कदाचित् संत्संग प्राप्त कर भगवच्चरणारविन्द-मकरन्द-पान में भी स्वभावतः आसक्त हो जाता है। ऐसे आसक्त भक्तों को प्रभु-साक्षात्कार भी शीघ्र ही हो जाता है। भक्त सूरदास का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

"चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून, नलिन-सुन्दरं नाथ ते पदम् ।"

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे नाथ ! आपके चरण अत्यन्त कोमल, कमल से भी अधिक कोमल एवं शोभायुक्त हैं; अतः जिस समय आप गाय बछड़ों को चराते हुए निरावरण चरणों से वृन्दावन एवं गोवर्द्धन-धाम के वनों में घूमते हैं, उस समय हम अत्यन्त सन्तप्त हो उठती हैं। आपके चरणारविन्दों में दूर्वा, शकु, काश, शर्करादि के अंकुर गड़ते होंगे, यह आशंका ही हमारे विशेष संताप का कारण बन जाती है। वन के शिल-तृणांकुरों के कारण आपको अवश्य ही अवसाद होता होगा क्योंकि आपके चरणारविन्द तो स्वतः विकसित सुकोमल कमल से भी अधिक कोमल हैं एतावता इस विचारमात्र से ही व्रजबालाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठती हैं।

गोपाङ्गनाएँ व्रजधाम के दूर्वा कुश-काश, शिल एवं शर्करादि की चर्चा करती हुई भी कण्टक की चर्चा नहीं करतीं क्योंकि व्रजधाम में कण्टकोत्पत्ति मान्य नहीं है **"अझिल्लिकण्टकवनं सर्वैर्वनगुणैर्युतम् ।"** (हरिवंश २।८।२३) वृन्दावन-धाम भगवत् गोचारण-भूमि है अतः वहाँ कण्टकोत्पत्ति संयत ही नहीं। अथवा, एक भाव यह भी है कि कण्टक की कल्पना भी इन प्रेम-विह्वला गोपालियों के लिए असह्य थी अतः वे उसका नाम भी नहीं लेतीं।

"नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्" उक्ति में **"पदम्"** पद एक वचनात्मक है तथापि द्वित्व का ही उपलक्षक है। भगवान् श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन के दोनों ही चरणारविन्द समानतः सौरस्य-सौन्दर्य-माधुर्य-पूर्ण एवं स्वतः विकसित कमल से भी अधिकाधिक कोमल हैं।

गोपाङ्गनाओं द्वारा भगवान् श्याम-सुन्दर, श्रीकृष्ण के प्रति **"कान्त"** एवं **"नाथ"** दो संबोधनों का प्रयोग किया गया है।

शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ।" उक्ति में **"कान्त"** **"नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्"** उक्ति में **"नाथ"** सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। दोनों ही सम्बोधन विशिष्ट भाव-सूचक हैं। **"नाथ"** सम्बोधन से वे यह व्यक्त कर रही हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर हैं तथापि विशेषतः व्रजेश-नन्दन, गोप-कुमार भी हैं अतः व्रज-बालाओं के **"नाथ"** हैं; व्रजेश-नन्दन, गोपकुमार, श्रीकृष्ण के निरावरण नलिन-सुन्दर चरणारविन्दों में व्रजधाम के शिल, कुश-काश, शर्करा एवं तृणांकुरादि के गड़ जाने की आशंका से स्वभावतः ही व्रजबालाएँ विशेष संतप्त हो जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण व्रज-बालाओं के **"कान्त"** परम प्रेमास्पद हैं। **"कान्त"** के सन्ताप की संभावना से ही कान्ता को उत्ताप होना भी स्वाभाविक ही है। वे कह रही हैं, हे कान्त ! वृन्दावन धाम के कुश-काश, शिल, तृणांकुरादि आपके निरावरण चरणारविन्दों में गड़ते होंगे, इस आशंका से ही **"कलिलतां मनः नः गच्छति, कलिलतां, द्रवतां मनः नः गच्छति ।"** हमारा मन द्रवता को प्राप्त हो जाता है।

"कलिलतां मनः कान्तगच्छति" उक्ति का विश्वनाथ चक्रवर्ती अर्थ करते हैं **"कलिं कलहं लाति इति कलिलं तस्य भावः कलिलता ताम्** अर्थात्, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्याम सुन्दर ! हमारे मन ने ही हमसे राड़ ठान रखी है। हम तो कहती हैं, हे मन ! यदि श्यामसुन्दर को गोचारण के प्रसंग में वृन्दावन धाम के कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि से कष्ट होता तो निश्चय ही वे प्रतिदिन भोर में ही गोचारण के व्याज से वृन्दावन धाम नहीं जाते; रे मन ! तू व्यर्थ कल्पना से खिन्न हो रहा है। **मन उत्तर देता है, 'हे निर्बुद्धयः गोपालिकाः'** हे

बुद्धि-सम्बन्ध-शून्य गोपालियो ! श्याम सुन्दर, मदन मोहन के चरणारविन्द तो स्वतः विकसित कोमल कमल से भी शतगुणाधिक कोमल हैं और वृन्दावन धाम के तृणांकुर, शिल, कुश-काशादि स्वभावतः कठोर एवं कर्कश हैं। गोचारण करते हुए श्रीकृष्ण निरावृत चरणारविन्दों द्वारा ही गोधन का अनुसरण करते हुए वृन्दाटवी में पर्यटन करते हैं अतः तत्-सम्बन्ध-सम्भावना अवश्यंभावी है। गोपालियाँ अपने मन को पुनः समझाती हैं, 'रे प्रेमान्ध ! श्यामसुन्दर निश्चय ही सुकोमल बालुपथ पर ही चलेंगे अतः अवसाद की आशंका ही निरर्थक है। प्रेमान्ध मन उत्तर देता है, **'निर्विवेकाः आभीर्यः'** अरी निर्विवेक गोप-बालाओ ! वन में चारण हेतु जाने वाले पशु क्या सदा ही कोमल बालुका वाले मार्ग पर ही चलते हैं ? गाएँ तो पशु हैं, पशु तो, स्वभावतः निर्बोध होते हैं **'सर्वान् अविशेषेण पश्यतीति पशुः'** सबको अविशेषतः देखने वाला ही पशु है : विवेकशून्य ही सबको अविशेषतः देखता है अतः पशुवत् है। एतावता इस उक्ति में **'पशून्'** पद का प्रयोग गाय-बछड़ों की विवेकशून्यता का ही परिचायक है; तात्पर्य कि जो गाय-बछड़े स्वयं ही विवेकशून्य हैं वे अन्य के अवसाद की चिन्ता कैसे कर सकेंगे।

'पशून्' शब्द बहुवचनात्मक है।

'कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।'
(श्रीमद् भा० १०/१२/३)

भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के गाय-बछड़े अपरिगणित थे और

'स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्' प्रत्येक गोप बालक के सहस्राधिक गाय-बछड़े थे। आधुनिक दृष्ट्या कहा जाता है कि वृन्दावन धाम का परिमाण बहुत छोटा है; उस परिमित भूमि में श्रीकृष्ण के असंख्य एवं प्रत्येक गोप-बालक के सहस्राधिक गाय-बछड़े क्योंकर समा सकते थे ? यह अत्यन्त असम्भव एवं ख-पुष्पवत् मधुर कल्पना मात्र है। परन्तु यह तर्क ही असंगत है ? वृन्दावन धाम दिव्य स्थान है। दिव्य-स्थान, दिव्य-वस्तु एवं दिव्य-लीलाओं का सम्यक् विश्लेषण प्राकृत दृष्ट्या नहीं अपितु तदुचित विशिष्ट संस्कार-संस्कृत दृष्ट्या ही सम्भव है। शास्त्रों में अन्यत्र भी ऐसे वर्णन मिलते हैं। तुलसीदासकृत 'राम-चरित-मानस' में पुष्पक-विमान का वर्णन है। अयोध्या-पुनरागमन हेतु भगवान् राघवेन्द्र रामभद्र पुष्पकयान पर आसीन हुए : उनके राज्याभिषेक का दर्शन पाने को आतुर, वानर, भालू, राक्षस एवं राक्षसी आदिकों ने भी भगवान् श्रीराम से प्रार्थना की कि वे उनको साथ ले चलें। उस सम्पूर्ण समुदाय की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् श्रीराम ने उन सब को भी अपने ही पुष्पक-यान पर बैठा लिया। ऐसा सम्भव ही इसीलिए हुआ कि पुष्पक-यान मनोमय था।

पुष्पक-यान का निर्माण ब्रह्मा के मन से हुआ। उनसे कुबेर को, कुबेर को जीतने से रावण को, उस पर विजय प्राप्त करने से श्रीराम को प्राप्त हुआ। अस्तु, मनोमय यान का मनोनीत विस्तार किंवा संकोच स्वाभाविक ही है। इसी तरह, वृन्दावन-धाम भी दिव्य है; गोलोकधाम का स्वरूप ही वृन्दावन धाम में सन्निविष्ट है। ऐसे सम्पूर्ण प्रसंगों का मूल 'महा नारायणोपनिषद्' एवं 'महानारायण त्रिपाद-विभूति उपनिषद्' में प्राप्त हो जाता है। जैसे, मुक्तामाल में अध्यस्त सर्प को लीन कर दिया जाता है, वैसे ही, भगवत्-चिन्तन हेतु तत्वज्ञान द्वारा भव-समुद्र को अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधा-समुद्र में अन्तर्लीन कर दिया जाता है। इस अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द-सुधा-सिन्धु में तेजोमय, प्रकाशमय, चिन्मय मणिद्वीप की कल्पना की जाती है। चित् बोध ही प्रकाश है। इस चिन्मय मणिद्वीप में चित्-सार-चिन्तामणिमय मन्दिर है। ऐसे प्रत्येक मन्दिर एक-एक योजन पर्यन्त विस्तृत है। इन मन्दिरों के प्रत्येक पाषाण का प्रकाश कोटि-कोटि सूर्यनारायण सम्मिलित प्रकाश पुंज तुल्य प्रखर, साथ ही, कोटि-कोटि चन्द्रमा के प्रकाश तुल्य सुशीतल है। इस चित्-सार, चिन्तामणिमय प्रत्येक मन्दिर के भीतर अनेक प्रकार के पुष्पों से विनिर्मित अनेक मन्दिर हैं जो सहस्रकोटि योजन पर्यन्त विस्तृत हैं। इन मन्दिरों के भीतर बड़े-बड़े दिव्य सिंहासन हैं।

'ब्रह्मात्मकानि सिंहासनानि अव्याकृतब्रह्मरूपाणि।'

भक्त-हृदय में उपर्युक्त मणिद्वीप एवं मन्दिरादिकों का अनुभव होता है। तात्पर्य यह कि उपास्य सम्बन्धित धाम का भी उपास्यानुरूप उदात्त भावना से ही अनुसन्धान करना चाहिए। अस्तु, दिव्य वृन्दावन-धाम असंख्यात गाय-बछड़ों का समावेश कदापि अमान्य नहीं हो सकता।

गोपाङ्गनाओं का प्रेम-विह्वल मन कल्पना करता है कि वृन्दावन धाम के ये असंख्यात गाय-बछड़े चारण-हेतु अवश्य ही इतस्ततः भटकेंगे क्योंकि विवेक शून्य पशु हैं; गो-चारण करते हुए श्यामसुन्दर भी उनके पीछे-पीछे घूमेंगे; उनके निरतिशय कोमल चरणारविन्द निरावरण हैं एतावता; अवश्य ही वृन्दावन धाम के कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि से उनके चरणारविन्दों में आघात लग जाने की आशंका तो स्वभावतः सदा ही बनी रहती है। श्यामसुन्दर चक्षुस्-महान्, दीर्घ नेत्र, विशाल नेत्र युक्त हैं तथापि भ्रमवशात् किंवा गाय-बछड़ों का अनुसरण करते हुए आवेगवशात् भगवत्-पादारविन्द के कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि पर पड़ जाने की सम्भावना तो सतत बनी रहती है। उत्तर देती हुई गोपाङ्गनाएँ कहती हैं 'रे मन! भ्रांतमनः! तू उचित ही तो कहता है परन्तु बता हम क्या करें? ऐसे भीषण, संताप को सहन करने के लिए ही विधाता ने हमको घड़ा

है। तव दयार्द्र हो मन कह उठता है, **'दुःखिन्यः गोपाङ्गनाः यूयमत्र।'** हे दुःखिनी गोपाङ्गनाओं तुम यहाँ ठहरो। मैं तुम्हारे प्राणों को लेकर श्यामसुन्दर, मदन मोहन, श्रीकृष्ण के पास जा रहा हूँ। प्रेम-विह्वला गोपाङ्गनाएँ अपने गोपाल श्रीकृष्ण के विप्रयोगजन्य तीव्रताप से दग्ध हो मृतप्राय हो रही हैं।

अथवा, यह भी सिद्धान्त है कि वृन्दादेवी का विकसित हृदय-कमल ही वृन्दावन है; जहाँ-जहाँ भगवत्-पादारविन्द विन्यस्त होते हैं, वहाँ-वहाँ वृन्दावन देवी का हृत्-कमल विशेषतः प्रफुल्लित हो जाता है। जैसे, भगवत्-पादारविन्द विन्यास से गोपाङ्गनाओं का हृदय द्रवीभूत हो जाता है, वैसे ही, भगवत्-पादारविन्द विन्यास से वृन्दावन धाम को भूमि भी द्रवीभूत हो जाती है; पाषाण भी नवनीत तुल्य तथा कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि पुष्पकलिकावत् सुकोमल हो जाते हैं अस्तु, भगवत्-पादारविन्द में आघात लग जाने की आशंका ही निराधार है।

'जिन्हहि निरखि मग सांपिनि बीछी। तजहि विषम बिष तामस तीछी॥'
(मानस, अध्योध्या, २६१/८)

गोपाङ्गनाएँ व्रजतत्व के यथात्म्य से भली-भाँति परिचित हैं तथा प्रेम-विह्वला हैं। माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के प्रादुर्भाव से ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति का तिरोधान हो जाता है, यही प्रीति की महत्ता है। उदाहरणार्थ 'राम चरित मानस' के अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत श्रीराम-वनवास के प्रसंग का पाठक आज भी राघवेन्द्र रामभद्र को अखिलेश्वर, अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वशक्तिमान् प्रभु जानते हुए भी भावावेश के कारण सहज ही दुःख-कातर हो जाता है— किंवा भरत-मिलाप के प्रसंग को पढ़ते हुए गद्गद् हो जाता है। यह प्रीति का चमत्कार है कि प्रत्यक्ष, जाज्वल्यमान सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायकता भी आवृत हो जाती है, और मधुरिमा प्रस्फुटित हो जाती है। इस माधुर्यानुभूति के ही कारण विप्रयोगजन्य तीव्र संतापादि अनेक भावों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे, कवियों द्वारा की गई अनूठी उक्ति द्वारा भाव-विशेष में भी विशिष्ट चमत्कृति आ जाती है, वैसे ही माधुर्य-भावपूर्ण अनुभूतियों के कारण विशिष्ट रसोद्रेक होता है; रसोद्रेक से विभिन्न भावनाओं की चमत्कारपूर्ण अनुभूतियाँ होती हैं। गोपाङ्गनाओं का संताप भी माधुर्य-भाव जन्य रसोद्रेक ही है।

'नाथ' शब्द का एक अर्थ उपतापक भी है। **'नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु'** गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे श्यामसुन्दर! आप हमारे उपतापक ही हैं। आप अपने विभिन्न दिवा-कार्य-कलापोंद्वारा हमें कष्ट ही पहुँचाते हैं। दिवा-प्रकाश के

साथ ही साथ आप गोचारण प्रसंग से स्वेच्छया ही वन प्रांतर में इतस्ततः विहरण करते रहते हैं और हम आपके निरावरण सुकोमल पादारविन्दों में वृन्दावन धाम के कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि के द्वारा आघात लग जाने की आशंका से अत्यन्त सन्तप्त होती रहती हैं।

'किमपि वक्तव्यं रात्रौ' हे श्यामसुन्दर ! हम इस रात्रि में अपनी अवस्था का क्या वर्णन करें ? इस रात्रि में भी आप हम लोगों से स्वेच्छया अन्तर्धान हो रहे हैं। हम लोगों की दृष्टि के अगोचर रहने हेतु ही आप इस अंधकारमयी रात्रि में इस वनप्रान्तर में अटन कर रहे हैं। एतावता आपके निरावरण सुकोमल चरणारविन्दों में वृन्दावन धाम के कुश-काश-शिल-तृणांकुरादि के गड़ जाने की आशंका भी वृद्धिगत होती रहती है; अस्तु, हमारा संताप भी वृद्धिगत होता रहता है।

'यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ (१०/३/१९)

गोपाङ्गनाएँ तत्-सुख-सुखित्व भाववती हैं। सामान्यतः लोक में स्व-सुख सुखित्व-भाव ही प्रधान होता है परन्तु गोपाङ्गनाओं को स्वसुख की कल्पना भी नहीं होती; उसका अशन, वसन, अलंकार यहाँ तक कि जीवन भी प्रियतम-प्रीत्यर्थ ही है अतः जिस समय भगवत् परिरम्भण काल में अतिशय प्रेमोद्रेक के कारण उनके अंगप्रत्यंग रोमांच-कण्टकित हो जाते हैं उस समय भी अपने हृत्तापोपशमनार्थ निरतिशय सुकोमल भगवत् पादारविन्दों को अपने उरोजों की अतिशय कठोरता का विचार कर अपने उरस्थलपर भी विन्यस्त नहीं करतीं क्योंकि उरोजों की कठोरता से सुकोमल चरणारविन्दों में आघात लग जाने की आशंका होती है। यह तत्-सुखसुखित्व भाव ही व्रजबालाओं का वैशिष्ट्य है।

अथवा, गोपाङ्गनाएँ, अपने उरस्थल में मनोज रूप बड़वाग्नि का अनुभव कर अपने उरोजों पर भगवत् पादारविन्दों का विन्यास नहीं करतीं। मनोरूप बड़वाग्नि से हृत्-स्थित आनन्द-समुद्र दग्ध हो रहा है; भगवत् चरणारविन्द निःसृत भगवती गंगा द्वारा यह कामरूप बड़वानल भी उपशमित हो जाता है। कथा है कि कभी दुर्दैववशात् ब्राह्मण एवं क्षत्रियों में परस्पर अत्यंत गंभीर विरोध चल रहा था; यह विरोध इतना भयानक हो गया कि क्षत्रियगण ब्राह्मण स्त्रियों के गर्भगत शिशुओं का भी हनन करने लगे। किसी ब्राह्मणी ने अपने गर्भगत शिशु की रक्षा हेतु उसे अपने उरु में धारण

कर लिया; तब भी येन केन प्रकारेण क्षत्रियों ने तथ्य को जानकर उसको मारना चाहा; वह ब्राह्मणी व्याकुल हो वन प्रान्तर की ओर भाग चली; इस परिश्रम के कारण वह गर्भ उसके उरु से भी निकल पड़ा; यह बालक ही महर्षि और्व नाम से प्रख्यात हुआ। जन्म लेते ही महर्षि और्व भृगुवंश के संताप से अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने शाप द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-महेश सहित लोक-लोकान्तरों का विध्वंस कर देने के लिए उद्यत हुए। महर्षि और्व के संकल्प से संपूर्ण विश्व प्रकम्पित हो गया; ऐसे समय महर्षि और्व के पितृगणों ने प्रकट होकर उनको प्रबोध कराया और विश्व की रक्षा की। महर्षि और्व विश्व विनाश हेतु संकल्प कर चुके थे अतः पितृगणों ने उनको आदेश दिया कि—**'आपो वै लोकाः'** लोक-लोकान्तर जलात्मक है, अतः तुम अपने संकल्पित जल को विश्व-व्याप्त जल पर ही छोड़ दो।' वह और्वाग्नि ही बड़वाग्नि रूप से जल में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण समुद्र का ही शोषण करने लगी। बड़वाग्नि से शोषित होते हुए समुद्र की रक्षा हेतु ही भगवद्-पादारविन्द से भगवती गंगा प्रवाहित हुई। भगवती गंगा की शक्ति से और्वाग्नि प्रशमित हुई। गोपाङ्गनाएँ कह रहीं हैं, हे नाथ ! हम तो अपने हृत्-स्थित आनंद-समुद्र को दग्ध करने वाली मनोज रूप बड़वाग्नि-प्रशमन हेतु भी आपके स्वतः विकसित सुकोमल कमल से भी शतगुणाधिक सुकुमार पादारविन्दों हमारे कर्कश-उरोजों के कारण आघात लग जाने के भय से ही उनको अपने उरस्थल में विन्यस्त नहीं करती हैं; परन्तु आप हमारे इस करुण भाव की भी उपेक्षा कर केवल मात्र हमारी दृष्टि के अगोचर रहने हेतु ही इस अन्धकारमयी रात्रि में निरावरण चरणारविन्दों से वृन्दावन के वन-प्रान्तर में इतस्ततः अटन कर रहे हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रहो हैं, हे नाथ ! हे कान्त ! आपका रस-वैदग्ध्य भी अत्यन्त विचित्र है। **'वयं गोपाङ्गना रसाभिज्ञं भवंतं द्रष्टुं अनुगतचित्ताः अनुगताः।'** हम तो अनुगत चित्त हो आप परम रसिक शिरोमणि के दर्शन हेतु वृन्दावन चली आई हैं। वस्तुतः कथा कहते हुए भी वृन्दावन से अन्यत्र रस का निरूपण उपबृंहण द्वारा ही सम्भव होता है; वृन्दावन स्वयं ही रस-स्वरूप है अतः वहाँ रस का स्पष्ट वर्णन सम्भव होता है। वेद-वाक्य है—

> **'न वाअरे प्रत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्या त्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।'**
>
> (बृ० आ० ४/५/६)

संसार के यावत् सुख एवं ऐश्वर्य स्वात्मा के लिए सुखद होकर ही प्रिय होते

हैं; जो स्वात्मा के लिए सुखद न हो वह प्रिय भी नहीं होता। प्राणी मात्र स्वभावतः स्वात्मा से प्रेम करता है। यह अभेद रति ही आत्मरति है; एतावता प्रेम के एकमात्र आस्पद एवं आश्रय रस-स्वरूप सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे नाथ! हे कान्त! आपको परम रसिक, रसिक शिरोमणि जानकर आपका अनुगमन करती हुई हम वृन्दावन तक चली आई हैं और आप **'रसानभिज्ञवत् रसज्ञोऽपि सन् रसानभिज्ञान् पशून् अनुचरसि'** रसानभिज्ञ की भाँति हमारा त्याग कर इन रसानभिज्ञ पशुओं का अनुगमन कर रहे हैं। हे कान्त! आपका रस वैदिग्ध्य वस्तुतः विचित्र है। भक्त मुचुकुन्द को तो आपने बदरीनारायण जाकर तप करने का आदेश दिया परन्तु शिशुपाल, कंस पूतनादिकों को तुरत ही मुक्ति प्रदान कर दी। कोई भक्त भगवान् से परिहास करते हुए कहता है।

'गोपालाजिरकर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे,
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यञ्च दान्तात्मसु।

अर्थात्, हे गोपाल! तुम गोपजनों के आंगन की कीच में तो खेलते रहते हो, परन्तु ऋषि-महर्षियों द्वारा यज्ञ-अनुष्ठानादि हेतु निर्मित दिव्य मण्डपों में जाते हुए संकोच, लज्जा का अनुभव करते हो। हे व्रजेन्द्रनन्दन! तुम गोकुल गाँव की पुंश्चली युवतियों की तो दासता करते हो, परन्तु शान्त, दान्त, ब्रह्मविद् वरिष्ठ जनों का स्वामित्व ही करते हो। गाय-बछड़ों की हुंकार पर तत्काल बोल पड़ते हो परन्तु योगीन्द्र मुनीन्द्र जनों द्वारा विधिवत् की गई अनेकानेक स्तुतियों को सुनकर भी मौन ही रह जाते हो। हे श्रीकृष्ण! आपकी ऐसी विचित्र रस-वैदग्ध्यमयी माया को हम लोग नहीं समझ पाते हैं।

एक कथा है; एक दिन नन्दरानी ने अपने बालक पुत्र श्रीकृष्ण को नहला धुलाकर दिव्य अंगरागादि लेपन कर उत्तमोत्तम वस्त्रभूषणों से सुसज्जित किया अम्मा की आँखों के ओट होते ही बालकृष्ण पुनः आंगन की बीच में खेलते हुए कीचड़ से सन गये। खीझ कर नन्दरानी कह उठीं—

'त्वं शूकरोऽसि गत जन्मनि पूतनारे।'

हे पूतनारे! 'तू विगत जन्म में अवश्य ही शूकर रहा होगा।' बाल कृष्ण हँसने लगे, बोले 'अम्मा! तू ठीक ही तो कहती है।'

वेदान्ती लोग कर्मकाण्डियों को **'देवानां-प्रियः'** कहते हैं। प्राचीन काल से ही **'देवानां प्रिय'** उक्ति मूर्ख के अर्थ में प्रयुक्त होती रही है। इतिहास के आधुनिक पण्डितों के मतानुसार सम्राट् अशोक के राज्यकाल के पश्चात् ही इस उक्ति का प्रयोग 'मूर्ख' के अर्थ में किया जाने लगा है। सम्राट्-अशोक व

प्रशस्ति में खुदाये गये शिलालेखों पर सम्राट् अशोक को **'देवानां प्रिय'** कहा गया है। सम्राट् अशोक ने जीवन के उत्तर काल में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था; अतः जब बौद्धों का विरोध होने लगा तो सम्राट् अशोक का विशेषण 'देवानां प्रिय' पद ही मूर्ख अर्थ का प्रतीक बन गया। हमारी प्राचीन परम्परा के आधार पर यह अर्वाचीन मान्यता निराधार सिद्ध हो जाती है। कात्यायन लिखते हैं—**'देवानां प्रियः इति च मूर्खे'** (पा० सू० वा० ६/३/२१/४) बृहदा-रण्योपनिषद् का उल्लेख है **'यो न्यांदेवतामुपास्ते न्यो सावन्यो हमस्मीति न स वेद यथा पशुः'** (बृ० १/४/१०)। हमारे इष्ट, हमारे उपास्यदेव अन्य हैं और मैं अन्य हूँ, तात्पर्य जो अपने इष्टदेव, उपास्यदेव से भेदभाव रखते हुए उपासना करता है वह देवताओं का पशु है। जैसे पशु, अनेक प्रकार से अपने स्वामी की सेवा करता हुआ उसका अनुगमन करता है, वैसे ही, कर्मकाण्डी भी जप, तप, व्रत एवं दानादि के द्वारा नाना प्रकार के कर्मानुष्ठान करता हुआ तत्-तत् देवता की सेवाअर्चा करता हुआ उसका अनुगमन करता है। **'इन्द्राय वषट् अग्नये वषट्'** इत्यादि रूप से तत्-तत् चरू-पुरोडाश आदि हव्य तत्-तत् देवताओं के उद्देश्य से त्याग करता हुआ देवताओं का उपकार करता है; एतावता ब्रह्मज्ञानी जीवोपासक देवताओं को अप्रिय हो जाता है। जैसे, पशु रोगी हो जाने पर अपने स्वामी की सेवा में असमर्थ हो जाता है वैसे ही उपासक भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर देवताओं के उपकार में असमर्थ हो जाता है। भागवत कथन है **'त्वौको विलंघ्य व्रजतां परमं पदंते।'** (१/४/१०) अर्थात्, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा भगवत्-स्वरूप-दर्शन, भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त कर इन्द्रपद का भी उल्लंघन कर ब्रह्मलोक प्राप्ति में तत्पर जनों की उपासना में इन्द्र विघ्न उपस्थित करता है।

'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा' (मनु ५/३९) स्वयं स्वयंभु ने ही यज्ञ के लिए पशुओं का निर्माण किया; एतावता पशु **'देवानां प्रिय'** हैं। पशु स्वभावतः ही मूर्ख एवं रसानभिज्ञ हैं; अस्तु अत्यंत प्राचीनकाल से ही 'देवानां प्रिय' उक्ति 'मूढ़' अर्थ में रूढ़ है।

सूर्य, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवगणों के प्रीत्यर्थ यज्ञाहुतियाँ दी जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सर्व देवात्मक है। 'महाभारत' मे उल्लेख है।

'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति' (भण्डारकर 'संस्करण १३।१३५/ नोट-६३९-४) अन्यान्य सम्पूर्ण देवताओं के प्रति किया गया नमस्कार केशव भगवान् को ही प्राप्त होता है। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—'हे श्यामसुन्दर ! तुम-को यदि पशुचारण ही अभीष्ट हो तो हम भी पशुवत् ही हो रही हैं; हमारा

विवेक, हमारा चातुर्य, हमारी विदग्धता सब आपके विरहानल में दग्ध हो चुकी हैं। विवेकशून्य होकर हम भी पशुतुल्य ही हो गई हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं 'हे सखियों ! हम तो गोपकुमार हैं, गोपालन हमारा धर्म है। ये पशुगण, गाय-बछड़े हमारे इष्टदेव हैं, इनकी रक्षा करते हुए इनका अनुगमन करना हमारा धर्म है। अतः स्वधर्म-पालन हेतु ही हम इनके पीछे-पीछे घूमते हैं।' इसका उत्तर देती हुई वे पुनः कहती है, हे कान्त ! **'नलिन सुन्दरं ते पदं'** कमल से भी अधिक कोमल एव सुन्दर आपके चरणार विन्द प्रेमरूप रज्जु से आबद्ध हैं अतः **'स्वतः गन्तुं असमर्थम्'** ! स्वतः चलने में असमर्थ हैं तथापि **'भवान् बलात् चालयति,'** आप उनको बलात् चलने पर विवश कर रहे हैं।

सर्वमान्य है कि जरासन्ध, कंस आदि प्रबल दैत्य सूर्य, इन्द्र, अग्नि एवं वरुणादिक देवगणों के हवि भाग का अपहरण कर स्वयं ही उनका पद ग्रहण करने लगे; **'तावेव सूर्यतान्तद्रत् अधिकारं तथैन्दवम्'** अतः देवताओं की प्रार्थना से उनपर अनुग्रह हेतु अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक अखिलेश्वर प्रभु स्वयं ही आनन्द कन्द, परमानन्द गोपाल श्रीकृष्णचंद स्वरूप में आविर्भूत हुए। साथ हो, तत् तत् देवगण भी ग्वाल-बाल रूप में उत्पन्न हुए। निरावारण भगवद् चरणारविन्द संस्पर्श कामना से ही अनेक ऋषि, महर्षि एवं अन्यान्य देवगण भी लता, द्रुम एवं पाषाणादि अनेक रूपों में वृन्दाटवी में अवतरित हुए। इन देवगण एवं अनेकानेक योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंस जनों की वांछा पूर्त्यार्थ ही भगवान् श्रीकृष्ण गोचारण के व्याज से वृन्दाटवी में निरावृत चरणार्रविन्दों से अटन करते हैं। यही कारण है कि गोपकुमार, गोपाल स्वरूप में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के निरावृत चरणारविन्द संस्पर्श प्राप्ति का सौभाग्यातिशय केवल मात्र वृन्दावन धाम की भूमि को ही प्राप्त हुआ; वृन्दावन धाम से अन्यत्र मथुराधाम यहाँ तक की वैकुण्ठ धाम की भूमि भी इस अतिरिक्त सौभाग्य को न पा सकी क्योंकि इन धामों में भगवान् के ऐश्वर्य-स्वरूप का ही विशेषतः प्राकट्य हुआ है। पूर्वप्रसंगों में इस विषय की विस्तृत विवेचना की जा चुकी है। इस सम्पूर्ण विवेचना का अन्ततोगत्वा तात्पर्य यही है कि प्रभु के निरावरण चरणारविन्दों का संस्पर्श दुर्लभातिदुर्लभ, सौभाग्यातिशय है।

'मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यतमामपिसिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥'

(श्रीमद् गीता ७/३)

अर्थात्, अनन्तानंद प्राणियों में कोई एक भगवद्-परायण होता है; इन भग-

वद् परायण जनों में भी कोई एक भगवत्-पद-संस्पर्श प्राप्तियोग्य होता है। ज्ञानी उद्धव भी प्रार्थना करते हैं—

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥'

(श्रीमद् भा० १०/४७/६१)

अर्थात्, दूर्वा लता द्रुम पाषाणादि किसी भी रूप में मुझको वृन्दावन में स्थान प्राप्त हो ताकि दुस्त्यज आर्य-पथ को त्याग कर मुकुन्द की शरण जाने वाली व्रजाङ्गनाओं का पद-रज-संस्पर्श मुझको प्राप्त हो सके। ब्रह्मा जी कहते हैं :—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद् भा० १०/१४/३०)

अर्थात्, हे प्रभो आपका भक्त बनकर, किसी भी रूप में रहकर आपके चरणारविन्दों की सेवा कर सकूँ और आपके पद-पद्म-रज को पा सकूँ। इतना ही नहीं—

'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां।
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्॥'

(श्रीमद् भा० १०/१४/३४)

वृन्दाटवी के द्रुम, लता, दूर्वा, पाषाणादि कुछ भी होकर हम अपने आप को भूरिभाग, विशिष्ट सौभाग्यशाली समझेंगे।

एकनाथजी कृत 'भाव रामायण' में भगवती सती को भ्रम हो जाने वाली कथा विशेष विस्तार के साथ दी गई है। राघवेन्द्र रामभद्र, वनवास-काल में रावण द्वारा सीता-अपहरण के अनन्तर उनके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से संतप्त हुए उनको खोजते हुए वन-वन में भटक रहे हैं; तीव्रताप-जन्य उन्माद में कहीं किसी लता का आलिंगन करते हैं तो कहीं किसी पाषाण का चुम्बन करने लगते हैं। इस अपूर्व दृश्य को देखकर भगवती सती को राघवेन्द्र रामभद्र की अखिल ब्रह्माण्ड नायकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता में सन्देह होने लगा, अतः वे उनकी

परीक्षा लेने चल पड़ीं; भगवती सती जनक-नन्दिनी जानकी का रूप धारण कर रामभद्र के मार्ग में आ खड़ी हुई; उनको देखते ही श्रीरामभद्र ने नमस्कार करते हुए कहा—'माता ! आप वन में अकेली क्यों खड़ी हैं ? भगवान् वृषकेतु कहाँ हैं ?' इस प्रश्न को सुनकर भगवती सती अत्यन्त लज्जित हुई; इतने में ही भगवती ने देखा कि अणु-परमाणु में सीता एवं राम विद्यमान हैं। आश्चर्य चकित हो भगवती सती राघवेन्द्र रामभद्र से प्रश्न करती हैं, 'हे प्रभो ! आप ही सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्व-स्वरूप, सर्वदासावधान, सर्वज्ञ, सर्वाधिष्ठान हैं, फिर भी अत्यन्त व्याकुल विरहीवत् प्रलाप करते हुए कहीं पाषाण का चुम्बन करते हैं तो कहीं द्रुम-लतादिकों को अपने आलिंगन में भर लेते हैं; आपकी इन विह्वल चेष्टाओं को देखकर सहज ही भ्रम उत्पन्न हो जाता है। हे प्रभो ! आपकी इस अचिन्त्य लीला का क्या रहस्य है ? भगवान् राघवेन्द्र रामभद्र उत्तर दे रहे हैं, 'माता ! इन लीलाओं का वास्तविक रहस्य तो भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ ही जानते हैं। जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त हमारी आराधना में रत अनेकानेक उपासक, अनेकानेक योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंस ऋषि-महर्षिगण ही इन पाषाण खण्ड, द्रुमलता दूर्वादि रूपों में हमारी संस्पर्श कामना से आविर्भूत हुए हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप में परम आत्मीयत्वेन इनका संस्पर्श आलिंगनादि कदापि संभव नहीं हो सकता, एतावता भगवती सीता के विप्रयोग जन्य तीव्रतापोन्माद-व्याज से ही हम इनकी वांछापूर्ति कर रहे हैं, इसी तरह, आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् कृष्णचन्द्र भी गोचारण के व्याज से वृन्दाटवी में अटन करते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित विभिन्न अनन्यभक्तों की निरावरण-भगवत् पादारविन्द-रज-संस्पर्श-कामना की पूर्ति करते हैं।

पूर्व-प्रसंगों में बताया जा चुका है कि आत्माराम भगवान श्रीकृष्ण का रमण आत्मा में ही सम्भव है; अनात्मा में आत्माराम का रमण सर्वथा असम्भव है। आनन्द कन्द परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द स्वयं निरावरण ब्रह्म हैं।

> हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
> स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥
>
> (श्री० भा० १०/८८/५)

हरि साक्षात् निर्गुण हैं; सत्वगुणयुक्त होते हुए भी हरि निर्गुण हैं। जैसे चक्षु एवं सूर्य के बीच काष्ठ-खण्ड आ जाने से चक्षु के लिए सूर्य का स्वरूप आच्छादित हो जाता है परन्तु सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र द्वारा विशिष्टतः दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही गुण उपाधि के कारण भगवत्-स्वरूप प्रावृत नहीं होता अपितु सूक्ष्म वीक्षण यंत्र से दृष्ट दृश्यवत्, विशिष्ट सौन्दर्य माधुर्य-सौरस्यपूर्ण दृष्टिगोचर होता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३/१४/१) के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मरूप है तथापि रज एवं तम उपाधियुक्त होने के कारण सावरण है। जैसे प्रत्येक काष्ठ खण्ड में अग्नि समाहित रहते हुए भी अव्यक्त रहती है, वैसे ही, सावरण ब्रह्म स्वरूप त्रिगुणात्मक अखिल विश्व में भी ब्रह्म अव्यक्त ही रहता है। जैसे व्यक्ताग्नि-काष्ठ के संसर्ग से अव्यक्ताग्नि-काष्ठ में भी अग्नि प्रस्फुटित हो जाती है, वैसे ही निरावरण ब्रह्म के संसर्ग से सावरण ब्रह्म भी निरावृत हो जाता है। निरावरण ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र की सुमधुर-अधर सुधा ही वेणु-नाद-पीयूष रूप में सम्पूर्ण वृन्दावन धाम में विस्तीर्ण हुई; इस वेणुनाद रूप देवभोग्य अधर-सुधारस से संश्लिष्ट हो वृन्दावन धाम के पशु पक्षी, सरोवर, द्रुम लता दूर्वादि सम्पूर्ण रमण-सामग्रियों में ब्रह्मरूपता उद्बुद्ध हुई; ब्रह्मरूपता आत्म रूपता प्रादुर्भूत होने पर तत् तत् स्वरूप में तत्र-तत्र स्थित भक्त जन एवं देवगणों को निरावरण ब्रह्म संस्पर्श स्वरूप आनन्दकन्द, परमानन्द भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के निरावरण चरणारविन्दों का संस्पर्श जैसा दुर्लभातिदुर्लभ सौभाग्यातिशय प्राप्त हुआ।

'चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्'

पद का विश्लेषण करते हुए श्री वल्लभाचार्य जी भी भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की गोपकुमार गोपाल स्वरूप में वृन्दाटवी में गोचारण लीला का मूल हेतु भक्तानुग्रह ही मानते हैं।

इस पद का एक भाव और भी है। गोपाङ्गनाएँ श्रुतिरूपा हैं; श्रुतियों का परब्रह्म से अन्यतम सम्बन्ध है **'गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'** वाणी एवं अर्थ किंवा समुद्र एवं उसकी तरंग की तरह परब्रह्म एवं श्रुतियों का असाधारण सम्बन्ध हैं। प्रलयकाल की समाप्ति पर भगवान् पुनः प्रबोधोन्मुख होते हैं; भगवान् के पुनः प्रबोधोन्मुख होने पर श्रुतियाँ भगवद्-स्तुति करती हैं। लोक व्यावहारतः जैसे रात्रि के अवसान पर प्रातःकाल में राजाधिराज, चक्रवर्ती नरेश के पुनः प्रबोधोन्मुख होने पर बन्दीगण उनकी स्तुति करते हैं वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक अखिलेश्वर, अद्वितीय प्रभु भी जब अपनी योगनिद्रा को त्यागकर प्रबोधोन्मुख होते हैं, तब श्रुतियों की महाधिष्ठात्री शक्तियाँ साक्षात् होकर प्रभु का गुणगान करती हैं। **'अस्यमहतो भूतस्यनिःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो थर्वाङ्गिरस'** योगनिद्रा को त्यागकर भगवान् के जागरणोन्मुख होने पर भगवत्निःश्वास से ही यह अनन्त विधाओं का उद्गम-स्थान **'अपास्त समस्त पुन्दोषशंकाकलंक'** अपौरुषेय मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदो-राशि प्रस्फुटित हो जाती है। वेदों की ऋचाएँ ही मूर्तिमती होकर भगवद्-

स्तुति करती हैं। 'रामचरित मानस' में भगवान् राघवेन्द्र रामभद्र के जन्म के अवसरपर शिव ब्रह्मादिक देवगण एवं सांङ्गोपाङ्ग चतुर्वेदों का प्रकट होकर भगवान् रामभद्र की स्तुति करने का वर्णन मिलता है। जैसे, कोई चक्रवर्ती नरेश भी जागने पर बंदियोंको, ब्राह्मण-पण्डितादिकों को यथोचित दान करता है वैसे ही, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, प्रभु भी प्रबुद्ध होकर श्रुतियों को वरदान देते हैं। अत्यन्त आत्मीय-भावेन प्रभु-पद-संस्पर्श, प्रभु-अंग-प्रत्यंग-सम्मिलन का वरदान ही श्रुतियों की एकमात्र वांछा हैं। भगवत्-'अंग-प्रत्यंग-आश्लेष की कामना करने वाली श्रुतियाँ ही गोपाङ्गना रूप से आविर्भूत हुईं। ये श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ प्रार्थना कर रही हैं **'वनविहाराभिकांक्षिण्य'**। हे प्रभो ! हम भी आपके संग वन-विहार की आकांक्षा रखती हैं। जैसे जन्म-जन्मान्तर से आपके चरणारविन्दों में आसक्त भक्त जनों पर अनुग्रह हेतु ही आप ग्वाल-बाल-रूप में पशुओं का, गाय-बछड़ों का अनुसरण कर रहे हैं, वैसे ही, हमारा अनुसरण भी आपका कर्तव्य है। **'कान्तस्य तव अन्तकत्वं'** आप कान्त हैं। **'कामानाम् सुखानाम् अन्तः कान्तः'** सम्पूर्ण लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का पर्यवसान जिसमें हो वही कान्त है; एतावता एकमात्र श्री भगवान् ही कान्त हैं। जैसे अनंतानंत जल कणों का अन्तर्भाव समुद्र में होता है, वैसे ही, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के अनंतकोटि देव-शिरोमणियों एवं ब्रह्मादिकों को प्राप्त होने वाला सुख पुंजीभूत होने पर भी जिस अनंत परमानन्द सिंधु में विन्दुवत् अन्तर्लीन हो जाता है, वह आनंदसिंधु श्री भगवान् ही कान्त है। गोपाङ्गना रूप श्रुतियाँ कह रही हैं **'कामानाम् सर्वेषां लौकिकानां पारलौकिकानां च सुखानाम् अन्तः पर्यवसानम् अन्तर्भावः कान्तः'** किंवा **'कान्तस्य तव अन्तकत्वं युक्त'** हे कान्त ! सम्पूर्ण लौकिक एवं पारलौकिक सुख का सागर होते हुए भी आप हमारे लिए तो सम्पूर्ण सुखों का हनन करने वाले अन्तक ही बन रहे हैं।'

मानिनी नायिका सदा विपरीतवत् ही बोलती है; वे कह रही है, 'हे श्याम-सुन्दर ! तुम तो नाथ हो, उपतापक हो; सम्पूर्ण सुन्दर वस्तुओं का उपतापन ही तुम्हारा धर्म है। हे नाथ ! जो अपने नलिनादपि सुन्दर एवं सुकोमल चरणारविन्दों को भी ताप पहुँचा रहा है, उससे किसी भी प्रकार के सुखप्राप्ति की, अनुग्रह की प्रार्थना करना ही व्यर्थ है। जो अपने ही सुकोमल अंगो के लिए कठोर है वह अन्य के लिए क्योंकर सकरुण हो सकता है ? ब्रह्मा भी कहते हैं :

'अटति भवानबलाकवलाय वनेषु न तत्र विचित्रं'

अबला-भक्षण-हेतु ही आप वन-प्रान्तर में अटन करते हैं। आपके लिए यह कोई आश्चर्यजनक किंवा विचित्र बात नहीं है क्योंकि :

'प्रथयति पूतनिकैव वधू वध निर्दयबालचरित्रम्'

पूतना-वध जैसा आपका बाल-चरित्र ही आपके निर्दय स्वभाव को प्रख्यात कर रहा है। यही कारण है कि हे नाथ ! आप अपने इन नलिनादपि सुन्दर सुकोमल चरणारविन्दों के प्रति भी अकारण अकरुण हो रहे हैं; इस स्थिति में हे कान्त ! हम आपसे किस सुख की आशा कर सकते हैं ?

पद का निवृत्ति-पक्षीय अर्थ है; **'चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून'** **'गावस्तिष्ठन्ति यास्मिन्स गोष्ठः'** गायों का आवास-स्थान ही गोष्ठ है; व्रज-पद भी गोष्ठ-पद का पर्यायवाची है। **'गाः इन्द्रियाणि;** चक्षु, श्रौत्र, त्वक् आदि इन्द्रिय गो का आवास-स्थान शरीर ही गोष्ठ किंवा व्रज है।' **'व्रजात् देहात् पशून् इन्द्रियाणि चारयन्नटति विषयेष्विति,'** जीव पशुस्थानीय इन्द्रियों को व्रजस्थानीय देह से अन्यत्र विषयरूप गोचर-भूमि में अग्रसर करता है।

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान्।'

(कठोप० १।३)

अर्थात् इन्द्रियरूप गौओं को चराने हेतु आत्मा विषयरूप गोचरभूमि वन-प्रांतर में जाता है। **'प्रज्ञया चक्षुःसमारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति'** (कौ० ब्रा० ३/६) 'प्रज्ञा के द्वारा चक्षु पर उपारूढ़ होकर सम्पूर्ण रूपों को, सम्पूर्ण दृश्य को आत्मा ही देखता है। अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही तत्-तत् इन्द्रियजन्य विषयाकाराकारित वृत्ति रूप में प्रस्फुटित होती है। उदाहरणतः सूर्यमण्डल पर दृष्टि जाने पर चक्षु की वृत्तियाँ सूर्य-मण्डलाकाराकारित हो गई; उस अन्तःकरण की वृत्ति पर उपारूढ़ हुआ आत्मा भी सूर्यमण्डलाकाराकारित हो गया, अन्त करणकी वृत्ति से सूर्यमण्डल विषयक अज्ञान दूर होने पर वृत्ति उपारूढ़ चिदाभास से सूर्यमण्डल की स्फूर्ति हुई। यह वेदान्त की प्रक्रिया है।

●

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहु
र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

अर्थात्, हे वीर ! जब दिन ढलने पर आप घर लौटते हैं तब हम देखती हैं कि गौओं के खुर से उड़ी हुई रज आपके मुखारविन्द पर घनीभूत हो रही हैं और आपके काले केशों की अलकें भी आपके मुखारविन्द पर यत्र-तत्र लटक रही हैं। हे प्रिय ! अपने इस अतुल सौन्दर्य का दर्शन कराकर आप हमारे मन में सम्मिलन की आकांक्षा को उद्बुद्ध करते हैं।

दिन के उदित होने पर बालकृष्ण गोचारण हेतु वृन्दावन चले जाते हैं अतः व्रजबालाओं को उनका दर्शन दुर्लभ हो जाता है। श्रीकृष्ण के विप्रयोग के कारण गोपाङ्गनाओं के लिए दिन दूभर हो जाता है; एक-एक क्षण गिनकर वे दिन व्यतीत करती हैं 'गतो यामो गतौ यामौ, गता यामा गतं दिनम् ।' यह तो एक ही प्रहर व्यतीत हुआ है, ऐसे लम्बे-लम्बे तीन प्रहर और व्यतीत होने पर दिन का अवसान होगा; दिन के अवसान होने पर ही प्रिय के दर्शन संभव होंगे। **'त्रुटियुंगायते त्वाम पश्यताम् गोपीनां'** भगवान् श्रीकृष्ण के वियोग में गोपाङ्गनाओं को त्रुटिपरिमित काल भी युगवत् प्रतीत होता है, परन्तु—

ता स्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावन गोचरेण ।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरंग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥

(श्री भा० ११/१२।११)

ब्रह्म-रात्रियाँ भी प्रियतम श्रीकृष्ण के संग के कारण क्षणार्धवत् बीत जाती हैं।

'क्षणं युग शतमिव यासां येन विना भवत् ।'

(श्री भा० १०/१९/१६)

भगवान् श्रीकृष्ण के विप्रयोग में क्षणार्द्ध भी शतयुग-तुल्य प्रतीत होने लगता है। लोक-व्यवहारतः भी प्रियजनों के संसर्ग में दीर्घकाल भी स्वल्पकालवत् ही प्रतीत होता है, परंतु उनके वियोग में स्वल्पकाल भी अत्यन्त दीर्घतम अनुभूत होने लगता है। लौकिक स्नेह-संबंध, जनन-मरण-अविच्छेद-लक्षणा संसृति के प्रेरक है, परन्तु भगवदीय स्नेह-संबंध इस संसृति का उन्मूलक एवं मुक्ति कारक है। श्रीमद् वल्लभाचार्य जी कहते हैं—

'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते'

अर्थात् क्रिया में तो सर्वत्र ही समानता है तदपि भगवदीय संबंध में काम का अभाव है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एवं व्रज-सीमन्तनी जनों का हास-परिहास-विलासादि शम्पूर्ण चेष्टाएँ लौकिक नायक-नायिकाओं की चेष्टा के समान होने पर भी वस्तुतः वासना-व्यतिरिक्त हैं।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमवत्प्रथाम् ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति गोपाङ्गनाओं का निर्मल, निष्कलंक, विशुद्ध अनुराग ही तत्तुल्यता के कारण काम-पद-विश्लिष्ट हुआ।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'घनरजस्वलं एवं भूतं वनरुहाननं मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि'**। हे वीर ! आप अपने मधुर मंगलमय मनोहर मुखचन्द्र के दर्शन से हमारे मन में पुनः-पुनः स्मर का संचार करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है **'स्मरोवा आकाशाद्‌भूयः'** (७/१३/१) स्मर तत्त्व आकाश से भी **'भूयान्'** महत् है। **'स्मरणं स्मरः'** स्मरण ही स्मर है; उत्कट उत्कण्ठा पूर्वक प्रियतम-स्मरण ही स्मर-पद वाच्य है। **'स्मर'** शब्द का अर्थ काम है। गोपाङ्ग-नाओं द्वारा अपने परम-प्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र का अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठा-पूर्ण स्मरण ही उनका स्मर किंवा काम है।

'दिन परिक्षये, दिनस्य परितः क्षये' गोपाङ्गनाएँ दिन का परिक्षय मनाती हैं। उनकी चाहना है कि शीघ्र ही व्यतीत हो जाय क्योंकि दिवावसान पर ही श्रीकृष्ण-दर्शन सम्भव होंगे। दिन के उदय होते ही बाल श्रीकृष्ण गोचारणहेतु वृन्दाटवी में चले जाते हैं; अस्तु जो दिन भगवत्-विप्रयोग का कारण बन जाता है उससे गोपाङ्गनाओं को सहज ही द्वेष होता है; फलतः वे उसका परिक्षय मनाने लगती हैं।

श्री रसिकावतंश लिखित **'प्रेम-पत्तन'** नामक एक अत्यन्त सुन्दर ग्रंथ है। 'पत्तन' शब्द का अर्थ है 'नगर'। आधुनिक 'पूणा' शहर भी किसी समय 'पुण्य-पत्तन' कहलाता था। 'प्रेम-पत्तन' के सम्पूर्ण यम-नियम सामान्य लौकिक नियमों से सर्वथा विपरीत हैं। उदाहरणतः लोक में तृष्णा सर्वथा निन्द्य एवं त्याज्य है। भगवान् शंकराचार्यकृत प्रश्नोत्तरी है **'स्वर्गपदं किमस्ति ? तृष्णा क्षयः'** तृष्णा का क्षय ही स्वर्ग-पद है। 'प्रेम-पत्तन के व्यवहारानुसार तृष्णा ही सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक वांछनीय है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय पादार-विन्द के दर्शन-हेतु उत्कट तृष्णा का उद्‌बोधन ही जन्म-जन्मान्तर कृत पुण्य-पुंज का अद्वितीय पुरस्कार है। लौकिक पदार्थ किंवा व्यक्ति में व्यसन **'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्'** का ही प्रेरक है; अतः ज्ञानी जनों द्वारा त्याज्य है किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र-चरणारविन्द-दर्शन का व्यसन तो

परम ज्ञानी अमलात्मा, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमहंस महर्षिगणों के लिए भी अत्यन्त स्पृहणीय है।

ज्ञानी शिरोमणि **'ज्ञानिनां अग्रगण्यं'** श्री हनुमानजी महाराज को भी एक व्यसन है :--

'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनम्।
तत्र-तत्र कृतमस्तकांजलिम्॥
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनम्।
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥'

जहाँ-जहाँ रघुपति-गाथा चलती हो वहाँ-वहाँ हनुमानजी गद्गद् हो अश्रु-पूरित नयन और मस्तक पर हाथ बाँधकर नमस्कार करते हुए अवश्य ही पहुँच जाते हैं। यही उनका व्यसन है। इसी तरह, कृष्णाभिरमण में अनुकूल होने के कारण ही अभिसारिका गोपाङ्गनाओं को कृष्णपक्ष ही रुचिकर होता है। 'प्रेम-पत्तन' का मूल-मंत्र यही है कि जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन एवं सम्मिलन में सहायक सिद्ध हो वह सर्वोत्कृष्ट, परमादरणीय एवं परमस्पृहणीय है और जो भगवद्दर्शन एवं सान्निध्य में बाधक हो वह सर्वथा निन्द्य एवं त्याज्य है।

'न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वांछन्त्यपि मया दत्तम्, कैवल्य मपुनर्भवम्॥

(श्री भा० ११/२०/३४)

अर्थात् अन्तर्मुखी धीर साधु-पुरुष भुक्ति-मुक्ति-निरपेक्ष होते हुए भी भगवद्दर्शन की कामना करते हैं।

'अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चऊ निरबान।
जनम-जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन॥'

(मानस, अयोध्या ३४)

कुन्ती देवी कहती हैं—

'विपदः सन्तु नः शश्वतत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्याद, पुनर्भवदर्शनम्॥'

(श्रीमद् भा० १/८/२५)

अर्थात्, हे जगद्गुरो! जहाँ-जहाँ जब-जब हमारा जन्म हो सदा-सर्वदा सर्वत्र ही हमको विपत्ति ही मिले क्योंकि विपत्ति-काल में ही आपका दर्शन सम्भव होता है। भगवान् विपद्-परिगृहीत हैं, अनाथ-नाथ हैं :—

'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥'

अर्थात्, लोक दृष्ट्या जो विपदा किंवा संपदा है वह यथार्थ में न तो विपत्ति ही है और न सम्पत्ति ही है। निरन्तर भगवत् स्मरण ही सम्पत्ति तथा भगवद्वि-स्मरण ही वस्तुतः विपत्ति है।

सनकादि महर्षिगण कहते हैं :—

'कामं भवः स्व वृजिनै निरयेषुनः स्तात्,
चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तु लसिवद् भवदंघ्रिशोभाः,
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥'

(श्री० भा० ३/१५/४९)

अर्थात्, हे प्रभो ! जैसे मिलिन्द अरविन्द-मकरन्द-पान में तल्लीन हो जाता है, वैसे ही, यदि हमारा भी चित्त आपके चरणारविन्द-मकरन्द-पान में तन्मय हो जाय और फिर, यदि निज दुष्कर्मों के कारण हमको नरक में भी वास करना पड़े तो उसकी चिन्ता हमें न होगी। वेदान्त का भी यही सिद्धान्त है;

'या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशापश्यतो मुनेः॥'

(गीता : २/६९)

अर्थाथ, जो सम्पूर्ण लौकिक जनों के लिए रात्रि है उसमें ज्ञानी जागता है; जहाँ ज्ञानी जागता है वहीं लोक-रत-जन सोते हैं।

'मोह निसा सबु सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा।
जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास विरागा॥'

(मानस, अयोध्या ९२/२/४)

अर्थात्, प्राणी मात्र मोह रूपी रात्रि में सोते हुए विविध प्रकार के स्वप्न देखते रहते हैं। इस स्वप्न जनित मोह-माया, ऐश्वर्य-विलास से सहज वैराग्य ही जीव की जागृति का परिचय है। अस्तु, अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह कि भक्ति की गति-विधि का लौकिक गति-विधि से सामंजस्य नहीं हो पाता; भक्त सर्वथा विलक्षण है। भगवत्-विरह-दुःखिता गोपाङ्गनाएँ भी भगवद् दर्शन में बाधक दिन के परिक्षय की ही कल्पना करती रहती हैं।

इस पद का एक अन्य भाव यह भी है कि गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभो ! हे प्रियतम ! आपके मुखचन्द्र के सौन्दर्यामृत की प्यासी, विरहकातरा हम आपके आगमन की प्रतीक्षा करती हुई, निमेषोन्मेष-विवर्जित नयनों से आपका मार्ग निहारती हुई, मार्ग में ही इतस्ततः खड़ी रहती हैं। दिन के परिक्षय पर ही आप पधारते हैं अतः आपके मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन में भी बाधा पड़ती है।

"**नीलकुन्तलैः आवृतं वनरुहाननं घनरजस्वलं**" '**घन**' शब्द का अर्थ जल भी होता है। अतः '**वनरुहाननं**' का अर्थ है **जलरुह, सरोज**। '**नीलकुन्तलैः आवृतं**' नील स्निग्ध कुन्तलों में आवृत है। "**घनरजस्वलं, घनं गोधनं तस्य रजसा व्याप्तं घनरजस्वलं**" गोधन के खुरों से उड़ती हुई रज से व्याप्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का श्रीमुख कुटिल नील स्निग्ध कुन्तलों से आवृत तथा गोधनों के खुरों से उड़ी हुई रज से व्याप्त दिव्य सरोज है। इस पद की व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं "**अलिकुलमालासंकुल परागच्छुरित पद्ममिव**" अर्थात् श्रीकृष्ण-चन्द्र का दिव्य मुखारविन्द कुटिल स्निग्ध कुन्तलों से आवृत एवं गोरज-पराग-छुरित हो मकरन्द-पान-लोभी अलिमाला से आवृत, पराग-परिप्लुत, दिव्य-सरोज तुल्य शोभायमान हो रहा है। उपमेय के वर्णन हेतु उपमान अनिवार्य है। उदाहरणतः भगवती, जनक-नन्दिनी जानकी का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं—

"सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप गुन खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई।
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
विष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
'एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥"

(मानस, बाल, २४७)

जनक-नन्दिनी जानकी के सौन्दर्य का वर्णन ही असम्भव है; परम सौन्दर्य रूप कच्छप पर आधारित श्रृंगार रूप मन्दराचल की मथानी एवं शोभारूप रज्जु से साक्षात् मन्मथ ही अपने पाणि-पल्लवों से छवि-सुधा-पयोनिधि का मन्थन करें तो उससे उत्पन्न श्री से विदेह-कुमारी की अतुलित सौन्दर्य-राशि का संकेत मात्र किया जा सकता हैं। यह कवि-कौशल का चमत्कार है कि उपमान के अपकर्ष का वर्णन न करते हुए भी उपमेय की महत्ता को सिद्ध कर दे। सच्चिदानन्द-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज ही भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का मंगल-मय मुखारविन्द है, इस मुखारविन्द पर कुटिल स्निग्ध अलकावलि मंडरा रही है।

"अलं अत्यर्थकं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते अलकाः अलकानाम् आवलिः अलकावलिः" ब्रह्मात्मक सुख ही अनन्त, अत्यर्थ है जिनके लिए वे ही **अलक** हैं; तात्पर्य कि ब्रह्मानन्द सुधा-सिन्धु का रसास्वादन करनेवाले ब्रह्मविद्-वरिष्ठजन ही **अलक** हैं; अलकों की अवलि ही 'अलकावलि', अलकों की पंक्ति है। भगवत् सायुज्य का अनुभव करने वाले ब्रह्मविद्-वरिष्ठजनों को अवलि ही भगवत्-मुखारविन्द पर विद्यमान अलकावलि है। भगवान् के श्रीकण्ठ में मुक्तावलि, सुमन-माल एवं वज्रमाल विद्यमान हैं। 'मुक्तावलि'। 'सुमन-माल' एवं 'वज्र-माल' शब्दों में भी श्लेष है। मुक्ता का एक अर्थ सीपी से उत्पन्न मोती भी है और दूसरा अर्थ जनन-मरण-लक्षणा-अविच्छेद-संसृति-परम्परा से विमुक्त ब्रह्मविद् वरिष्ठजन भी हैं; ऐसे मुक्तजनों की अवलि ही भगवत् श्रीकण्ठ में सुशोभित हो रही है। इसी तरह 'सुमन' का एक अर्थ पुष्प तथा दूसरा अर्थ, सुन्दर मन वाला, तात्पर्य देवता भी है; सुंदर मन वाले व्रज वरिष्ठजन किंवा देवताओं की माला ही भगवान् के श्रीकण्ठ में सुमनमाल रूप में सुशोभित हो रही हैं। भगवत् श्रीकण्ठ में हीरक-हार भी विद्यमान है। वज्र का अर्थ है हीरा; वज्र अत्यन्त कठोर होता है; अत्यन्त कठोर स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए 'वज्र-हृदय' प्रयोग सामान्यतः ही किया जाता है; ऐसे वज्र-हृदय, कठोर-हृदय व्यक्तियों की माल ही हीरक-हार किंवा वज्रमाल है। गोपाङ्गनाएँ परस्पर कह रही हैं—

"अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुरः
न त्यजंति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः"

हे सखी! गुरुजनों का आदेश है कि हम श्रीकृष्ण से अपना मन हटा लें परन्तु ये मुक्त एवं सुमनगण भी सदा, सर्वदा श्रीकण्ठ से लिप्त रहते हैं; क्षण-मात्र के लिए भी उनसे विमुख नहीं हो पाते; हे सखी! इतना ही नहीं, अत्यन्त कठोर हृदय व्यक्ति भी विशिष्ट सौभाग्यवशात् एक बार भी श्रीअंग-सायुज्य पर दृष्टिपात कर लेने पर कभी भी उनसे विरक्त नहीं हो पाते तब हम स्मर-वशा स्त्रियों के लिए उनसे विराग की कल्पना भी क्योंकर सम्भव हो सकती है? अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठापूर्ण स्मरण ही स्मर है; इस स्मर के वशीभूत गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त खिन्न हो कह रही हैं "हे वीर! आपके अलिमाला-संकुल परागच्छुरित मुखारविन्द के अद्भुत सौन्दर्य के दर्शन से हमारे मन में उत्कट स्मर उद्बुद्ध होता है; आपके इस अद्भुत सौन्दर्य में आसक्ति होती है तथापि आपका सान्निध्य न पाकर हमारा मन अत्यन्त खिन्न हो जाता है।"

'घनं रजस्वलं' 'स्वलं' अर्थात् सुष्ठु, अलं अलङ्कृतम्। गो-धन की रज से सम्यक् प्रकारेण अलंकृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का मुखारविन्द; अथवा—**सुष्ठु,**

अलं अत्यर्थं रजः बिभ्रत् धन रजः बिभ्रत् सुष्ठु अलंकृतं मुखारविन्द। भगवत्-मुखारविन्द के सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य पान का महत्त्व वर्णनातीत है। ब्रह्माजी कहते हैं—

"एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयो ङ्घ्यु दजमध्वमृतासवं ते।"

(श्रीमद् भा०, १०/१४/३३)

अर्थात्, हे अच्युत! इन व्रजवासियों के सौभाग्यातिशय की महिमा अत्यन्त विलक्षण है। मन आदि एकादश इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता के रूप में हम इनसे सम्बन्धित होकर आपके चरणारविन्द के रस का जो अमृत से अधिक मधुर तथा आसव से अधिक मादक है, पान करते हैं। हम देवता गण तो तत्-तत् इन्द्रिय रूप दर्वी के माध्यम से ही उस रस का पान कर पाते हैं परन्तु ये व्रजवासी वनिताएँ एवं ग्वाल-मण्डल तो अपनी ग्यारहों इन्द्रियों से साक्षात् आपके सौन्दर्य माधुर्य-सौरस्यामृत का सेवन करती हैं एतावता इन व्रजवासियों का सौभाग्यातिशय तो निश्चय ही वर्णनातीत है। गोपांगनाएँ कहती हैं—

"गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचो श्रुमुमुचुस्तरवो यथार्याः।"

(श्री भा०, १०/२१/९)

हे सखि! यह वेणु हमारे मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर के अधरामृत को भोगता है। वेणु का उच्छिष्ट रस ही वेणु-छिद्रों से वेणु-नाद रूप में प्रवाहित होता है जिसका पान कर वृन्दावन के सरोवर एवं सरसियाँ भी रोमांच कण्टकित हो जाते हैं; सरोवर एवं सरसियों में खिले हुए कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी ही उनकी रोमांचोद्गति है। हे सखि! यह वेणु तो जड़ है अतः **'दर्वी पाकरसं यथा'** भगवत्-अधरामृत रसास्वादन में असमर्थ है। इस वेणु रूप चषक के माध्यम से गोपाङ्गनाएँ ही भगवत्-अधरामृत का आस्वादन कर रही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र का अधरामृत ही वेणु-छिद्रों में निक्षिप्त हो वेणु-पीयूष रूप से गोपाङ्गनाओं के निरावरण कर्ण-कुहरों द्वारा उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। सम्पूर्ण लौकिक रसों का आस्वादन करने में केवल भोक्ता ही समर्थ है परन्तु भगवदीय सौन्दर्य-माधुर्य सौरस्य रस की गति विलक्षण है; इस अद्भुत रस के कथंचित् आस्वादन से ही ब्रह्मादि देव शिरोमणि गण भी अपने आपको कृतार्थ मानते हैं। इन्द्रिय रूप पान-पात्र के माध्यम से तत्-तत् इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवता ही रस

के यथार्थ भोक्ता हैं। उदाहरणतः नेत्रों द्वारा भगवत्-सौन्दर्य-माधुर्य का आस्वादन किए जाने पर नेत्रों के अधिष्ठातृ देवता आदित्य ही उस भगवदीय सौन्दर्य-माधुर्य-रस का आस्वादन करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं बुद्धि इन एकादश इन्द्रियों के अभिमानी देवता भी भिन्न-भिन्न हैं; बुद्धि के अभिमानी देवता ब्रह्मा, रसना के अभिमानी देवता वरुण, घ्राण के अभिमानी देवता अश्विनीकुमार,श्रौत्र के अभिमानी देवता दिक्‌देव, पाद के अभिमानी देवता विष्णु आदि हैं। कहीं-कहीं मन, चित्त एवं अहंकार की भी गणना कर देहाभिमानी देवताओं की संख्या चतुर्दश भी मानी गई है।

रसिक एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों द्वारा ही भगवत्-कथामृत-माधुर्य बोधगम्य है। साथ ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लोकातीत, उदात्त-स्तरीय स्वरूप का ज्ञान भी अनिवार्य है। श्रीकृष्ण-विग्रह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश पंच-तत्त्वों से निर्मित मायिक कलेवर नहीं अपितु सच्चिदानन्द-रस-सार-सर्वस्व-पंक-समुद्भूत सरोज हैं। इस सरोज की अद्भुत अलौकिक शोभा, आभा, प्रभा, अवर्णनीय है : यहाँ तक कि स्वयं वे ही अपने इस बालरूप पर मोहित हो जाते हैं—

"रत्नस्थले जानु चरः कुमारः
संक्रान्तमात्मीय मुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदात्
निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद।"

अर्थात्, यशोदाजी के मणिमय प्रांगण में घुटनों के बल चलते हुए बालक श्रीकृष्ण प्रांगण की मणियों में अपने प्रतिबिम्ब को निहार कर उस पर मोहित हो जाते हैं और उसको लेने के लिए मचल उठते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

"रूपराशि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।।"
(मानस, उत्तर, ७६/८)

अपने ही प्रतिबिम्ब के अतुलित सौन्दर्य-माधुर्य को देखकर स्वयं प्रभु बालक रामचन्द्र भी नाच उठते हैं। **'रसोद्रेके नर्तनं भवति'** नृत्य, रसोद्रेक का परिणाम है। 'आनन्द से नाच उठे' सामान्य उक्ति है। रस की यथार्थानुभूति-हेतु तदनुकुल स्तर अनिवार्य है, यथा, राजराजेश्वरी, त्रिपुर-सुन्दरी षोडशी श्री ललिता पराम्बा का लोकोत्तर सौन्दर्यमय स्वरूप **'परम शिव दृङ्मात्र विषयीः'** एकमात्र भगवान् शिव की दृष्टि का ही गोचर है। इसी तरह वृषभानु-नन्दिनी' नित्यनिकुंजेश्वरी, रासेश्वरी, राधारानी एवं परमानन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लोकोत्तर सौन्दर्य-स्वरूप का वास्तविक दर्शन परस्पर इनके लिए ही सम्भव है, अन्य के लिए नहीं। आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का स्वरूप अनंतकोटि कंदर्प-दर्प-दमन पटीयान् है।

"दिन परिक्षये नील कुन्तलैर्वनरुहाननं" पद की भी वल्लभाचार्यजी कृत व्याख्यानुसार **'वनरुहाननं'** शब्द कुवलय अर्थवाची है। कुवलय का विकास चन्द्रमा के योग से रात्रिकाल में ही होता है। जैसे, चन्द्रमा के उदित होने पर ही अव्यवधान-पुरस्सर न होने पर भी कुवलय, कुमुदिनी प्रफुल्लित हो जाती हैं, वैसे ही, परमानन्द-कन्द, आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव मात्र से ही कुमुदिनीरूपा गोप-बालिकाएँ अपने-अपने घरों में रहती हुई भी प्रफुल्लित हो उठीं। गोप-बालिकाओं का कथन है—**'स्मरं बिभ्रत नः मनसि स्मरम् अर्पयसि'** अर्थात्, आप ही स्मरण को धारण कर हमारे मन में अर्पित करते हैं। गोपाङ्गनाएँ परमानन्द-कन्द, आनन्द-सिन्धु, श्रीकृष्णचन्द्र की वीचि, तरंग हैं अतः तदवत् तद्भिन्न, तद्रूप अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दघन, स्वप्रकाश, अखण्ड-बोध स्वरूपा ही हैं, एतावता उनमें भी आप्तकामता, पूर्णकामता, परमनिष्कामता, आत्मारामता स्वभाव-सिद्ध है। लीला-हेतु ही भगवान् अपनी मोहिनी माया, योगमाया के प्रसरण द्वारा स्वयं अपने में और अपने भक्तों में मोह उद्बुद्ध करते हैं क्योंकि आसक्ति एवं अनुराग-राहित्य में लीलाएँ सम्भव ही नहीं हो सकतीं; यदि श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, मदन-मोहन श्रीकृष्ण आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम होने के कारण राधारानी में आसक्त न हों तो रासलीला ही असम्भव हो जाय। रासलीला के अभाव में शृंगारशास्त्रानुमोदित रीति से रसास्वाद, जो यहाँ अपेक्षित है सम्भव नहीं। अस्तु, बारम्बार कहा गया है कि क्रिया सर्वत्र समान होते हुए भी लौकिक काम-व्यतिरिक्त है। इस विषय का विस्तृत विवेचन, पूर्व प्रसंगों में किया जा चुका है।

गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति **'वीर'** सम्बोधन का प्रयोग करती हैं। **'स्मरं बिभ्रत् नः मनसि यच्छसि अर्पयसि'** अर्थात् हे वीर! स्मर को धारण कर आप हमारे मन में अर्पण करते हैं; तात्पर्य कि किसी भी सामान्य प्रेरणा-वशीभूत हो हमारे मन में स्मर उदित हो नहीं हो पाता परन्तु आप बलात् हमारे हृदय में स्मर उद्बुद्ध कर अपनी वीरता का प्रदर्शन कर रहे हैं। अथवा **'विविधम् ईरयति इति वीरः तत्सम्बुद्धौ'** हे वीर! विविध प्रकार से प्रेरणा देने वाले! **आननं वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्' सामान्यतः 'आननं'** पद का अर्थ मुख ही होता है परन्तु श्लेषेण **'आ ईषदपि न याञ्चा न अस्वीकारो यस्मिन् तत्'** प्राप्ति की आशा होने पर ही तीव्र उत्कण्ठा होती है। उत्कट उत्कण्ठा के कारण तीव्र प्रयास होता है; परिणामतः फल-प्राप्ति सम्भव होती है परन्तु निराशा पिशाची से त्रस्त होने पर उत्कण्ठा एवं प्रयास दोनों में ही न्यूनता आ जाती है। परिणामतः फल-प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। यदा-कदा कुछ विशिष्ट भगवद्-

भक्त अपने आराध्य में अखण्ड, अनन्य प्रेम रखते हुए भी तत्-भाव निरपेक्ष रहते हैं, जैसे, अनन्य, अखण्ड, एकांगी प्रेम को अपने हृदय में सँजाये हुए मीन जल के प्रति अथवा चातक मेघ के प्रति सदा-सर्वदा समर्पित रहते हुए भी तत्-भाव-निरपेक्ष ही रहता है। सामान्यतः प्राणीमात्र में स्पृहा होती है कि हमारा प्रेमास्पद हम से प्रेम करे; परस्पर सख्यभाव के आधार पर ही आशालता अंकुरित हो सकती है।

श्रुति वाक्य है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥"

(ऋ० सं० १११६४/२०)

जीवात्मा अनेकानर्थ-परिप्लुत हैं, ब्रह्म निर्विकार है, तथापि दोनों में ही मूलतः सादेश्य, सायुज्य, साजात्य एवं सख्य सम्बन्ध है। जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर से जीवात्मा अनेकानर्थ परिप्लुत होकर परमात्मा के साथ अपने मूलतः सख्य सम्बन्ध से विस्मृत हो जाता है। जैसे तरंग एवं जल, घटाकाश एवं महाकाश का सम्बन्ध अभिन्न, अनंत एवं अनन्य है, वैसे ही, जीवात्मा एवं ब्रह्म का संबंध भी अभिन्न, अनन्त एवं अनन्य ही है। वस्तुतः इस नित्य-सम्मिलन के होते हुए भी अनेकानर्थ-परिप्लुत हो भवाटवी में भटकते हुए जीवात्मा को भगवत्-विप्रयोग की भ्रान्ति होती है—

'आनंदसिन्धु मध्य तव बासा। बिन जाने कत मरसि पियासा ॥'

एक बार भी पूर्ण विश्वास के साथ भगवन्नामोच्चारण करने पर प्राणी निर्मल, निष्कलंक, परम-पवित्र अनेकानर्थ विमुक्त हो जाता है; परिणामतः जीव एवं ब्रह्म के मूलतः सख्य-सम्बन्ध-ज्ञान से जीव में भगवद्-सम्मिलन की आशा-कल्पलता अंकुरित हो जाती है।

'नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरयो मम।
तावत् कुर्तुम् न शक्नोति, पातकं पातकी जनः ॥'

(स्क० पु०, वैष्णव खण्ड, मार्गशीर्ष माहात्म्य, अध्याय १५, श्लोक ५३)

अर्थात्, भगवान् में पाप-शमन की शक्ति अत्यन्त गर्हित पातकी की पाप-कर्म करने की सम्पूर्ण शक्ति से भी अधिक प्रबल है।

"कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रूपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।

स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥"
(श्रीमद्भागवत्, ७/७/३८)

भक्त प्रह्लाद कह रहे हैं, हे असुरबालको ! हरि की उपासना करने में कौन प्रयास करना है ? वे तो तुम्हारे अन्तर्यामी ही हैं; हरि सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ हैं। पूर्व प्रसंगों में इन सब विषयों पर विस्तृत विवेचना की जा चुकी है। तात्पर्य यह कि परमात्मा से तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए भी अनेकानर्थ-परिप्लुत जीव विभ्रान्त हो विप्रयोग की कल्पना कर दुःखी हो जाता है परन्तु भगवन्नामोच्चारण से उसके मल का निक्षेप होता है, मल-निक्षेप से मूल-सम्बन्ध का ज्ञान होता है। मूल-सम्बन्ध के परिज्ञान से भगवद्-सम्मिलन की उत्कट-उत्कण्ठा एवं तज्जन्य प्रयास सम्भव होता है; साथ ही, भगवान् भी भक्तानुग्रह कर भक्त-हृदय में बलात् स्वविषयिणी प्रीति उद्‌बुद्ध करते हैं; भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्री गोपाङ्गनाओं के आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम हृदयों में भी स्वविषयिनी कामना को आग्रह-पूर्वक प्रेरित करते हैं। **'दर्शयन् मुहुः'** विभिन्न प्रसंगों से बारम्बार दर्शन देकर **'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि'** हे वीर ! आप ही बलात् हमारे मन में स्वविषयक स्मर उत्पन्न करते हैं।

'नीलकुन्तलैः घन-रजस्वलं' नील कुन्तल तमोगुण एवं रज रजोगुण का सूचक है। श्रीयुत् रामनारायणजी कृत **'भाव-विभाविका'** नामक एक ग्रन्थ है। इसके अनुसार भगवान् का दिव्य स्फुट हासयुक्त विशुद्ध सत्त्वात्मक मुखचन्द्र का दर्शन ही सर्व प्रकार के राग-कामादि दोषों का समूल उन्मूलक है। गोपाङ्गनाओं को तो भगवान् के गोरज-छुरित तथा कुटिल स्निग्ध कृष्ण अलकावलि-समावृत्त मुखचन्द्र के ही दर्शन होते हैं। **'रजो रंजनात्मकं'** रज रंजनात्मक होता है। लौकिक राग जनन-मरणअविच्छेद-लक्षणा संसृतिकारक है अतः सर्वथा निंद्य एवं त्याज्य है परन्तु भगवद् मुखारविन्द दर्शन का राग सम्पूर्ण पाप-ताप-शमन-कर्ता है अतः सर्ववन्द्य एवं अत्यन्त स्पृहणीय है। **'रजः सत्त्वाभ्यां सृष्टिपालकः'** भगवान् के नेत्रों में अरुणिमा भी है। यह अरुणिमा रजोगुण का ही सूचक है। रजोगुण द्वारा भगवान् भक्तों के अभीष्ट की रचना करते हैं। भगवान् के नयनों की स्वच्छता सत्त्व का परिचायक है : 'सत्त्वगुण द्वारा भगवान् भक्त के **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (श्रीमद् गीता, ९/२२) योगक्षेम का वहन करते हैं। रजोगुण द्वारा भगवान् भक्त को अप्राप्त की प्राप्ति कराते हैं तथा तमोगुण द्वारा उसकी रक्षा, पालन करते हैं। भगवद्-मुखारविन्द **'घन रजस्वलं'** गोधन की रज से स्वलंकृत है; रज से रंजन होता है, तात्पर्य आसक्ति उद्‌भूत होती है। गोधन के रज से

स्वलंकृत भगवत् मुखारविन्द के दर्शन से गोपाङ्गनाओं में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। नील-कुन्तल, श्यामता के सूचक हैं; श्यामता तमोगुण का परिचायक है; तमोगुण द्वारा मोह उत्पन्न होता है। तात्पर्य कि रज से स्वलंकृत मुखारविन्द के दर्शन से गोपाङ्गनाओं में भगवान् के प्रति आसक्ति उद्भूत होती है और नील कुन्तल आवृत मुखारविन्द-दर्शन से वह आसक्ति मोह में परिणत हो जाती है। कुटिल कुन्तल जैसी उक्ति से सम्पूर्ण ऊहापोह-शून्य, सम्पूर्ण इतर राग-विस्मरणपूर्वक प्रभु मुखारविन्द-सौन्दर्य-दर्शन में तल्लीनता ही विवक्षित है।

इस पदांश का श्रीमद्‌जीव गोस्वामी ने अर्थ किया है **'नितरां भीरयति प्रेरयति इति नीरः तत्सम्बुद्धौ'** र, ल का अभेद है। हे नील ! हे श्याम, उपर्युक्त अर्थानुसार 'नील' पद कुन्तल का विशेषण न होकर श्रीकृष्ण के प्रति संबोधनरूप में ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे क्रिया-विशेषण **'वीरयति वीरः, विविधमीरयति वीरः'** इसी तरह **विविधतया नीलयति, किंवा नितरां नीलयति इति नीलः** 'इस प्रसंगानुसार ही आनन शब्द का अर्थ है, **'आ ईषदपि न न यस्मिन् तत् आननम्'** इसमें याञ्चा अस्वीकार का किंचिन्मात्र भी लक्षण नहीं है अतः यावत् आकांक्षा की पूर्ति निश्चय ही होगी; जहाँ प्राप्ति की संभावना होती है वहीं आशा बँधती है; मधुर, मनोहर, मंगलमय भगवद्-मुखारविन्द के यांचा-अस्वीकाराभाव-लक्षण स्वभाव-दर्शन से भक्त के हृदय में आशा उत्पन्न होती है कि भगवान् भक्त-वांछा-कल्पद्रुम है; इस आशाबन्ध के आधार पर ही भगवत्-सम्मिलन की उत्कट उत्कंठा जागरूक होती है : तात्पर्य कि भगवत्-मुखारविन्द-दर्शन से ही आशाबंध एवं उत्कट उत्कण्ठा-दोनों की ही अभिवृद्धि होती है। अन्य भाव **'विविधं ईरयति'** विविध प्रकार की प्रेरणा देते हैं; इस प्रसंगानुसार **'आनन'** पद का अर्थ है **'आ समन्तात् न न यस्मिन्'** जिस मुख में सर्वतोमुखी अस्वीकार लक्षण का ही प्राधान्य है; तात्पर्य कि प्रभु बड़े निष्ठुर एवं रूक्ष हैं। भगवत्-मुखारविन्द में भक्त की आशा-कल्पलता अभिवर्द्धन एवं सम्मिलन की उत्कट उत्कंठा को जाग्रत् करने वाले अकारण-कारुण्य, करुणा-वरुणालयत्व, यांचा, अस्वीकारलक्षण-स्वभाव भी स्पष्टतः अभिव्यक्त है, साथ ही, निष्ठुरता एवं रूक्षता भी अभिव्यक्त है। तात्पर्य कि प्राणीमात्र के जीवन में आशा एवं निराशा के झंझावात चलते रहते हैं। वेद भी कहते हैं, **'तद्दूरे'** भगवान् बहुत दूर हैं; जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर पर्यन्त तप करते रहने पर भी उनके कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती; भगवान् दूरागम हैं। महाभारत में द्वित-त्रित नामक महर्षियों की कथा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महर्षियों को अहंकार था कि हम यज्ञ द्वारा भगवद्दर्शन करा देंगे; यज्ञ सम्पन्न हुआ परन्तु

भगवद्दर्शन सम्भव नहीं हुआ; महर्षिगण पुनः कठिन तपस्या में रत हुए। युग-युगान्तर पर्यन्त तप करने पर उनको आदेश हुआ, 'महर्षियों तुम श्वेत द्वीप जाओ, वहीं तुमको पुनः आदेश प्राप्त होंगे।' महर्षिगण श्वेत द्वीप पधारे; वहाँ भी उन्होंने घोर तप किया; फलतः उनको कुछ शब्द सुनाई दिए; श्वेत-द्वीप-निवासी भगवत्-स्तुति करते हैं—**'जितं ते पुण्डरीकाक्षं नमस्ते विश्वभावन'** इत्यादि; महर्षियों ने इस स्तुति के ही शब्द सुने; कालान्तर बाद उनको किसी श्वेत द्वीप निवासी का दर्शन भी प्राप्त हुआ। उन्होंने महर्षियों से कहा, 'आप-लोगों को इस जन्म में भगवद्दर्शन नहीं प्राप्त होंगे। इस शरीर को त्याग कर आप चित्रकूट में बन्दर-भालू बनें; राघवेन्द्र रामावतार स्वरूप में भगवान् वहाँ पधारेंगे तब आपको उनका दर्शन एवं सान्निध्य प्राप्त होगा।' अस्तु, भगवद्दर्शन अत्यन्त दुर्लभ **'तद्दूरे तद्वन्तिके (ई०,५) दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च'** (मुं०,३।१।७) हैं; इस स्वरूप में भक्त को भगवान् की निष्ठुरता, रूक्षता की प्रतीति होती है। भगवान् का अन्य स्वरूप **'तद्वन्तिके'** अत्यन्त सन्निकट है। वे तो सर्वदा सर्व-हृदयेश्वर, सर्वान्तरयामी हैं; तात्पर्य यह कि सर्वान्तरयामी प्रभु के प्रत्यक्षी-करण-हेतु भी कठिन प्रयास अनिवार्य है; परम-प्रेमास्पद, हृदयेश्वरसम्मिलन के आशाबंध के कारण ही उत्कट उत्कण्ठा एवं तज्जन्य कठिन प्रयास भी संभव है। स्वभावतः ही सुलभ में उत्कण्ठा नहीं होती, दुर्लभ में ही, उत्कट उत्कण्ठा एवं तज्जन्य कठिन प्रयास होता है। उच्चात्युच्च कोटि के भक्तों को भी भगवान् अत्यंत दुर्लभ प्रतीत होते हैं। उदाहरणतः वृषभानुनंदिनी, नित्य-निकुंजेश्वरी, रासेश्वरी, राधारानी यद्यपि भगवान् सच्चिदानन्द आनंद-सिन्धु की, माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री एवं हृदयेश्वरी हैं तदपि उनको भी कृष्ण-सम्मिलन ऐसा दुर्लभ प्रतीत होता है जैसा रंक के लिए चिंतामणि की प्राप्ति कल्पनातीत है। भक्त-प्रवर सूरदासजी भी कहते हैं—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी'

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहीं लहऊँ।
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धर्मध्वज धंधक धोरी॥'

(मानस, बाल, ११/४, ५)

भक्तों की यह विनम्रता केवल-मात्र-वाणी का विषय नहीं है; असम्यग्दर्शी बहिर्मुखी प्राणी ही अपने आपमें अधिकाधिक गुणगण-सम्पन्नता की कल्पना करता है। ऐसे व्यक्ति दूसरों के महत्वातिशायी गुणों को भी परमाणु तुल्य अनुभव करते हैं। इसके विपरीत संतजन अपने अवगुण एवं दूसरों के गुणों का

ही अनुभव कर पाते हैं। वस्तुतः तो भगवत्-सम्मिलन अनन्त है; अजर, अमर, अखण्ड स्वप्रकाश विशुद्ध स्वान्तरात्मा ही भगवान् है। जैसे, विस्मृत कंठमणि का पुनः प्रबोध किंवा साक्षात्कार ही उसकी प्राप्ति है; वैसे ही, सर्वव्याप्त, सर्वान्तरयामी, सर्वात्मा स्वरूप का पुनः प्रबोध, साक्षात्कार ही भगवत्-सम्मिलन है। अप्राप्त में प्रेप्सा होती है; विस्मृत हो जाने के कारण अप्राप्त प्रतीत होती कंठमणि में भी प्रेप्सा उद्भूत होती है; प्रेप्सा भी दो प्रकार की होती है; एक प्रयास-साध्य, दूसरी ज्ञान-साध्य; जैसे विस्मृत कंठमणि की प्राप्ति तदर्थ प्रेप्सा की निवृत्ति ज्ञान-साध्य है परन्तु अप्राप्त ग्रामादि की प्रेप्सा की निवृत्ति प्रयत्न-साध्य है। भगवत्-साक्षात्कार हेतु प्रतिबंध निवृत्ति अनिवार्य है; प्रतिबंध-निवृत्ति हेतु सम्मिलनजन्य आनन्द एवं विप्रयोग-जन्य तीव्रतापानुभूति परमावश्यक है। श्रीमद् वल्लभाचार्यजी के सम्प्रदाय में विप्रयोगजन्य तापानुसन्धान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्य है। उपासक स्वयं में गोपाङ्गना भाव की कल्पना कर उस विरहताप का अनुभव करे जो भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा एवं द्वारिका पधारने पर गोपाङ्गनाओं को हुआ था; यही तापानुसन्धान का स्वरूप है। रामानुज-संप्रदाय में भी '**अतप्ततनुर्नतदामो अश्नुते** (ऋ०, सं० ९/८३/१)। श्रुति का विशेषतः महत्त्व होता है। जिसका तनु शंख चक्र के ताप से तप्त नहीं हुआ वह '**अतप्त-तनु**' है; अतप्त-तनु अपक्व होने के कारण स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता; भगवत्-स्वरूप-सम्मिलन ही स्वर्ग है—

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥'

वस्तुतः '**स्वर्गे ज्ञेये लोके प्रतिष्ठति**' इत्यादि अनेक उपनिषद्-पदों में स्वर्ग शब्द का अर्थ ही सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म है। अस्तु, अतप्त-तनु, अपक्व उपासक ब्रह्म-पद को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। उपर्युक्त मंत्र ऋग्वेद के 'पवमानी' सूक्त का अंश भी है। स्मार्त मतानुसार इसका अन्वय '**कृच्छ्रचान्द्रायणादिना न तप्तं तनुर्यस्य सोऽतप्त तनुः**' अर्थात् कृच्छ्र, चान्द्रायण, पराक् एवं एकादशी आदि व्रतों के द्वारा जिसका तनु तप्त नहीं हुआ वही '**अतप्त तनुः**' अपक्व आम्रतुल्य है। ऐसे व्यक्ति को भगवत्-पद-प्राप्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि भगवत्-पद-प्राप्ति-हेतु तप्त-तनु होना अनिवार्य है। हमारे मतानुसार तो चान्द्रायण, कृच्छ्रादि अनेकानेक कठिनतम व्रत तथा शंख-चक्रादि को धारण करना भी पुण्य-कर्म है अतः वांछनीय है तथापि भगवत्-विप्रयोग-जन्य-तीव्रताप से दग्ध होने पर ही भगवत्-सम्मिलन सम्भव है; भगवत्-विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से दग्ध प्राणी ही यथार्थ 'तप्त-तनु' है; इस ताप से दग्ध प्राणी के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों ही 'तनु' दग्ध हो भस्मीभूत हो जाते हैं।

'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धे र्गरीयसी ।'

'जरयत्याशु याकोषं' (श्री० भा०, ३/२५/३२) अर्थात् अनिमित्ता भागवती भक्ति, निष्काम भागवती भक्ति, सिद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सिद्धि अर्थात् मुक्ति; अनिमित्ता भागवती भक्ति अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आदि पंचकोषों को, कंचुकों को, शीघ्रातिशीघ्र जलाकर भस्म कर देती है, जैसे—

'निगीर्णमनलो यथा।' जैसे भुक्त अन्न को जठरानल भस्म कर देता है।

भगवत्-विप्रयोग-जन्य तीव्र-तापानुभूति को प्रज्वलित कर देना ही सम्पूर्ण व्रत, यम, नियमादि धर्म-कामों का अन्तिम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ है। वस्तुतः तो आदिकाल से ही प्राणीमात्र भगवत्-विप्रयोग-ताप से त्रस्त रहता हुआ भी उसका अनुभव नहीं कर पाता। जैसे आतप के ताप-सन्ताप के अनन्तर ही छाया के सुख की मूल प्रतीति हो पाती है, वैसे ही, संयोग-सुख के रसास्वादन से ही विप्रयोगजन्य तीव्रताप की अनुभूति होती है। भगवत्-सन्निधान प्रत्यक्षतः भी प्राप्त होता है, यदा-कदा मानसी अनुभूति भी होती है; मानसी अनुभूति की महिमा निराली है।

"दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः।"

(श्री० भा०, १०/२९/१०)

अर्थात् विप्रयोग-जन्य दुस्सह तीव्र-ताप से प्रेरित भगवान् अच्युत के मानसी आश्लेष से प्रादुर्भूत आनन्द-सिन्धु के अद्भुत उद्रेक से अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्तप्राणियों के सम्मिलित पुण्य-पुञ्ज भी प्रकम्पित हो जाते हैं, इस सम्मिलित पुण्य-पुञ्ज से प्राप्त होने वाला अनन्त सुख भी भगवान् अच्युत के मानसी आश्लेषजन्य आनन्द-सिन्धु का विन्दुमात्र है। भक्त-शिरोमणि ध्रुवजी कहते हैं—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भू-
त्किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥"

(श्रीमद् भा०, ४/९/१०)

अर्थात्, हे नाथ! आपके चरण पंकज के ध्यान से भक्तों को जो आनन्द मिलता है वह तो साक्षात् ब्रह्म-पद में भी नहीं मिल पाता। 'ध्रुवजी' की यह उक्ति सापेक्ष है, इसका तात्पर्य है—

'अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' (श्री म० गो०, १२।५) अर्थात्, देहाभिमान शून्य ही ब्रह्म-सम्मिलन का अनन्त आनन्द अनुभव कर सकता है; जो देहाभिमान, देहाध्यास शून्य नहीं हुआ वह उस आनन्दानुभूति से रिक्त ही रह जाता है। यथार्थ में ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी जीव शूकर-कूकर-कीट-पतंग-पशु-पक्षी-देवता-दानव-मानव आदि विभिन्न योनियों में, अनेकानर्थ-परिप्लुत भवाटवी में भटकता हुआ ब्रह्मानन्द से अपरिचित एवं संसार-ताप से संत्रस्त ही रहता है। अस्तु, भक्त ध्रुव कहते हैं—हे नाथ, आपके चरणारविन्द के ध्यान तथा आपके भक्तों की कथाश्रवण से भी जो आनन्द प्राप्त होता है वह स्वप्रकाश में भी नहीं है। काल की तलवार की तीक्ष्ण धार से छिन्न-भिन्न हो विमानों से नीचे गिरने वाले देवता तो उस सुख का अनुभव ही कैसे कर सकते हैं? अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि भगवान् अच्युत का प्रत्यक्षतः किंवा ध्यानगम्य आश्लेष-जन्य आनन्दोद्रेक होने पर ही विप्रयोग-जन्य तीव्र-तापानुभूति सम्भव हो सकती है; दौर्लभ्य-सौलभ्य की संधि ही उत्कट प्रीति का एकमात्र स्थल है। गोपाङ्गनाओं में अहंकार का उदय हुआ; सर्वशक्तिमान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नामक, सर्वेश्वर प्रभु भी हमारे वशीभूत हो दारुयन्त्रवत् हमारा अनुसरण कर रहे हैं; इस दर्प के उदय होते ही भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये; भगवत्-विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप से उनका अहंकार दग्ध हो गया। अस्तु **'आ ईषदपि न न यस्मिन् तत् आननम्'** किंचिदपि याञ्चा-अस्वीकार नहीं है जिसमें ऐसा भवदीय **'आननं मुखं'** अथवा **'आसमन्तात् न न यस्मिन्'** सर्वथा अस्वीकार जिसमें है ही नहीं ऐसा भगवदीय **'आननं-मुखं।'**

उत्कट उत्कण्ठा उद्भूति-हेतु ही भगवान् अपने अलौकिक स्वरूप को छिपा-कर लौकिक स्वरूप में अवतरित होते हैं। भगवान् का अलौकिक स्वरूप अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अव्यवहार्य, चैत्य-विवर्जित, अनन्त चिति, स्वप्रकाश अखण्ड-बोध दृष्टारूप है : इस स्वरूप में निरतिशय, रागानुगा-प्रीति सम्भव नहीं हो सकती; स्वभाव-सिद्धि निरतिशय प्रीति होते हुए भी अनुभव का विषय नहीं; स्वरूप साक्षात्कार बिना स्वाभाविकी निरतिशय प्रीति का परिचय सर्वथा असम्भव है। अप्रसिद्ध में प्रीति नहीं होती, ऐसा लोक में विधान होता है।

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' अत्यन्त अप्राप्ति में ही विधि होती है। उदाहरणतः **'भोजनस्य रागप्राप्तस्य'** क्षुधा-निवृत्ति में प्राणीमात्र की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है अतः भोजन में विधि नहीं परन्तु भोजन की प्रक्रिया में शिष्टाचार-परक विधान होते हैं। यथा **'एवं भोजनं कर्तव्यं न पराङ्मुखेन, न दक्षिण मुखेन**

आह हस्तपादादिना' इत्यादि नियम विशेष हैं। सर्वदा ही विधि अप्रवृत्तप्रवर्तक है। जैसे अग्निहोत्रादिक-कर्म में प्राणी की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है। अग्निहोत्रादि स्वर्ग का कारण है, यह भी प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता; '**अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रमाणानां प्रमाण्यम्**' अज्ञात-ज्ञापकता ही प्रमाणों का प्रामाण्य होता है; अग्निहोत्रादि कर्म एवं स्वर्ग-प्राप्ति में कर्म-कारण-भाव प्रत्यक्ष-प्रमाण से अविदित होते हुए भी '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' वचन द्वारा अज्ञात-ज्ञापकत्वेन प्रामाण्य है और अप्रवृत्त-प्रवर्त्तकत्वेन इसमें विधित्व भी है। तात्पर्य यह है कि सहज प्रेम के गोचर बनने के लिए अलौकिक भी लौकिकवत् हो गया।

'**बबन्ध प्राकृतं यथा**' (श्री भा०, १०।९।१४) नन्दरानी ने अपने बालक पुत्र कृष्ण को वैसे ही बाँध लिया जैसे कोई लौकिक कल्याणमयी, स्नेहमयी अम्बा अपने पुत्र को बाँध देती है। '**प्राकृतं यथा**' वचन से '**प्राकृतं यथा न तु प्राकृतम्**' प्राकृत न होते हुए भी प्राकृत-तुल्य, प्राकृतवत् भाव विवक्षित है। भगवान् के अन्य अवतार, जैसे वराह अथवा नृसिंह रूप में विलक्षणता के कारण रागानुगा-प्रीति सम्भव नहीं होती; ईश्वर-बुद्धि से ही उनकी उपासना की जा सकती है। स्वारसिक प्रीति समान में ही सम्भव है; यही कारण है कि राम एवं कृष्णावतार में प्रीति सम्भव है। रामावतार में भी ऐश्वर्य के कारण कुछ हिचक बनी ही रहती परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गोपाल रूप धारण किए हुए हैं; अन्य ग्वाल-मण्डली की तरह वे भी गोचारण करते हुए गो-धन के पीछे-पीछे भटक रहे हैं; उनकी भी अलकावलि इतस्ततः बिखरी हुई है; मुख-कमल धूलि-धूसरित हो रहा है; जैसे दिव्य अलौकिक चिन्तामणि से धूलि-समावृत हो जाने पर भी विशिष्ट प्रभा प्रस्फुटित होती रहती है, वैसे ही, अनन्त-कोटि-कन्दर्प-दर्प-दमन-पटीयान् भगवान् श्रीकृष्ण के मधुर, मनोहर, मंगलमय मुखचन्द्र से लोकोत्तर आभा प्रभा प्रसारित होती रहती है एतावता उनकी दिव्यता भी सदा हो अभिव्यक्त रहती है। इस पूर्णतः सादृश्य स्वरूप में गोप सीमन्तिनी जनों को स्वभावतः ही प्रगाढ़ ममता होती है;

'**दर्शयन् मुहुः**' बारम्बार दर्शन देकर बालकृष्ण अपने प्रति गोपाङ्गनाओं की प्रीति को उकसाते रहते हैं। अधिकाधिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यपूर्ण होते हुए भी अपने से निरपेक्ष में प्रीति प्रेरित नहीं होती। उदाहरणतः शुकदेवजी की कथा है। परमज्ञानी-शिरोमणि शुकदेवजी समाधिस्थ थे : व्यासजी के शिष्यों ने उनको श्लोक सुनाया—

> **"बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,**
> **बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।**

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥"
(श्रीमद्भागवत, १०/२१/५)

अर्थात् अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यपूर्ण स्वच्छन्द वृन्दावन-धाम को अपने मंगलमय पादारविन्द के चिह्न से अंकित करने वाले मोर-मुकुट धारण किए, नट और वर के समान मनोरंजक तथा आकर्षक श्रृंगार किए, वैजयन्तीमाला पहने, कानों में कर्णिकार पहने, गोपवृन्द के संग, वेणु को अधर-सुधा से पूरित करते हुए, श्रीवृन्दारण्य धाम में पधारे। इस श्लोक में भगवान् के संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध एक कालावच्छेदेन उद्वेलित श्रृंगार-रस-सार-सर्वस्व स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। **'नटवरवपुः' नटवत् वरवच्च वपुर्यस्य'** अर्थात्, नटवत् तथा वरवत् है शरीर जिसका, वह **नटवरवपुः। 'नट'** पद से विप्रयोगात्मक-श्रृंगार परिलक्षित है क्योंकि अपने अभिनय द्वारा नट वस्तु के अभाव में उसकी अभिव्यंजना करता है। **'वर'** पद का अर्थ है दूल्हा; वर प्रत्यग्-भोक्ता है; प्रत्यग्-भोक्ता वर संप्रयोगात्मक-श्रृंगार-रस का प्रतिनिधित्व करता है; अस्तु संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध एककालावच्छेदेन उद्वेलित श्रृंगार-रस-सार-सर्वस्व स्वरूप है जिसका वह **'नटवरवपुः'** है **'सकल-विरुद्ध धर्माश्रयत्वात् भगवत '** भगवान् सकल विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं; **'महतो महीयान् अणोरणीयान्'** महत् से भी महत् साथ ही अणु से भी अणु हैं।

रसिक हृदय पर ही रस का प्रभाव होता है; **'सवासनानां सभ्यानां'** जो सभ्य हैं सवासन हैं; उन्हीं में रसाभिव्यक्ति संभव है; निर्वासनिक वेदान्ती तथा मीमांसक एवं वैयाकरण के हृदय में वैसी रसाभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं होती।

"व्रीड़ां विलोडयति लुंचति धैर्यमार्य-
भीर्तिभिनप्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि मद्विधानाम् ॥"

एक अत्यन्त रसमयी कथा है; किसी दिन विलाप करते-करते राधारानी को मूर्छा आने लगी; सखियाँ उपचार हेतु प्रयास करने लगीं; राधारानी ने कहा 'सखियो ! हमारा पातिव्रत भंग हो गया है, हम अशुद्ध हो गई हैं अतः आप लोग हमें न छुएँ।' आश्चर्यचकित सखियाँ परस्पर एक दूसरे का मुंह देखने लगीं; राधारानी कहती रहीं, 'सुनो सखियो ! एक दिन मैंने कृष्ण नाम सुना और उनमें अपना तन-मन, रोम-रोम, प्राण, अन्तरात्मा, सर्वस्व अर्पण कर दिया; अन्य दिन वेणुगीत मेरे कानों में पड़ा और मेरा मन उसमें आकर्षित हो गया;

मेरे मन में पुनः वही उन्माद-परम्परा जाग्रत हो गई। एक दिन कोई सखी एक चित्र ले आई; उस चित्र में अंकित सौन्दर्य-माधुर्य पर मेरा मन पुनः डोल उठा। अतः हे सखियो ! मेरी अनन्यता भंग हो गई, अतः इस जीवन से तो मरण ही श्रेष्ठ है।'

सखियाँ राधारानी को आश्वासन देते हुए कहने लगीं कि 'राधे ! तुम वास्तव में बावली हो। यह चित्र भी उसी कृष्ण का है तथा यह वेणु-गीत-पीयूष भी उसी कृष्ण का ही अधरामृत है जिसके कृष्णनाम को सुनकर ही तुम सर्वस्व न्यौछावर कर चुकी हो।' निष्कर्ष यह कि रसिकों द्वारा ही अर्थ-चमत्कृत अनुभवगम्य है।

वेदान्तमतानुसार भी विशिष्ट अधिकारी जनों को केवल **'ईशावास्यम् तत्त्वमसि'** आदि पद-श्रवण मात्र से ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। **'दशमो अहं अस्मि'** मैं ही दसवाँ हूँ, इस ज्ञान के प्राप्त होते ही सम्पूर्ण भ्रान्तियाँ अनायास ही समाप्त हो जाती हैं। जैसे **'दशमस्त्वमसि'** वाक्य श्रवण समनन्तर ही **'दशमोहमस्मि'** इत्यकारक साक्षात्कार हो जाता है, वैसे ही, **'तत्त्वमसि'** वाक्य श्रवण से ही उच्चाधिकारी को प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परात्पर परब्रह्म तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। अधिकारी न होने पर सम्पूर्ण वेद-वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि को कंठाग्र कर लेने पर भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता—

> **"उपनिषदः परिपीता, गीतापि,**
> **हन्त मतिपथं नीता।**
> **तदपि न सा विधुवदना,**
> **मानसदनाद् बहिर्याति।"**

(पण्डितराज जगन्नाथ)

अर्थात् संपूर्ण वेद-वेदांग, उपनिषद् एवं गीता को घोंट कर पी लेने पर भी हा हन्त। संसार-सुन्दरी तो मन से एक क्षण के लिए भी नहीं निकल पाई। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु में लिखा है—"भगवान् का एक गुण **'आत्माराम-चित्ताकर्षकत्व'** भी हैं। व्यासजी के शिष्यों द्वारा कथित श्लोक को सुनकर अमलात्मा; आत्माराम, महामुनीन्द्र, योगीन्द्र, शुकदेवजी महाराज के चित्त में भी वह सर्वाकर्षक स्वरूप प्रकट हुआ; उस स्वरूप-दर्शन से आनन्दोन्मत्त हो परमज्ञानी शुकदेवजी भी एक बार नाच उठे। इस हर्षोन्माद में भी अपनी अकिंचनता और भगवत् स्वरूप की अद्भुतता का अनुभव कर वे हताश होकर पुनः समाधिस्थ हो गए। शिष्यों ने यह सम्पूर्ण वृतान्त अपने गुरु श्री व्यासजी से निवेदन किया; व्यासजी ने शुकदेवजी का भाव समझकर, एक अन्य श्लोक बनाकर शिष्यों को

पढ़ाया; गुरु-शिक्षित शिष्यगण पुनः शुकदेवजी के स्थान पर जाकर उस श्लोक का पाठ करने लगे—

'अहो बकीयं स्तनकालकूटं,
जिघांसया पाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं-
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥'

(श्री० भा०, ३/२/२३)'

अर्थात्, स्तनों में कालकूट विष लगाकर स्तन-पान से बालक की हत्या करने की आकांक्षा रखने वाली पूतना को भी जिन्होंने अत्यन्त दुर्लभ गति प्रदान की, ऐसे परम दयालु, अकारण करुण, करुणा-वरुणालय, शरणागत-वत्सल प्रभु अकिंचनाति अकिंचन से भी प्रेम करने वाले हैं, अपना लेने वाले हैं। बाल-हत्यारिणी पूतना अपावन वाञ्छा रखती हुई भी एक बार प्रभु-पादोन्मुख हो महत् गति को प्राप्त हुई—

"दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः ।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥ ३५ ॥
पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः ।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥" ३७ ॥

(श्रीमद् भाग०, १०/६/३४, ३७)

अर्थात्, भगवान् के स्तन-पान करने से ही उस राक्षसी पूतना के शरीर में अनोखी सुगन्ध समा गई; उसके शरीर से निकलती हुई यह कमल और पलाश पुष्पों के तुल्य सौरभ योजनों पर्यन्त फैल गई। व्यास शिष्यों द्वारा भगवान् के प्रेममय स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर शुकदेव जी व्यासजी के पास आए और उनसे श्रीमद् भागवत को पढ़ा।

"**प्रेम्णा पठन्भागवतं शनैः शनैः**"। [श्री भा० मा०, ६/७८] निष्कर्ष यह कि भगवान् को भी सापेक्षता का प्राकट्य अनिवार्य है : अस्तु "'"**दर्शयन् मुहुः**" विभिन्न प्रसंगों से बारम्बार दर्शन देकर श्रीकृष्ण अपनी सापेक्षता को प्रकट कर गोपाङ्गनाओं में अपने प्रति प्रेम प्रेरित करते हैं; तात्पर्य कि प्रभु को बारंबार अपनी ओर निहारते देख उनको सापेक्षता के अनुभव से उनमें उत्कट प्रीति उद्भूत होती है। भक्त अनुभव करता है कि मेरे प्रभु अलौकिक, अदृश्य, अलक्ष्य अचिन्त्य, अखण्ड, अव्यपदेश, परात्पर, परब्रह्म, निरपेक्ष नहीं अपितु मेरी ही तरह हस्तपादादिमान् पुमान् हैं; इतना ही नहीं वे भी हमारी जाति के गोपाल ही हैं; वे भी हमारी ही तरह गोचारण करते हुए गोरज से धूलि-धूसरित हो जाते

हैं। अतः गोपाङ्गनाएँ कहती हैं भगवत्-स्वरूप के दर्शन से **"दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि।"**

"मोक्षमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।"

अर्थात् हे तात ! यदि मोक्ष की इच्छा हो तो विषयों का विषवत् त्याग कर दें। यदा-कदा कुछ ऐसे भी दुरदृष्ट होते हैं जिनके कारण सहृदय सत्पुरुष में भी विषयसंग बन जाता है।

राम के वन-गमन का प्रसंग उपस्थित होने पर लक्ष्मण अत्यंत खिन्न हो दैव से भी युद्ध के लिए तत्पर हो गए; लक्ष्मण को प्रबोध कराते हुए भगवान् राम कहते हैं **'यदचिन्त्यं तु तद् दैवम्'** जो अचिन्त्य है वही दैव है। फल-प्राप्ति के अनन्तर ही दैव का परिज्ञान होता है। दैव बुद्धि का अगोचर है; विभिन्न दैव, अदृष्ट अपने-अपने फल को देकर स्वभावतः ही नष्ट हो जाते हैं अतः दैव से संग्राम संभव नहीं होता।

"ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥"

(वा० रा० २/२२/२३)

अर्थात्, उग्रतपा, महान् तप करनेवाले ऋषि भी दैव-प्रेरित हो, दैव-पराधीन होकर अपने कठिन यम-नियमादि को त्यागकर काम एवं मन्यु, क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं। उदाहरणतः जड़भरत ब्रह्मविद्-वरिष्ठ, परं-तत्त्वविद् थे तथापि, प्रारब्धकर्मवशात् प्रपंच में आसक्त हो गए। तात्पर्य यह कि सत्पुरुष को विषयों से सदा-सर्वथा बचना चाहिए; विषयों के सन्निधान से तत्विषयक संकल्प बनते हैं; संकल्प से आसक्ति होती है; आसक्ति हो जाने पर उनसे निवृत्ति अशक्य हो जाती है। संयम ही संपूर्ण रोगों की महत् औषध है; सर्वोत्तम औषध भी संयम-विवर्जित होकर निष्फल हो जाती है। पथ्य-परिपालन एवं अपथ्य-विवर्जन ही संयम है। विषय-दोष-विनिर्मुक्त होने के लिए विषय-सन्निधि-त्याग संयमरूप महौषध अनिवार्य है। गोपाङ्गनाओं को अपने प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण में ही घोर आसक्ति है अतः जैसे विवेकी पुरुष सदा-सर्वदा अपने-आपको विषयों से विरक्त रखने का प्रयास करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के विप्रयोगजन्य ताप की दारुण व्यथा से झुलसती हुई वे अपने मन को ही मदन-मोहन, श्यामसुन्दर से विरक्त हो जाने के लिए प्रेरित करती हैं। वे कह रही हैं "हे श्यामसुन्दर ! आप हमारे सामने न आते तो बहुत अच्छा होता। गोचारण कर आप सीधे अपने घर लौट जाते तो हम अपने मन को जैसे-तैसे समझा लेतीं परन्तु **'दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि।'** आप तो विभिन्न व्याज से बारंबार दर्शन देकर

हमारे मन में अत्यंत तीव्र उत्कण्ठा, अविद्यमान मनःकामना को भी उद्भूत कर देते हैं। दुर्जन स्वभावतः प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग करता है और सज्जन स्वभावतः प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग करता है। जैसे **'कोपश्च कोपे कथं न च'** अपकारी में क्रोध होता है; क्रोध से अधिक अपकारी और कौन हो सकता है? सज्जन इस घोर अपकारी क्रोध पर ही क्रोध करते हैं। अन्य पर किया गया क्रोध अनर्थकारी है पर क्रोध पर किया गया क्रोध सर्व-शुभ का हेतु है। इसी तरह, सामान्यतः तृष्णा अनर्थकारिणी होने के कारण निन्द्य एवं त्याज्य है परन्तु भगवदुन्मुखी तृष्णा सर्वहितकारिणी, सर्व-वन्द्य, सर्व-वांछनीय है।

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥"

(श्री० भा० ६/११/२६)

अर्थात्, भक्त-वांछा है कि जैसे पक्षियों के बिना पंखवाले शावक किंवा अतृणाद बछड़े अपनी कल्याणमयी करुणामयी अम्बा के, अथवा प्रोषितभर्तृका नारी अपने प्रियतम प्यारे के आगमन की प्रतीक्षा बड़ी उत्कट उत्कण्ठा के साथ करती रहती हैं वैसे ही, हे प्रभो! हमारा मन, हमारी अन्तरात्मा आपके मंगलमय मुखारविन्द-दर्शन के लिए उत्कण्ठित बना रहे।

लौकिक सम्बन्धों की तरह ही भगवान् से विभिन्न संबंधों को जोड़कर प्राणी कृतार्थ हो जाता है; अस्तु, जो लोक में निन्द्य एवं त्याज्य है वही भगवत्-संबंध से अत्यन्त स्तुत्य एवं वांछनीय हो जाता है। रागानुगा-प्रीति का यह विशिष्ट चमत्कार है कि वह किसी भी हेतु किंवा फल की अपेक्षा न रखते हुए स्वभावतः उदभूत हो जाती है। रागानुगा-प्रीति में प्रयास नहीं होता; प्रयास-सिद्ध-स्नेह कृत्रिम होता है; रागानुगा-प्रीति सहज विशुद्ध प्रेम-तत्त्व है। इस सहज रागानुगा-प्रीति में यदा-कदा अत्यन्त विह्वल हो जाने पर प्रेमी अपने मन को प्रेमास्पद से हटा लेने का ही प्रयास करता है, परन्तु यथार्थ में **'स्थूणा निखनन न्याय'** यह आयास भी प्रेम-वृद्धि का ही कारण होता है। जैसे, खूँटा गाड़ते हुए बीच-बीच में उसको हिलाकर देख लिया जाता है; यदि खूँटा पूरी तौर से गड़ा नहीं हो तो वह हिल जाता है; खूँटे के हिलने पर उसको पुनः तब तक ठोंका जाता है जब तक वह दीवार में मजबूती से लग न जाय। इसी तरह, प्रेमास्पद से अपने मन को हटा लेने के लिए विह्वल प्रेमी द्वारा किए गए सहज आयास से रागानुगा-प्रीति भी प्रबलतम होती जाती है।

'नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं, घनरजस्वलं' पद का विश्लेषण करते हुए श्रीमद्-वल्लभाचार्य लिखते हैं कि भगवत् मुखारविन्द पर बिखरी हुई स्निग्ध, कुटिल कृष्ण अलकावलि तम और रज का प्रतीक है; यदि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कुटिल कुन्तल अलकावलि का समूहन और गोरज का प्रक्षालन कर लें तो तम एवं रज से निरावृत होकर विशुद्ध सत्त्वात्मक भगवदीय मुखारविन्द का दर्शन हो जाय; तात्पर्य कि पूर्णरूपेण अपरोक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाय। अपरोक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर संपूर्ण व्याधि स्वतः समाप्त हो जाती है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ कहती हैं कि हे श्यामसुन्दर! आपको हमारा दुःख ही प्रिय है क्योंकि आप अपने कुटिल कुन्तल एवं घनीभूत गोरज से आवृत मुखारविन्द का बारम्बार दर्शन देकर अपने प्रति हमारी उत्कण्ठा का दृढ़ीकरण करते हैं। भगवदीय प्रेरणा से ही भगवद्-स्वरूप में प्रीति, मोह किंवा आसक्ति सम्भव है। सांसारिक विषयों से हटकर मन का भगवत्-स्वरूप में अवरुद्ध हो जाना ही आसक्ति किंवा निरोध है। पूर्वप्रसंगों में इस विषय की विस्तृत विवेचना की जा चुकी है।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का स्वरूप मायिक किंवा पंचभौतिक नहीं है तथापि शुद्ध सच्चिदानन्द घनरूप भी नहीं है, अपितु शुद्ध रसात्मक है। कान्ता-वांछित चैतन्य, सच्चिदानंद परब्रह्म का अवस्थांतर ही रस है एतावता, रस को ब्रह्म-सहोदर कहा गया है। ब्रह्म एकरस है परन्तु पानक-न्यायतः उसमें विभिन्न रसों का सम्मिश्रण है। अस्तु, रसात्मक में आलंबन, उद्दीपन, संचार आदि विभिन्न विभावों की विस्फूर्ति होना अनिवार्य है। यथार्थतः ये विभिन्न भाव व्यभिचारी हैं क्योंकि वे रस का संचार कर लुप्त हो जाते हैं; इनकी विशेषता यही है कि इनके द्वारा रस की चमत्कृति अभिव्यक्त होती है। शास्त्रानुसार श्रृंगार-रस ही अंगी रस है, अन्य सब रस अंग हैं अतः श्रृंगार-रस ही प्रमुख रस है; श्रृंगार-रस भी दो प्रकार का है, संयोग-श्रृंगार तथा विप्रलम्भ-श्रृंगार। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का विग्रह निखिल-रसामृत-मूर्ति, सम्पूर्ण रसों का सार-तत्त्व है अतः उनमें यथा-समय विभिन्न भाव सांगोपांग अभिव्यक्त होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के द्वारा धारित चूत प्रवाल, नवल कोमल आम्रपल्लव आसक्ति का तथा मयूर-पुच्छ तम का सूचक है। तम से आवरण, आवरण से मोह, मोह से विवेकाभाव होता है; **'प्रेमोन्मादजं विवेकराहित्यं भूषणम् इदं न तु दूषणम्'** जो दूषण नहीं अपितु भूषण है। प्रेमोन्मादजन्य मूर्च्छा में प्रलापादि व्यापार होते रहते हैं परन्तु उनमें ज्ञान का अभाव होता है। पूर्व-प्रसंगों में बताया जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने उत्पलाब्जमाल, आम्र-पल्लव एवं मयूर-पुच्छ धारण कर रखे हैं; उत्पलाब्ज-

माला से प्रेम, आम्र-पल्लव से आसक्ति और मयूर-पुच्छ से मोह विवक्षित है, तात्पर्य कि आसक्ति-निरोध, प्रेम-निरोध तथा व्यसन-निरोध तीनों ही भगवत्-स्वरूप में अन्तर्निहित हैं; भगवान् का मंगलमय विग्रह ही विशेषण-विशिष्ट संप्रयोगात्मक–विप्रयोगात्मक-उभयविध एककालावच्छेदेन उद्बुद्ध शृंगार-रस-सार-सर्वस्व है।

●

श्रीहरिः

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

अर्थात्, हे रमण! आपके चरणारविन्द प्रणतजनों के समस्त पाप-ताप का शमन एवं अशेष मंगल को प्रदान करनेवाले हैं, सम्पूर्ण आधि-व्याधि का हनन करनेवाले हैं, पद्मज ब्रह्मा एवं पद्मजा लक्ष्मी द्वारा अर्चित धरणी के मण्डल, अलंकार हैं। आपत्ति-काल में आपके चरणारविन्दों का स्मरण ही कर्तव्य है क्योंकि आपके चरणारविन्द-स्मरण से सम्पूर्ण आपत्तियाँ कट जाती हैं। हे रमण! आप अपने पाद-पङ्कजों को हमारे स्तन-मण्डल पर विन्यस्त कर विप्रयोगजन्य तीव्र ताप का शमन करें।

पिछले श्लोकों में गोपाङ्गनाओं ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के नैष्ठुर्य का वर्णन किया; वे कहती हैं कि हे वीर! अपने घनरजस्वल, नील-कुन्तल-समावृत, वनरुहानन मुखचन्द्र को बारम्बार हमारे सामने उपस्थित कर आपने स्वयं ही हठात् हमारे मन में स्वविषयक स्मर उद्बुद्ध किया। स्मर-उद्बोधन में तो आप अत्यन्त वीर हैं परन्तु हमारे हृत्ताप-उपशमन, तापापनोदन में आपकी वीरता स्थिर नहीं रहती। विप्रयोग-ताप-विदग्ध विह्वल गोपाङ्गनाएँ अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय भगवत्स्वरूप में अकारुणिकता का आरोप करती हुई भी भगवान् के कुपित हो जाने की आशंका से क्षमापन कर रही हैं; वे कह रही हैं कि हे प्रभो! हम आपके दोषानुसंधान नहीं कर रही हैं, हम तो अपने ही मन्दभाग्य का वर्णन कर रही हैं।

'राजन् कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्यच्छत्रसञ्छन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः॥'

(भोजप्रबन्ध)

हे राजन्! यद्यपि आप तो विशुद्ध सुवर्ण-वृष्टि ही करते हैं तथापि हमारे अभाग्य मन्द-भाग्य के कारण ही हम पर तो उसका एक बिन्दु भी नहीं आ पाता। हे भगवन्! आप करुणावरुणालय हैं, परम दयामय हैं परन्तु हमारे अपने दुर्भाग्य से ही हमारे दुःखों की निवृत्ति, हमारे हृत्ताप की उपशान्ति नहीं हो पाती। हम आशा करती हैं कि आपके पादारविन्द संस्तवन द्वारा हमारे अभाग्य का शमन हो जायगा। आपके पाद-पंकज **'प्रणत-कामदं'** हैं। **'प्रकर्षेण नराणां नम्राणां कामदं'** अर्थात्, आपके पाद-पंकज विनम्रतापूर्वक नमन करनेवाले प्राणी के सम्पूर्ण पाप-ताप का समूल उन्मूलन करनेवाले तथा अशेष मंगल के कारक हैं। वस्तुतः नमन में प्रकर्ष, उत्कर्ष होना चाहिए; **'नमन'** का अर्थ है

झुकना; **'नमो नतौ'** (अमर० ३।४।१८)। श्रद्धापूर्वक झुकना ही नमन का प्रकर्ष, उत्कर्ष है। श्रद्धा सोमात्मक वस्तु है : **'श्रद्धापदवाच्याः आपः'** श्रद्धापदवाच्य जल है। यज्ञादि कर्मों में प्रयुक्त दधि, दुग्ध, आज्य आदि कर्म समवायी जलीय द्रव्य ही **'सोम'** है। वह कहीं-कहीं कर्मपद से भी व्यपदिष्ट होता है।

'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति, (शु० य० वे० सं० ४०।४) **मातरिश्वा हिरण्यगर्भः तस्मिन् परमात्मनि अधिष्ठाने सत्येव अपः दधाति।'** तात्पर्य कि **'अबुलक्षितानि कर्माणि कर्मोपलक्षितानि लोकान् दधाति'** अर्थात्, मातरिश्वा हिरण्यगर्भ उस सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाशरूप अधिष्ठान में ही सम्पूर्ण लोकों का निर्माण करते हैं; जैसे कुम्भकार आधार भूतलादिकों में ही घट उदंचन शरावा-दिकों का निर्माण करता है। **'अप्'** कार्यत्वात् लोक को अप्व्यपदेश्य कहा; **अप्** अर्थात् **कर्म**। श्रुति अनुसार कर्म और लोक का कार्य-कारणभाव होने पर ही लोक अप्व्यपदिष्ट कहे जाते हैं।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' (ऋ० सं० ९/४६/४) इत्यादिकों में जैसे गोभि से गौ विकार दुग्धदध्यादि ही **गृहीत** हैं। **'दध्यादिभिः श्रीणीत मत्सरं सोमम्'** अस्तु, यहाँ **अप्** शब्द का अर्थ कर्म है; **अप्** बहुलत्वात्, जल-बाहुल्य के कारण ही **अप्** पद से कर्मपद की व्यपदेश्यता है। एतावता अप्, जल, सोम का ही प्रतिनिधित्व करता है। सोम नम्र है, द्रव है, अतः जहाँ जल द्रवता है वहाँ नम्रता है; जहाँ नम्रता होती है वहाँ श्रद्धा का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है; जहाँ श्रद्धा होती है वहाँ नमन स्वभावतः ही हो जाता है। सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश ब्रह्म का निर्णय कर उनकी महिमा को समझकर उनकी अनन्तता, अखण्डता को समझकर प्राणी स्वभावतः ही अन्तःकरण, अन्तरात्मा रोम-रोम से नमित, प्रणत हो जाता है। इस प्रकार का प्रणाम ही उत्कृष्ट प्रणाम है। आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम भगवान् भी भाव के भूखे हैं। यह भाव-भीना एक प्रणाम भी मोक्षप्रद है—

'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महाभारत, शान्तिपर्व ४७।९१)

प्रणत-जन भी दो प्रकार के होते हैं; एक सकाम, दूसरे निष्काम। भगवान् सत्य-संकल्प हैं, सर्वकामप्रदाता हैं। यदि किसी कामनावश भी अन्य के सम्मुख नमन करना ही हो तो वह नमन भी किसी लौकिक प्राणी के प्रति न कर भगवत् चरणारविन्द में ही करना चाहिए। प्राणिमात्र स्वयं ही अपूर्णकाम हैं;

जो स्वयं अपूर्णकाम है, वह अन्य की कामना-पूर्ति क्यों कर सकता है ? लौकिक जनों के दान **'शाकायवास्याल्लवणायवास्यात्'** ही होते हैं।

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥'

(श्री० भा० २।३।१०)

अर्थात्, तीव्र भक्तियोग के द्वारा ही भगवान् सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करते हुए मोक्ष भी प्रदान करते हैं। भगवत्-चरणारविन्द प्रणत-कामद हैं, **'कामं ददाति इति कामदं, कामं दाति खण्डयति इति कामदं।'**

'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥'

अर्थात्, श्रुति-स्मृति-लक्षणा प्रभु-आज्ञा का सर्वथा पालन ही तीव्र भक्ति-योग है; आज्ञा-पालन से अन्य कोई उत्कृष्ट सेवा नहीं; आज्ञा का उच्छेदक ही भगवत्-द्रोही है, वह न भक्त है, न वैष्णव।

'अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।'
'रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥' ७६।७

(ब्रह्माण्डपुराण ४।४२)

सर्वेश्वर शक्तिमान् प्रभु अवश्य ही रक्षा करेंगे ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ कठिन-से-कठिन आपत्ति-विपत्ति में अथवा अत्यन्त आनन्द एवं हर्षोल्लास में देह, इन्द्रिय, मन-बुद्धि, अहंकार की कोई हलचल प्रभु-आज्ञा विपरीत न करना ही तीव्र भक्तियोग है। जैसे कोई यजमान यज्ञकर्तृत्वेन ऋत्विजों का वरण करता है, वैसे ही, प्राणी द्वारा संसार-मोचकत्वेन रक्षकत्वेन सर्वाधिष्ठान सर्वान्तर्यामी का वरण कर लिए जाने पर ही अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय भक्त-वत्सल प्रभु स्वयं ही अहर्निश उसकी कल्याण-कामना में चिन्तित रहते हैं।

'का मैं चिन्तौं साइयाँ, मम चिन्तै का होय।
मोरी चिन्ता हरि करें, आगे पाछे जोय॥'

(कबीर)

तद्भिन्नत्वेन निर्णय ही वरण है; जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश किंवा तरंग का आश्रय समुद्र ही है, वैसे ही, जीवमात्र का आश्रय सर्वाधिष्ठान परमात्मा ही है। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

'मामेकं शरणं व्रज' (श्रीमद् भ० गीता १८।६६) मेरी ही शरण में स्थिर हो जाओ; मुझ एक अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय परमात्मा को ही अपना एकमात्र

शरण्य जानो। भक्तराज प्रह्लाद प्रार्थना करते हैं, "हे प्रभो ! यदि कुछ देना हो हो तो यही वरदान दो कि हमारे हृदय में कामना का स्फुरण ही न हो।" परन्तु गोपाङ्गनाएँ तो कहती हैं "हे रमण ! हम तो योगिनी नहीं, वियोगिनी हैं। हम सकाम हैं। आपके प्रणत-कामदं मंगलमय पादारविन्द को अपने उरोजों पर विन्यस्त करना चाहती हैं। भगवत्-पादारविन्द-दर्शन की कामना परम-निष्कामता का अन्तिम परिणाम है। भुक्ति-मुक्ति-निरपेक्ष महाभागी भक्तज्ञानियों में भी अग्रगण्य है।"

तैत्तिरोय श्रुति है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशं आनन्दो न स्यात्'** (तै० २/७)। अर्थात् भगवत्-विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप-दग्ध प्राणी क्योंकर प्राण धारण कर सकता, क्योंकर चेष्टा कर सकता, यदि परमानन्दघन आकाश आनन्द, अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप से प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान नहीं होते। अपरिच्छिन्न आनन्दरूप परमानन्दघन ही प्राणिमात्र के हृदय में अधिष्ठित हो उसका आप्यायन एवं रक्षण करते हैं; अधिष्ठानभूत परमतत्त्व के आधार पर ही प्राण एवं अपान का रक्षण एवं आप्यायन होता है। पूर्व-प्रसंग में प्राणापान की गति-सम्बन्धी विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।

मान्य है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, वृन्दावन का त्याग कदापि नहीं करते।

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

पूर्व-प्रसंग में बताया जा चुका है कि लोकदृष्ट्या भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ मथुरापुरी पधारे तथापि उनका पूर्णतम पुरुषोत्तमस्वरूप वृन्दावन में ही प्रतिष्ठित रहा। इसी तरह गोपाङ्गनाएँ भी अन्तःकरणस्थित सर्वाधिष्ठानभूत भगवत्-स्वरूप का अनुभव करती हुई भी बाह्यतः भी श्रीकृष्णचंद्र-चरणारविन्द-संस्पर्श की स्पष्टानुभूति की कामना से विकल हैं।

'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।'

(मुण्डको० २/१/२)

सर्वाधिष्ठानभूत, सर्वान्तर्यामी के मंगलमय विग्रह का, अंग-प्रत्यंग का निरन्तर ध्यान एवं पूजन ही भक्त की कामना है। भक्त **'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'** का ही रसिक है।

भगवान् योगमायासमावृत हैं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

(श्री० भ० गी० ७/२५)

शंकराचार्यजी कहते हैं, **'भगवान् परिभू हैं; परिभवति इति परिभूः परितः चतुर्दिक्षु भवति इति परिभूः'** जो सर्वव्याप्त है वही 'परिभू' है **'यस्य उपरिभवति यश्च उपरिभवति स सर्वः स्वयमेव भवति इति स्वयंभूः'** अर्थात्, जो सर्वव्याप्त, सर्वत्र-व्याप्त है और जहाँ जिस पर व्याप्त है वह सम्पूर्णतः स्वयं ही उद्‌बुद्ध है, स्वयंभू है।

'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।'

(मु० २/१/२)

अर्थात्, कारणात्मक प्रपञ्च ही अजर, अमर, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म है। तद्भिन्न कोई सत्ता नहीं। कवि कहता है **'अरबरात निसि दिन मिलिबे को, मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना।'** यथार्थ में तद्‌भिन्न होते हुए भी अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठावशात् मिलन-हेतु अनुनय-विनय प्रीत्युत्कर्षजन्य चमत्कृति है।

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।'

(योगदर्शन १/१६)

अर्थात् दृष्ट और आनुश्रविक, लौकिक एवं पारलौकिक सर्वविध सुख से जो वितृष्णा, निष्कामता है वह वशीकारसंज्ञक वैराग्य है। दृष्टानुश्रविक विषय से वितृष्णा होने के अनन्तर ही सम्यक् श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तदनन्तर तत्पुरुषख्याति होती है।

'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।'

(श्री० भ० गी० १४/२२)

अर्थात् प्रवृत्त राजसभाव से द्वेष नहीं करता; पुरुष-स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर गुणों में भी वितृष्णा हो जाती है। ऐसे वैराग्य-संपन्न-साधुपुरुष सर्व-कामना-विनिर्मुक्त हो जाते हैं।

सर्वकाम-विनिर्मुक्त, आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम आत्माराम को ही भगवान् के मंगलमय चरणारविन्द में अनन्य अनुराग होता है। उरस्थल में भगवत्-पाद-पंकज का विन्यास इस अनन्य अनुराग का ही विन्यास है।

'पद्मजार्चितं, पद्मजेन ब्रह्मणा अर्चितं' पद्मज ब्रह्मा के द्वारा अर्चित, भगवान् श्रीकृष्ण के पाद-पंकज कमलयोनि ब्रह्मा द्वारा अर्चित हैं।

'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।'

श्री गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं **'वृद्धैः ब्रह्मादिभिरपि वन्द्यमानचरणः'** जब हमारे श्यामसुन्दर गोचारण के बाद संध्याकाल में घर लौटने भी लगते हैं तो ये

ब्रह्मादि वृद्धजन प्रणाम-दण्डवत् करते हुए विलंब का हेतु बन जाते हैं। ब्रह्माजी कह रहे हैं—

'को वेत्ति भूमन् भगवन्परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥'

(श्रीमद्भागवत १०/१४/२१-२२)

अर्थात्, हे प्रभो ! **मायातः** माया के कारण ही आपके नित्यसुखबोध-स्वरूप में ही अविचारतः रमणीय, स्वप्न-तुल्य जगत् उदित होता प्रतीत होता है।

'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥'

(श्री० भा० १०/१३/५४)

अर्थात् जो सत्य, ज्ञान एवं आनन्दमात्रस्वरूप एकरस हैं वही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्ष्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भी विशुद्ध सत्त्वादि के सन्निवेश से साकार, सगुण सच्चिदानन्दघनस्वरूप में प्रादुर्भूत है। जैसे, दूर-वीक्षण-यंत्र द्वारा सूर्य-स्वरूप विशेषतः परिलक्षित होता है, वैसे ही, विशुद्ध सत्त्व सन्निवेश के कारण सर्वाधिष्ठान सर्वान्तिर्यामी प्रभु भी विशेषतः सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य गुण-संयुक्त अनुभूत होते हैं। वैष्णव-मतानुसार यह विशुद्ध-सत्त्व ही अचिन्त्य दिव्य अंतरंग लीलाशक्ति है। **'माया तु वर्णं ज्ञानं'** माया का अर्थ वर्ण है; माया का अर्थ ज्ञान है; माया प्रभा है; अचिन्त्य, दिव्य, भगवदीय, अन्तरंगा शक्ति भास्वती भगवती की अनुकम्पा के प्रभाव से ही संपूर्ण विश्व-प्रपंच का प्राकट्य होता है।

ब्रह्मा भी दो प्रकार के होते हैं—

'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते; आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

(तै० ३. ३/६)

जिससे अखण्ड ब्रह्माण्ड उत्पन्न, स्थित एवं प्रविलीन हो जाता है, वह ईश्वर-स्वरूप ईश्वर-अभिन्न है। अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड हैं; प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अपने-अपने ब्रह्मा हैं; अश्वमेध-अवभृथोपासना आदि द्वारा जीव ही ब्रह्मा बन जाता है; अस्तु, इन ब्रह्माओं में जीव एवं ईश्वर-धर्म दोनों ही दृष्टिगोचर

होते हैं; ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मा को ही भगवान् श्रीकृष्णस्वरूप में सन्देह हुआ; तत्क्षण सम्पूर्ण गोधन, गो-वत्स एवं तत्-तत् वसन-भूषणादि स्वरूप में आविर्भूत होकर भगवान् ने ब्रह्मा का मानभंग कर दिया; सम्पूर्ण ऊहापोह, सन्देह-विनिर्मुक्त हो ब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के **'प्रणत-कामदं'** चरणारविन्द की अर्चना करते हैं।

अथवा **'पद्मजार्चितं, पद्मजया अर्चितं'** महालक्ष्मी द्वारा अर्चित; भगवत्-पादारविन्द पद्मज एवं पद्मजा दोनों की ही अर्चा के आस्पद हैं; तात्पर्य कि भगवत्-पादारविन्द ही सांगोपांग धर्माधिकरण है; धर्माधिकरण में ही धर्मानुष्ठान, पूजन-अर्चन सम्भव है—**'निश्चयरूपेण तुभ्यमेव समर्पितं'** यज्ञ, तप, दान, व्रतादि सम्पूर्ण भगवत्-चरणारविन्दों में ही अर्पित किए जाते हैं; बन्धन के हेतु कर्म भी मुक्ति-फल-प्रदायक हो जाते हैं। जैसे विशिष्ट संस्कारों द्वारा शोधित होकर मारक विष भी स्वास्थ्य-प्रदायक विशिष्ट औषध बन जाता है वैसे ही, प्रभु-पाद-पंकजों में अर्पित कर्म सर्व-प्रकार के बन्ध के निवर्तक बन जाते हैं। अस्तु, सम्पूर्ण धर्मानुष्ठानों के अर्पण के आश्रय भगवत्-चरणारविन्दों की धर्माधिकरणता स्वतःसिद्ध है।

'धरणि-मण्डनं' भगवत्-पादारविन्द धरणी के अलंकार हैं; भगवत्-पादारविन्द संस्पर्श को पाकर धरणी धरित्री धन्य-धन्य हो रही है।

'परसि राम-पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥'
(मानस, अयोध्या० ११२/८)

वृन्दावन की भूमि को निरावरण भगवत्-पाद-पंकज-संस्पर्श मिला। इस संस्पर्श से वृन्दावन के पाषाण भी द्रवित हो गए; नवनीत से भी अधिक कोमल, द्रवित पाषाण-खण्डों में भगवत्-पादारविन्द स्पष्टतः अंकित हो गए।

भगवान् की तीन शक्तियाँ—श्री, भू एवं नीला हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति श्री, अनन्तानन्द की अधिष्ठात्री शक्ति नीला, तथा अनन्त वैभव की अधिष्ठात्री शक्ति भू किंवा धरणी। धरणी के सौभाग्यातिशय में गोपाङ्गनायें अनेक भाव अभिव्यक्त करती हैं; वे धरित्री से पूछने लगती हैं—

'किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥'
(श्रीमद्भागवत, १०/३०/१०)

अर्थात्, हे धरित्री बहन! तुमने कौन सा ऐसा गंभीर तप किया है जिसके फलस्वरूप तुमको हमारे मदन-मोहन श्यामसुन्दर के निरावरण चरणारविन्दों का

सौभाग्यातिशय प्राप्त हुआ। हे बहन ! हमें भी बता दो ताकि हम भी वैसा ही तप करें ताकि हमें भी अपने उरस्थल में श्यामसुन्दर के पादारविन्द-विन्यास का सौभाग्यातिशय प्राप्त हो।

श्रीमद्भागवत में वर्णन है—भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपाङ्गनाओं से पृथक् होकर किसी 'एका' सखी को एकान्त में ले जाकर उनका शृंगार किया, उनको दिव्य भूषण-वसन-अलंकारादिकों से अलंकृत किया। वृषभानुकुमारी, राधारानी ही यह 'एका' विशिष्ट सखी हैं। राधारानी का मण्डन करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र, श्यामसुन्दर ने धरणी का भी मण्डन किया। तात्पर्य कि विशेष रसदशा में भगवान् ने धरती के उरोजों पर अपने मंगलमय पादारविन्द विन्यस्त किये। तद्वत् भावों की परिकल्पना करती हुई गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं "हे प्रभो ! जैसे आपने श्रीराधारानी के उरस्थल पर अपने चरणारविन्द विन्यस्त किए, वैसे ही, धरणी, भू-देवी के उरस्थल पर भी अपने पाद-पंकजों को मण्डित किया; आप अत्यन्त रसिक हैं, अतः हम आपकी अनुरागिणी परम प्रेयसी जनों के उर-स्थल पर भी आप अपने चरणारविन्दों को विन्यस्त करें।"

'ध्येयमापदि' आपके चरणारविन्द अनन्तकीर्ति, समग्रयश, समग्रश्री तथा समग्र धर्म का आश्रय हैं एतावता आपत्तिकाल में भजनीय हैं। आचार्य शंकर की उक्ति है :

'आपदि किं करणीयं ?' 'स्मरणीयं चरणयुगलमम्बायाः'

आपत्तिकाल में अम्बा के चरणयुगल का निरन्तर स्मरण ही कर्तव्य है। भगवत् चरणयुगल का ध्यान करने से ही सम्पूर्ण आपदाओं का समूल उन्मूलन एवं अशेष मंगल का अभिधान होता है। गजेन्द्र, द्रौपदी आदि अनेक आर्त-परायण भक्तों का चरित्र प्रत्यक्ष उदाहरण है। हे प्रभो ! हम भी आर्त हैं; आपके विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से विदग्ध हैं अतः हे रमण ! हमारे उरस्थल पर अपने चरणयुगलों को विन्यस्त कर हमारी आर्ति का अपनोदन करें।

'चरणपंकजं शंतमं च ते' भगवत्-चरणारविन्द **शंतमं** हैं। **'बहूनां सुखानां मध्ये अतिशयेन शं यत्तत् शंतमम्'** संसार में अनेक प्रकार के सुख हैं; विभिन्न सुखों में तारतम्य भी है; सर्वोत्तम, सर्वोत्कृष्ट सुख ही **'शंतमं'** है। भगवान् के चरणारविन्द सर्वानर्थ-निवृत्ति-पुरस्सर परमानन्दस्वरूप तथा ज्ञान-वैराग्य के आश्रय हैं। ज्ञान से वैराग्य और वैराग्य से परम-सुख, परमानन्द किंवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। एतावता, भगवान् के चरणारविन्द सर्व-पुरुषार्थसाधक हैं। गोपाङ्गनाओं के हृदय, अन्तरात्मा एवं रोम-रोम में भगवत्-चरणारविन्द सदा-सर्वदा-विन्यस्त हैं तथापि **'स बाह्याभ्यन्तर अनुभूति'**, प्रत्यक्षानुभूति-हेतु ही वे

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मंगलमय चरणारविन्दों को अपने उर-स्थल में विन्यस्त करने की प्रार्थना, अनुनय-विनय कर रही हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द सुख के साधन भी हैं, सुख-स्वरूप भी हैं। श्री वल्लभाचार्यजी ने श्रीमद्भागवत के कुछ अध्यायों को फलाध्याय कहा है। रासपंचाध्यायी भी फलाध्याय ही है। सिद्धान्त है कि यावत् विधि-निषेध साधन-विषयक ही होते हैं; फल विधि-निषेधातीत होता है। उदाहरणतः **'देवदत्तः वृक्षं छिनत्ति'** देवदत्त वृक्ष को काटता है। यहाँ वृक्ष के दो टुकड़े हो जाना, वृक्ष का द्वैधी-भाव ही फल है। वृक्ष के द्वैधी-भावरूप फल में पुरुषकृत व्यापार नहीं है; साधन-गोचर कुठार के उद्यमन एवं निपातन में ही पुरुषकृत व्यापार है। गोचर कुठार का उद्यमन एवं निपातन क्रमबद्ध चलते रहने पर ही तत् प्रक्रिया फल-स्वरूप वृक्ष का द्वैधीभाव स्वयं उद्बुद्ध हो जाता है। पुरुष के सम्पूर्ण प्रयत्न साधन-गोचर होते हैं; प्रयास द्वारा फल स्वयं उद्बुद्ध होते हैं। नाना प्रकार के कर्म दुःख के साधन होते हैं अतः उनमें निषेध होता है। शास्त्रानुसार सत्कर्म सुख के साधन होते हैं अतः उनमें विधि होती है। फलरूप सुखोपभोग विधि-निषेधातीत है। **'सुखं भोक्तव्यं वा न भोक्तव्यं'** ऐसा कोई विधि-निषेध नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द सार-सर्वस्व हैं, सर्वप्राण परमप्रेमास्पद हैं अतः स्वभावतः सर्वभोग्य हैं एतावता तद्विषयक निषेध असम्भव है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अधरामृत का रसास्वादन, मुखचन्द्र का दर्शन, श्रीअंग का सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्यादिकों का अनुभव, पादारविन्द-संस्पर्श सब परमानन्द का ही अनुभव है अतः विधि-निषेधातीत है तथापि इसमें भी तारतम्य स्वीकृत है।

श्रीकृष्णचन्द्र सच्चिदानन्द रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज-स्वरूप आनन्द-रस-सार-स्वरूप हैं। भक्त कहते हैं :

'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥'

वेदान्त-वेद्य, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अनाम, निर्विकार, निराकार ब्रह्म ही गोपाङ्गनाओं के पुंजीभूत प्रेम, श्यामीभूत श्यामसुन्दर श्रीकृष्णस्वरूप में प्रत्यक्ष हो गया।

'परमिममुपदेशमाद्रियध्वम् निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥'

अर्थात् भक्त कहता है, निगमाटवी में ब्रह्म के अनुसन्धान में परिश्रांत विद्वद्वरो, हमारा भी, परम शांति प्रदान करनेवाला आदेश सुन लो–आप जिस ब्रह्म के अनुसन्धान में परिश्रान्त हैं वह तो गोपिका माता यशोदारानी के प्रांगण में उलूखल में आबद्ध है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—

'शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणेमया दृष्टम्।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥'

अर्थात्, हे सखी! एक अत्यन्त विचित्र कौतुक सुनो। वेदान्त-सिद्धान्त, वेदान्त-वेद्य, परात्पर, परब्रह्म ही माता यशोदा के प्रांगण में धूलि-धूसरित हो थेई-थेई नृत्य कर रहा है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥'

(मधुसूदन सरस्वती)

अर्थात्, पूर्णेन्दु चन्द्रमा के समान जिनका अतुलित सौन्दर्य-माधुर्य है, जिनके कर-पल्लव वंशी-विभूषित हैं, जिनके नेत्र कमल-दलतुल्य हैं ऐसे कृष्णचन्द्र परमानन्द के तुल्य और कोई वस्तु है ही नहीं; सच्चिदानन्दघन आनन्दकन्द परमानन्द श्रीकृष्णस्वरूप से भिन्न कोई तत्त्व है ऐसा मैं नहीं जानता; तात्पर्य कि श्रीकृष्णस्वरूप ही सर्वोपरि तत्त्व है। अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि परात्पर परब्रह्म ही श्रीकृष्णस्वरूप में साक्षात् हुए हैं। यावत् इतर प्रपंच भी ब्रह्म-स्वरूप हैं :

'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते; आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' (तै० ३. ३/६)

सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच ही आनन्द-समुद्र का परिणाम है; जगत् के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में अजर-अमर स्वप्रकाश ब्रह्मानन्द विद्यमान है तथापि अविद्या-आवरण के कारण सम्पूर्ण जगत् सावरण ब्रह्म है। परमानन्द-सार-सर्वस्व, निरावरण ब्रह्म श्रीकृष्णचंद्र सच्चिदानंदघन साक्षात् फलस्वरूप हैं। फल विधि-निषेधातीत है; एतावता आचार्य-कथन है :

'येन-केन प्रकारेण मनः कृष्णे निवेशयेत्'

जिस किसी भी भावना से प्रेरित हो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से अपना संबंध

जोड़ लो; यही वेद-वेदांग, उपनिषद्-पुराण आदि सम्पूर्ण सत्-शास्त्रों का एकमात्र उपदेश-आदेश है।

'कामं क्रोधं भयं स्नेहं, ऐक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥'
(श्री० भा० १०/२९/१५)

क्रोध से भजनेवाले शिशुपाल को, भय से भजनेवाले कंस को, काम से भजनेवाली कुब्जा रानी को भी उसी परात्पर परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति हुई।

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥'
(श्री० भा० १०/२९/१४)

अर्थात्, विवेकशून्य, धर्मशून्य प्राकृत प्राणी जन-साधारण के अशेष कल्याण हेतु ही निर्गुण, गुणात्मा, परात्पर, परब्रह्म, पूर्णतम, पुरुषोत्तम प्रभु ही श्रीकृष्ण-चन्द्रस्वरूप में अभिव्यक्त हो गए। भक्त के लिए भगवन्नाम साधन नहीं अपितु साध्य है। भक्तप्रवर हनुमान्जी राघवेन्द्र रामचन्द्र भगवान् से यही वरदान माँगते हैं "हे प्रभो! यावच्चन्द्रदिवाकरौ, जब तक सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति है तब तक हम आपके मंगलमय नामामृत का पान करते रहें।"

जैसे पित्त-रोगी को गुड़ में मिठास का अनुभव नहीं होता, वैसे ही, संसार-रत प्राणी को भगवन्नाम में भी फलानुभूति नहीं होती तथापि यदि जीव प्रयास-पूर्वक भगवन्नाम जपता रहे तो अन्ततोगत्वा उसके सम्पूर्ण पाप-ताप का शमन हो जायगा। फलतः उसको भगवन्नाम का रसास्वादन होने लगेगा जैसे, रोग-विनिर्मुक्त प्राणी को स्वभावतः गुड़ की मिठास का अनुभव होने लगता है। भगवन्नाम एवं भगवत्-स्वरूप में साधनरूपता भी है, साध्यरूपता भी है।

भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह सांगोपांग फलस्वरूप है तथापि भगवदीय हस्ता-रविन्द एवं पादारविन्द में साधनरूपता भी है। दुष्ट-दमन-हेतु अग्रसर होने पर भगवत्-पादारविन्द एवं हस्तारविन्दों में साधनरूपता तथा भक्तानुग्रहार्थ प्रवृत्त होने पर साध्यरूपता अनुभूत होती है; भगवत्-हस्तारविन्द एवं पादारविन्द का अपने मस्तक एवं उरस्थल में विन्यास ही भक्त की तीव्रोत्कण्ठा है। भगवत्-मुखारविन्द विशुद्ध फल, केवलमात्र साध्यस्वरूप है। सांगोपांग सम्पूर्ण श्रीविग्रह ही ध्यान का विषय है परन्तु जैसे-जैसे बुद्धि सूक्ष्म होती जाती है, मन एकाग्र होता जाता है, चिन्तन-विषय भी सीमित होता जाता है।

'सुस्मितं भावयेन्मुखम्' (श्री० भा० ११/१४/४२) एकमात्र सुस्मितभाव-

संयुक्त मुखचन्द्र का ही ध्यान करो। वेणुनाद-पीयूषरूप में आध्यात्मिकता की अभिव्यंजना में साधन है। भगवान् के मंगलमय श्रीविग्रह में भी क्रमशः साधनरूपता एवं साध्यरूपता भक्तों द्वारा स्वीकृत है। इस पद में प्रयुक्त **'प्रणत-कामदं, पद्मजार्चितं, धरणिमण्डनं'** आदि सम्पूर्ण विशेषण भगवत्-पादारविन्द की साधनरूपता में ही प्रयुक्त हैं।

'आधिहन्' मानसी पीड़ा के हंता। भगवत्-पादारविन्द मानसी पीड़ा के भी हर्ता हैं। अपने मन के प्रतिकूल व्यापार का काँटा सदा ही प्राणी के अन्तरात्म में खटकता रहता है, यही मानसी पीड़ा का स्वरूप है। भगवत्-चिन्तन से सम्पूर्ण दुश्चिताओं एवं व्यथादिक से आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। प्रायः ही देखा जाता है कि अनेकानेक दुश्चिन्ताओं से विकल प्राणी को निद्रा नहीं आती। कवि कहता है—

"नींद पुरानी गेहिनी, रात न आयी, हाय।
चिन्ता नववधु देखि के, ताकि-झाँकि चलि जाय॥"

दुश्चिन्ता-ग्रस्त व्यक्ति भी भगवन्नाम-संकीर्तन करते हुए अथवा भगवत्-कथा सुनते हुए झपकियाँ लेने लगता है। शास्त्र-कथन है—

"**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**" (शुक्ल यजुर्वेद संहिता ४०/७) अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म का बोध होते ही उसमें कल्पित मायामय दृश्य प्रपंच का बाध हो जाता है। फलतः कुछ समय के लिए दुःख-निवृत्ति हो जाती है परन्तु जब तक यह विचार-धारा समर्थ नहीं हो जाती तब तक शोक-मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो पाती। एतावता प्रार्थना की जाती है **"तेजस्विनावधीतमस्तु, सहवीर्यं करवावहै।"** उदाहरणतः जैसे श्मशान की अग्नि और अरणि-मन्थन से प्रकट की गई आधानादिक संस्कार द्वारा संस्कृत अग्नि की चमत्कृति में भेद है, वैसे ही गुरु-भक्तिपूर्वक यम-नियमादिसहित शास्त्रोक्त विधान-संयुक्त, भगवदुपासना-संयुक्त वेदान्त का अध्ययन ही शक्तिशाली तेजस्वी अयातयाम तथा फलपर्यवसायी होता है।

"**छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च**" (श्रीमद्भा० १०/४५/४८) वे छन्द अयातयाम होते हैं, सदा ताजा रहते हैं, वे कदापि गतरस, निःसार नहीं होते। भगवान् बादरायण कहते हैं, "**आवृत्तिरसकृदुपदेशात्**" (ब्र० सू० ४/१/१) अर्थात्, तब तक धान को कूटना कर्तव्य है जब तक सम्पूर्ण भूसी न निकल जाय। तात्पर्य कि जब तक जगत्-स्वरूप का सम्यक्तः बाध न हो जाय तब तक भगवन्नाम की आवृत्ति करते रहना चाहिए।

भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र पिता के वचन के कारण अवध का राज्य-सिंहासन त्यागकर वन-गमन के लिए उद्यत हुए; लखनलाल भगवान् राघवेन्द्र राम-

चन्द्र के साथ वन जाने के लिए तत्पर हैं, ऐसे समय में माता सुमित्रा अपने लाल को सीख एवं आशीष दे रही हैं—

"रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू।"

(मानस, अयोध्या० ७४/५)

हे पुत्र ! तुम राघवेन्द्र रामचन्द्र के साथ वन में जा रहे हो; साथ रहते हुए यदा-कदा राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि विभिन्न भावनाएँ उद्बुद्ध हो सकती हैं परन्तु तुम भूलकर उनके वशीभूत न होना। सम्पूर्ण विचारों के त्याग-पूर्वक, मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी सेवा करना। इस सीख के अनन्तर माता आशीष, आशीर्वाद देती है,

"तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥"

(मानस, अयोध्या० ७४/छंद)

अर्थात्, वेदान्तवेद्य सिय-रघुवीर-पद में हे पुत्र ! तेरी रति अविरल हो तथा मेरे द्वारा प्रदत्त उपदेशों को कार्यान्वित करने में तू सदा समर्थ हो। महर्षि सन्दीपनि ने भी अपने शिष्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को 'आशिष' देते हुए कहा—

'छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च।'

(श्री० भा० १०/४५/४८)

अर्थात्, हे कृष्ण ! जिन छन्दों का तुमने अध्ययन किया है वे लोक-परलोक में सदा-सर्वदा अयातयाम हों अर्थात्, वीर्यवान् हों, समर्थ हों। अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि भगवत्-पादारविन्द-चिन्तन सम्पूर्ण आधि, मानसी पीड़ाओं का हर्ता है। एतावता गोपाङ्गनाएँ प्रार्थना करती हैं कि हे रमण ! जो पाद-पंकज **प्रणत-कामदं, पद्मजार्चितं, धरणिमंडनं, ध्येयमापदि, शंतमं** एवं **आधिहन्** हैं उनको हमारी उरोज-स्थली पर विन्यस्त करें।

'पद्मजार्चितं' पद्मजा, महालक्ष्मी द्वारा अर्चित हैं। पद्मजा, महालक्ष्मी स्वयं ही सौभाग्याधिष्ठात्री हैं। ब्रह्मादि देवाधिदेव भी बहुकालपर्यन्त जिसके अपांग मोक्ष की कामना से तप करते हैं; भगवती भास्वती महालक्ष्मी एक बार जिसके प्रति अनुकम्पाभरी दृष्टि से निहार दें वही परम सौभाग्यशाली हो जाता है। वह महालक्ष्मी स्वयं ही अपने निवास-स्थान अरविन्द-वन को त्याग-कर भगवत्पादारविन्दों में ही लिप्त रहती हैं, सदा-सर्वदा उनमें ही तल्लीन रहती हैं।

'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्ना।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादपङ्कजमलं भजतेऽनुरक्ता॥'
(श्री० भा० १/१६/३२)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री परम सौभाग्यशालिनी भगवती महालक्ष्मी ही जिन पाद-पंकजों की अर्चना करती हैं उनका महत्त्वातिशय अवर्णनीय है।

पद्मजार्चित पाद-पंकजों का सौन्दर्यातिशय भी अकथनीय है। स्वयं पद्म ही अद्भुत शोभा-संयुक्त होता है; एतावता पद्मगर्भा श्री का सौन्दर्य निश्चय ही लोकोत्तर है; लोकोत्तरसौन्दर्यशालिनी श्री द्वारा अर्चित भगवत्-पादाम्बुजों का सौन्दर्यातिशय तो सर्वथा अवर्णनीय है। श्रीमद्भागवत का कथन है कि मृदिमा की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी भी अपने अतिशय मृदुल हस्तारविन्दों से भगवत्-चरणारविन्द-संस्पर्श में संकोच करती हैं क्योंकि उनको भय बना रहता है कि कहीं मेरे इन कठोर हाथों से अतिशय मृदुल कोमल भगवत्-पदाम्बुजों में आघात न लग जाय। पद्मजार्चित भगवत्-चरणारविन्दों की महिमा, सौभाग्यातिशय एवं सौन्दर्यातिशय स्वभावतः अवर्णनीय है।

'**ध्येयमापदि**', भगवत्-चरणारविन्द आपत्ति-काल में भी, सम्पत्ति-काल में भी सदा-सर्वदा ध्येय हैं; आपत्ति-काल में आपत्ति-निवृत्ति हेतु तथा सम्पत्ति-काल में सम्पत्ति को स्थिरता एवं सुरक्षा हेतु भगवत्-पादारविन्द सदा-सर्वदा ही ध्येय हैं। युग-युगान्तरों से महापुरुष भी सदा-सर्वदा भगवत्-चरणारविन्दों का ही ध्यान करते रहे हैं। भगवत्-पादारविन्द ही परिभवघ्न हैं।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(श्री० भा० ११/५/३३)

संसार में जीवात्मा का परिभव, अवमान निरन्तर होता रहता है। संसार-कर्तृक नाना हेतुओं द्वारा जीवात्मा का अनन्त, महा-महिम वैभव, उसकी अखण्डता, अजरता, अमरता, अनन्तता, सर्वबोधता सदा ही पद-दलित होती रहती है। जिस जीवात्मा ने भगवत्-पाद-पंकजों का ध्यान किया, उसके संसार-कर्तृक अवमान का अन्त हो जाता है। भगवत्-चरणारविन्दों का ध्यान करने से बुद्धि शुद्ध हो जाती है, बुद्धि शुद्ध होने पर अविद्या एवं तत्कार्यात्मक समूल विश्व-प्रपंच का उन्मूलन हो जाता है; विश्व-प्रपंच का उन्मूलन होने पर संसार-कर्तृक अवमानना के कारण का ही बोध हो जाता है।

भगवत्-चरणारविन्द **'अभीष्टदोहम्'** हैं। सम्पूर्ण अभीष्ट के दाता हैं। अनिष्ट-निवृत्ति एवं परमानन्द-प्राप्ति ही अभीष्ट है। दरिद्रता, दीनता, परतन्त्रता, आधि-व्याधि, शोक-संताप ही अनिष्ट है।

भगवत्-चरणारविन्द **'तीर्थास्पदं'** हैं, तारनेवाला ही तीर्थ है **'तारत्येनस इति तीर्थः'** सब तीर्थों का मूल गंगा है। सर्वतीर्थमयी भगवती भागीरथी गंगा साक्षात् ब्रह्मद्रव है। अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म ही नीर बनकर गंगारूप में प्रवाहित है।

'नराकरं भजन्त्येके निराकारमथापरे।
वयं संसारसंतप्ता नीराकारमुपास्महे ॥'

अर्थात्, भक्त कहता है, 'कोई तो नराकार राम-कृष्ण आदि रूपों में ब्रह्म की पूजा करते हैं; कोई निराकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य ब्रह्म की उपासना करते हैं परन्तु हम तो निराकार, सर्वतीर्थमयी, भास्वती भगवती गंगा की ही उपासना करते हैं। भगवत्-चरणारविन्द से ही भगवती गंगा का आविर्भाव हुआ है, एतावता भूतभावन भगवान् सदाशिव भी अपनी तेजोमयी प्रकाशमयी जटाराशि में भगवती गंगा को धारण किए रहते हैं।

'शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यं भृत्यार्तिहम्' भगवत्-चरणारविन्द-भृत्य, भक्तजन की सम्पूर्ण आर्ति के निवारक, आर्ति के हर्ता हैं। भगवान् के मंगलमय पादपंकज ही समग्र यश का अधिष्ठान हैं। आर्त का परित्राण ही दिग्दिगन्तव्यापी यश का मूल है। जैसे कोई राजाधिराज, महाराज, शाहंशाह, चक्रवर्ती नरेन्द्र किसी व्यक्ति-विशेष के वृजिनापवर्जन हेतु उसके घर नहीं जाते अपितु अपनी आज्ञा से ही दुःख-हरण कर लेते हैं वैसे ही प्रत्येक शोकग्रस्त व्यक्ति अनुभव करता है कि किसी विशिष्ट अदृश्य शक्ति द्वारा उसके दुःखों का निवारण किया गया। उदाहरणतः द्रौपदी, गजेन्द्रादिकों के उपाख्यान प्रसिद्ध हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध-ताप में एकमात्र ईश्वरीय आश्रय के आधार पर ही धैर्य बना रह सकता है।

'रक्षिष्यतीति विश्वासः'

जैसी सुदृढ़ भावना के कारण आस्तिक का धैर्य-भंग नहीं होता।

'आपद्यमग्नधैर्यत्वं सम्पद्यनभिमानिता।
यदुत्साहस्य चात्यागस्तद्धि सत्पुरुषव्रतम् ॥'

अर्थात्, आपत्ति में धैर्य-भंग न हो, सम्पत्ति में अभिमान न हो यही महासत्त्व का लक्षण है; भगवान् की असीम अनुकम्पावशात् ही यह महासत्त्व-स्थिति प्राप्त होती है।

भगवत्-उपासना से भक्त-मण्डन भी होता है; भक्त का ऐश्वर्य, आभा, प्रभा, कान्ति बढ़ जाती है। यदा-कदा धर्मराज युधिष्ठिर जैसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। इन उदाहरणों के कारण भ्रांतियों को स्थान मिलता है। यथार्थ में सम्यक् विचार से इन भ्रांतियों का निराकरण हो जाता है। जैसे, प्रत्येक बीज के अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने में तदनुकूल समय की अपेक्षा करनी पड़ती है।

अत्युग्रपुण्य-पापानामिहैव फलमश्नुते।

(स्कन्दपुराणे प्रथमे माहेश्वरखण्डे द्वितीये कौमारिकाखण्डे अ० ३४, श्लोक ७८)

उग्र पुण्य किंवा पाप का फल तत्काल होता है। तात्पर्य कि पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्म का फल समयानुकूल ही प्राप्त होगा तथापि विशिष्ट उग्र शुभाशुभ कर्म का फल तत्काल ही होता है। भीषण विपत्तिकाल में

'अखण्डं कारयेत्तत्र जपहोमादिकाः क्रियाः।'

अखण्ड ध्यान, अखण्ड भजन का विधान है। यह अखण्ड ध्यान एवं भजन सबाह्याभ्यन्तर होना चाहिए। बहिरंग एवं अन्तरंग प्रवृत्ति की एकाग्रता होने पर तत्क्षण कार्यसिद्धि होती है। **'सत्यमेव जयते नानृतम्'** अन्तिम विजय सत्य की ही होती है। अस्तु, भगवत्-चरणारविन्द आपन्नजनों के वृजिन का समूल उन्मूलन तथा सम्पूर्ण षडैश्वर्य का मण्डन करनेवाले हैं। भगवान् परम-रसिक शरणागतवत्सल, दीनवत्सल हैं।

'पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं' जैसी उक्ति से एक भाव यह भी विवक्षित होता है कि भगवान् के मंगलमय पादारविन्द अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौभाग्य एवं ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री भगवती महालक्ष्मी द्वारा पूज्य हैं और धरणी के मण्डन हैं। इस कथन द्वारा महालक्ष्मी की तुलना में धरणी का सौभाग्यातिशय ही विवक्षित है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावन में निरावरण चरणों से ही अटन कर रहे हैं। उनके चरणारविन्दों में ध्वज, वज्र, अंकुशादि जो अनेक चिह्न हैं, वे धरणी के उर-स्थल पर मण्डित हो जाते हैं। सौन्दर्यशाली के संसर्ग से असुन्दर वस्तु भी अलंकृत तथा सौभाग्यहीन वस्तु भी सौभाग्यशाली हो जाती है। भगवत्-चरणारविन्दों से दीन-वत्सलता, सौभाग्यातिशयता तथा सौन्दर्यातिशयता ही लक्षित है; इन चरणारविन्दों से जिसका मण्डन हो उसमें गुणगणों की वृद्धि स्वभावतः ही हो जाती है।

ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी पद्मजा द्वारा पूजित होते हुए भी भगवत्-

चरणारविन्द, दीन-वत्सल हैं एतावता उनसे अंकित हो धरणी अलंकृत हो जाती है। **'सरोविलतितम्'** अर्थात् सरोवर फूला है; ऐसी उक्ति का तात्पर्य यही होता है कि सरोवर में कमल-कमलिनी खिले हैं। इसी तरह, भगवत्-चरणारविन्द **'धरणि-मंडनं'** हैं जैसे कथन का तात्पर्य भी यही है कि निरावरण भगवत्-चरणारविन्दों का संस्पर्श प्राप्त कर धरणी मंडित, अलंकृत हो रही है। जिस समय मंगलमय विभु के चरणारविन्द धरणी पर प्रकट होते हैं इन्द्र, ब्रह्मादि देवाधिदेवगण भी पृथ्वी की शोभा निरीक्षण-हेतु धरणी पर पधारते हैं। एतावता धरणी के माध्यम से प्राणीमात्र का मण्डन करनेवाले चरणारविन्दों से वस्तुतः धरणी ही समलंकृत होती है।

'तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः ।
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गीम् ॥'
(श्री० भा० १/१६/३३)

अर्थात्, हे प्रभो ! आपके लावण्य से ही अनन्तानन्त प्राणियों को लावण्य का दान मिलता है; जैसे, महासमुद्र से ही विभिन्न तरंगें उद्गत होती हैं, वैसे ही अनंतकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त ब्रह्म-रुद्र-इन्द्रादिक देव-शिरोमणियों को प्राप्त होनेवाला आनन्द एवं लावण्य, सौरभ्य, सौगन्ध्य, सौभाग्यादि सम्पूर्ण उत्तमोत्तम गुणगण भगवान् के मंगलमय चरणारविन्दों से ही उद्बुद्ध होते हैं। ईशावास्योपनिषद् का कथन है **'यत् किञ्चित् जगत्यां जगत्'** **'जगत्याम्'** अर्थात्, **'पृथिव्याम्'**; **'मायाभूमौ' माया की भूमि;** मायारूपी भूमिका में ही सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च स्थित है। तात्पर्य कि भगवत्-चरणारविन्द ही धरणी के माध्यम से अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों को अपने सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यादि उत्तमोत्तम गुणगणों से अलंकृत करते हैं। अनुभूत सत्य है कि किसी सौभाग्यशाली महापुरुष के रहने पर वहाँ के वातावरण में एक अद्भुत कांति रहती है, वह स्थल जगमगाता रहता है परन्तु उस महात्मा के चले जाने पर वही स्थल, वही वातावरण कांतिहीन, श्रीहीन, दीन हो जाता है। यही कारण है कि आज भी भक्तजन अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि भूमियों का दर्शन करने जाते हैं और वहाँ की मिट्टी को भी अपने मस्तक पर धारण करने में अपना अहोभाग्य मानते हैं, भगवत्-चरणारविन्दों से अंकित भूमि-खण्ड ही विशिष्ट तीर्थस्थान हैं। जिस भक्त के हृदय में भगवत्-चरणारविन्दों का प्रादुर्भाव हुआ हो उसकी मुखाकृति में भी अद्भुत आभा, प्रभा एवं कांति, अद्भुत चमत्कृति दृष्टिगोचर होती हैं। श्री भगवान् के मधुर, मनोहर, मंगलमय पादारविन्द से अलंकृत हृदय में ही भक्ति सुशोभित होती है। एतावता वह भी तीर्थ हैं।

सिद्धान्त है—

'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।'

(श्री० भा० १०/२२/२६)

अर्थात्, जिनकी बुद्धि भगवान् सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् परात्पर परब्रह्म प्रभु में सन्निविष्ट हो चुकी है उनका काम भी वस्तुतः काम नहीं होता। नायक-नायिका-निष्ठ इच्छा भी काम-पद व्यपदिष्ट है; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक सम्पूर्ण संयोग भी काम व्यपदिष्ट है। भगवत्-वाक्य है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।'

(श्री० भ० गी० ७/११)

हे अर्जुन ! धर्माविरुद्ध काम भी मेरा ही स्वरूप है।

'मत्प्रसादस्तु निर्गुणः ।'

वह मेरे प्रसाद से निर्गुण हो जाता है। तात्पर्य कि संसार की विभिन्न वस्तुओं में सात्त्विक, तामसिक एवं राजसिक भाव होते हैं परन्तु भगवत्-प्रसाद तीनों गुणों से पर, निर्गुण ही है।

'र्भाजताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ।'

(श्री० भा० १०/२२/२६)

वह विषय-भोग तात्कालिक सुख का हेतु होते हुए भी भुने हुए धान के तुल्य अंकुरोत्पादिनो शक्ति से हीन होता है। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं—

'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।'

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द की सेवा सदा कर्तव्य है; मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट है।

'चेतस्तत् प्रवणं सेवा ।'

चित्त की तत्प्रवणता ही वास्तविक सेवा है।

'तत् सिद्ध्यै तनु-वित्तजा ।'

भगवदुन्मुखी सेवा अत्यन्त दुरूह है; शरीर एवं वित्त से सेवा करते हुए क्रमशः भगवदभिमुखता प्रस्फुटित होती है। **'वित्तशाठ्यविवर्जितं'** वित्त-शाठ्य निंद्य है। अपनी अर्थ-शक्ति से न्यून अथवा अतिरिक्त करना दोनों ही स्थिति—'वित्त-शाठ्य' है। यदा-कदा इन महत्-वाक्यों के आवरण में पाखण्ड-रचना भी होती है परन्तु सर्वान्तर्यामी यथार्थ ज्ञान में समर्थ है।

'किं करिष्यति जनो बहुजल्पः सर्वथा स्वहितमाचरणीयम् ।'

बुद्धिमान् व्यक्ति अन्य की आलोचना क्यों करे ? वह तो स्वहित की ही चिन्ता करता है।

शास्त्र-कथन है **'नात्मार्थं पाचयेदन्नम्'** केवल अपने लिए ही भोजन न बनावे **'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋ० सं० १०/११७/६) केवल अपने लिए भोजन बनानेवाला अघभक्षी होता है। महाभारत में विघशासी का बड़ा महत्त्व माना गया है। विधिपूर्वक बलि, वैश्वदेव, भूत-यज्ञ, नर-यज्ञ, देव-यज्ञ, ब्रह्म-यज्ञानन्तर भगवान् को भोग लगाकर, अतिथि-सत्कार कर भोजन ग्रहण करनेवाला ही विघशासी है।

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।'

(श्री० भ० गी० ३/१३)

अर्थात् यज्ञावशिष्ट भोजन करें।

प्रत्येक भोग का परिणाम वासना है। वासना ही आशा है **'आशेरते हृदयेषु इति आशयाः'** जो सूक्ष्म रूप से हृदय में शयन करता है वही वासना किंवा आशय, संस्कार है। नाना प्रकार के सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में जम जाते हैं; ये अन्तःकरणस्थित विभिन्न संस्कार ही जन्म-मरण-परम्परा का मूल-कारण, बीजस्वरूप हैं।

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥'

(शाङ्गंधरपद्धति ४/३९)

अर्थात्, प्राणी जितने ही अधिक सांसारिक भोग-विषय किंवा सुहृदादि नातों में प्रेम जोड़ता है उतनी ही अधिक लौह-शलाकाओं को अपने हृदय में ठोकता जाता है। गीता-वाक्य है—

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥'

(श्री० भ० गी० २/६७)

अर्थात्, इन्द्रियों द्वारा विभिन्न विषयों के भोग में तब तक खतरा नहीं जब तक मन से उनका अनुगमन न हो। सिद्धान्त है—**'प्राणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।'** (म० भा०, शान्तिपर्व १७७/१६) सम्पूर्ण काम्य पदार्थों को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग ही विशिष्ट है। यदा-कदा बाह्यतः सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग करते हुए भी अन्तःकरण में तत् वासना के संस्कार रह जाते हैं।

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥'

(श्री० भ० गी० ३/६)

अर्थात्, जो कर्मेन्द्रियों का तो संयम कर लेता है परन्तु मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह विमूढात्मा मिथ्याचारी है। ऐसे विमूढात्मा मिथ्याचारी की अपेक्षा वह व्यक्ति जो वैध-वस्तु को प्राप्त कर लेता है अधिक संयत है क्योंकि वस्तु की प्राप्ति से तद्विषयक स्पृहा का अन्त हो जाता है। साथ ही,

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियाः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥'

(महाभारत ५/३९/८५)

अर्थात्, जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने से वह कदापि शान्त नहीं होती, वैसे ही संसार के संपूर्ण काम्य पदार्थ किसी एक व्यक्ति की आकांक्षा-पूर्ति में समर्थ नहीं होते। इस सत्य को जानकर प्राणी संयमपूर्वक रहे। अस्तु, शास्त्राज्ञा है **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** (जाबालोपनिषद्) ब्रह्मचर्याश्रम से ही परिव्रज्या ग्रहण कर ले। **'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'** यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो शास्त्र-विहित मर्यादानुकूल वैधमार्ग से तत्-तत् विषयों के उपभोग-पुरस्सर वैराग्य-संपादन करें। वैराग्य-संपादन होने पर व्यवहारतः तत्-तत् विषय-भोग भी काम-निष्ठ नहीं रह जाता। भगवदुन्मुखी प्रवृत्तियों से विभिन्न वस्तुओं को ग्रहण करने पर उनमें कामता कदापि नहीं आती; वासना के न होने पर आशय, संस्कार नहीं बनते; संस्कार के न होने पर जन्म-मरण-परम्परा नहीं बनती। एतावता वह बाह्यतः भोग भी सर्वानर्थविनिर्मुक्त होता है।

मानिनी पक्ष का व्याख्यान है। जीव में भगवत्-प्रेम, भगवत्-सान्निध्य की मनसा, वाचा, कर्मणा उत्कण्ठा जागृत हो जाने पर भगवान् भी उस जीव का अनुसरण करने लगते हैं। पूर्व-प्रसंगों में इस विषय पर विस्तृत विवेचना की जा चुकी है। ऐसी उत्कट उत्कण्ठाभाववती गोपाङ्गनाएँ ही मानिनी हैं। स्वयं श्री भगवान् ही उन मानिनियों के पक्ष में प्रयास करते हैं। उदाहरणतः सती वृन्दा, तुलसी महारानी की कथा प्रसिद्ध ही है। अत्यन्त ममत्व के कारण गोपाङ्गनाएँ भी यही अनुभव करती हैं कि श्यामसुन्दर मदनमोहन ही उनके लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। वे अनुभव करती हैं मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं 'हे सखियो! तुम्हारे दर्शन से ही हमारे मन में तुम्हारे सम्मिलन की उत्कट इच्छा जाग्रत् हो जाती है अतः हम तुम लोगों के सम्मुख प्रकट नहीं होते।' उत्तर देती हुई वे कह रही हैं—'हे रमण! आप अधिकाधिक अपने चरणारविन्दों को हमारे उरस्थल पर विराजमान कर सकते हैं; इसीसे आपके हृत्ताप का शमन हो जायगा।' उनमें पुनः भगवत्-वाक्य का स्फुरण होता है **'रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्।'** 'हे सखियो! इसमें तो तुम्हारा अवमान ही होगा।' प्रत्युत्तर में वे कह रही हैं, 'हे रमण!

हमको इस अवमान की कोई चिन्ता नहीं । यदि यह अवमान है तो भी वह अत्यन्त स्तुत्य है । **'प्रणतकामदं'**, **'पदमजार्चितं'**, **'धरणि-मंडनं'**, **'ध्येयमापदि'**, **'शंतमं'** एवं **'आधिहन्'** विशेषण-विशिष्ट पाद-पंकज के विन्यास से हमारी प्रशंसा ही होगी ।

निवृत्तिपक्षीय व्याख्यान है । श्रुतियाँ कह रही हैं—हे विभो ! ईश्वर एवं नाना प्रकार के जीवरूप में आप ही लीला हेतु रमण कर रहे हैं । **'तेन तेन रूपेण रमते'** वेद-वाक्य है **'अयमावसथः, अयमावसथः, अयमावसथः'** (ऐ० उ० ३/१२) भगवान् के तीन धाम, निवासस्थान हैं । जागरावस्था में भगवत्-धाम नेत्र हैं; तात्पर्य नेत्रोपलक्षित तत्-तत् पंच ज्ञानेन्द्रियाँ ही जागरावस्था में भगवत्-धाम हैं । तत्-तत् ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तत्-तत् विषय का आहरण करते हुए तत् तत् इन्द्रियोपारूढ अन्तःकरण पर अभिव्यक्त होकर भगवान् ही रमण करते हैं । स्वप्नावस्था में भगवान् का धाम कण्ठ है; कण्ठ-स्थान में सूक्ष्म शरीर की प्रधानता रहती है; स्वप्नावस्था में उस सूक्ष्म शरीर में अवस्थित होकर भगवान् रमण करते हैं । सुषुप्ति-अवस्था में, निद्राकाल में भगवान् हृदय-स्थान में विहरण करते हैं । हृदय-स्थान में कारण-देह की प्रधानता है; इस कारण-देह में विराजमान होकर भगवान् सुषुप्ति-अवस्था में विहरण करते हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त प्राणियों में जो सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सर्वाभिमानी होकर रमण करे वही राम है; अथवा योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंस जिसमें रमण करते हैं, वह राम है । तात्पर्य कि जो सबमें रमण करे, और जिसमें सम्पूर्ण विश्व रमण करे वही राम है । **'नः श्रुतीनां स्तनेषु कर्मोपासनाभागेषु'** कर्मकाण्ड एवं उपासना-काण्ड भागद्वय श्रुतियों की स्तन-द्वयी है । इस स्तन-द्वय में भगवत्-पादारविन्द-विन्यास की कामना श्रुतियाँ कर रही हैं । तात्पर्य कि कर्मकाण्डपरक एवं उपासनाकाण्डपरक सम्पूर्ण वेद-राशि का महातात्पर्य भगवत्-चरणारविन्द ही है; ऐसी दृढ़ अभिव्यंजना अधिकारी भक्तजनों के हृदय-न्यस्त हो यही उनकी कामना है । कर्म एवं उपासना-काण्ड के आदेशानुसार भगवान् के मंगलमय पादारविन्द की आराधना करता हुआ जीव अपने अन्तःकरण की शुद्धि संपादन कर चित्त की एकाग्रता अर्जित कर लेता है । एकाग्र चित्त से वेदान्त-श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हुए प्रत्यक्, चैतन्याभिन्न, परात्पर परब्रह्म परात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर परमपद को प्राप्त हो जाता है । हे वीर ! आप अविद्या एवं तत्कार्यात्मक प्रपंचों के समूल उन्मूलन में समर्थ हैं । आपके चरणारविन्द **'प्रणतकामदं'**, प्रणत-प्राणी के सांगोपांग काम, सर्व प्रकार की कामनाओं की संपूर्ति प्रदान करनेवाले हैं; **'पद्मजार्चितं'** पद्मज ब्रह्मा एवं पद्मजा

महालक्ष्मी द्वारा पूज्य हैं, **'आधिहन्'** सम्पूर्ण आधि-व्याधि एवं शोक-संताप के हर्ता हैं—

**'जिह्वैकतोच्युत विकर्षति मावितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥**
(श्री० भा० ७/९/४०)

जैसे कोई पुरुष अपनी अनेक पत्नियों द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा जाकर विह्वल हो उठता है, वैसे ही, दीन-हीन बना हुआ मन एवं मन-विशिष्ट अन्तरात्मा भी दसों इन्द्रियों द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचे जाकर अत्यन्त विह्वल, अत्यन्त चंचल हो उठता है।

'तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः।' (श्री० भा० ७/९/३९) ऐसा दीन-हीन, विह्वल, चंचल मन आपके अनुसन्धान में क्योंकर प्रवृत्त हो सकता है? ऐसे आपत्ति-काल में भी आपके चरणारविन्द ही एकमात्र आश्रय हैं, आपके चरणारविन्द ही **ध्येयमापदि** हैं। भगवत्-पादपंकज का ध्यान करने से ही सम्पूर्ण अशांति के कारण का ही अन्त हो जाता है। भगवत्-पदाम्बुज-ध्यान-रत प्राणी अनेकानेक लौकिक कामनाओं से त्रस्त नहीं होता। दृष्ट-कार्य-कारण-भाव, इस लोक में ही जिसका कार्य-कारण-भाव सिद्ध है, **'कण्टकेन कण्टकोद्धारः'** भगवत्-चरणारविन्दानुरागी सम्पूर्ण इतर विषयों से विरक्त हो जाता है : आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्कामजनों की जन्म-मरण-परम्परा के बीज का उच्छेदन हो जाता है। व्यवहारतः भी किसी विशिष्ट-विषय के ध्यान द्वारा मन को अन्य विषयों से उपरत किया जा सकता है; जैसे क्रोधाकारवृत्ति के उद्भूत होने पर तत्काल के लिए काम-वृत्ति उपशमित हो जाती है परन्तु ऐसे शमन न शोभन होते हैं, न पुण्यकारक। भगवत्-चरणारविन्द का ध्यान सदा-सर्वदा-सर्वत्र शोभन भी है और पुण्य-कारक भी। उदाहरणतः अर्जुन में दुर्योधन के आधिपत्य को समाप्त कर अखण्ड भूमण्डल का राज्य प्राप्त कर लेने की अत्यन्त प्रबल इच्छा थी; तदर्थ अर्जुन ने भगवान् सदाशिव की उग्र आराधना कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया; सात अक्षौहिणी सेना का संघटन किया; स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द भगवान् को निमंत्रित कर संग्राम-क्षेत्र में भी ले आया; ये समस्त क्रियाएँ साम्राज्य-प्राप्ति के प्रति अत्यन्त लोभ ही प्रदर्शित करती हैं। फिर भी, संग्राम का अवसर उपस्थित होने पर संग्राम हेतु उद्यत अपने सम्पूर्ण परिजन, स्वजन, गुरुजन अपने समस्त समाज को देखकर अर्जुन मोहग्रस्त हो गया। मोह के उदित होने पर लोभ का तात्कालिक शमन हुआ और अर्जुन कहने लगा—

**'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः किं नु महीकृते ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।'**

(श्रीमद्भगवद्गीता १/३५-३६)

अर्थात्, हे जनार्दन ! पृथ्वी के राज्य के लिए तो क्या त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी तो मैं अपने इस बन्धुवर्ग को मारने के लिए तत्पर नहीं हो सकता ।

**'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥'**

(श्रीमद्भगवद्गीता १/४६)

हे जनार्दन ! निहत्यं एवं अप्रतिकार, शस्त्रास्त्र का प्रयोग न करते हुए मुझको ये धार्तराष्ट्र, दुर्योधनादिक मार भी डालें तो वही मेरे लिए परम श्रेयस् होगा । मोह के उद्बोधन से लोभ का तात्कालिक शमन हो गया तथापि यह सर्व-कामना-विनिर्मुक्त वैराग्य नहीं । भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।' (श्री० भ० गी० २/११) हे अर्जुन ! तू मोह के वशीभूत विवेकशून्य हो अत्यन्त विवेकीजन की तरह बातें करता है; यह तेरा अज्ञान ही है ।

'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' (श्री० भ० गी० २/३) हे पार्थ ! तू क्लैब्य को मत प्राप्त हो । तात्पर्य कि 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः' न्यायतः मोह के उद्बोधन से लोभ का तात्कालिक उच्छेद हो गया परन्तु वह वस्तुतः वैराग्य नहीं, अपितु कार्पण्य-दोष ही था । कभी-कभी तत्काल अनर्थ-निवृत्ति हेतु येन-केन-प्रकारेण मन को विषय के प्रबल आकर्षण से हटा लेना ही कर्तव्य है परन्तु भगवत्-चरणारविन्द का श्रयण सर्वोत्तम है । भगवत्-चरणारविन्दो का आश्रयण ही फल-पर्यवसायी होता है; इस आश्रय की महिमा से वस्तुतः वैराग्य स्वतः उद्बुद्ध हो जाता है । भगवत्-चरणारविन्दों का ध्यान प्राणी के समस्त पाप-ताप का भी मूलोच्छेदन कर देता है, साथ ही, उसके पुण्य को प्रादुर्भूत कर उसका मंडन कर देता है ।

**'अतिपातकयुक्तोऽपि, ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति, पंक्तिपावनपावनः ॥'**

(महाभारत, भण्डारकर संस्करण १३)

अर्थात्, जो प्राणी एक निमिषमात्र के लिए भी श्री भगवान् के मधुर मनोहर चरणारविन्द का चिन्तन कर लेता है वह घोरातिघोर पातक-युक्त होने पर भी परम तपस्वी एवं पंक्ति-पावनों का भी पंक्ति-पावन हो जाता है । भगवत्-

चरणारविन्दों में कोई ऐसा अदृष्ट विशिष्ट कार्य-कारणभाव है जिसकी महिमा से पाप-पंक में फँसे प्राणी को तत्काल पंक्ति-पावन बना देता है। अस्तु, भगवत्-पदाम्बुजों में साधनरूपता भी है, साध्यरूपता भी।

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥'
(श्रीमद्भागवत १०/१४/२९)

अर्थात्, देवाधिदेव ब्रह्माजी कह रहे हैं—'हे देव! यद्यपि यह सत्य है कि आप ही स्वप्रकाश, स्वयंज्योति नारायण हैं।' **'नराणां समूहो नारः जीवाः, नराणां समूहो नाराः, नारान् अयते जानाति इति नारायणः, नरस्य अयनं सः नारायणः'** आदि अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् ही जीव-समूह के अधिष्ठान, प्रेरक, साक्षी, इष्ट एवं अन्तर्यामी हैं—

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तायदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥'
(मनु० १/१०)

भक्ति-ग्रंथानुसार भगवत्-पादारविन्द ही मूर्तिमान् भक्ति है। **'धरणि-मण्डनं'** भगवान् ने अपने चरणारविन्दों से भूमण्डल को अलंकृत किया; तात्पर्य कि भगवत्-पादारविन्दस्वरूप मूर्तिमती भक्ति के आविर्भाव से सम्पूर्ण भूमण्डल समलंकृत हुआ। सांगोपांग भगवत्-विग्रह का वह महत्त्व नहीं जो भगवत्-पादारविन्द का है। पूजा-उपासना करते हुए भी भगवत्-पादारविन्द में ही नमन किया जाता है, अन्यान्य अवयवों के प्रति, यहाँ तक कि मुखारविन्द के प्रति भी नमन नहीं किया जाता। भगवत्-चरणारविन्द से प्रवाहित होने के कारण ही गंगाजल का इतना अधिक महत्त्व है कि शिवलिंग एवं शालिग्राम का पूजन तथा अभिषेक गंगोदक द्वारा किया जाता है।

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपिऽचिरं विचिन्वन्॥'
(श्रीमद्भागवत १०/१४/२९)

अर्थात्, हे देव! आपके पादाम्बुज की लेसमात्र भी अनुकम्पा जिसको प्राप्त हो जाय वही भगवत्-साक्षात्कार कर सकता है, अन्यथा चिरकाल तक **'नेति अस्थूलं अनणु अह्रस्वं'** आदि वाक्यों द्वारा निगमाटवी में उस पूर्णतम पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन, परात्पर परब्रह्म का अनुसन्धान करते-करते अत्यन्त परिश्रान्त हो

जाने पर भी भगवत्-साक्षात्कार असंभव है। उपासकोपास्य रूप धारण कर आप ही विविध प्रकार से रमण कर रहे हैं। एतावता श्रुतियाँ भी प्रार्थना कर रही हैं, हे रमण! कर्मकाण्ड एवं उपासना-काण्डरूपी हमारे स्तनमण्डलद्वय पर आप अपना चरणारविन्द विन्यस्त करें। आप ही कर्म एवं उपासना-भाग वेद-राशि के महातात्पर्य हैं ऐसा सुदृढ़ ज्ञान भक्तजन-हृदय में अभिव्यंजित करें। इस ज्ञान के अनुभव से भक्त तन्मय होकर विशेषणविशिष्ट आपके चरणारविन्द का ध्यान करता हुआ अनेकानेक अर्थानर्थों से विनिर्मुक्त हो, आपमें ही प्रयुक्त हो जावेगा।

●

श्रीहरिः

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ।।१४।।

अर्थात्, हे वीर ! आप अपने सुरत-वर्धक, शोक-नाशक, इतर-राग-विस्मारक तथा नादयुक्त वेणु द्वारा सम्यकतः चुम्बित अधरामृत को हमारे लिये प्रदान करें।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे वीर ! आप धन्वन्तरि-अवतार-तुल्य अप्रतिम भिषग्-शिरोमणि हैं अतः हमें भी उस महौषध को प्रदान करें । वह महौषध सुरत-वर्धक है । आचार्य जनों ने **'सुरत'** शब्द का अर्थ **'सुष्ठु रतं रमणं'** उत्कृष्ट अनुराग को बढ़ानेवाला किया है । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाएँ अप्राकृत होते हुए भी प्राकृतवत् भासित होती हैं । प्राकृत में ही रागानुगा, स्वाभाविकी प्रीति सम्भव है । अप्राकृत में अलौकिकता होती है; अलौकिक में वैधी प्रीति तो हो जाती है परन्तु विधि-निषेधातीत स्वाभाविकी प्रीति असम्भव है। अस्तु, प्राकृत किंवा लौकिक ग्राम्य-धर्मा, ग्राम्यवत् प्रतीयमान होने पर भी भगवत्-परिष्वंग ग्राम्यधर्मानुसार स्त्री-पुमान् का परस्पर निगूढ़ सम्बन्ध-विशेष नहीं, अपितु शुद्ध ब्रह्मसंस्पर्श है । गीता-वाक्य है,

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।'

(श्री० भ० गी० ५/२१)

अर्थात्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक बाह्य संस्पर्श से विनिर्मुक्त प्राणी ही ब्रह्म-संस्पर्शजन्य आनन्द का अनुभव कर पाता है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं अहंकार से भिन्न अजर-अमर, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परब्रह्मात्मा से अभेद ही ब्रह्म-परिष्वंग है । भोक्ता में भोग्य का विलीनीकरण ही 'सुरत' किंवा सम्भोग है । अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परमात्मा द्वारा जीवात्मा को

---

१. गोपी-गीत की प्रस्तुत व्याख्या तीन चातुर्मासों में १–१०, १५–१९ और ११–१४ श्लोक के क्रम से की गई थी अतः इस (१४) श्लोक की व्याख्या सबसे अन्त में हुई । इस श्लोक में वर्णित विषयों की विस्तृत विवेचना अन्य श्लोक-प्रसंगों में हो चुकी है । एतावता पुनरुक्ति दोष-निवारणार्थ ही इस श्लोक की व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त रूप में की जा रही है ।

आत्मसात् किया जाना ही **'एष सर्वस्वभूतस्तु'** परिष्वंग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा अमलात्मा परमहंस-जनों को जो ब्रह्म-परिष्वंग प्राप्त होता है वही दिव्य **'परिष्वंग'** सच्चिदानन्दघन, आनन्दकन्द, परमानन्द, श्रीकृष्णचन्द्र के संस्पर्श से व्रज-सीमन्तिनी जनों को भी प्राप्त हुआ। यह लौकिकवत्-परिलक्षित परिष्वंग ही 'सुरत' पदवाची है। भगवत्-अधरामृत इस 'सुरत' का निरन्तर वर्धक है। देश-कालानुसार प्रत्येक ग्राम्य-धर्म परिसीमित होता है परन्तु ग्राम्य-धर्मवत् आभासित भगवत्-परिष्वंग निरन्तर वर्द्धमान है, यही उसकी विशेषता है। यथार्थतः ही, भगवत्-तत्त्व-साक्षात्कार से प्राणी अज्ञानात्मक प्रपंच से उपरत हो जाता है; जैसे-जैसे तत्त्व के साक्षात्कार में स्पष्टता एवं दृढ़ता आती जाती है वैसे-वैसे ही बुद्धि निर्मल होती जाती है; निर्मल चित्त से ही भगवत्-स्वरूपानुभूति, भगवत्-तादात्म्य सम्भव है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, मदनमोहन, श्याम-सुन्दर के मंगलमय मुखचन्द्र का अधरामृत ही सुरत-वर्धक महौषध है।

'अधर एवं अमृत' अधर ही अमृत है, तात्पर्य कि फलस्वरूप है। भगवत्-पादारविन्द एवं हस्तारविन्दों में साध्य-स्वरूपता के साथ ही साथ साधन-रूपता भी है परन्तु भगवत्-मुखारविन्द में केवल साध्य-स्वरूपता, फल-स्वरूपता ही है।

'शोक-नाशनं' भगवत्-अधरामृत सम्पूर्ण शोक-मोह का उन्मूलन करनेवाला है एतावता देव-भोग्य अमृत से भी उत्कृष्ट है। देव-भोग्य अमृत को प्राप्त कर शोक-मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं होती परन्तु भगवत् अधरामृत को प्राप्त कर लेने पर प्राणी के सम्पूर्ण शोक-मोह का समूल-उन्मूलन हो जाता है।

'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्'

अर्थात्, नादयुक्त वेणु द्वारा सम्यकतः चुम्बित। गोपाङ्गनाओं को श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन, व्रजेन्द्र-नन्दन, श्रीकृष्णचन्द्र में उत्कृष्ट अनुरागजन्य ममत्व है। एतावता वे अनुभव करती हैं कि भगवत्-अधरामृत पर एकमात्र उन्हींका अधिकार है। गोपाङ्गना-जनों के इस स्वभूत-अधरामृत को अनधिकारी वेणु भी पान करता है, यह उनकी ईर्ष्या का हेतु बन जाता है। वेणु पुमान् है। रस-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार भी नायिका ही नायक के अधरामृत की एकमात्र अधिकारिणी है। पुमान् वेणु शुष्क बाँस, कीचक ही है तथापि धार्ष्टर्द्धवशात् ही **'स्वरित'** उच्च स्वर से गाते हुए अधरामृत का चुम्बन करता है; वह प्रेमानन्द में विभोर है। वेणु द्वारा सुष्ठु चुम्बित होने पर भी यह अधरामृत उच्छिष्ट

नहीं होता; जैसे मधु-मक्खियों का उच्छिष्ट होने पर भी मधु उच्छिष्ट नहीं होता। भगवत्-अधरामृत अचूक रसायन, महौषध है।

'इतररागविस्मारणं नृणां'

भगवत्-अधरामृत रसायन इतर सम्पूर्ण रागों का विस्मारक है। जैसे, सूर्यनारायण के सम्मुख अन्य सम्पूर्ण प्रकाश धूमिल पड़ जाते हैं किंवा एक बार विशिष्ट रसायन सेवन कर लेने पर अन्य औषधियाँ प्रभावहीन हो जाती हैं, वैसे ही, भगवत्-अधरामृत रूप-रसायन, महौषध पान कर लेने पर अन्य सम्पूर्ण रसान्वयी पदार्थ नीरस हो जाते हैं।

'वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्'

व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे वीर ! अपने अधरामृत को आप हमारे लिये प्रदान करें। हे श्याम-सुन्दर ! मदन-मोहन। आप दानवीर हैं; दानवीर के लिये न तो पात्रापात्र का विचार होता है और न उत्कृष्टातिउत्कृष्ट वस्तु भी अदेय होती है; एतावता, आप अपने इस अमूल्य अधरामृत को भी हमारे लिये प्रदान करें।

●

श्रीहरिः

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

अर्थात्, हे प्रिय ! दिन के समय जब आप वन में विहरण करते रहते हैं तो आपके अदर्शन से हमें एक-एक क्षण भी युगवत् प्रतीत होने लगता है; सन्ध्या समय जब आप लौटते हैं और हम आपकी घुँघराली लटों से युक्त मुखचन्द्र को निहारने लगती हैं तो हमारी आँखों की पलकें ही हमारे लिये शत्रुवत् हो जाती हैं क्योंकि इनका बार-बार गिरना आपके मुखचन्द्र के दर्शन में विघ्नकारक होता है। ऐसे समय हमको प्रतीत होता है कि इन नेत्रों को बनानेवाले विधाता जड़ मूर्ख हैं।

'अटति यद् भवानह्नि काननं' आप दिनभर वृन्दावन में पर्यटन करते हैं; आपका यह पर्यटन सर्वथा प्रयोजनरहित है। इस वृन्दावन में तो कोई दर्शनीय वस्तु भी नहीं है; गोकुल में, नन्द-ग्राम में, बरसाने में रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी श्री राधारानी के मंगलमय मुखचन्द्र का दर्शन हो सकता है; इस दर्शन से आपके नेत्र सफल हो सकते हैं। तब भी, आप तो वन में ही पर्यटन करते रहते हैं और आपके अदर्शन से हम लोगों को त्रुटिवत् काल भी युगवत् प्रतीत होता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार शत कमल-पत्र को एक पर एक रखकर तीव्र धारयुक्त तलवार से वेगयुक्त छेदन के प्रयास में तलवार की गति के पौर्वापर्य-कालसमूह से भी जो सूक्ष्म काल है वही क्षण कहलाता है। एक क्षण का सत्ताईस सौवाँ भाग 'त्रुटि' कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण त्रुटि-काल अनुभूत भी नहीं हो सकता। **'त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः'** (श्रीमद्भा० ३/११/६)। 'त्रुटि' वह काल है जितने समय में सूर्य तीन त्रसरेणुओं का उल्लंघन करता है। सौ त्रुटियों का एक वेध, तीन वेधों का एक लव, तीन लवों का एक निमेष और तीन निमेषों का एक क्षण होता है। अस्तु, एक क्षण का सत्ताईस सौवाँ भाग ही 'त्रुटि' काल है। कहीं-कहीं 'क्षण' को ही अव्यवहार्यतः सूक्ष्म कहा गया है। श्याम-सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावन में अटन कर रहे हैं। उनकी परम-प्रेयसी गोप-सीमंतिनियाँ उनके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संतप्त होकर त्रुटि-परिमित काल को भी युगतुल्य अनुभव करती हुई कथंचित् कालयापन कर रही हैं। यहाँ भावना होती है कि ऐसा क्योंकर सम्भव है? किस कारण गोपाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण के अदर्शन से क्षण

भी युगवत् प्रतीत होता है ? **'भवस्य दग्धकामस्य भवस्यापि अनः प्राणः। अनिति तिष्ठते इति अनः-प्राण; दग्धकामस्य शंकरस्यापि जीवनभूतः'** भव, शंकर जो दग्धकाम है, जिसने कन्दर्प को अपने दृष्टिमात्र से भस्मीभूत कर दिया, उनके भी आप प्राण हैं: **'किमुत वक्तव्यं अस्माकं कामिनीनां भवान् अनः भवेत्'** तब हम कामिनीजनों के भी आप प्राण, जीवन-सर्वस्व क्यों न हों ? हम कामिनियों के लिए श्यामसुन्दर, मदनमोहन श्रीकृष्ण ही जीवन-मूल हों इसमें क्या विस्मय है ? तात्पर्य कि व्यवहारतः भी यह स्वाभाविक है कि रागियों की रागास्पद कोई सुन्दर वस्तु ही हो : किसी सुन्दरी को देखकर रागी काम-उत्कंठित हो जाय यह तो स्वाभाविक है परन्तु जिसमें वीतरागी का मन भी चंचल हो उठे वह प्रेमास्पद ही विशिष्ट है। सौन्दर्य माधुर्य सौरस्य-सुधा जलनिधि श्यामसुन्दर, मदनमोहन के सौन्दर्य का हो वैशिष्ट्य है कि काम-दग्ध, आप्तकाम पूर्णकाम परम-निष्काम भूत-भावन भगवान् शंकर भी आपके अनन्य अनुरागी हैं और आपके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में रागियों का, विशेषतः हम जैसी अनुरागिणियों का मन आकृष्ट हो जाय यह तो अत्यन्त स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन के अदर्शन में त्रुटि-परिमितकाल भी हमारे लिये युगवत् प्रतीत होता है। प्राण के संकटापन्न होने पर अत्यन्त सूक्ष्म काल, एक क्षण भी व्यतीत होना कठिन हो जाता है; एक-एक क्षण शत-शत कोटि युगवत् प्रतीत होने लगता है; परन्तु प्राण सुखी हों तो कोटि कल्प भी क्षणवत् व्यतीत हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अदर्शन में गोपाङ्गनाओं को त्रुटिकाल भी युग-तुल्य प्रतीत होता था परन्तु भगवत्-सन्निधान में कोटि-कोटि ब्रह्म-रात्रियाँ सन्निविष्ट प्रहर चतुष्टयवती रात्रि भी क्षणार्धवत् बीत गई।

'तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।' (श्री० भा० ११।१२।११) और

'गोपीनां परमानन्द आसीत् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥'

(श्री०भा० १०/१९/१६)

भगवान् श्रीकृष्ण प्राण के भी प्राण हैं। **न केवलं भवस्य शंकरस्यैव अपितु सर्वं स्वंय भवस्य विश्वस्य भवान् अनः प्राणः'** वे केवल हमारे ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के प्राण हैं, भव-शंकर के भी प्राणों के प्राण हैं; उनके त्रुटिकाल-पर्यन्त वियोग में भी जीवन क्योंकर सम्भव हो सकता है ? प्राण के वियोग में ही दारुण दुःख होता है। वेद-वाक्य है,

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥'
(कठ० २/२/५)

लौकिक प्राण एवं अपान प्राणी के जीवन-धारण का कारण नहीं है; जीवन का मूल आधार वह इतर है जिस पर प्राण और अपान दोनों ही आश्रित हैं। प्राण एवं अपान के झूले में झूलनेवाला वह इतर ही प्राणों के प्राण, सुख के सुख राम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही वह सूत्रधार हैं जिसके आधार पर प्राणापान क्रमबद्धतः उदित एवं विलीन होते रहते हैं। 'योगवासिष्ठ' में 'प्राणोपासना' का बड़ा महत्त्व बताया गया है; इस उपासना का उपदेश काकभुशण्डीजी ने वशिष्ठ-जी को किया; **'हंसस्सोऽहम् हंसस्सोऽहम्'** का अनुभव करना ही प्राणोपासना है। **'एक एव हंति गच्छति इति हंसः'** **'हंस'** शब्द का अर्थ है ब्रह्म; **'हंस'** शब्द का अर्थ सूर्य भी होता है। **'हंसः शुचि षद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥'** (कठ० २/२/२) ये सब सूर्य के नाम हैं; सूर्य के नाम होते हुए भी सब परब्रह्म के भी नाम हैं। 'हंस' ही वह परम मंत्र है जिसे प्राणी निरन्तर जपता रहता है। **'हकारेण बहिर्याति सकारेणाविशेत्पुनः'** ॥६१॥ **'हंसहंसेत्यमुंमन्त्रं जीवो जपति सर्वदा'** (ध्यानबिन्दूपनिषद्) अर्थात् हकार से श्वास बाहर जाता है, सकार से श्वास भीतर जाता है, प्राणापान की इस निरन्तर गति से **'सोहम्'** शब्द सदा होता रहता है। प्राण एवं अपान, दोनों ही जिस आधार पर टिके हैं वही वाक्यार्थ है, वही परब्रह्म हैं, वही परमेश्वर हैं, वही भगवान् हैं, राम हैं, कृष्ण हैं। लक्ष्यार्थ माने **'तत्त्वं'**, **'तत्त्व'** पद का वाक्यार्थ क्या है? **'त'** भी पदार्थ है **'त्वं'** भी पदार्थ है; दोनों का वाक्यार्थ है अभेद। जैसे, समुद्र ही तरंगों के उदित एवं विलीन होने का आधार है, वैसे ही **'प्राणापान'** तप तरंगों के उदित एवं लय का एकमात्र आधार, सर्वाधिष्ठान, परात्पर परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। अतः **'भवस्य सर्वस्यैव'** आप ही सम्पूर्ण संसार के प्राणों के प्राण हैं; जैसे प्राण बिना प्राणी निस्सार हो जाता है, वैसे ही आप बिना जगत् निष्प्राण हो जाता है। **'सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्'** (श्री० भा० ५।१९।२४) जहाँ भगवान् की मंगलमयी कथा-सुधा का पान करने को न मिले, जहाँ भगवद्-भक्तों का संग न मिले, वह यदि इन्द्रलोक भी हो तो भी वहाँ न रहें।

'भाति, वाति, अनिति सर्वं काननं सर्वं जगत्-यस्मात् स-भवान्'—सम्पूर्ण संसार, सम्पूर्ण वन, वृन्दावन धाम सब आप ही से देदीप्यमान हैं, आप ही से सुगन्धमय है, आप ही तो जीवनयुक्त है। मानव-शरीर में ही दिव्य सुगन्ध भी

है, विचित्र दुर्गन्ध भी है। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए सत्कर्म द्वारा प्रसारित यश ही दिव्य सुगन्ध है; विमार्ग का अनुसरण करते हुए अकर्म-कुकर्मजन्य अपयश ही दुर्गन्ध है। प्राणी के यशस्वरूप सुगन्ध से लोकान्तर प्रसन्न होते हैं और अपयशरूप दुर्गन्ध से लोकान्तर खिन्न हो जाते हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत् को देदीप्यमान करनेवाले हैं, आप ही सम्पूर्ण जगत् को जीवित, प्रफुल्लित करनेवाले हैं।

'भवति सर्वं जगद् यस्मात् इति भवः, अनिति चेष्टते जगत् यस्मात् इति अनः भवश्चासौ अनश्चेति भवानः' आप ही से सम्पूर्ण जगत् उद्भूत है, आप ही से सम्पूर्ण जगत् सचेष्ट है। **'तज्जलानितिशान्त उपासीत'** (छा० ३/१४/१)

सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न होता है, परमात्मा से ही सचेष्ट होता है, और परमात्मा में ही लीन हो जाता है अतः सम्पूर्ण जगत् ही **तज्जलान्** है। एतावता भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति के मूल कारण भी हैं और आधार भी हैं अतः त्रुटिकालपर्यन्त श्रीकृष्ण-वियोग असह्य है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभु! हे सर्वेश्वर! हे प्राणधन! आप तो वृन्दावन धाम में अटन कर रहे हैं और हम आपके विप्रयोग जन्य तीव्र ताप से अत्यन्त संतप्त हो रही हैं; आपके अदर्शन से हमारे लिये त्रुटिकाल भी युगवत् हो रहा है; हे मदनमोहन! अब तो कृपा कर दर्शन दें।

'कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।' व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! आपके दर्शन में भी सुख नहीं है। **'न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्'** और अदर्शन में तो क्षण का सप्तविंशतिशततम काल, त्रुटि भी युगवत् प्रतीत होता है। जिस समय आपके मुखचन्द्र के दर्शन होने भी लगते हैं उस समय **'कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां उच्चैर्निरीक्षमाणानां पक्ष्मकृद् विधाता जडः सोपि अत्यन्तं दुःखं करोति'** मूर्तिमती निशा-स्वरूप कुटिल अलकावली से समावृत आपके मुखचन्द्र की विशिष्ट शोभा के दर्शन के लिये अत्यन्त उत्सुक उत्कंठित प्राणी विशेषतः रसिक अनुरागीजन, हम गोपाङ्गनाएँ जड़ विधाताकृत अपने पक्ष्मों के ही कारण संतप्त रहती हैं। इन पक्ष्मों को बनानेवाले विधाता, ब्रह्मा अवश्य ही जड़ हैं; यदि विधाता रसिक होते तो वह उस आनन्द को समझ सकते जो आपके इन कुटिल कुन्तल समावृत मुखचन्द्र की विशिष्ट शोभा को निहारने से प्राप्त होता है :—

'जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती ॥'

(मानस, बाल० १८४/३)

वात्सल्यभाववती व्रजेन्द्र-गेहिनी, नन्दरानी यशोदा, सख्य-भाववती व्रजाङ्गनाएँ एवं दुर्योधन, अर्जुन सबको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन से अपनी-अपनी विभिन्न भावनानुसार जो विभिन्न स्वाद प्राप्त होता था उसको अन्य कौन समझ सकता है ? सख्य-भाववती गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्याम-सुन्दर ! विधाता नहीं जानते कि हमको आपके कुटिल कुन्तल समावृत मुखचन्द्र दर्शन से कितना अद्भुत स्वाद प्राप्त होता है। जड़, अरसिक विधाता ने इन पक्ष्मों का निर्माण किया जिनके कारण हमको आपके दर्शन के समय में भी सुख की पूर्णतः उपलब्धि नहीं हो पाती। हे श्याम-सुन्दर, आपके ये कुटिल कुन्तल **'कुं, भूमिं तलयति अधोनयति स्वशोभया इति कुन्तलम्।'** अपने सौन्दर्य-माधुर्य से भूमि को भी नीचा दिखा देनेवाली ही हैं। **अलं कं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते अलका ब्रह्मविद्ः**—जिनका सुख अत्यर्थ सुख है; **'अलं अत्यर्थं सुखम्'** ब्रह्मविदितर सम्पूर्ण प्राणियों के सुख क्षुद्र एवं परिच्छिन्न होते हैं; ब्रह्मविद् का सुख ही अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है; अतः **'अलकाः ब्रह्मविदः; अलकानां अवली, अलकावली'** ब्रह्मविदों की अवली, ब्रह्मविदों की मण्डली, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र की आभा, शोभा, प्रभा, कांति का रसास्वादन करती है।

हे श्यामसुन्दर ! आपका यह कुटिल कुंतल समावृत श्रीमुख **'वनरुहाननं बिभ्रदावृतं'** है; आपके श्रीमुखरूप नील पंकज पर अलकावलीरूप भ्रमर-मण्डली गुंजारव-शून्य होकर अरविन्द-मकरन्द-पान में मत्त है। भगवत्-मुखारविन्द के मकरन्द का पान करते-करते यह भ्रमर-मण्डली इतनी अधिक बेसुध हो गई है कि वह अपने स्वाभाविक गुंजार को भी भूल बैठी है।

'कुटिलकुंतलं श्रीमुखं उदीक्षतां उच्चैर्निरीक्षमाणानां यो ति सहते अभिभवति पक्ष्माणि कृत्वा स पक्ष्मकृत् जडः' अथवा **'यः पक्ष्माणि निकृन्तति स पक्ष्मकृत् स एव अजडः** कुटिलकुंतल संश्लिष्ट आपके श्रीमुख का दर्शन करनेवालों में भी वही अजड़ है, वही रसिक है, वही विवेकी है जिसने अपने पक्ष्मों का भी निकृन्तन कर डाला है क्योंकि ये पक्ष्म बार-बार गिरकर प्रियतम-मुखचन्द्र के दर्शन में विघ्न डालते हैं। जनक-नन्दिनी जानकी भगवती, भगवान् श्री राघवेन्द्र रामचन्द्र के मुखदर्शन करने लगीं तो—

'भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल ॥'

(मानस, बाल० २२९/४)

तात्पर्य कि वही रसिक है जो निमेषोन्मेष-विवर्जित नयनों से श्रीमुख-दर्शन

में तन्मय हो जाय। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हमारा दुर्भाग्य है कि आपके अदर्शन में घोर व्यथा को सहती ही हैं परन्तु दर्शन होने पर भी अपने इन पक्ष्मों के कारण अबाध सुख, अबाध आनन्द प्राप्त नहीं कर पातीं।

अनुरागियों के, प्रेमियों के मन की विचित्र अवस्थाएँ होती हैं—स्नेह, कोप, ईर्ष्या, प्रणय आदि परस्पर विरोधीभाव भी एक साथ ही उद्बुद्ध हो जाते हैं।

दिङ्नागकृत 'कुन्दमाला' नामक ग्रंथ तथा भवभूति के 'उत्तररामचरित्र' में सीता-वनवास का वर्णन है। शम्बूक-वधप्रसंग से भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र दण्डकारण्य पधारे और पंचवटी के उस वन में पधारे जहाँ भगवती सीता के साथ वनवास के अवसर में रह चुके थे। वहाँ के हाथियों को, वृक्ष एवं लताओं को जिनको जनकसुता जानकी ने पुत्रवत् पाला था, देखकर सीता की स्मृति से विह्वल होकर वे मूर्च्छित हो गए। भगवती सीता अपनी सखी वासन्ती के साथ वहाँ अदृश्य रूप से उपस्थित थीं। सीता को वरदान था कि वे सबको देख सकती थीं परन्तु उनको कोई नहीं देख सकता था। वासन्ती नाम्नी कोई दिव्य देवी महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ब्रह्मविद्या का अध्ययन करती थी; यही वासन्ती देवी भगवती सीता की सखीरूप में सदा उनके साथ ही रहा करती थीं। सखी वासन्ती के अनुरोध पर जनकनन्दिनी ने भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र की मूर्च्छा-भंग हेतु अपने कोमल करपल्लवों से उनका संस्पर्श किया; इस संस्पर्श को पाकर भगवान् जाग उठे परन्तु भगवती सीता को न देखकर विलाप करने लगे—'निश्चय ही यह कर-स्पर्श किसी अन्य का हो ही नहीं सकता; यह मुझको भ्रम हुआ अथवा स्वप्न हुआ है?' आदि। राघवेन्द्र रामचन्द्र को देखकर भगवती सीता के मन मेंभी अनेक भाव उत्पन्न हुए; आसन्नप्रसवा स्थिति में त्याग के कारण क्रोध, अपने पुत्रों, लव-कुश के पिता के प्रति स्नेह, अपने प्राण-धन प्रियतम के दौर्बल्य से करुणा आदि अनेक भावों का उनको एककालावच्छे-देन अनुभव हुआ। तात्पर्य कि प्राणी जितना ही अधिक रस के सन्निधान में पहुँचता है उतनी ही अधिक उसकी विशेषताओं का अनुभव करता है अन्यथा **'भैंस के आगे बीन बाजै भैंस बैठी पगुराए'** कहावत ही चरितार्थ होती है।

प्रेम की गति अत्यन्त कुटिल है; अनुरागी हृदय में एककालावच्छेदेन अनेक भावों का मिश्रण उद्बुद्ध होता है। गोपाङ्गनाओं के लिये भगवत्-दर्शन के बिना क्षण-क्षण, **'युगशतमिव'** कोटि-कोटि युगतुल्य व्यतीत होता है और दर्शनकाल में भी पक्ष्मों के द्वारा उपस्थित विघ्न के कारण सुख नहीं हो पाता; इस प्रेमोद्रेक से विवश उनके हृदय में भी अपने ही प्रति, कभी अपने प्राणधन, प्रियतम श्यामसुन्दर के प्रति और कभी उस कानन के प्रति जिसमें विचरण करने

के कारण प्रभु के मुखचन्द्र-दर्शन में बाधा पड़ती है, निन्दा का भाव उत्पन्न हो जाता है।

वे कहती हैं **'कुत्सित आननं दुःखहेतुत्वात् यस्मिन् तत् काननं'** यह ऐसा कानन है जिसके कारण भगवत्-आनन भी कुत्सित हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावन धाम में विचरण कर रहे हैं अतः गोपाङ्गनाओं को दर्शन नहीं हो रहा है अतः ईर्ष्या, असूयावश परमप्रिय, परमसुन्दर, भगवदीय आनन को भी कुत्सित कहती हैं। कोई ऐसे भी भक्त होते हैं जिनको रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी के संग श्रीकृष्ण की युगल जोड़ी की छवि ही प्रिय होती है; ऐसे भक्त कहते हैं, **'विपिनराज सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहार रे मन वृन्दाविपिन निहार'**। वृन्दावन की परिक्रमा करते हुए यदि बायीं ओर श्रीकृष्ण के भी दर्शन हों तो हे मन, उस ओर देख भी नहीं अथवा **'कुत्सितानि अस्माकं आननानि यस्मात्'** जिस वृन्दावन धाम के कारण हम लोगों का आनन कुत्सित हो रहा है, वह आनन ही कुत्सित है। श्रीकृष्ण कानन में विहार कर रहे हैं अतः विप्रयोगजन्य संताप से गोपाङ्गनाओं का मुख-कमल कुम्हला गया है, मलिन हो गया है; गोप-वनिताओं की मुख-छवि की मलिनता का कारण बना हुआ वृन्दावन-कानन ही कुत्सित है। वस्तुतः वृन्दावन-धाम सम्पूर्णतः ही अलौकिक है।

गोपाङ्गनायें अनेकानेक कल्पनायें करती हैं; भिन्न-भिन्न हेतुओं से उनमें विभिन्न भावनाओं की स्फूर्ति होती है; प्रेमोद्रेक के कारण विचित्र अपस्मार होता है। ललिता, विशाखा आदि सखियाँ राधारानी से पूछ रही हैं, हे राधे ! तुमको कौन रोग हुआ है कि तुम क्षण-क्षण में मूर्च्छित हो जाती हो; तुम्हारी बुद्धि मूढ़, तमःपरिप्लुत हो जाती है ? अथवा तुमको कोई ऐसा दृढ़ अभिनिवेश हो गया है जिसके वियोग में तुम्हारी यह दशा हो रही है ? राधारानी उत्तर देती हैं—

न मूढ धीरस्मि न वा दुराग्रहा शारीरभोगेषु न वातिलालसा।
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा बलादपस्मारदशां नयन्ति मे ॥' अर्थात्, हे

सखी ! न मेरी बुद्धि ही मूढ़ हुई है, न मुझको किसी प्रकार का दुराग्रह है, न किसी प्रकार के शारीरिक सुख की ही लालसा है तो भी इन व्रजेन्द्रनन्दन मदन-मोहन, श्यामसुन्दर के ही लोकोत्तर गुणगण ऐसे हैं जो मुझको बलात् अपस्मार की स्थिति में पहुँचा देते हैं। बड़े सौभाग्यशाली हैं वे जिनको ऐसी अपस्मार-अवस्थायें प्राप्त होती हैं। इस स्थिति की प्राप्ति, भक्त की परम वांछा है। चक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथ भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र के वियोग में दशमी दशा को

प्राप्त हुए, भक्त के लिए यह भी सौभाग्यातिशय ही है। अनेक भक्त दशमी दशा को न प्राप्त होते हुए भी उससे कोटिगुणाधिक संताप का अनुभव करते हैं; यह संताप ही उनको प्रिय होता है। श्री जीव गोस्वामी लिखते हैं, "वही अवस्था अत्यन्त महत् है जहाँ पहुँचे हुए भक्तों को भगवत्-संप्रयोग से भगवद्-विप्रयोग-जन्य मरणान्तक या उससे कोटिगुणाधिक दुःख भी परम तुष्टिकारक सुखद प्रतीत होता है; यही उनकी लोकोत्तर दशा है।"

'उदीक्षतां उत्कंठया ईक्षमाणानाम्' जो उत्कण्ठापूर्वक निहार रही हैं। श्रीकृष्ण-मुखचन्द्र के अदर्शन से इनके लिये त्रुटिपरिमित काल भी युगवत् प्रतीत हो रहा है—'त्रुटिकाल एक क्षण का सत्ताईस सौवाँ भाग है—युग द्वादश सहस्राब्द (बारह हजार वर्षों का) एक काल है। गोपाङ्गनाएँ बाट जोह रही हैं कब भगवान् वृन्दावन से लौटें ? कब हमें उनके मंगलमय मुखचन्द्र का दर्शन हो ? **'गतो यामो गतं दिनम्'** यह एक याम व्यतीत हुआ, यह एक दिन व्यतीत हुआ; सन्ध्या हो चली, अब आते ही होंगे' इस तरह एक-एक क्षण गिनकर वे अपना समय व्यतीत करती हैं।

वे कह रही हैं, **'अदर्शने दर्शनोत्कंठा दृष्टे विश्लेषाशङ्का'** अदर्शन-काल में दर्शन की तीव्र उत्कंठा और दर्शन-काल में विश्लेष की आशंका के कारण भी हम सदा दुःखी रहती हैं। दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर स्वभावतः ही विश्लेषभीरुता बनी रहती है। 'पद्मपुराण' में उल्लिखित भद्रतनु की कथा इसका विशिष्ट उदाहरण है[1]।

गोपाङ्गनायें प्रेम-मार्ग की आचार्य हैं, अनन्य अनुरागवती हैं, भावस्वरूपा हैं, भावात्मिका हैं अतः इनकी स्वाभाविक उक्तियों में भी महतोतिमहान् भाव सन्निहित हैं।

'कानन' शब्द की निन्दा-पक्ष में व्याख्या करते हुए वे पुनः विचार करने लगती हैं, यह कानन ही तो वृन्दावन धाम है; वृन्दावन धाम के अनुग्रह से ही तो भगवत्-प्राप्ति होती है। भक्ति-सिद्धान्तानुसार नाम, रूप, लीला एवं 'धाम' इन सबका भगवत्-प्रेम में उद्रेक होता है। **'विपिनराज सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहार'** जैसी उक्ति धाम के महत्त्व की ही द्योतक है। धाम में ही परब्रह्म का प्राकट्य अद्भुत आनन्द का दायक होता है क्योंकि अधिष्ठान-भेद से परिणाम में भी भेद हो जाता है; जैसे स्वाती-बिन्दु सर्प के मुख में विष एवं गजकर्ण में दिव्य गजमुक्ता बन जाता है वैसे ही परात्पर परब्रह्म अनन्त अखण्ड ब्रह्माण्ड-नायक

१. कथा का उल्लेख पूर्व-प्रसंगों में हो चुका है।

प्रभु भी श्रीमद् वृन्दावन धाम में विराजमान होकर अद्‌भुत-माधुर्य-सौरस्य के अभिव्यंजक बन जाते हैं; वे ही रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी, राधारानी के संग विराजमान होकर अनन्तानन्त आनन्द के दायक बन जाते हैं।

एक कथा है; कामवन के पास कदम्बखण्डी वन में कोई महात्मा रहा करते थे; वन में घूमते हुए महात्मा की जटाएँ किसी झाड़ी में उलझ गई; महात्मा ने बहुत प्रयास किया सुलझाने का परन्तु ज्यों-ज्यों महात्मा प्रयास करें त्यों-त्यों जटा और उलझती जाय। महात्मा ने कहा, चलो छोड़ो झंझट; जिसने उलझाया है वही आकर सुलझायेगा भी। ऐसा निर्णय कर वे वहीं खड़े रह गए। वहाँ से आते-जाते अनेक यात्रियों ने महात्मा से जटा छुड़ाने की आज्ञा माँगी परन्तु महात्मा सबको एक ही उत्तर देते, "भाई! तुम अपने रास्ते चलो; हमारी जटा तो वही सुलझाएगा जिसने उलझायी है।" यात्री आगे बढ़ जाते। भक्त के हठ से विवश हो भगवान् पधारे। भक्त ने कहा, "नहीं महाराज! आप भी हमारी लटें न छुएँ; हमारा पातिव्रत्य नष्ट हो जायेगा। यहाँ तो मथुरानाथ, द्वारिकानाथ, व्रजेन्द्रनन्दन आदि कई कृष्ण-स्वरूप हैं। रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी जिस कृष्ण-स्वरूप की साक्षी दें वही हमारी उलझी लटों को सुलझावेगा।" भक्त-भाव-विवश, भक्त-वत्सला राधारानी पधारीं, व्रजेन्द्र-नन्दन कृष्ण की साक्षी दी और तब भक्त-परतंत्र, भक्त-प्रपन्न भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्त को उलझी लटों से मुक्ति दी। ऐसे अनेक मनोरम आख्यान भक्तों में प्रचलित हैं।

प्रसिद्ध है कि कावेरी-तट-निवासी गदाधर भट्ट ने व्रजवासी जीव गोस्वामी को एक पत्र में, '**सखी! हौं श्याम रंग रँगो**' लिख भेजा! उत्तर में जीव गोस्वामी ने एक श्लोक लिख भेजा;

'अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्ममनासेव्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
अनाभाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुत श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥'

अर्थात्, राधारानी के मंगलमय पदारविन्दों की आराधना किए बिना उनके चरण-चिह्नों से अंकित वृन्दाटवी का सेवन किये बिना; उनके भक्तों की पादाब्ज-रेणु का सम्भास्वादन किए बिना श्याम-सिन्धु-रस का अवगाहन क्योंकर सम्भव है? जिस समय गदाधर भट्ट को गोस्वामीजी का यह पत्र मिला उस समय वे कावेरी-तट पर दातुन कर रहे थे; पत्र को पढ़ते ही दातुन फेंक-कर भट्टजी वृन्दावन के लिये चल पड़े। तात्पर्य कि भक्ति-सिद्धान्तानुसार वृन्दावन-धाम की भक्ति किए बिना भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन भी दुर्लभ हैं।

'कुत्सितानि आननानि यस्मिन् तत् काननम्; कुत्सितम् भगवतोप्याननं यस्मिन् तत् काननं; कुत्सितानि अस्माकम् अपि आननानि यस्मात् तत् काननम्' इत्यादि व्युत्पत्तियों से कानन में दोषानुसन्धान करती हुई गोपाङ्गनाएँ विचार करती हैं कि जिस वृन्दावन धाम की विशिष्ट महिमा है उसमें हम दोषानुसंधान कर रही हैं, यह सर्वथा अनुचित ही है। वस्तुस्थिति यह है कि तामसी भाववती कुछ गोपाङ्गनाएँ ही ऐसा कह रही हैं। तामसी भाववती गोपाङ्गनाएँ ही कभी देव-निन्दा तो कभी धाम-निन्दा करती हैं; कभी अपनी ही निन्दा करने लगती हैं। जो भगवत्-विप्रयोगजन्य अत्यन्त तीव्र-ताप से संतप्त हैं, जिनके लिए एक-एक क्षण एक-एक त्रुटि युगवत् व्यतीत होता है, जो भगवत्-प्रेमोद्रेकजन्य उन्माद-ग्रस्त हो रही हैं ऐसी ही तामसी भाववती गोपाङ्गनाएँ प्रेम-विह्वल हो निन्दा के व्याज से भी सतत भगवत्-कथा में ही संलग्न रहना चाह रही हैं। यह निन्दा भी अद्भुत् लोकोत्तर माधुर्य एवं सौरस्यपरिपूर्ण है। ऐसी निन्दा को भगवान् श्रीकृष्ण भी प्रेमविह्वल हो करोड़ों कान से सुनते हैं।

वृन्दावन धाम की महत्ता का पुनः विचार करती हुई वे कह रही हैं, **'कं सुखरूपं आननं काननं'** वृन्दावन धाम ही उनका सुखरूप आनन है। **'आननं मुख्यो भागः मुख्यं स्थानं कं सुखरूपं यस्य'** तात्पर्य कि वृन्दावन धाम ही उनका सुखरूप मुख है; सम्पूर्ण अवयवों में मुख ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, सुखस्वरूप है। शास्त्रों ने, ऋषियों ने और भक्तों ने वृन्दावन धाम को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही कहा है; **'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'** (छा० ७/२४/१) अर्थात्, भगवान् अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित होते हैं। एतावता वृन्दावन धाम भगवत्-स्वरूप ही है। सर्वाधार भगवान् स्वयं निराधार अथवा स्वाधार अपने-आपमें प्रतिष्ठित हैं। सर्वाधार के आधार की कल्पना में अनवस्था प्रसक्त होगी, एतावता सर्वाधार, सर्वकारण, सर्वप्रकाशक भगवान् स्वाधार, स्वकारण, स्वप्रकाशक हैं। वृन्दावन भगवान् का मुखस्वरूप है; **'मुखभागं मुख्यस्थानम्'** मुखभाग ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है अतः वृन्दावन धाम भी भगवत्-स्वरूप ही है। प्रबोधानन्द सरस्वती कहते हैं,

'यत्र प्रविष्टे सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति', वृन्दावन धाम में प्रवेश करते ही प्राणीमात्र सच्चिदानन्दघनस्वरूप हो जाता है। जैसे सैन्धव की खान में निक्षिप्त वस्तु सैन्धव ही हो जाती है, वैसे ही आनन्द की खान, वृन्दावन धाम में आगत प्राणी भी तत्क्षण परमानन्दघनस्वरूप हो जाता है, उसके प्राकृत लौकिक रूप नष्ट हो जाते हैं और उसमें अप्राकृत दिव्य रूप,

भगवद् रूप का प्राकट्य हो जाता है। वृन्दावन धाम सुखस्वरूप है: जैसे ध्यान-निष्ठ प्राणी ध्यानावस्था में निश्चेष्ट प्रतीत होता है, वैसे ही, वृन्दावन धाम भी सच्चिदानन्दघनस्वरूप होते हुए भी ध्यानावस्थित होने के कारण जड़वत् प्रतीत हो रहा है। **'ध्यायंतीव पर्वता:'** (छा० ७/६/१) पर्वत निश्चेष्ट हैं मानो ध्यान कर रहे हों परन्तु वृन्दावन धाम में कुछ अद्भुत चमत्कार है— भगवत्-ध्यान में तल्लीन हो जड़वत् होने पर भी इसमें नाना प्रकार के लोकोत्तर भाव उद्बुद्ध हो रहे हैं। इसके नाना प्रकार के मुकुल ही मानो इसकी रोमांचोद्गति है; पुष्प ही अद्भुत प्रहास अद्भुत पुण्य का विकास है और लता-गुल्मादिकों से सतत टपकती मधु-धाराएँ ही आनन्दाश्रु हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृन्दावन धाम, भगवान् का परम अनन्यभक्त, ध्यान-जन्य जड़ता एवं प्रेमोद्रेक-जन्य रोमांचोद्गति, प्रहास एवं आनन्दाश्रुपूर्ण है। निश्चय ही भगवद्-दर्शन के कारण ही वृन्दावन धाम में अष्ट सात्त्विक भाव आविर्भूत हुए हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए हैं अत: उनके आविर्भाव हेतु गोप-कन्याएँ उनका अनुनय-विनय कर रही हैं; हे प्रभु! कुछ लोग सांसारिक दु:खों से संतप्त हो, उद्विग्न हो सर्वस्व त्यागकर अरण्य में जाकर आपका आश्रयण करते हैं; हम भी सर्वस्व का त्यागकर वृन्दारण्य में आई हैं परन्तु हम लौकिक दु:खों से संतप्त होकर नहीं अपितु आपके दर्शन एवं अदर्शन उभयथाऽपि संताप से उद्विग्न होकर ही आपकी शरण आई हैं। वृन्दावन-धाम में कृष्णानुरागिनी इन गोपाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण-सम्मिलन हेतु आगमन लौकिक विभिन्न वासना-बद्ध अभिसारिकाओं द्वारा किए गए अपने प्रेयान् के अनुसरण से सर्वथा भिन्न है। अभिसारिका वासना-प्रेरित हो कान्त का अनुसरण करती हैं, गोपाङ्गनाएँ सम्पूर्ण वासनाओं का परित्याग कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों का आश्रयण कर रही हैं।

'मोक्षमिच्छन् सदाकर्म त्यजेदेव ससाधनम्।
त्यजतैवहि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्॥'

(केनो० भाष्य ४/७)

त्याग से ही परात्पर परब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति होती है। सर्वस्व त्यागी का अपना आत्मा ही परात्पर परब्रह्म है; प्रमातृत्व का पूर्ण त्याग बन जाने पर प्रत्यक् का जो सर्वान्तरतम शुद्धस्वरूप है वही परात्पर परब्रह्म है। एतावता जब तक अहंकार का, कर्तृत्वभाव का त्याग न बने तब तक धन-धान्य, पुत्र-पौत्रादिक लौकिक सुख-साधनों का परित्याग अपर्याप्त है। सम्पूर्ण लौकिक सुख-साधन सामग्री के साथ ही साथ उन पदार्थों की वासना एवं अहंकार का भी

परित्याग अनिवार्य है। सांसारिक कर्मजाल को त्यागकर भगवत्-चिन्तन में, भगवत्-चरित्र-श्रवण में, भगवत्-नाम-स्मरण में चित्त लगाना त्याग का प्रथम स्वरूप है। गोपाङ्गनाओं ने सर्वस्व का त्याग किया है; यहाँ तक कि निमेषोन्मेष के कारण प्रभु-दर्शन में विक्षेप होने के कारण वे अपने पक्ष्मों का भी निकृन्तन कर देना चाह रही हैं; इतना ही नहीं, उनका तो कहना है कि वह प्राणी जड़ है जो भगवद्-दर्शनजन्य सुख-रसास्वादन में विघ्नकारक इन पक्ष्मों का भी निकृन्तन करने के लिए उद्यत न हो।

भगवान् भी अपने भक्त ब्राह्मणों के लिए सनकादि से कहते हैं—

'छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्' (श्रीमद् भा० ३।१६।६) अर्थात्, यदि मेरी भुजाएँ भी आप लोगों के विपरीत पड़ें तो मैं इन्हें काटकर फेंक दूँ। भगवद्-दर्शन में प्रतिबन्धक अपने पक्ष्मों को भी उखाड़ फेंकने जैसी गोपाङ्गनाओं की इच्छा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनके अगाध प्रेम की ही द्योतिका है।

वे कह रही हैं, इस संसार में तो जैसे-तैसे हमारा जीवन चल ही रहा था; परन्तु हमको यह प्रतीत हुआ कि सम्पूर्ण सांसारिक सुख तुच्छ हैं और आप आनन्दस्वरूप हैं अतः अपने सर्वस्व का त्यागकर हमने आपका समाश्रयण किया; अवश्य ही हमको भ्रान्ति हुई क्योंकि आप वस्तुतः दुःख-समुद्र ही हैं; अथवा **'विधाता अपि प्रतिकूलः'** विधाता ही हमारे प्रतिकूल हो रहे हैं। संसार के सभी प्राणियों का समय देखते-देखते ही व्यतीत हो जाता है :—

'दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीड़ति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥'

(मोहमुद्गर १२)

अर्थात्, अरे! यह रात्रि, प्रभात एवं सायंकाल पुनः आए और गए; यह शिशिर, वसंत आदि ऋतुएँ भी आईं और गईं, यह तो काल क्रीड़ा करता जाता है और आयु व्यतीत होती जाती है।

'नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।' (मोहमुद्गर ३) अर्थात् जैसे कमल-पत्र में रखा हुआ जल-बिन्दु सदा अस्थिर रहता है, वैसे ही मानव-जीवन भी अतिशय चपल है। **'देखत ही आई बिरुधाई जो तैं सपने हूँ नाहीं बुलाई'** (विनयपत्रिका १३६।८) जीवन-गति अत्यन्त तीव्र है।

'बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः' 'बालापन खेलते-खेलते व्यतीत हो गया, युवावस्था लौकिक सुखों का उपभोग करते क्षणमात्र में ही व्यतीत हो गई।' तात्पर्य कि जो काल सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अतिशय चपल है वह भी विधाता की प्रतिकूलता के कारण हमारे लिये अत्यन्त विपरीत हो गया है।

'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥' (श्रीमद् भा० १०/१९/१६)
हे प्रभो ! आपके दर्शन से हमें एक क्षण भी सौ चतुर्युगी तुल्य प्रतीत हो रहा है।

हमारे प्रति तो विधाता ही प्रतिकूल है; विधाता ने देवताओं को वैषयिक सुखानुभूति के लिए निर्निमेष नेत्र दिए और देवराज इन्द्र को भी निर्निमेष सहस्र नेत्र दिए परन्तु हम गोपाङ्गना जनों को कुल दो ही नेत्र दिए और वे भी सपक्ष्म हैं। अतः हे प्रभो ! यद्यपि विधि हमारे प्रतिकूल है तथापि आप स्वानुग्रहवशात् हमारे लिये प्रत्यक्ष हो जावें। अन्ततोगत्वा जब इन गोपाङ्गना-जनों को भगवद्-दर्शन हुए भी तो वे निमेषोन्मेष-विवर्जित नयनों द्वारा भगवत्-मुखचन्द्र के माधुर्यामृत का बारम्बार पान करती हुई भी तृप्त न हो सकीं।

'अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥'
(श्रीमद्भाग० १०/३२/७)

अर्थात्, जैसे संतजन भगवान् के मंगलमय चरणारविन्दों का रसास्वादन करते हुए नहीं अघाते अपितु उनकी पिपासा उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती रहती है; अथवा जैसे सन्निपात ज्वर-ग्रस्त रोगी की पिपासा शीतल सुगन्धित जलपान से वृद्धिगत होती जाती है वैसे ही भक्त की पिपासा भगवान् के माधुर्यामृत के रसास्वादन से वृद्धिगत ही होती रहती है।

'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥'
(मानस, उत्तर० ५२ ख)

जिनको राम-चरित्र सुनते-सुनते तृप्ति हो गई उन्होंने रस की परिभाषा ही नहीं समझी।

'यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥'
(श्रीमद्भा० १/११/३३)

अर्थात्, यद्यपि द्वारकास्थ पट्टमहिषी जनों एवं श्रीव्रजसीमंतिनी जनों का पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से कदापि वियोग नहीं होता, सदा-सर्वदा पूर्णरूप से उनको भगवत्-संस्पर्श प्राप्त है तथापि भगवान् के मंगलमय चरणारविन्द-युगल उनको प्रतिक्षण नवनवायमान होकर ही प्रतिभासित होते हैं क्योंकि यह रस अगाध है, अनन्त है। जैसे अनन्त आकाश में अपनी-अपनी शक्तिभर

उड़ने पर भी उसकी थाह नहीं पायी जा सकती वैसे ही अपनी-अपनी भावनानुसार भगवान् के अनन्तानन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सुधा का रसास्वादन करते हुए भी भक्त अघाते नहीं। कौन ऐसी सीमन्तिनी होगी जो भगवान् के मंगलमय पादारविन्द के अद्भुत माधुर्यामृत रसास्वादन कर-कर तृप्त हो जाय ? श्री लक्ष्मी चपला-चंचला होते हुए भी भगवच्चरणारविन्दों में अचपला, अचंचला, स्थिरा हो जाती हैं क्योंकि इन चरणारविन्द-युगल के माधुर्यामृत-रसास्वादन के उत्तरोत्तर वृद्धिगत आनन्द से अघाती ही नहीं।

'अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥'

(श्रीमद्भा० १०/३२/७)

अर्थात्, श्री भगवान् के अदर्शन-काल में तो भीषण संताप होता ही है परन्तु दर्शन-काल में भी सुख नहीं हो पाता क्योंकि अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। कभी कोई ग्वाल-बाल ही बीच में आ जाते हैं तो कभी उनकी ये कुटिल घुँघराली लटें ही भगवत्-मुखारविन्द को आवृत कर लेती हैं। **'कुटिलं कुन्तलं'** जो कुन्तल-कुटिल है, भगवत्-मुख के आवरक होने के कारण कुन्तल, बालों की लटें भी गोपाङ्गनाओं के लिये दुःखप्रद ही हैं अतः वे उन अलकावली को कुटिल कह रही हैं। अपने पक्ष्म भी गिर-गिरकर विघ्न ही उपस्थित करते हैं; कभी ननद, श्वश्रु एवं अन्य गुरुजनों आदिकों की वर्जना आदि अनेक प्रकार की भीतियाँ सामने आती हैं यद्यपि उस स्वरूप की महिमा से ही सम्पूर्ण बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

'व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्यं भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे दृष्टः स किं न कुरुतां सखि मद्विधानाम्॥'

अर्थात्, श्रीकृष्ण का मंगलमय नाम कानों के समीप में पड़ते ही लज्जा का विलोड़न कर डालता है, धैर्य को नोंच डालता है, आर्यजनों की, गुरुजनों की भीति का भेदन कर डालता है; जिसका कलित नाम ही श्रवण के उपकंठ में समाविष्ट होकर ऐसी अद्भुत दशा उत्पन्न कर देता है, यदि उनका दर्शन हो जाय तो क्या हो ? केवल उच्चाधिकारी जनों को ही महावाक्य श्रवणानन्तर तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है अन्यथा सम्पूर्ण एक सौ आठ उपनिषदों को रट डालने पर भी तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता।

'तं, काचिन्नेत्ररंध्रेण हृदि कृत्य निमील्लय च।' अर्थात्, कोई सयानी सखी **लोचन के मार्ग से प्रभु को अपने हृदय में ले गई और नेत्रों को बन्द कर लिया; प्रियतम को अन्तस्तल में बिठाकर कपाट, द्वार बन्द कर दिये।**

**'मुञ्चाञ्चलं चंचल पश्य लोकं बालोसि नालोकयसे कलंकम् ।
भावं न जानासि विलासिनीनां गोपाल गोपालनपण्डितोसि ॥'**

साथ ही, उसका अंग-अंग रोमांच-कण्टकित हो उठा मानो प्रत्येक रंध्रों पर रोम के रूप में पहरेदार खड़े कर दिए हों क्योंकि प्रियतम बड़े चपल-चंचल हैं, कहीं भाग न जायँ।

'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥'
(मानस, बाल० २३१/७)

तब भी उसको चैन न पड़ा अतः अपने प्रियतम को आलिंगन-बद्ध कर वह आनन्द-समुद्र में गोता लगा गई—खुद भी डूबी और प्रियतम को भी ले डूबी। उपर्युक्त श्लोक में **'काचित्'** शब्द राधारानी का ही द्योतक है। **'कं सुखं क्षणे क्षणे आचिनोति इति काचित्'** जो लोकोत्तर प्रेमात्मक सुख का प्रतिक्षण आचयन करे वह रासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, वृषभानुदुलारी राधारानी ही **'काचित्'** हैं।

वेद भी कहते हैं, **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** भगवान् अणु से भी अणीयान् हैं और महत् से भी महीयान् हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे नाथ! अनेकानेक विघ्न-बाधाओं से व्यथित होकर हम यहाँ वृन्दारण्य में आईं और आप यहाँ से अन्तर्धान हो गए। ऐसे समय में मानिनी गोपाङ्गनाओं के मन में भगवत्-कथन का स्फुरण होता है मानो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कह रहे हैं, 'हे मानिनियो! तुम्हारे गर्व के कारण ही तो हम अन्तर्धान हुए हैं। अभी तो तुम्हारा गर्व कुछ शिथिल भी है परन्तु हमारे दर्शन के अनन्तर ही तुम गर्व-गिरि-शृंग पर आरूढ़ हो जाओगी।' वे उत्तर देती हैं, हे नाथ! हम तो आपका अनुनय-विनय उन सखियों के हेतु कर रही हैं जो **'गतो यामः गतं दिनम्'** गिन-गिनकर अपना समय व्यतीत कर रही हैं। हम अपने लिये आपको नहीं बुला रही हैं। भगवान् के सामने भी जो विनम्र नहीं होती वह मानिनी गोपिका है। यह 'मान' ही उनका भूषण है; मानिनी ने अपने स्वभाव को त्यागकर **'नय मां यत्र ते मनः'** 'जहाँ आपकी इच्छा हो वहीं ले चलो' जैसी उक्ति की; यह भाववैपरीत्य ही भगवान् के अन्तर्धान का हेतु हुआ।

गोपाङ्गनाएँ विभिन्न भाववती, तामस-तामसी, सात्त्विक-तामसी एवं राजस-तामसी थीं; दैव-निन्दक सात्त्विक-तामसी कहलाईं; ये विधाता को ही 'जड़' कहकर उनकी निन्दा करती हैं। राजस-तामस-भाववती आत्म-निन्दक

हुईं; ये अपने सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य को व्यर्थ समझती हैं, अपने जीवन को ही भारस्वरूप समझकर अपने आपको ही कोसने लगती हैं; ये बार-बार कहती हैं, हे सखि ! अपने कृष्णसार पतियों के साथ आनेवाली ये हरिणियाँ धन्य-धन्य हैं; ये किरातिनियाँ भी धन्य-धन्य हैं जो श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीमुख का दर्शन स्वेच्छया करती हैं और एक हम हैं जो यहाँ गोकुलधाम की चहारदीवारी के भीतर विलाप करती हुई कोटि-कोटि कल्पतुल्य समय कथंचित् व्यतीत करती हैं। हमारे गोपाङ्गना-जन्म से तो यह हरिणी एवं किरातिनी का जन्म भी श्रेष्ठ है। तामस-तामस-भाववती गोपाङ्गनाएँ ही सर्वोत्कृष्ट मानी गई हैं; यही मानिनी नायिकायें हैं। लोकोत्तर प्रेमोद्रेक के कारण एक प्रकार की अवष्टम्भकता आती है, मन, बुद्धि एवं चित्त की गति अवरुद्ध हो जाती है; भगवत्-विप्रयोग के कारण एक प्रकार की मूर्च्छा, स्वरूप-विस्मरण, विश्व-विस्मरण, सर्व-विस्मरण, सर्वावरण, सर्वाच्छादन होता है। यही वह तामसी स्थिति है जो प्रेम-मार्ग में अत्यन्त वन्दनीय है। तामस-तामस-भाववती गोपाङ्गनायें भगवान् की ही निन्दा करती हैं। अपने प्रेमोद्रेक में वे भगवान् के प्रति कितव, शठ, धूर्त आदि सम्बोधनों का प्रयोग करती हुई भगवान् को ही दुःख-समुद्र कहती हैं; यहाँ तक कि उनके प्रति अपने प्रेम को भी गलत बताने लगती हैं। ये लोकोत्तर उच्च-भाववती गोपाङ्गनायें सर्ववन्दनीय हैं।

पूर्व श्लोक में ज्ञानामृत का वर्णन किया; तदनुसार बताया गया कि ज्ञानामृत की प्राप्ति से ही विश्व का विस्मरण सम्भव है। राग-निवृत्ति ही सर्वज्ञता का मूल माना जाता है। आत्मा सर्वार्थवभासनशाली है तथापि रागादि प्रतिबन्धों के कारण सर्व-ज्ञान-शून्य होकर इन्द्रियों द्वारा सीमित ज्ञान प्राप्त करता है; रागादि प्रतिबन्ध दूर हो जाने पर पुनः आत्मा का ज्ञान भी निस्सीम हो जाता है। बौद्ध-सिद्धान्तानुसार रागादि प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए प्रतिपक्ष-भावना चाहिए; अग्नि ज्वालादि का प्रतिपक्ष सलिल है; इस प्रतिपक्ष सलिल की अभिवृद्धि से ज्वालादिक्रमेण अपचीयमान होते हैं; जैसे-जैसे जलादि बढ़ता है वैसे-वैसे ज्वालादि शान्त होते हैं। जलादि के विशेष बढ़ जाने पर ज्वालादि एकदम प्रशान्त हो जाते हैं; इसी तरह प्रतिपक्ष का चिन्तन करने से रागादि का अत्यन्त विनाश हो जाता है। बौद्ध-मतानुसार प्रतिपक्ष नैरात्म्य-भाव है; **'सर्वं शून्यम्, आत्मापि नास्ति, अनात्मापि नास्ति सर्वन्नास्ति'** इस प्रकार की जो प्रतिपक्ष-भावना है उससे रागादि की निवृत्ति मानते हैं; परन्तु सिद्धान्ततः ये सब बात बनती नहीं; नैरात्म्य-भावना भ्रम है। धर्मकीर्ति का वचन है,

'निरुपद्रव भूतार्थ स्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥'

(प्रमाणवार्तिक, पृष्ठ १४४)

बुद्धि तत्त्व-पक्षपातिनी होती है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं **'तत्त्व पक्षपातो हि स्वभावोधियाम्'** संसार की समस्त कल्पनायें, भावनायें अनादिकाल से बद्धमूल हैं; जैसे भड़भूजे की भाड़ में रखे हुए बीज के अस्तित्व में ही संशय है— उसमें अंकुर उत्पन्न होने की, नाल, पत्र, पुष्प, फल लगने की कल्पना सर्वथा निर्मूल है वैसे ही रागादि दावानल से दग्ध हीयमान अन्तःकरण के बीच शान्ति, विरक्ति एवं भक्ति उत्पन्न हो और स्थिर रहे यही कठिन है; फिर उसके प्रफुल्लित होने की तो आशा ही कैसे की जा सकती है? यह असम्भाव्य है। इस असम्भावना को दूर करने के लिए ही कहा गया है—

'निरुपद्रव भूतार्थं स्वभावस्य विपर्ययैः
'निरुपद्रव संशयविपर्ययानास्कंदित' संशय
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥'

अर्थात्, संशय विपर्यय आदिकों से अनास्कंदित भूतार्थ, यथार्थ वस्तु है विषय जिसका **'भूतं अबाधितं यथार्थभूतं वस्तु विषयो यस्य'** ऐसा भूतार्थ स्वभाव निरुपद्रव जो बोध होता है उसका विपर्यय बोधों से बाध नहीं होता। **'यत्न-वत्त्वेऽपि'** बड़े-बड़े यत्न करने पर भी उनके द्वारा उसका बाध नहीं हो सकता क्योंकि **'बुद्धेस्तत्पक्षपाततः'** बुद्धि तत्त्व-पक्षपातिनी है। जैसे प्रथम प्रदीप-प्रभा से करोड़ों वर्ष का अंधकार भी तत्क्षण समाप्त हो जाता है क्योंकि अंधकार का नाश कर देना ही प्रकाश का स्वभाव है।

अन्य-मार्गों से भी राग-निवृत्ति के उपाय किए जाते हैं; उन सबसे सीमित रूप से ही राग-निवृत्ति होती है;

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥'

(श्री० भ० गीता २/५९)

'क्षुधितस्य यथेतरे' (श्रीमद्भा० १/१२/६)

अर्थात्, क्षुधित प्राणी की इतर इन्द्रियाँ स्वभावतः शिथिल हो जाती हैं।

'निवृत्या वर्त्तमानस्य तपोनानशनात्परम्।'

(म० भा० शा० प० १६१/७)

अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं क्योंकि इससे तत्काल विकार प्रशान्त हो

जाते हैं तथापि यदा-कदा अनशनकारी को अन्न में इतना प्रेम हो जाता है कि उसको अन्न की ही चिन्ता दिन-रात बनी रहती है। ऐसे अनेक साधन हैं जिनसे रागादि की अंशतः निवृत्ति हो जाती है किन्तु सम्पूर्णतः निवृत्ति सम्भव नहीं। अधिष्ठानस्वरूप भगवत्-तत्त्व के साक्षात्कार से ही रागादिकों की पूर्णरूपेण निवृत्ति सम्भव है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

(मुण्डको० २/२/८)

परावर, परब्रह्म का दर्शन प्राप्त करने पर ही हृदय-ग्रंथि छिन्न होती है और **'कामायेस्य हृदि श्रिताः'** (मुण्डको० २/३/१४) हृदय में स्थित सम्पूर्ण काम समूल नष्ट हो जाते हैं। भगवत्-साक्षात्कार ही **'इतररागविस्मारणम्'** (श्रीमद्-भा० १०/३१/१४) संसार के अन्य सम्पूर्ण राग को भुला देनेवाला है। पूर्व श्लोक के निवृत्तिपक्षीय व्याख्यान में उक्त विषय कहा जा चुका है।

इस श्लोक में कह रहे हैं **'त्वामपश्यताम् त्रुटिपरिमितोऽपि कालः युगायते।'** जो आपका दर्शन नहीं कर पाते, भगवत्-दर्शन नहीं कर पाते उनके लिये सम्पूर्ण काल दुःखात्मक ही है; दुःख-काल सुदीर्घ होता है और सुख-काल अल्प होता है। संसार के सम्पूर्ण सुख आपेक्षिक हैं; वस्तुतः सम्पूर्ण संसार दुःखात्मक ही है। भगवत्-साक्षात्कार के अभाव में, भगवत्-दर्शन के बिना अन्य सम्पूर्ण दर्शन, अल्प साक्षात्कार अल्प दर्शन हैं। **'यदल्पं तन्मर्त्यं'** (छा० ७/२४/१) जो अल्प है वही मर्त्य है। **'भूमैव सुखम्'** भूमा ही सुख है। **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति'** (छा० ७/२४/१) ही **'भूमा'** है। जो एकमात्र भगवत्-विज्ञान है, अन्य दर्शन, अन्य श्रवण, अन्य विज्ञान का सर्वथा अभाव है, वही भूमा है। जहाँ अन्य दर्शन है वहाँ अल्पता है; अल्पता में मर्त्यता है, दुःख है। एतावता **'त्वामपश्यताम्'** जो आपका दर्शन नहीं कर रहे हैं, आपका दर्शन नहीं पा रहे हैं ऐसे भगवत्-तत्त्वशून्य प्राणियों के लिए **'सर्वदुःखात्मकमेव जगत्'** सम्पूर्ण जगत् दुःखमय है अतएव उनके लिए त्रुटिपरिमित काल भी दुःख-काल होने के कारण दीर्घ हो जाता है; **'काननं भवानटति'** भगवत्-साक्षात्कार न होने पर जीवात्मा भगवान् के ही रूपान्तर **'काननं संसृति-काननम्'** संसाररूपी कानन में अटन करता रहता है। **'यत् संसृतिकाननं अटति तत्'** भगवत्-साक्षात्कारशून्य चेतन प्राणी दुःखात्मक है, दुःख-स्वरूप है, दुःखमय है। **'श्रीमुखं कुटिलकुन्तलं चेतनः। श्रियाः धर्मादिसम्पत्तेर्मुखं निस्सरणं यस्मात् तत् श्रीमुखं'** निस्सरण अर्थ में मुख है; चेतन से सम्पूर्ण संसारी

सम्पत्ति का निस्सरण हो जाता है; भगवत्-स्वरूप चिन्तन से उसमें ऐश्वर्यादि गुण प्रकट हो जाते हैं और भगवत्-स्वरूप-विस्मरण से सम्पूर्ण गुणगण तिरोहित हो जाते हैं। भगवद्दर्शन, भाव, आराधन के बिना जितनेभर भी चेतन के उत्तमोत्तम गुण हैं, वे सबके सब निस्सृत हो जाते हैं। **'कुटिलकुन्तलं—कुटिलाः कुन्तलाः विषयाभिमुखा वेगा यस्य'** विषयाभिमुख वेग ही कुन्तल है; ये वेग अत्यन्त कुटिल हैं। तात्पर्य, शब्द-स्पर्शादि विषयों के अभिमुख वेग कुटिल हैं क्योंकि वही संसार में पतन का मूल है।

'मोक्षमिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत् त्यज' मोक्ष की इच्छा हो तो विषयों का विषवत् त्याग कर दो। भगवत्-अदर्शन से जीव दुःखमय हो जाता है, उसकी सम्पूर्ण सात्त्विक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और विषयाभिमुख उसका वेग वृद्धिगत होता रहता है। ज्ञान-शून्य होने पर ही विषयाभिमुख वेग बढ़ता है; ज्ञान-युक्त होने पर भी प्रारब्धवशात् भोजनाच्छादनादिकों में प्रवृत्ति हो जाय तो 'जिह्रेतीव' लज्जा-सी प्रतीत होती है।

'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्' (छा० ४/४/१२) कहाँ विषय है? किसके लिए प्रवृत्ति हो? इन्द्रियाँ कहाँ जा रही हैं? आदि। तत्त्व-विचार ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं; तत्त्व-विज्ञान-शून्य होने पर बिना लगाम के उच्छृङ्खल घोड़े की तरह मन भी अत्यन्त उच्छृङ्खल बन जाता है।

'दृश्यन्नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्'

(पंचदशी ४/६४)

अर्थात्, दृश्य-प्रपंच कुछ नहीं है, एकमात्र अनन्त ब्रह्माण्ड अधिष्ठान; स्वप्रकाश, अखंड-प्रबोध सर्वोपद्रव-विवर्जित अनन्तानन्दस्वरूप भगवान् ही सब कुछ है, इस बोध से मन की प्रवृत्ति का पूर्ण मार्जन हो जाने पर स्वभावतः निवृत्ति सम्भव हो जाती है। **'पक्ष्मकृत् दृशां उदीक्षताम्'; उदीक्षमाणानाम् मध्ये,** भगवत्-स्वरूप दर्शन करनेवालों में भी वही सर्वोत्कृष्ट है जो **'दृशां पक्ष्मकृत्'** आवृत्त चक्षु से प्रत्यगात्मा को देखता है। **'आवृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्'** (कठो० २/१) चक्षुरुपलक्षित **'समस्त करण ग्रामः'** आवृत्त चक्षु का अर्थ है 'उपरत करण ग्रामः'।

'परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥'

(कठो० २/१/१)

'खानि खं आकाशम्', 'ख' का अर्थ आकाश है; उसकी लक्षणा है आकाश-कार्य श्रोत्रेन्द्रिय में; **'श्रोत्रं इन्द्रियं, श्रोत्रेन्द्रियं तत्रापि वहुवचनम् अतः खानि खोपलक्षितानि सर्वाणि इन्द्रियाणि'** श्रोत्र उपलक्षित सभी इन्द्रियों को विधाता ने बहिर्मुख बनाया **'तस्मात् पराङ् पश्यति; तैः इन्द्रियैः जनः पराङ् एव वस्तु पश्यति अतः'** इन्द्रियों के द्वारा प्राणी अहर्निश जगत्-प्रपंच के चिन्तन में ही व्यस्त रहता है, यहाँ तक कि इन्द्रियाँ थक जाती हैं परन्तु मन नहीं थकता। **'नान्तरात्मानं पश्यति'** तब भी प्राणी अन्तरात्मा को नहीं देखता। **'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छत्'** कोई धीरपुरुष **'बुद्धि ईश्यति-प्रेरयति'** जो बुद्धि का स्वामी, नियंत्रणकर्ता है, जो मन का किंकर नहीं बनता ऐसा कोई धीर पुरुष **'अमृतत्वमिच्छन् प्रत्यगात्मानम् पश्यति।'** अमरत्व की इच्छा करता हुआ, मोक्ष की इच्छा करता हुआ प्रत्यगात्मा को आवृत्तचक्षु होकर देखता है **'आवृत्तचक्षुः आवृत्तानि निबद्धानि वश्यानि चक्षुरुपलक्षितानि सर्वाण्येव इन्द्रियाणि यस्य स आवृत्तचक्षुः'** जो सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों को अवरुद्ध कर प्रत्यगात्मा को देखता है वही आवृत्तचक्षु है। प्रत्यमात्मा-दर्शन से इन्द्रियों में पंगुता आ जाती है, इन्द्रियों में पंगुता होने पर ही प्रत्यगात्मा-दर्शन में सुविधा होती है। **'उदीक्षमाणानां मध्ये'** जो उत्कट उत्कंठा से आपके अनंत अखण्ड निर्विकार-स्वरूप को देखना चाहते हैं उनमें वही सर्वोत्कृष्ट है, अजड़ है, बुद्धिमान् है; चतुर है, विवेकी है **'यः पक्ष्माणि कृन्तति'** जो सम्पूर्ण इन्द्रियों को अवरुद्ध कर लेता है और **'यावदर्थः स्यात्'** जितने के बिना प्रयोजन ही नहीं चले, जीवन ही नहीं चले उतने ही विषयों का उपयोग करता है।

'अतः कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथाऽर्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः॥'

(श्रीमद्भा० २/२/३)

अर्थात्, शब्दादि प्रपंच का अस्तित्व ही नहीं, जो कुछ है केवल मनोविकार है; नाममात्र पदार्थों से **'यावदर्थो'** जितना आवश्यक हो, अल्पातिअल्प प्रयोजन हो उतना ही सम्बन्ध रखें; जैसे क्षुधादि-निवृत्ति के लिए भोजनादि ग्रहण, पिपासा-निवृत्ति के लिए जल-ग्रहण, मार्ग-ज्ञान के लिए नेत्र आदि का उपयोग करते हुए भी भगवत्-चरित्र श्रवणादिक की दृष्टि से सम्पूर्ण इन्द्रियों का उपयोग करना उचित है। अनिवार्य देह-यात्रा सम्बन्ध से इन्द्रियों का उपयोग करते हुए अन्य सम्पूर्ण प्रपंच से उनको अवरुद्ध करना कर्तव्य है। तदनन्तर अन्तस्तल में छिपी अत्यन्त खतरनाक वासना की निवृत्ति हेतु निरन्तर भगवत्-चिन्तन करना चाहिए।

'तदपीशाङ्घ्रिसेवया' (श्री० भा० ६/२/१७) भगवच्चरणारविन्द की सेवा से जो वासना-अवशेष है, पाप-वासना का अवशेष है वह भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। अस्तु, इन्द्रियों के विषयाभिमुख्य को अवरुद्ध कर भगवद्-ध्यानादि-पूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि द्वारा भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार के लिए प्रयास करते रहना चाहिए; सतत प्रयत्नशील रहने पर एक न एक दिन भगवत्साक्षात्कार अवश्य ही होता है।

●

श्रीहरिः

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

अर्थात्, हे अच्युत ! हम अपने पति-पुत्र एवं बन्धु-बान्धवों के आदेशों का उल्लंघन कर आपके वेणुगीत से मोहित होकर आपके पास आयी हैं। हे कितव ! इस प्रकार रात्रि के समय में आयी हुई युवतियों की तुम्हारे सिवा और कौन उपेक्षा कर सकता है ?

कुछ गोपाङ्गनाएँ जो भगवान् के मंगलमय मुखचन्द्रनिर्गत वेणु-रंध्रों में प्रविष्ट अधरामृत-रस का समास्वादन कर भगवद्-दर्शन के लिये चलीं और बीच में ही कान्तादिकों द्वारा अवरुद्ध कर ली गयीं, कहते हैं—

'अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥'

(श्रीमद्भा० १०।२९।९)

अर्थात्, कान्तादिकों द्वारा विवश किए जाने पर वे गोपाङ्गनाएँ अपने-अपने घरों में ही कृष्ण-ध्यान में रत हो पूर्वाभ्यास के कारण तन्मय हो गईं। कुछ गोपाङ्गनाएँ साधक-रूपा हैं जो दण्डक-वनवासी महर्षियों के रूप में राघवेन्द्र रामचन्द्र भगवान् के दर्शन प्राप्त कर चुकी हैं। महर्षि-जनों ने भगवान् रामचन्द्र के अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधा-जलनिधि, मंगलमय विग्रह के संस्पर्श की इच्छा प्रकट की; श्री रामचन्द्र ने उनको अपने कृष्णावतार में स्व-स्वरूप-संस्पर्श का वरदान दिया; वे दण्डकारण्य-निवासी महर्षि-गण ही भगवत्-संस्पर्श हेतु ध्यान, धारणा, समाधि, जप-तप करते हुए गोपकन्याभाव को प्राप्त हुए। इन गोपकन्याओं ने कात्यायनी-अर्चन व्रत किया फलतः उनमें भगवत्-सम्मिलन की उत्कट उत्कंठा उत्तरोत्तर अभिवृद्धिगत हुई और उनके देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की प्राकृतता बाधित हुई तथा भगवत्-सम्मिलनयोग्य रसात्मकता प्रस्फुटित हुई। सिद्धान्त है,

'देवो भूत्वा यजेद् देवान् नादेवो देवमर्चयेत्' देव होकर ही देव की पूजा करें; अदेव देव की अर्चना न करें। भगवत्-स्वरूपापन्न होकर ही भगवान् की आराधना सम्भव हो सकती है; भगवत्-स्वरूप भिन्न रहे तो पूजा नहीं बनती क्योंकि

साजात्य में ही ग्राह्य-ग्राहक-भाव सम्भव है। जैसे, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को स्वभावतः ग्रहण करती है परन्तु विषयान्तर का ग्रहण नहीं कर पाती वैसे ही भौतिक इन्द्रियों से परात्पर परब्रह्म का ग्रहण भी सम्भव नहीं होता। परब्रह्म को ग्रहण करने के लिए परब्रह्मात्मक होना अनिवार्य है; एतावता, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की लौकिकता, प्राकृतता, भौतिकता का बाध और साथ ही अलौकिक अप्राकृत अभौतिक, रसात्मक, ब्रह्मात्मकता का प्रस्फुटन होने पर ही ब्रह्म-दर्शन सम्भव है। जैसे तैजस् चक्षु तैजस्-गुण रूप को, आकाशीय श्रोत्र आकाशीय-गुण शब्द को, वायवीय-त्वक् वायवीय-गुण स्पर्श को, अनायासेन ही ग्रहण कर लेते हैं वैसे ही साधक के आराधना-संस्कृत देह, मन, बुद्धि एवं अहंकार रसात्मकता को प्राप्त कर परब्रह्म को ग्रहण कर लेते हैं।

परमात्मा श्रीकृष्ण-सम्मिलन हेतु गोप-कन्याएँ कात्यायनी-व्रत कर रही थीं; उनकी उत्कट उत्कंठा के उद्रेक हेतु ही भगवान् कृष्ण ने उनके दुकूल चुराये। भगवत्-संस्पृष्ट दुकूल भगवत्-स्वरूप ही हो गए; जैसे निरावरण अग्नि-संस्पृष्ट सावरण अग्नि कोष्ठ निरावृत हो जाता है, वैसे ही निरावरण परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द परमानन्द संस्पृष्ट सावरण ब्रह्म दुकूल भी निरावरण ब्रह्मस्वरूप हो गए; उन निरावरण ब्रह्म-संश्लिष्ट दुकूलों को पुनः धारण करने पर गोप-कन्याओं में भी निरावरण-ब्रह्म से एकरूपता, तादात्म्य का आविर्भाव हुआ।

रासलीला का प्रारम्भ ही वेणु-वादन से होता है। **'तवोद्गीतमोहिताः'** वेणुगीत से मोहित होकर ही गोपाङ्गनाएँ कृष्ण-सम्मिलन के लिए आतुर हो उठीं। वेणु-गीत-पीयूष की भी नाद, गीत एवं स्वभेद से तीन विभिन्न कोटियाँ हैं; वेणु-नाद अव्यक्त शब्द है :

'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः' (श्रीमद्भा० १०/३५/१५) शर्व, शक्र परमेष्ठि आदि देव-गण भी वेणुनाद तत्त्व का निश्चय नहीं कर पाते अतः इसके श्रवण से कश्मल, व्यामोह को प्राप्त हो जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं।

'व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥'

(श्रीमद्भाग० १०/३५/३)

वृन्दावन-धाम के वृक्ष-लता गुल्मादिक भी इस दिव्य वेणु-नाद का अनुभव कर भगवत्-क्रीड़ा-विहार के आस्पद बन जाते हैं।

वेणु-रव अत्यन्त अन्तरंग है। **'रश्च वश्च अनयोः समाहारो रवं'** रं अग्नि-बीज है; **वं** अमृत-बीज है; विप्रलम्भात्मक संयोगात्मक उभयविध एककालावच्छेदेन उद्बुद्ध शृंगार-रस ही **'रव'** है।

'गीत' देव-भोग्य अधर-सुधा है। गीत में अक्षर स्पष्ट होते हैं। गोपाङ्गनाओं को प्रतीत हुआ कि परमात्मा श्रीकृष्ण ने अपने वेणु-गीत द्वारा भिन्न-भिन्न गोपिकाओं का नामोल्लेख कर उनके सौन्दर्य-माधुर्य एवं गुण-गणों का गान करते हुए उनका आह्वान किया। नाम, रूप एवं गुणगानसंयुक्त यह आह्वान-रूप वेणु-गीत-पीयूष गोपाङ्गनाओं के साधना-संस्कृत कर्ण-कुहरों द्वारा प्रविष्ट हो उनके अन्तरतम में स्पष्टतः अनुभूत हुआ। इस अनुभव से उद्वेलित हो वे तत्काल भगवद्-दर्शन के लिए चल पड़ीं परन्तु कान्तादिकों के द्वारा बीच में ही अवरुद्ध कर ली गईं; वे विवश गोपिकाएँ छटपटाकर वहीं रह गईं और वहीं बैठकर मीलित नेत्रों से तद्भावयुक्त ध्यान-धारणादि से युक्त हो एकाग्र चित्त से ध्यान करने लगीं।

'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥'

(श्रीमद्भाग० १०/२९/१०)

दुःसह प्रेष्ठ-विरहजन्य तीव्र ताप से उनके सम्पूर्ण शुभाशुभ प्रकंपित हो गए, बाधित हो गए और उनको ध्यान में ही श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन, व्रजेन्द्र-नन्दन, अनन्त-कोटि-कन्दर्प-दर्प-दमन-पटीयान्, निखिल-रसामृत-सिंधु भगवान् श्रीकृष्ण का आश्लेष प्रत्यक्षतः प्राप्त हुआ। **'क्षीणमङ्गलाः'** ध्यानावस्था में प्राप्त इस भगवदाश्लेषजन्य लोकोत्तर आनन्द में सम्पूर्ण शुभ भी बाधित हो गए। कहीं-कहीं **'अक्षीणमङ्गलाः'** अर्थ भी किया गया है। **'अक्षीणं-परिपुष्टं मंगलम्'** भगवत्-संभोगोपयोगी श्री-विग्रह ही मंगल है; यह मंगल अक्षीण हो गया, परिपोष को प्राप्त हो गया; तात्पर्य कि प्राकृतता का जो लवलेश शेष रह गया था वह भी ध्यान-गम्य भगवदाश्लेष से बाधित हो गया और पूर्णरसात्मकता का प्रस्फुटन हुआ।

'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥'

(श्रीमद्भा० १०/२९/११)

ध्यानावस्था में प्राप्त अच्युत-आश्लेष से पूर्णतः निर्वृत्तिक हो वे भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त हुईं; भगवान् की मंगलमयी अनुकम्पा से उनके प्राकृत देह

समाप्त हुए और वे अलौकिक, अप्राकृत, दिव्य देह को धारण कर यमुना-पुलिन पर रासलीला हेतु आईं। ये गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं,

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः' हे अच्युत ! हम सर्वस्व का त्यागकर, पति, पुत्र, बन्धु, बान्धव के आदेशों के विरुद्ध भी आपकी शरण आई हैं। गोपाङ्गनाओं के सुतत्वेन स्वीकृत सुत नहीं थे; इनमें कुछ ऊढ़ा, अनूढ़ा, अनन्य-पूर्विका, अन्य-पूर्विका आदि कई प्रकार की थीं; इनका विस्तृत वर्णन पूर्व-श्लोक-प्रसंगों में हो चुका है। वस्तुतः तो गोपाङ्गनाओं में अन्यपूर्विकात्व है ही नहीं; मायिक-प्रतीति ही उनका ऊढात्व है।

'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५)

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (श्री० भ० गी० १५।१५) के अनुसार सम्पूर्ण वेद का महातात्पर्य, विषय-वस्तु एकमात्र परात्पर परब्रह्म ही है—यद्यपि अवान्तर तात्पर्य कथंचित् अन्य वस्तु में भी प्रतीत होता है। इसी तरह, व्यवहारतः इन गोपाङ्गनाओं के भी लौकिक, प्राकृत, पति हुए भी तथापि अनन्त ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् श्रीकृष्ण ही वस्तुतः उनके पति थे।

'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।' इन व्रजदेवियों का अपने लौकिक पतियों के संग संग ही नहीं हुआ एतावता उनके सुतादि होने की कल्पना भी सम्भव नहीं; अतः इस श्लोक में 'सुत' शब्द का प्रयोग बन्धु-बान्धवार्थ ही हुआ है।

वे कह रही हैं, हे भगवन् ! आप अच्युत हैं। अनन्त ऐश्वर्य ज्ञान, वैराग्य, कारुण्य और अनन्तानन्त लोकोत्तर कल्याण गुण-गण आपमें सदा अप्रच्युत रहते हैं। यत्किंचित् उत्तम गुण सबमें होते हैं परन्तु वे अच्युत नहीं रहते। भगवदीय ज्ञान बिना जीव का ऐश्वर्य सदा तिरोहित रहता है। सिद्ध सादि मुक्त हैं, वे भी पहले बन्धन-कोटि में थे; ईश्वर अनादि मुक्त है; प्रकृतिलीन की भी उत्तरा बन्ध-कोटि है। अतः एकमात्र ईश्वर ही अच्युत है।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा० यो० सू० १/२४) क्लेश, कर्म-विपाक, आशय आदिकों से जो अपरामृष्ट है, वही पुरुष-विशेष ईश्वर है। सांख्यादिकों के मतानुसार सभी पुरुष क्लेश-कर्म-विपाक-आशयादिकों से अपरामृष्ट ही रहते हैं क्योंकि असंग पुरुष में क्लेश-कर्मादिकों का कदापि संस्पर्श नहीं होता; **'विवेकाग्रहेणास्य बन्धनं'**, विवेकाग्रह से जीवों में क्लेश-कर्म-विपाकादि होते हैं; ईश्वर विवेकाग्रहशून्य है अतः ईश्वर में क्लेश-कर्म-विपाक-आशयादिक सम्भव नहीं। अन्यमतानुसार रागादि का अपक्षय हो

जाने पर जीव में भी सर्वज्ञता मान्य है; प्रतिबन्ध-प्रत्यय क्षीण होने पर जीव में सर्वार्थविभासनशालिता आ सकती है क्योंकि पदार्थ-बोध जीव का स्वभाव है तथापि प्रतिबन्ध के कारण उसका ज्ञान सीमित ही रहता है। जैनमतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप ही है; अनेक प्रकार के ज्ञान, जैसे घट-ज्ञान, पट-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान आदि में अनुस्यूत चैतन्य ही जीव है; अर्थविभास ही चैतन्य का स्वभाव है तथापि अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों के कारण उसकी शक्ति तिरोहित हो जाती है अतः घट-पटादि-ज्ञान हेतु तत्-तत् इन्द्रिय माध्यम अनिवार्य हो जाता है। एतावता, रागादि दोषों का अपक्षय हो जाने पर जीव में भी सर्वार्थविभासन-शालिता, सर्वज्ञता आ जाती है। सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चरित्र का अभ्यास करते-करते प्रतिबन्ध प्रत्यय के प्रक्षय को लेकर अनेक शास्त्रार्थ हैं। पदार्थ को सत्य मान लेने पर ज्ञान से उनकी निवृत्ति सम्भव नहीं; ज्ञान से काल्पनिक की ही निवृत्ति हो सकती है; जैसे, रज्जु-स्वरूप साक्षात्कार से सर्प, धारा, माला आदि कल्पित पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है। एतावता, कल्पित पदार्थ के अभाव में ज्ञान से निवृत्ति संभव नहीं। ज्ञान, सत्य-बंध का निवर्तक नहीं होता तदर्थ कर्म अनिवार्य है। सत्य पुण्य या सत्य तपस्या से पापकर्म का प्रक्षय तो हो जाता है परन्तु पुण्यकर्म बने रह जाते हैं; आदि अनेक तर्क उप-स्थित किये जाते हैं। वस्तुतः भगवत्-स्वरूप साक्षात्कार के बिना निवृत्ति सम्भव नहीं।

भगवान् अनन्त, अखण्ड, कूटस्थ परब्रह्मस्वरूप हैं; जीव भी अनन्त, अखण्ड, कूटस्थ परब्रह्मस्वरूप ही है तथापि भगवान् सदा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, अच्युत हैं और जीव प्रच्युत है। अनादि, अनिर्वचनीय अविद्या-योग से जीव में अस्वस्थता आरोपित होती है; इस आरोपित अस्वस्थता की निवृत्ति एवं स्वाभाविक स्वस्थता प्राकट्य हेतु ही कर्म, उपासना एवं ज्ञान-काण्ड पर आधारित सम्पूर्ण व्यापार की अपेक्षा है। भगवान् स्वस्वरूप से अनन्तानन्त गुण-गणों से कदापि प्रच्युत नहीं होते, यही उनका वैशिष्ट्य है। अकारण दयालुता, भक्त-रंजकता, असीम कारुण्यास्पदता आदि भगवान् के अनन्तानन्त गुण-गण हैं।

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे अच्युत! हम आपकी प्रेयसीजन हैं; आपके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संतप्त हैं; इस अनन्त दुःख-समुद्र में निमग्न हो हम अत्यन्त परिश्रान्त हो रही हैं; यदा-कदा आपके दर्शन होते भी हैं तो हमारे पक्ष्मों के कारण ही उसमें विघ्न पड़ता है। आपके दर्शन से वंचित त्रुटिपरि-मित काल भी हमारे लिए चतुर्युगीवत् दीर्घ हो जाता है। हम आपकी प्रेयसी-जन आपके विरह-सन्ताप में जलती रहें और आप करुणानिधि होते हुए भी

दर्शन न दें, अन्तर्धान ही रहें, यह सर्वथा असंगत है। भगवान् अकारण करुणा-वरुणालय हैं, तथापि जब तक भक्त भी अडिग, अप्रच्युत नहीं होता तब तक लोकोत्तर कल्याणगुण-गणों से अभिषिक्त उसका स्वरूप प्रतिफलित नहीं होता।

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

(मानस २/२१८/३, ५)

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'

(श्रीमद्० गीता ९/२९)

अर्थात्, मैं सर्वभूतों में सम हूँ; मेरा न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय ही है।

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

(वही, २९)

जो भक्तिपूर्वक मुझको भजते हैं मैं भी उनको भजता हूँ। भगवान् कल्पतरु स्वभाव हैं; जैसे कल्पतरु, कामधेनु, चिन्तामणि एवं अग्नि व्यक्तिविशेष के प्रति राग-द्वेषशून्य होते हुए भी अपने सन्निधान में आनेवाले के ही दुःख-दारिद्रय एवं शीत का प्रशमन करते हैं, वैसे ही भगवान् भी राग-द्वेषशून्य होते हुए भी प्रणत-कल्पतरु हो हैं।

'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥

(मानस २/२६६/८)

अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय, आत्माराम, परम निष्काम प्रभु स्वतः राग-द्वेष-शून्य हैं तथापि स्वभावतः प्रणत-कल्पतरु हैं—यही जगत् के वैषम्य का मूल मन्त्र है; जो जीव भगवदुन्मुख हुआ उसके दुःख-दारिद्रय का अन्त हो गया परन्तु जो भगवत्-विमुख ही रहा उसके दुःख-दारिद्रय भी बने रहे।

'कूर कुटिल खल कुमति कलङ्की। नीच निसील निरीस निसङ्की॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥'

(मानस २/२९८/२-३)

जिन्होंने भगवान् की अनन्त महिमा को सुना, जो भगवत् कथामृत का पान कर भगवत्-चरणारविन्दों की शरण आए उनके सम्पूर्ण दुःख-दारिद्रय का प्रशमन हो गया। स्वयं राघवेन्द्र रामचन्द्र कह रहे हैं,

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥'

(मानस ५/४३/१)

'सरन गएं प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥'
(मानस, ५/३८/८७)

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥'
(वाल्मीकीय रामायण, युद्ध० १८/३३-३४)

अर्थात्, हे सुग्रीव! यदि विभीषण अथवा स्वयं रावण भी मित्रभाव से शरणागत हुआ हो तो उसे भी मैं त्याग नहीं सकता; शरणागत प्राणी भले ही सदोष हो तथापि सर्वथा अत्याज्य है; शरणागत का ग्रहण सन्तों द्वारा अगर्हित पथ है।

'सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि॥'
(मानस, ५/४३)

शरणागत को स्वीकार करना उपकार अथवा बड़प्पन नहीं है; भगवान् राघवेन्द्र स्वयं ही कह रहे हैं कि जो निज लाभ-हानि के विचार से शरणागत का त्याग कर देता है वह पातकी है; ऐसे व्यक्ति का दर्शन भी अनिष्टकारक है। तथापि हर कोई शरण्य नहीं होता; शरण्य की शरणागति ही कल्याणकारिणी होती है; भगवान् राम समुद्र की शरण गए अतः उनकी शरणागति सफल नहीं हुई; विभीषण सर्व-शरण्य भगवान् राम के शरणागत हुआ, शरण्य को शरण हुआ। **'शरण्यं शरणं गतः'** (वाल्मीकि रा० युद्ध० १९/५) **'राघवं शरणं गतः'** (वही, १७/१६) अतः विभीषण का सर्वतोभावेन कल्याण हुआ। भगवान् सदा ही शरणागत-वत्सल हैं, प्रपन्न-पारिजात हैं तथापि माया-भ्रमित जीव भगवत्-शरणागत न होकर भवाटवी में अनादिकाल से भटक रहा है।

'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥'
(श्रीमद्भा० ११/२/३७)

अर्थात्, भगवद्-विमुख जीव को ईश्वर की माया से स्वरूप-विस्मरण हो जाता है। माया का स्वरूप ही आच्छादक है; जीव के वास्तविक परमात्म-स्वरूप को आच्छादित करना ही माया का कार्य है। स्वं-स्वरूप-विस्मरण से विपर्यय हो जाता है; अद्वैत में द्वैत का, अमूर्त में मूर्त का, निष्प्रपंच में प्रपंच का भान

ही विपर्यय है; विपर्यय से भय, भय से बन्धन होता है। गुरु एवं देवता में आत्मा का संग ही इस भय से निवृत्ति का एकमात्र उपाय है; **'गुरुदेवतात्मा गुरुदेवतात्मा सन्'** गुरु में, देवता में दोनों में भक्तियुक्त मन।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६/२३)

अर्थात्, गुरु और इष्टदेव में अभेदभाव से तन्मय होकर उस ईश्वर को ही भजें, भगवदुन्मुख हों; भगवद्-वैमुख्य ही संसार-प्रपंच का मूल है; भगवद्-सामुख्य ही निवृत्ति का एकमात्र कारण है। **'क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यः वारवनितेव'**, जैसे कोई स्वैरिणी तपोधनों से भय खाती है, वैसे ही भगवदुन्मुख जीव से माया-नटिनी भी भय खाती है।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'

(श्रीमद्० गीता ७/१४)

भगवत्-कथन है, 'मेरी शरण हो जाने पर माया जीव को सताती नहीं।' यहाँ एक ही श्लोक में बन्ध और मोक्ष दोनों की ही प्रक्रिया बतला दी गई है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं,

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः' हे अच्युत ! हम सर्वस्व का त्यागकर आपकी शरण आयी हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (श्री० भ० गी० १८/६६)

'दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्।'

(वाल्मीकीय रामायण, युद्ध० १८/३)

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'

(श्वेता० ६/१८)

आदि भगवत्-उद्गीत हैं; हम आपके प्रति प्रणत हैं; आप प्रणत-कल्पतरु हैं; प्रणत-प्राणी आपकी अनन्त कृपा-जलनिधि से प्लावित हो अशेष कल्याण का भागी हो जाता है। हम अपने पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, सर्वस्व का त्यागकर आपकी शरण में आई हैं। सामान्यतः पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव का त्याग अक्षम्य अपराध ही माना जाता है।

'पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'

(मनुस्मृति ९/३)

कुल-परम्परागत, कुटुम्बागत धर्म का पालन तथा लज्जा का, मर्यादा का सर्वतोभावेन रक्षण करना ही नारी का सर्वोत्तम, सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है तथापि भगवत्-शरणागति ही परमोत्कृष्ट, सर्वतोकृष्ट है अतः तदर्थ सामान्य-धर्म की निरपेक्षता श्रेयस्कर है।

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥'

(मनुस्मृति, ११/४४)

अर्थात्, जो प्राणी अपने विहित कर्मों का अनुष्ठान न कर निन्दित कर्मों का आचरण करता है वह इन्द्रियार्थ में प्रसक्त होकर पाप का भागी होता है; परन्तु जो धर्माधर्म का त्याग करता है वह समाधि-निष्ठ होता है।

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥'

(महाभारत, शान्तिपर्व ३३१/९४)

धर्माधर्म, सत्यासत्य के त्याग के साथ ही साथ जिस अहंकार द्वारा धर्माधर्म का, सत्यासत्य का त्याग सम्भव होता है उस अहंकार का परित्याग करने पर ही प्राणी को पारमहंस्य समाधि-निष्ठा प्राप्त होती है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे अच्युत! प्रपन्न-जन-रंजन आपका गुण है; आप अपने स्वरूप से सदा अप्रच्युत रहते हैं; अपने गुण-स्वभाव से भी सदा अविच्युत रहते हैं; एतावता इस आशय से कि आप स्वभावतः प्रपन्न-जन-रंजन करेंगे ही, हम आपकी शरण आई हैं। संसार के सम्पूर्ण सूत्र, सम्पूर्ण सम्बन्धों का परित्याग कर हम आपकी ही शरण आई हैं।

'निराश्रयाः न तिष्ठन्ति पण्डिता वनिता लताः' पण्डित, स्त्री एवं लता निराश्रित नहीं रह पाते; लता निराश्रित होगी तो भूमि पर फैलेगी; भूमि पर पड़ी हुई लता को लोगों का पाद-प्रहार सहना पड़ेगा। इसी तरह वनिता भी सदा पिता, पति एवं पुत्र अथवा बन्धु-बान्धवों पर आधारित होती है; परन्तु 'पण्डिताः' किस प्रयोजन से कहा गया, यह हमारे समझ में नहीं आया। **'पण्डिताः समदर्शिनः'** आप्तकाम, पूर्णकाम को ही पण्डित कहते हैं :

'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥'

(श्रीमद्० गीता ४/१९)

परम निष्काम को आश्रय की क्या आवश्यकता ? सम्भवतः यह उक्ति राजाश्रयप्राप्त कवियों के लिए ही की गई है।

'**दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा।**'
(श्रीमद्भा० १०/४७/६१)

हम लोगों ने दुस्त्यज आर्य-मार्ग का, स्वजनों का, बान्धवों का परित्याग कर भगवद्-शरण ग्रहण किया है। हे अच्युत ! हे अन्तिक ! सर्वस्व का त्यागकर हम आपकी शरण आई हैं अतः हम भी अच्युता हैं। '**अन्वयान् सम्बन्धिनः बान्धवान् अति विलङ्घ्य**' अति लंध्य तथा विशेषतः, अलंध्य बन्धु-बान्धवों के स्नेह का परित्याग किया, साथ ही, धर्मादि की भी अपेक्षा नहीं की; तात्पर्य कि सर्वतोभावेन समूल सर्वस्व का परित्याग कर दिया, मानो संन्यास ले लिया। जैसे संन्यास ले लेने पर पुनः गृहस्थाश्रम में लौट जाने की कल्पना भी नहीं होती वैसे ही हम लोगों के लिये भी घर लौट जाना असम्भव ही है। जो गोपाङ्गनाएँ पति आदिकों के द्वारा अपने घरों में ही अवरुद्ध कर लिये जाने पर ध्यानस्थ हो अपने भौतिक शरीर का त्यागकर दिव्य-देह धारण कर भगवत्-सन्निधान में जा पहुँची थीं उन सौभाग्यशालिनी व्रजसीमन्तिनी-जनों के लिए पुनः घर लौट जाने की कल्पना भी सम्भव नहीं।

अन्य कुछ गोपाङ्गनाएँ अपने घरों को लौट भी गयीं। प्रहरचतुष्टयवती एक रात्रि में अगणित ब्राह्मी-रात्रियों का सन्निवेश करके महती रात्रि में रासलीला हुई।

'**नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।**
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥'
(श्रीमद्भा० १०/३३/३८)

अर्थात्, इन गोपाङ्गनाओं का दिव्य-स्वरूप तो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के सन्निधान में था परन्तु मायामय स्वरूप तत् तत् गोप के सन्निधान में भी था; अपनी-अपनी दाराओं को अपने सन्निधि में पाकर गोपजनों को किसी प्रकार का भ्रम भी नहीं हुआ।

वस्तुतः गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र की परम अन्तरंगा शक्ति-स्वरूपा ही हैं; कुछ गोपाङ्गनाएँ रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी की रश्मि-रूपा हैं। यथार्थ में इन व्रजाङ्गना-जनों का अपने वास्तविक स्वरूप से कोई ऐसा अभेद विचित्र सम्बन्ध था जिसकी उनको स्पष्टतः प्रतीति होती थी। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में भी यह स्पष्टतः कहा गया है कि उनका तेजोमय प्रकाशमय

परब्रह्मस्वरूप व्रजधाम में ही सदा-सर्वदा विराजमान रहता है, **'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'** जब कि मथुरानाथस्वरूप रथारूढ़ हो मथुरा पधारे, **'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः'** (श्री० भा० १०/१/२८) व्यवहारतः भी गोधन-हरण के अवसर पर इन सबका विवाह तत् तत् गोप-कुमारस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के साथ ही हुआ था,

वृषभानु-नन्दिनी राधारानी, ललिता, विशाखा आदि दिव्यातिदिव्य गोपाङ्गनायें लौकिक व्यवहारदृष्ट्या अपने-अपने घर को लौट भी गईं तथापि वस्तुतः उनका कोई लौकिक सम्बन्ध न रहा। वे कह रही हैं,

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः' हे अच्युत ! सम्पूर्ण लौकिक सम्बन्ध एवं धर्माधर्म, सत्यासत्य एवं अहंकार का परित्याग कर हम आपके सन्निधान में आई हैं; आप प्रणत-कल्पतरु, अविच्युत हैं, जनरंजक हैं।

'गतिविदस्तव' आप गतिविद् हैं; जड़, शुष्क, अल्पज्ञ के प्रति अपने हृदय के रहस्य का निवेदन अत्यन्त कष्टप्रद होता है; जैसे चातक के मनोभाव से जड़ बादल, मीन के प्रेम से जल अनभिज्ञ ही रह जाता है, वैसे ही, अल्पज्ञ सांसारिक जन भी प्रेमपूर्ण हृदय के सम्पूर्ण भावों को जानने में असमर्थ ही रह जाते हैं। प्रायः व्यक्ति स्वयं भी अपने मनोभावों से अपरिचित रह जाता है; मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार व्यक्ति की अनेकानेक भावनायें स्वयं उसके लिए भी अविदित हो रह जाती हैं। भगवान् सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वज्ञ-शिरोमणि हैं। भक्तराज प्रह्लाद कह रहे हैं,

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥

(श्रीमद्भाग० ७/७/३८)

हे असुर बालको ! अपने हृदय में ही आसीन हरि की उपासना में भला कौन प्रयास आवश्यक है ? आकाश की भाँति भगवान् ही सबके हृदय में व्याप्त हैं; भगवान् प्रत्यगात्मा हैं; शरीररूप अन्नमय कोष के भीतर क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष हैं; इस आनन्दमय कोष में स्थित **'तस्य प्रियमेवशिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'** (तैत्ति० उप० २/५/२) **'पुच्छ प्रतिष्ठ'** ही ब्रह्म है, सर्वाधिष्ठान है अतः भगवान् ही **'गतिविदस्ते'** सम्पूर्ण गति-विधि के पूर्ण ज्ञाता हैं।

'गतिविदस्ते गतिं स्वस्वभावं च अस्माकं स्वभावं च भवान् वेत्ति इति गतिवित् तस्य गतिविदः ते अंतिकं वयं आगताः' अर्थात्, आप अपने स्वभाव को भी जानते हैं, साथ ही हमारे स्वभाव को भी जानते हैं अतः हम आपके पास आई हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं, **'स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।'** (श्री० भा० १०/२९/१८) "हे महाभागाओ ! तुम्हारा स्वागत है। बताओ तो हम तुम्हारा क्या प्रिय करें ?" भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे वचनों को सुनकर गोपाङ्गनाएँ परस्पर कहने लगीं, "हे सखि ! क्या तुम कोई दर्पण भी लाई हो ? इन श्यामसुन्दर को दर्पण में इनका मुँह तो दिखला दें,— किस मुँह से ये ऐसी कठोर बात कह रहे हैं ? सम्भवतः दर्पण में अपना मुँह देखकर ही ये लजा जायँ और मधुर भाषण करें।" गोपियाँ प्रेम-विभोर हैं।

भक्त-शिरोमणि श्री हनुमान्जी कह रहे हैं—

'मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।'

(मानस ४/१/७)

हे स्वामी ! मैं अल्पज्ञ हूँ अतः स्वस्वरूप से भी और कारुण्य-सुधा-जलनिधि, प्रपन्न-पारिजात, भगवत् स्वरूप से भी विस्मृत हो जाता हूँ।

'मूढोऽहं त्वां कथं जाने मोहितस्तव मायया', हे प्रभो ! आपकी माया से मोहित हम मूढ़ प्राणी अपने-आपको भी नहीं जान पाते, आपको भी नहीं जान पाते। परन्तु आप सर्वज्ञ, सर्वाधिष्ठान हैं, सर्वगतिविद् हैं; अस्तु हमारे आन्तरिक भाव के ज्ञाता हैं। **'त्वमेव एका गतिः यासां ताः त्वदेकगतिकाः'** आप जानते हैं कि हमारे ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, सर्वस्व सब आप ही हैं। हम गोपाङ्गनाएँ अपने सर्वस्व का, पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, लोक-वेद सम्पूर्ण का परित्याग कर आपकी शरण आई हैं।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥'

(श्रीमद्० गीता ९/१८)

प्रभु ही गति हैं, पति हैं, सर्वसाक्षी हैं। **'सर्व-समर्थ निवासः'** भगवान् ही हमारे निवास-स्थान हैं; भगवान् ही अन्तरात्मा, अन्तःकरण, अन्तःप्राण हैं। **'शरणं गृहरक्षित्रोः'**। अमरकोष ३/३/५३) भगवान् ही हमारे आधार, आयतन हैं, रक्षक हैं, भर्ता हैं।

'तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो।
तोहि मोहि नाते अनेक मनियै जो भावै॥'

(विनय-पत्रिका ७९)

प्रभु, भर्ता, निवास, शरण्य आदि सम्पूर्ण भाव अनन्यगति के ही अवान्तर भेद हैं; अनन्य गति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **'एको गतिस्त्वम्'** एक तुम ही हमारी गति हो; **'त्वद्वाक्यं स्ववाक्यं न जानाति'** आप तक अपने भावों को पहुँचाने के लिए हमको चकोर की भाँति अग्नि-भक्षण भी नहीं करना होगा क्योंकि आप सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी हैं। हे अच्युत !

'बालानां रोदनं बलं' जैसे रोना ही बालक का बल है वैसे ही सर्वस्व का त्यागकर आपके शरण हो जाना, आश्रित हो जाना ही हमारा कर्तव्य है; और कुछ न करते हुए आपके मंगलमय चरणारविन्दों का समाश्रयण ही हमारा एक-मात्र कर्तव्य है। ऐसी निर्विचेष्टता ही अत्यन्त दुर्लभ है।

'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥'

(कठोपनिषत् २।३/१०)

सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, अध्यवसायात्मिका बुद्धि निर्विचेष्ट हो जाय यही परमगति है। भगवान् के सगुण-साकार विग्रह का

'सुस्मितं भावयेन्मुखं' (श्री० भा० ११/१४।४३) का चिन्तन करते-करते अन्ततोगत्वा

'न किंचिदपि चिंतयेत्' (श्री० भा० ११/१४/४४) सम्पूर्ण चिन्तन का ही बाध हो जाय यही सर्वतोऽधिक पुरुषार्थ है। जैसे, सामान्यतः धावन-व्यापार धावक-परतंत्र है, धावन-व्यापार पुरुष-प्रयासजन्य है, पुरुषकर्ता है।

'क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।'

जो स्वेतर सकल कारकों का प्रयोजक हो परन्तु स्वयं दूसरों से अप्रयोज्य हो वही कर्ता है। धावक कर्ता का प्रयास ही **'धावति'** क्रिया है। धावन्-गति में विशेष वृद्धि होने पर धावक-कर्ता स्वयं उस गति के वशीभूत हो जाता है। इसी तरह चिन्तन-क्रिया चिन्तक-परतन्त्र है तथापि चिन्तन-गति का वेग बढ़ जाने पर चिन्तन-कर्ता ही चिन्तन-विवश हो जाता है। यही **'त्वदेकगतित्व'** है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे अच्युत ! आप सर्वज्ञ हैं; हम समूल सर्वस्व त्यागकर आपकी शरण आई हैं; शरणागत प्राणी कदापि त्याज्य नहीं होता। अतः हे गतिविद् ! हम पर अनुग्रह करें।'

'गतिविदः' पद का **'गतिविदो वयमपि'** **'गतिविदो वयं आगताः'** अर्थ भी लग जाता है। गोपाङ्गना-जनों में स्फुरण होता है मानों भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं "हे गोपालियो ! तुम तो बहुत चतुर हो। अभी-अभी तो कह रही थीं कि

आपने इन कुटिल कुन्तलों को सधर्मी जानकर ही इनको सिर पर धारण किया है; जैसे ये कुन्तल सचिक्कण एवं स्निग्ध होते हुए भी अत्यन्त कृष्ण हैं, अत्यन्त कुटिल हैं वैसे ही आप भी स्निग्ध होते हुए अत्यन्त कुटिल एवं कृष्ण हैं। हे गोप-वनिताओ ! हमारे इस स्वभाव से परिचित होते हुए भी तुम पहले से ही सावधान क्यों न हो गईं ? क्यों वृन्दारण्य तक दौड़ी चली आईं ?"

इस प्रश्न का उत्तर देती हुई वे कह रही हैं, **'गतिविदोपि वयं तव उद्गीत-मोहिताः आगताः'** आपकी कुटिल गति को जानते हुए भी आपके उद्गीत से मोहित होकर हम लोग आ गई हैं। जैसे, मृगी व्याध के वीणा-निनाद से मोहित हो उसकी सन्निधि में स्वभावतः पहुँच जाती हैं, वैसे ही, हम भी आपके उद्गीत से मोहित हो आपकी सन्निधि में खींची चली आई हैं।

अथवा, **'गतीर्गीतगतीर्वेत्ति इति गतिविद् तस्य गतिविदः'** आप गीत की विशेषताओं को जानते हैं;

'वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः' (श्री० भा० १०/३५/१४) आप वेणु-वादन की परम्परागत शिक्षा-सम्पन्न हैं; साथ ही, निज विज्ञानजन्य नूतन आविष्कारों से भी सम्पन्न हैं। जैसे कोई विशेष वैज्ञानिक भिन्न-भिन्न विषयों में असाधारण विज्ञान प्रकट करते हैं, आविष्कार करते हैं वैसे ही **'उरुधा निजशिक्षाः'**, अनेक विधि प्रकार के स्वाध्याय से अनेकानेक नई गतियों का आविष्कार भी श्रीकृष्ण ने किया। 'अद्भुत रामायण' में ऐसी एक कथा है।

एक समय देवर्षि नारद कहीं जा रहे थे; मार्ग में उनको भगवती लक्ष्मी-सहित भगवान् मिल गए; वार्तालाप के प्रसंग में पता लगा कि भगवती लक्ष्मी एवं उनकी सखियोंसहित भगवान् तुंबरु का संगीत सुनने जा रहे हैं। महर्षि नारद को आश्चर्य हुआ कि जिस संगीत को सुनने स्वयं श्री भगवान् भगवती लक्ष्मी के साथ पधार रहे हैं वह कितना महत्त्वपूर्ण होगा ? संगीत के विशिष्ट महत्त्व को समझकर देवर्षि नारद भी संगीत सीखने के लिये उत्कंठित हो उपयुक्त गुरु की खोज में लग गए। उत्तराखण्ड में कोई उलूक-बन्धु नामक विशिष्ट संगीतज्ञ उलूक स्वरूप में रहते थे; देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर आदि भी उनके पास संगीत सीखने आते; उनकी योग्यता का अनुभव कर नारदजी ने भी उनको अपना गुरु बना लिया; संगीत सीख लेने पर नारदजी को तुंबरु के प्रति स्पर्धा हुई; तुंबरु को गायन-कला में परास्त करने नारदजी उसके घर पहुँच गए; तुंबरु के घर के आसपास राग-रागिनियों की भीड़ लगी थी; नारदजी ने उनसे उनका परिचय पूछा; वे लोग कहने लगे कि 'क्या बतायें, एक नारद नामक कोई मूर्ख गायनाचार्य बनकर ऊटपटांग गाता है जिससे हम अपंग हो

जाते हैं; यहाँ इसलिये खड़ी हैं कि जब तुंबरु महाशय गायेंगे तो हमारे अपंग हुए अंग पुनः स्वस्थ हो जावेंगे।' ऐसा उत्तर सुन नारदजी अत्यन्त लज्जित हो लौट पड़े। अन्ततोगत्वा महर्षि नारद ने क्रमशः श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों, अष्ट पटरानियों एवं स्वयं श्री भगवान् एवं राधारानी से संगीत की शिक्षा ग्रहण की और इस लोकोत्तर संगीत के ज्ञान से ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए। ब्रह्मानन्द प्राप्त होने पर नारदजी में तुंबरु के प्रति स्पर्धा-भाव ही समाप्त हो गया। तात्पर्य कि संगीत महामहिम है; वह ब्रह्म-सहोदर कहा जाता है। श्रीधरस्वामी लिखते हैं, **'गीतगतोर्वा वेत्ति इति गतिविद्, तस्य विदः।'** भगवान् श्रीकृष्ण गीत की गति-विधियों को जाननेवाले हैं, अतः **'गतिविद्'** हैं। जैसे वशीकरण अथवा मोहन-मन्त्र के वशीभूत हो प्राणी बलात् उस ओर चल पड़ता है, वैसे ही हम भी आपके स्वभाव को जानते हुए भी आपके उद्गीतरूप मोहन-मन्त्र से आकृष्ट हो बलात् यहाँ तक आपके सान्निध्य में खींची चली आई हैं।

कान्तादिकों द्वारा अवरुद्ध कर लिए जाने पर कृष्ण-ध्यान में रत हो शरीर-त्याग कर देनेवाली गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'अतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः'** हे अच्युत ! आप गतिविद् हैं; **'अस्माकं दशमीं दशां गतिं वेत्ति इति गतिविद्।'** आप हमारी दशमी दशा को जानते हैं। साधारण-से-साधारण त्याग करने पर भी त्यागी का सम्मान होता है; गृह-कुटुम्ब, पति-पुत्र, सुख-ऐश्वर्यादिकों का त्याग भी महत्त्वातिशायी होता है; हम लोगों ने तो अपने प्राणों का ही त्याग कर दिया है; आपके विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से हम दसवीं दशा को, मृत्यु को प्राप्त हो रही हैं। चक्रवर्ती महाराज दशरथ की भी महिमा यही है कि भगवान् रामचन्द्र के वियोग में वे अपने प्राणों को न रख सके :

'बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥'

(मानस, बाल०, १६)

सत्य-स्वरूप राघवेन्द्र रामचन्द्र भगवान् में सत्य-प्रेम होने के कारण अवध-भुआल ने परम प्रेमास्पद प्राणों को भी तृणवत् त्याग दिया। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे गतिविद् ! हे अच्युत ! आप हमारी इस अवस्था को जानते हैं; साथ ही, आप सदा अपने स्वरूप से अच्युत रहते हैं; तथापि प्रपन्न-जन-परित्राणरूप अपने स्वधर्म से विच्युत हो हो रहे हैं।

उन गोपाङ्गनाओं को प्रतीत होता है मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'हे सखी-जन ! हम तो बाल्यावस्था से ही लीलया वेणु-वादन करते हैं; वेणु-वादन हमारा स्वभाव ही है; हम वेणु-वादन विनोदी हैं अतः हम तो अपने ही मनोरंजन हेतु स्वभावतः ही वेणु-वादन कर रहे थे; तुम लोग कैसे चली आईं ?' इसका उत्तर

देती हुई वे कह रही हैं, 'हे गतिविद् ! आपके गीत से, आगमन से पूर्णतः परिचित हैं; यह जानते हुए कि हमारे मुखचन्द्र-विनिर्गत वेणुगीत-पीयूष को सुनकर व्रज-वनिताएँ अपने-आपको न रोक पायेंगी और अवश्य ही हमारे सन्निधान में दौड़ी चली आवेंगी, आपने वेणु-वादन किया कात्यायनी-व्रत के अन्तर्गत।'

'मयेमा रंस्यथ क्षपाः।' (श्री० भा० १०/२२/२७) इन ब्रह्मरात्रियों में आप लोगों की अभिलाषा-पूर्ति होगी, ऐसा वरदान आप ही ने दिया था; इस अपने दिये हुए वरदान का अनुस्मरण कर-कर ही आप श्री वृन्दावन धाम पधारें, साथ ही, हम लोगों को आकृष्ट करने हेतु ही वेणु-वादन किया; इस वेणु-वादन श्रवण के पूर्व भी हम आपके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से संतप्त हुई भी अपने कुटुम्ब के कृत्यों में कथंचित् संलग्न रहती थीं; कभी भी यहाँ तक दौड़ी नहीं आईं, परन्तु आज का तो वेणु-वादन ही विचित्र है, इस उद्‌गीत से मोहित होकर ही हम यहाँ आपकी सन्निधि में बलात् खींची चली आईं; **"उच्चैर्गीतं उद्‌गीतं"** माधुर्य-रसयुक्त, स्नेह-सिक्त सस्वर गीत ही उद्‌गीत है। कोई बहुत अच्छी बात स्नेहसिक्त मधुर स्वर में स्वर-सम्पत्ति के साथ कही जाय तो स्वभावतः ही उसका विशिष्ट आकर्षण होता है। इन सबके सम्यक् सम्मिश्रण से युक्त आपका यह वेणु-गीत ही मोहन-मंत्र है; इस उद्‌गीतरूप मोहन-मंत्र के प्रभाव से आकृष्ट हो हम बलात् आपकी सन्निधि में खींची चली आई हैं। इस उद्‌गीत में आपने हम व्रज-वनिताओं के सौन्दर्य-माधुर्यादिकों का वर्णन करते हुए हमारे विभिन्न नामों का उच्चारण कर हमारे प्रति अपने स्नेह को व्यक्त करते हुए अनुनय-विनय-पूर्वक हमारा आह्वान किया; अस्तु, हम तो वेणु-वादन-विनोदी आपके विनोद से आकृष्ट नहीं हुईं, अब इस उद्‌गीत से मोहित हो बलात् खींची चली आई हैं।

"उद्‌गीतेन तदनुरूपैव मा सुख-सम्पत्तिः ऊहिता कल्पिता याभिस्ताः उद्‌गीतमोहिताः" हम लोगों ने आपके इस परम आह्लादक, परमानन्दमय उद्‌गीत के अनुरूप उसमें सुख-सम्पत्ति की कल्पना की थी। संसार के सम्पूर्ण व्यवहार श्रुति-सुख हैं; सुनने में अत्यन्त मधुर होते हुए भी परिणामतः दुःखद ही हैं; तथापि आपके मुखचन्द्र-निर्गत वेणु-गीत-पीयूष में हम लोगों की यथार्थत्व बुद्धि ही थी।

> **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
> **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"**
>
> (श्री० भ० गी० १८/६६)

> **"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**
> **अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥"**
>
> (वाल्मीकीय रामायण ६/१८/३३)

आदि अनेकानेक वाक्य ही भगवद्-उद्गीत हैं; यदि भगवद्-उद्गीतों में यथार्थ-बुद्धि न हो तो अनादिकाल से प्रचलित अनेकानेक सम्प्रदायों की परम्पराएँ; अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि एवं इन पर आधारित विभिन्न उपसनाएँ, संसार-त्याग, सब सर्वथा निरर्थक हो जायँ।

गोपाङ्गनाओं में पुनः स्फुरण होता है कि भगवान् कृष्ण प्रश्न कर रहे हैं, "हे सुन्दरियो ! हमारे कपटी स्वभाव को जानती हुई भी तुम हमारे सन्निधान में क्यों चली आईं ?" वे उत्तर देती हैं, "हे कितव ! हम तुम्हारे उद्गीत से मोहित हैं; मोहित प्राणी से कौन अपराध नहीं बनता ? मोहवश प्राणी विवेक-शून्य हो जाता है; उसमें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भी नहीं रह जाता। एतावता हम भी आपके उद्गीत से मोहित हो आपके सन्निधान में चली आई हैं।"

कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि; 'कितव' शब्द का अर्थ है कपटी, धूर्त, वंचक। वे कह रही हैं, **"हे कितव ! एवं भूत्वा स्वयं आगताः आकृष्य समानीताः योषितः वने कितवोपि कस्त्यजेत् ?"** स्वभाव से ही स्त्रियाँ कोमलांतःकरणवाली, अनुरागिणी होती हैं; इन स्नेहशीला, सरल-हृदया योषिताओं के साथ किसी कितव का भी कौटिल्य सर्वथा अनुचित है; हम व्रजाङ्गनाएँ तो अपने पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, लोक-वेद, सत्यासत्य, धर्माधर्म सम्पूर्ण का परित्याग कर आपके विरह में दशमी दशा को प्राप्त हो रही हैं; हे कितव ! ऐसी योषिताओं की उपेक्षा आपके सिवा और कौन कर सकता है ? कोई कामी वंचक भी रात्रि के समय निर्जन वन में आई हुई अनुरागिणी युवतियों का त्याग नहीं कर सकता परन्तु आप तो हमारी उपेक्षा ही कर रहे हैं। आप वंचक-शिरोमणि हैं; रागी न होने पर भी मात्र मानवता की दृष्टि से भी रात्रि के समय निर्जन वन में कोमलान्तःकरण कोमलाङ्गी निराश्रय अशरण युवतियों की उपेक्षा कोई नहीं करता। **"हे कितव ! वंचितोपि भवान्"** वस्तुतः तुम ही वंचित हो रहे हो। अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य परिपूर्ण परमानुरागिणी आकृष्ट होकर आयी हुई अथवा अनुराग-वशात् स्वयं समागता हम युवतिजनों के त्याग से आप स्वयं ही शृंगार-सुख से वंचित हो रहे हैं। **"भ्रमति वनेषु भवान् अबलाकवलाय न तत्र विचित्रम्।"** हे कितव ! आपके लिए इसमें कोई वैचित्र्य भी नहीं है क्योंकि आप तो अबला-भक्षण के लिए ही वन में भटक रहे हैं। **प्रथयति पूतनिकैव वधू-वध-निर्दय-बाल-चरित्रम्** (गीत-गोविन्द, १७/७) आपने तो बाल्य-काल में पूतना-वध, स्त्री-वध किया; आपका बाल-चरित्र ही आपकी निर्दयता को पुकार-पुकारकर कह रहा है।

"कितव योषितः" का अर्थ **"कितवानां योषितः कितव योषितोपि कस्त्य-**

जेत्" भी हो सकता है। तात्पर्य कि यदि किसी वंचक की स्त्री भी स्वानुराग-वशात् अथवा मोहन-मंत्र वशीभूता हो रात्रि के समय निर्जन वन में निराश्रय हो तो वह भी उपेक्षणीय नहीं; कैमुतिकन्यायतः 'योषित' पद-प्रयोग का तात्पर्य यह भी किया जा सकता है कि कितव-योषिता भी उपेक्षणीय नहीं है; हम तो सम्भ्रान्त परिवार की सम्भ्रान्त योषिताएँ हैं जो आपके उद्गीत के वशीभूत हो अपने सर्वस्व का त्यागकर आपके सन्निधान में खींची चली आई हैं।

सर्वतोभावेन अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान स्वप्रकाश परमात्मा परब्रह्म प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति शठ, कितव, वंचक आदि शब्दों का प्रयोग अत्यन्त असंगत प्रतीत होता है। इनका तात्पर्य यही है कि हम तो अपने सर्वस्व को त्यागकर, यहाँ तक अपने प्रेमास्पद प्राणों को भी त्यागकर आप सर्वाधिष्ठान, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् के शरण में आई और आप अन्तर्धान हो गए यह अनुचित है, आपके लिए अशोभनीय है। रसिक तो कहते है कि वस्तुतः भगवान् को वेद-मंत्रों द्वारा की गई अत्यन्त सार-गर्भित स्तुतियाँ भी उतनी प्रिय नहीं, जितनी इन वनचरी गोपालियों के प्रेम-विभोर हृदय की प्रेम-विह्वल अटपटी वाणियाँ।

"गतिविदोऽपि तदोद्गीतमोहिताः" हे अच्युत! हम दक्षिणायन एवं उत्तरायण दोनों गतियों को जानती हैं। गृहस्थधर्मानुसरण करते हुए पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, लोक-वेद, सत्यासत्य, धर्माधर्म का समाश्रयण करने पर दक्षिणा-यन मार्ग का अनुसरण करना होगा; वेद-शास्त्रानुमोदित क्रिया-कलापों का अनुष्ठान करते हुए जीव धूम-मार्ग से क्रमशः धूमाभिमानी, रात्रि-अभिमानी, कृष्णपक्षाभिमानी, दक्षिणायन-अभिमानी देवता को प्राप्त करते हुए चान्द्रमसी देवता को प्राप्त कर चान्द्रमस लोक में सम्पूर्ण सुखों का उपभोग करता है तथापि **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में ही आ जाता है। यही दक्षिणायन-मार्ग का स्वरूप है।

उत्तरायण-मार्ग का अनुसरण करने पर जीव क्रमशः दिनाभिमानी, अग्नि-अभिमानी, ज्योति-अभिमानी, अहर-अभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी, उत्तरायणा-भिमानी देवता को प्राप्त होता है—तत्र कोई अमानव पुरुष उसको ब्रह्म-लोक ले जाते हैं। ब्रह्म-लोक में पहुँचने पर मर्त्य-लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे अच्युत! हम इन दोनों मार्गों को जानती हैं तथापि आपके उद्गीत से मोहित हैं।" उनमें पुनः श्रीकृष्ण-कृत प्रश्न का स्फुरण होता है,

'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन' (श्री० भ० गी० ८।२७) "जो दक्षिणायन एवं उत्तरायण दोनों मार्गों को जानता है वह कदापि मोहित

नहीं हो सकता फिर तुम कैसे मोहित हो गईं ?" वे उत्तर देती हैं, "हे श्याम-सुन्दर ! हम योगिनी नहीं, वियोगिनी हैं; एतावता इन दोनों संसृतियों को जानते हुए भी आपके मुखचन्द्रनिर्गत वेणु-गीत-पीयूष-रस से मोहित हो रही हैं।" तात्पर्य-कि योगी दोनों प्रकार की गतियों को जानते हैं अतः माया से मोहित नहीं होते; भगवत्-भक्त भी दोनों गतियों को जानता है तथापि भगवत्-प्रेम में मोहित रहता है; श्रीकृष्ण-प्रेम का मोह भी मायातीत एवं रसात्मक है; भगवदनुकम्पा से ही ऐसे मोह की प्राप्ति हो सकती है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे मदन-मोहन ! आप जैसे कितव हैं वैसे ही अच्युत भी हैं। वेणु-गीत-श्रवण से हम **'विलम्बासहिष्णुतया शीघ्रमेव ता आगमिष्यन्ति'**, विलम्ब सहन न कर शीघ्रातिशीघ्र आ जायेंगी यह जानकार ही आपने वेणु-वादन किया; जैसे कोई शठ अपने द्वारा किए गए छल-कपट से किसी-को अत्यन्त दुःखित देखकर भी द्रवित नहीं होता वैसे ही, आप भी हम व्रज-वनिताओं को अपने उद्‌गीत से मोहित हो सर्वस्व त्यागकर आई हुई जानते हुए भी अन्तर्धान हैं।" **'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता'** (मानस, उत्तर० १२/४८) पुनीत संत वही है जो अन्य के दुःख से द्रवित होते हैं। आप तो अपने ही उद्‌गीत से मोहिता हम लोगों की अपने घरों से गति एवं वृन्दावन धाम में आगति साथ ही हमारे हृदय की ईदृशी विह्वल गति को जानते हुए भी असंग हैं, अद्‌भुत चित्त हैं, अच्युत हैं।

व्रज-बालाएँ स्वभावतः ही अपने परम-प्रेमास्पद मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण में अनुरक्त हैं। इतर-प्रेरणा-निरपेक्ष अनुराग ही स्वाभाविक अनुराग है; जैसे अपनी सन्तति में माता का प्रेम सम्पूर्णतः इतर प्रेरणा-निरपेक्ष ही होता है। भगवत्-चरणारविन्दों में स्वयं अपनी प्रेरणा से उद्‌बुद्ध राग ही रागानुगा प्रीति है अतः भक्त कामना करता है,

'या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥'

(विष्णुपुराण १/२०/१९)

जो प्रीति अविवेकी प्राणी को विषयों में होती है, प्रभु ! वैसी ही प्रीति हमें आपके मंगलमय चरणों में हो जाय।

'अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥'

(श्रीमद्‌भा० ६/११/२६)

अर्थात्, जैसे अजात-पक्ष पक्षी-शावक व्याकुल होकर अपनी कल्याणमयी, करुणामयी अम्बा की राह देखते हैं अथवा अतृणाद गोवत्स क्षुधा-निवृत्ति हेतु अत्यन्त उत्सुकता से अपनी माता के हुंभा-रव की प्रतीक्षा करते हैं अथवा जैसे कोई प्रेयसी प्रियतमा अपने प्रियतम प्राणनाथ के समागम के लिए अत्यन्त उत्कंठित होती है वैसे ही हे नाथ ! हमारा मन भी आपके मंगलमय चरणारविन्दों में सदा-सर्वदा लगा रहे। ऐसी उत्कंठा ही रागानुगा भक्ति का स्वरूप है।

वैधी-भक्ति के अन्तर्गत गुरु एवं शास्त्रादेशानुसार यम-नियमपूर्वक मन को भगवद्-चरणों में बरबस लगाना पड़ता है; श्रवण, कीर्तन, मनन, पंचोपचार, षोडशोपचार पूजन आदि विधियों से येन-केन-प्रकारेण मन को भगवत्-चरणों में संलग्न करना पड़ता है। विभिन्न हेतुओं से जैसे संसार के पाप-ताप से शान्ति प्राप्त होगी, मुक्ति मिलेगी, स्वर्ग प्राप्त होगा, धन-धान्य प्राप्त होगा आदि का अवलम्बन कर मन में उत्साह उद्बुद्ध करना होता है।

'तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥'

(श्रीमद्भा० २/१/५)

अत्यन्त अप्राप्त में ही विधि होती है; युक्तायुक्त विचार-पूर्वक कर्तव्य ही विधि है। प्रारम्भ वैधी भक्ति से ही होता है; जिस किसी तरह मन को बरबस भगवत्-चरणारविन्दों में लगाने का प्रयास किया जाता है, यद्यपि मन बार-बार विषयों में एवं अनेकानेक तथाकथित स्वजन-परिजनों में दौड़ जाता है; साधक बार-बार मन को खींच-खींच प्रभु-चरणों में लगाने का प्रयास करता है। प्रभु-चरणारविन्दों में स्वाभाविक अनुराग हो तो मन को बरबस लौकिक कर्मों में लगाना पड़ता है। स्वाभाविक प्रवाह को रोकने का प्रयास प्रवाह के वेग को वृद्धिगत कर देता है; इसी तरह, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में गोप-बालाओं के स्वाभाविक अनुराग-प्रवाह को उनके पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, लोक-वेद-मर्यादा आदि भी अवरुद्ध न कर सके;

'विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति।'

(श्रीमद्भा० १०/३९/३१)

गोप-बालाएँ अपने सम्पूर्ण लौकिक कर्तव्य को करती हुई भी सदा ही श्रीकृष्ण-भाव-तन्मय रहती हैं अतः उनके कर्म अस्त-व्यस्त हो जाते हैं; तथापि वे उन कर्मों को छोड़ती नहीं।

'न कर्माणि त्यजेत् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।' योगी कर्म को नहीं छोड़ता, कर्म ही योगी को छोड़ देते हैं। एक कथा है :—

नन्दराय की बखरी के आसपास घूमती हुई किसी गोपिका ने सम्पूर्ण दिन बिता दिया; सबेरे से शाम हो गई परन्तु वह वहीं घूमती रही; यह देखकर यशोदा रानी उसको बुलाकर पूछने लगी, 'क्योंरी, तेरे घर में तू ही एक सयानी है ? क्या तेरा दही नन्दराय की बखरी में ही बिकता है ? और कहीं नहीं बिकता ? सबेरे से शाम हो चली, न तेरा दही ही बिक रहा है और न तू कहीं अन्यत्र जा रही है। तेरी मटकिया ज्यों की त्यों भरी है और तू है कि अब भी यहीं घूम रही है ?' गोपिका एकदम सकपका गई, लजा गई; इतने में ही बालकृष्ण दौड़ते हुए आए; दर्शन पाकर गोपिका कृतकृत्य हो गई, धन्य-धन्य हो गई। एक बहुत प्रसिद्ध पद है :—

'कोई श्याम मनोहर ल्योरी, सिर धरी मटकिया डोले।
दधि को नाव बिसर गई, ग्वालन हरि ल्यो हरि ल्यो बोले।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालन और ही और बोले।'

गोप-बालाओं की भावतन्मयता के साथ ही साथ उनके कर्तव्य-बोध की भावनाओं को उजागर करना ही ऐसे प्रसंगों का एकमात्र तात्पर्य है; प्रेम-विह्वलतावश क्षणे-क्षणे विस्मृति होती है तथापि वे स्वधर्म-पालन का भी प्रयास करती हैं। यथार्थतः जो स्वधर्म पालन में रत है वही भगवत्-अभिगमन का अधिकारी भी है—

'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।'
'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥'

(श्रीमद्भा० १०/२९/५-६)

अर्थात्, अपने-अपने जाति, कुल, वर्ण एवं आश्रमधर्मानुसार किए गए कर्म भगवदभिगमन के हेतु हैं; तात्पर्य कि स्वधर्म के पालक को ही भगवदभिगमन होता है। शास्त्राज्ञानुसार, वर्ण-धर्मानुसार, श्रौत-स्मार्त कर्म एवं लोक-वेद-मर्यादाओं का याथातथ्येन पालन ही निस्सन्देह कर्तव्य हैं। कर्तव्य-पालन से भगवदभिगमन होता है; भगवत्-तन्मयता से सम्पूर्ण कर्म में अस्तव्यस्तता आने लगती है। भगवान् श्रीकृष्ण का वेणु-वादन अनादि-अनन्त है; तथापि निरन्तर प्रवाहित इस पीयूष का संग्रह किसी अतिशय भाग्यवान् द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जिस महाभागी ने इस निरन्तर प्रवाहित वेणु-नाद का श्रवण कर लिया वह निश्चय ही क्रमशः सर्वस्व का त्यागकर भगवत्-चरणों में लिप्त हो जाता है। उदाहरणतः भादों मास की अधिक वृष्टि के कारण किसी नदी में बाढ़ आ जाने पर उसका बाँध टूट जाय; बाँध टूटने पर जो वेगवती धारा

प्रवाहित होगी उसमें पड़े हुए व्यक्ति को थाम लेना सर्वथा अशक्य है; इस प्रवाह में नाव-नाविक सब बहने लगते हैं; तीर पर खड़े व्यक्ति लाख प्रयास करें, लाख उपदेश दें, सब निष्फल हो जाता है। प्रयास निवृत्ति में ही होता है, भगवत्-प्रेमविषयिणी प्रवृत्ति स्वतः उद्बुद्ध है। श्रीकृष्ण-वेणु-नाद-श्रवण से गोप-बालाओं के हृदय में प्रेम का अजस्र प्रवाह आपूर हुआ, उनके सम्पूर्ण बाँधों का खण्डन हुआ, उनके तन-मन-प्राण-अन्तःकरण सब उस लोकोत्तर प्रवाह में बह चले। पराशरजी कहते हैं,

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥'

(विष्णुपुराण १/१७/६६)

अर्थात्, विश्व के सम्बन्धों को प्राणी जितना अधिक बनाता चलता है, अपने हृदय में उतनी ही लौह-शलाकाएँ ठोंक लेता है। तात्पर्य कि जितने मनःप्रिय लौकिक सम्बन्ध बनाए जाते हैं उतनी ही वेदना की सामग्री उपस्थित होती जाती है।

'कतिनामसुता न लालिताः कतिवा नेहवधूरभुंजि हि।
क्वनुते क्वचताः क्ववावयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः॥'

(शंकर-दिग्वजय (५/५३) शंकराचार्य)

अर्थात्, कितने जन्म-जन्मान्तरों में, कितने असंख्य पुत्र-प्रपौत्रों का मैंने पालन-पोषण नहीं किया? कितने कल्पान्तरों से कितनी असंख्य कोटि सुकुमारियों का स्पर्श करता आ रहा हूँ; आज वे सब कहाँ हैं? तात्पर्य कि जगत् अविचारतः रमणीय, मृगमरीचिकावत् क्षणभंगुर, विनश्वर, श्रौत-सुख है। अस्तु, निर्विकार, एकरस, अखण्ड, अनन्त, कूटस्थ, अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण में नेह लगाने पर, मदन-मोहन, श्यामसुन्दर से नाता जोड़ लेने पर सम्पूर्ण दुख-दर्द का समूल उन्मूलन हो जाता है। संसार के सम्पूर्ण सुख च्युत हैं; अतः क्षण-भंगुर पदार्थ-जन्यच्युत सुखानुभूति को त्यागकर पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, ऐश्वर्यादि सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को त्यागकर अभंगुर, अच्युत, भगवत्-सम्बन्ध बना लेने पर दुःख-भोग का अवसर ही उपस्थित न होगा।

उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'अच्युत' सम्बोधन में व्यंजना है। भगवान् श्रीकृष्ण अन्तरधान हैं; उनके अदर्शन से गोपाङ्गनाएँ विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप से दग्ध हो रही हैं; स्पष्टतः यह न कहते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रणत-जन-रंजन-स्वरूप से प्रच्युत हो रहे हैं, वे कहती हैं कि आप अच्युत हैं; अपने स्वरूप से विच्युत न होना ही आपका स्वभाव है।

वे कह रही हैं, **'हे कितव ! कितोपि, कः भवान् इति न विद्मः ।'** आप कौन हैं यह हम नहीं जानतीं। पुनः वे अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, **'इतः परं गतमेव गन्तव्यं'** अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। **'प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।'** (श्री० भा० १०/२९/१९) स्त्री को सदा ही पति का अनुगमन करना चाहिए। जड़, रोगी, दुश्शील पति भी स्त्री द्वारा परित्याज्य नहीं है। उत्तर देती हुई वे कह रही हैं—

'हे धर्मज्ञ ! हे धर्म-शास्त्रज्ञ ! हम आपसे उपदेश लेने नहीं आईं।' 'धर्मज्ञ' 'धर्म-शास्त्रज्ञ' जैसे सम्बोधनों से मानों गोपाङ्गनाएँ व्यंजना कर रहीं हैं कि आप हमको तो धर्म सिखा रहे हैं परन्तु क्या आप स्वयं धर्म-शासन को नहीं जानते ?

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥'

(म० स्मृ० २/१०)

बिना जिज्ञासा प्रकट किए धर्म-शास्त्री को धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में उपदेश व्यर्थ हो जाता है। हम लोगों ने तो आपसे नारी-धर्म की जिज्ञासा नहीं की थी; तथापि हम मान लेती हैं कि पति, अपत्य, सुहृद् आदिकों की अनुवृत्ति, अनुसरण ही स्त्री का परम कर्तव्य है। स्वप्रकाश, सर्वाधिष्ठान, परब्रह्म-प्राप्ति हेतु ही सम्पूर्ण धर्म-कर्म किए जाते हैं :—

श्रुति-कथन है :—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।'

(बृ० उ० ४/४/२२)

ब्राह्मण लोग यज्ञ, तप, दान आदिकों के द्वारा सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म को ही प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। अनेक शास्त्रार्थ हैं। इष्यमाण वेदन में जप, तप, दान आदिकों का अन्वय है—**'प्रधानः प्रधानेनान्वेति'** प्रधान में ही अन्वित होता है। अतः जप, तप, दानादिकों का अन्वय प्रधान (इच्छा) से होना चाहिए; प्रत्ययार्थ-प्रकृत्यर्थ के मध्य में प्रत्ययार्थ का ही प्राधान्य होता है। सन् प्रत्यय है, प्रत्यय वाच्य जो इच्छा है, इच्छा का ही प्राधान्य है इसलिए जप, तप, दान, व्रतादिकों के द्वारा भगवत्-प्राप्ति की इच्छा प्राप्त करना, भगवत्-वेदन की इच्छा प्राप्त कर लेना ही उनका परम फल है। भगवत्-तत्त्व-वेदन की उत्कट उत्कंठा, तीव्र विविदिषा उत्पन्न हो जाय, यही सम्पूर्ण जप-तप का फल है। भगवत्-तत्त्व-वेदन की उत्कट उत्कंठा ही परम पुरुषार्थ है। तत्त्व की विविदिषा उद्बुद्ध होने पर

वेदन अवश्यम्भावी हो जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि जैसे प्रदीप्त-शिरा प्राणी अत्यन्त व्याकुल हो निर्मल, शीतल सरोवर की ही आकांक्षा रखता है; संसार के विशिष्ट सुख भी उसको आकर्षित नहीं कर पाते, वैसे ही, प्रभु-चरणारविन्दों में तीव्र विविदिषा, उत्कट उत्कंठा उद्‌बुद्ध हो जाने पर संसार के सम्पूर्ण प्रलोभन भी आकर्षित नहीं कर सकते। अन्य मत यह भी है कि प्रकृति-प्रत्यय-न्याय से प्रत्ययार्थ का ही प्राधान्य है तथापि कर्म भी इच्छारूप क्रिया के द्वारा ही आप्तु इष्टतम है। **'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'** (पा० १/४/४९) जो कर्ता के लिए प्राप्यइष्ट हो वही कर्म है। **'इच्छाविषयतया शब्दबोध्यएव शब्दसाधनतान्वयः।'** इच्छा-विषय तथा शब्द-बोध्य में ही सम्पूर्ण साधनों का अन्वय होता है; एतावता इच्छा का विषय ही भगवत्-वेदन हो जाय तो प्रकृति-प्रत्यय-न्याय से इच्छा द्वारा भी वेदन ही प्रधान हो जाता है; अतः वेदन के प्रति यज्ञ, तप, दान आदि का समन्वय होता है। **'इष्यमाणे वेदने यज्ञादयः'** यज्ञादि साधन इष्यमाण वेदन के लिये ही होते हैं; तात्पर्य कि यज्ञ, तप, दानादि सम्पूर्ण अनुष्ठानों का फल इष्यमाण भगवत्-वेदन है। सम्पूर्ण धर्म-कर्म का उपयोग भगवत्-साक्षात्कार में ही है। 'नैष्कर्म्यसिद्धिकार' के वचन हैं,

> **'प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।**
> **कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥'**
>
> (नैष्कर्म्यसिद्धि १/४९)

जैसे, वर्षा ऋतु के अन्त में अपने प्रयोजन को सिद्ध कर मेघ समाप्त हो जाते हैं वैसे ही बुद्धि की प्रत्यक् प्रवणता, भगवदुन्मुखता उद्‌बुद्ध कर देने पर सम्पूर्ण कर्म कृतार्थ हो जाते हैं। अन्यमतानुसार कर्म की ही महिमा से सद्गुरु-लाभ, निर्विघ्न श्रवण, मनन, निदिध्यासन बनता है, कर्म की महिमा से ही निर्विघ्न, निष्प्रत्यूह भगवान् का साक्षात्कार होता है; अस्तु, साक्षात्कारपर्यन्त कर्म-गति अक्षुण्ण है; आदि अनेक तर्क हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठो० १/२/१५) सब वेदों का तात्पर्य भगवान्-प्राप्ति में ही है; **'तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन विविदिषन्ति'** इत्यादि, शास्त्रज्ञों ने स्पष्टतः निर्धारित किया है कि जप, तप, दान, व्रत आदिकों का लौकिक फल पुत्र, पशु धन, स्वर्गादि भी है परन्तु परम फल, महाफल अन्तःकरण की शुद्धि, नित्यानित्य वस्तु-विवेक, शमदमादि षट् सम्पत्ति इहामुत्रार्थ फल-भोग-विराग सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व और उत्कट विविदिषा आदि ही है।

'जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः' (श्रीमद्भा० १/२/१०) कर्मों का जो लौकिक प्रयोजन लोक में प्रसिद्ध है वह वस्तुतः कर्मों का मुख्य

प्रयोजन नहीं है। तत्त्व-जिज्ञासा एवं अन्तःकरण-शुद्धि ही कर्मों का परम प्रयोजन है।

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते' (श्रीमद्भा० १/२/९) सम्पूर्ण धर्म कर्म का अवान्तर तात्पर्य स्वर्गादि में होते हुए भी महातात्पर्य भगवत्-साक्षात्कार में ही है। धर्म का फल अर्थ एवं काम भी है तथापि वह गौण है; धर्म से अर्थ की प्राप्ति भी होती है, अर्थ का मुख्य फल दानादि परोपकारयुक्त कर्म एवं गौण फल लौकिक सुख-प्राप्ति भी है; अर्थ से काम की प्राप्ति होती है; काम का मुख्य फल जीवन, प्राण-धारण और गौण फल इन्द्रिय-प्रीति है। धर्म, अर्थ एवं काम तीनों का ही महातात्पर्य मोक्ष, भगवत्-साक्षात्कार है। जैसे माता बालक को रोग-निवृत्ति की दृष्टि से नीम-गिलोय, मोदक के प्रलोभन से पिला देती है; बालक तो नीम-गिलोय पीने का फल मोदक-प्राप्ति ही समझता है। इसी तरह, भगवती श्रुति भी स्वर्गादि दिव्य परम फलों का प्रलोभन देकर, धर्म-कर्म में आकर्षित कर अन्ततोगत्वा भगवत्-साक्षात्कार करा देती है। धर्म ही मानव की विशेषता है।

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।'
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः कुलधर्म, जाति॥

धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, स्त्रीधर्म सबका अन्तिम परम फल भगवत्पद-प्राप्ति ही है। एतावता, ज्ञान, कर्म एवं उपासना की गतियों को जानती हुई हम आपके उद्गीत से मोहित होकर आ गई हैं।

भगवदनुग्रहवशात् भगवदुन्मुखी प्रवृत्ति हो जाने पर भी अनन्यता अनिवार्यतः आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि उस जीभ को ही काट डालो जो अपने इष्ट से अन्य किसीका गुण-वर्णन करे। इतनी अनन्यता रखते हुए भी गोस्वामीजी ने **'गाइये गणपति जगवन्दन'** तथा **'बावरो रावरो नाह भवानी'** आदि स्तुतियाँ की हैं; 'मानस' में भगवती जनक-नन्दिनी जानकी द्वारा

'जय जय गिरिवरराज किसोरी। जय महेश मुखचन्द्र चकोरी॥५॥
जय गजवदन षडाननमाता। जगत् जननी दामिनी द्युति गाता॥६॥
भवभव विभव पराभव कारिणी, विश्व विमोहिनि स्ववस विहारिणी॥८॥
(रा० च० मा० १/२३४)

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे, सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥२॥
(रा० च० मा० १/२३५)

आदि स्तुति की है। इनके कारण अनन्यता में विघ्न नहीं पड़ता, वे अपने सिद्धांत से प्रच्युत नहीं होते क्योंकि जानते हैं कि वस्तुतः तत्त्व एक है।

भगवान् उपमन्यु भी अनन्य वैष्णव थे। उनकी अनन्यता का प्रमाण यही है कि स्वयं श्रीकृष्ण परमात्मा ने उनसे मंत्र-दीक्षा ली! कथा है; श्रीकृष्ण-पत्नी जाम्बवती ने भगवान् से पुत्र हेतु इच्छा प्रकट की; श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, यदि पुत्र की इच्छा है तो भगवान् शंकर को प्रसन्न करना होगा।

'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साधे॥

(मानस, १/६९/८)

अतः, श्रीकृष्ण अपनी पत्नी जाम्बवती के साथ तपस्या हेतु कैलास गए; वहाँ शिवजी के अनन्य भक्त महर्षि उपमन्यु से मंत्र-दीक्षा ली। महर्षि उपमन्यु-कृत 'शिव-स्तोत्र'

'जय शंकर। पार्वतीपते मृड शम्भो शशिखण्डमण्डन।
मदनान्तक भक्तवत्सल प्रियकैलास दयासुधाम्बुधे।

बहुत प्रसिद्ध है। गो-दुग्ध की यथेष्ट प्राप्ति इस स्तोत्र के पाठ का माहात्म्य कहा गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गुरु सांदीपनि महर्षि से चौंसठ दिनों में चौंसठ विद्याएँ सीखीं; भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र ने महर्षि वशिष्ट से दीक्षा ली। जन्म-जन्मान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों, युग-युगान्तरोंपर्यन्त की गई अनन्य भक्ति का ही फल है कि ये महत् महर्षिजन स्वयं भगवान् के श्रीमुख से 'गुरुदेव' जैसे सम्बोधन पाए और शिष्यभावेन भगवान् ने भी उनके चरण-स्पर्श किये। गुरु-भावना से महर्षियों ने आशीर्वाद दिया। गुरु सांदीपनिजी ने आशीर्वाद दिया,

'छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥'

(श्री० भा० १०/४५/४८)

अर्थात्, हे कृष्ण! तुमने जो छंद, जो वेद मुझसे पढ़े हैं वे तुम्हारे लिए अयात-याम रहें; तात्पर्य कि नित्य ताजे रहें, कभी भी निर्वीर्य न हों।

'यातयाम' प्रयोग बासी भात के लिए रूढ़ हो गया है, इसका प्रयोग निर्वीर्य, गतरस, पूति, पर्युषित वस्तु में होता है।

'यत्प्रातः संस्कृतं सायं नूनमन्नं विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥'

(ग० पुराण २/१३/१५)

अर्थात्, जो अन्न सबेरे बनाया जाता है, पकाया जाता है, वह शाम तक बासी निर्वीर्य गतरस हो जाता है; इस यातयाम अन्न से बना शरीर भला कब तक टिक सकता है ?

प्रत्येक मंत्र का महत्त्व यही है कि वह अयातयाम रहे; तात्पर्य जिस कार्य में प्रयुक्त किया जाय वह सफल हो; मनोरथ-सिद्धि ही मंत्र की महत्ता है। दक्षिण भारत में नर्मदा के तीर पर कोई सिद्ध महात्मा वासुदेवानन्दजी सरस्वती रहा करते थे। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। ऐसी मान्यता है कि ये महात्मा दत्तात्रेय के अवतार थे। बाल्यावस्था में वे अपने गुरु के यहाँ पढ़ने जाया करते थे; रास्ते में भयानक जंगल पड़ता था; एक दिन एक शेर सामने पड़ गया; वे डरकर भागने लगे; सहसा उनको याद पड़ गया कि गुरुजी ने बताया था कि अमुक मंत्र पढ़कर मुट्ठोभर धूल शेर पर फेंक दोगे तो शेर वहीं स्तम्भित हो जायेगा। उन्होंने तुरन्त ही मंत्र पढ़कर मुट्ठीभर धूल शेर पर फेंक दी और भाग गये। शाम को लौटते हुए देखा कि वह शेर वहीं निश्चेष्ट पड़ा हुआ है। दूसरे दिन उन्होंने अपने गुरुदेव से सम्पूर्ण घटना निवेदित की; गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'मंत्रों में पूर्ण निष्ठा के कारण ही तुमको यह सिद्धि प्राप्त हुई, अन्यथा अनेक जप करनेवालों के मंत्र में शक्ति नहीं होती।'

अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि पति, पुत्र, पिता, सखा, सुहृद्, गुरु अथवा शिष्य जिस किसी रूप में भगवत्-सन्निधान प्राप्त हो वही सौभाग्यातिशय है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम होते हुए भी भाव के भूखे हैं; भक्त की भावनानुसार ही उनका प्राकट्य होता है। एक कथा है—

उमापतिजी तिवारी नामक कोई गृहस्थ अयोध्या में निवास करते थे। वहाँ के सन्त-वैरागी, गृह-त्यागी भी उनका विशेष सम्मान किया करते थे। मान्यता थी कि उमापतिजी महर्षि वशिष्ठ के अवतार हैं। इनके यहाँ एक बार कोई चूड़ी पहिरानेवाली आई; घर की सभी स्त्रियों ने चूड़ी पहनी; जनक-नन्दिनो जानको ने घर को छोटो बहू बनकर चूड़ो पहनी; चूड़ियों के दाम का हिसाब लगने लगा तो चुड़िहारिन ने कहा कि 'महाराज ! मैंने तीन बहुओं को चूड़ी पहनायी है। अतः तीन के पैसे चाहिए।' शिष्यों ने तर्क किया, 'महाराज के घर तो दो ही बहुएँ हैं; तीसरी कहाँ से आयी ?' इस सब वाद-विवाद को सुनकर उमापतिजी कहने लगे, 'चुड़िहारिन ठीक ही कहती है; जनक-नन्दिनी जानकी ही तीसरी बहू है, मन्दिर में जाकर देखो।' सब लोग मन्दिर दौड़े; वे लोग आश्चर्यचकित रह गए यह देखकर कि भगवती जनक-नन्दिनी जानकी-विग्रह के हाथों में मनिहारिन की पहनाई हुई चूड़ियाँ हैं।

इतने पर भी एक दिन विवाद हो गया कि उमापतिजी वास्तव में महर्षि वशिष्ठ के अवतार हैं अथवा नहीं; अतः इस विवाद-निर्णय-हेतु अनेकानेक महात्मा एकत्र हुए; निश्चय हुआ कि उमापतिजी का पादोदक मन्दिर में रख दिया जाय; यदि भगवान् राम इस पादोदक को स्वीकार कर लें तो उमापति-जी वस्तुतः महर्षि वशिष्ठ के अवतार माने जाएँ अन्यथा सब पाखण्ड है। एता-वता उमापतिजी का पादोदक रखकर मन्दिर के पट बन्द कर दिये गए; कुछ देर बाद पट खोलने पर देखा गया कि पादोदक की कटोरी खाली है और जल भगवत्-विग्रह के श्रीमुख पर लगा हुआ है। भाव के भूखे भगवान् को अनन्यता से ही रिझाया जा सकता है, अनन्यता ही महत्त्वपूर्ण है। भक्त कहता है—

'विरहीव प्रभो प्रियामयं परिपश्यामि भवन्मयं जगत्'

अर्थात्, हे प्रभो, जैसे विरही समस्त संसार को प्रियामय देखता है, वैसे ही, मैं भी सम्पूर्ण संसार को भगवन्मय ही देखूँ।

गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र से कह रही हैं, **'वयं गति-विदः'** 'हम ज्ञान, कर्म एवं उपासना की गतियों को जानती हैं।' गति अर्थात् उनका महा-तात्पर्य; ज्ञान-कर्म एवं उपासना, सबका महा-तात्पर्य जिस तत्त्व में है उसको हम जानती हैं; मुमुक्षुत्व और उत्कट विविदिषा ही सम्पूर्ण कर्मों का मुख्य फल हैं। गोपाङ्गनाएँ स्वयं श्रुतिरूपा हैं; श्रुतियों के द्वारा ही धर्म, ज्ञान एवं उपासना की गतियाँ सबके लिये विदित होती हैं; श्रुतियों के आधार पर ही आस्तिक धर्म की गति का तथा ज्ञान एवं उपासना के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। शास्त्र-कथन है:—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥'

अर्थात्, जिन विषयों को प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण से नहीं जाना जा सकता उन सबको भी वेदों द्वारा जानते हैं; यही वेदों की वेदना है। प्रत्यक्षा-नुमान प्रमाण द्वारा अनधिगत अर्थ की बोधकता ही वेद की वेदता है। श्रुतियों द्वारा ही विभिन्न कर्म-काण्ड का विधान होता है। अन्ततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि भगवत्-प्राप्ति ही सम्पूर्ण कर्मों की अन्तिम गति है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

(कठ० उ० १/२/१५)

सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य भगवत्-पद-प्राप्ति ही है। सास-श्वशुर की सेवा, पति का परम सम्मान करना, उसको ईश्वर समझना, बालक-बालिकाओं का लालन-

पालन-पोषण-शिक्षण करना, कुटुम्ब का सम्यक् प्रबन्ध करना, पति के साथ अग्निहोत्र आदि धार्मिक क्रिया-कलापों में सम्मिलित होना आदि स्त्री-धर्म हैं। जैसे, पुरुष के धर्म-कर्म का अन्तिम परम फल भगवत्-पद-प्राप्ति है, वैसे ही, स्त्री-धर्म का भी अन्तिम परम फल भगवत्-पद-प्राप्ति ही है।

'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।'
(श्रीमद्भा० १०/२९/३३)

'श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥'
(वही, १०/२९/३७)

अर्थात्, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, जो कुशल विद्वान्, शास्त्र-तात्पर्य-शास्त्रज्ञ हैं वे आपमें ही रीति, प्रीति, अनुरक्ति करते हैं; **'नित्यप्रिये स्व आत्मनि'** स्वात्मा ही नित्यप्रिय होता है। संसार की सम्पूर्ण वस्तु कभी प्रिय और कभी अप्रिय हो जाती है परन्तु स्वात्मा नित्यप्रिय है। आप ही नित्यप्रिय हैं। निरतिशय निरुपाधिक परम प्रेम के आस्पद हैं। **'आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** संसार के यावत् सम्बन्ध—सगे-स्नेही, यावत् पदार्थ सब स्वात्मा के लिए ही प्रिय होते हैं। एतावता सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर भगवान् ही सर्व-प्राणियों के एकमात्र परम-प्रेमास्पद हैं। **'न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** आप केवल गोपिका-नन्दन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणियों का जो अन्तरात्मा अन्तःकरण, अहमर्थ है उसके द्रष्टा हैं, साक्षी हैं, निर्विकार बोद्धा हैं अतः प्राणीमात्र के नित्यप्रिय स्वात्मा हैं; एतावता ही कुशल जन, शास्त्रज्ञ विद्वान् आपमें ही रति-प्रीति करते हैं।

'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' पति, पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि सम्पूर्ण सांसारिक नाते-रिश्ते एवं भोग-ऐश्वर्य परिणामतः सर्वदा ही दुःख देनेवाले हैं; वे संयुक्त-वियुक्त होकर दुःख के ही कारण बनते हैं। इस यथार्थ को हम जानती हैं अतः हे अच्युत ! पति-पुत्र, अन्वय-वंश, भ्रातृ, बन्धु-बान्धव आदि सम्पूर्ण का त्यागकर हम आपकी शरण में आई हैं।

गोपाङ्गनाएँ सर्वोच्च कोटि की भक्त हैं। व्यावहारिक रूप में भी सर्वस्व का त्यागकर वे चली आई हैं। इतनी योग्यता प्रत्येक में नहीं होती है अतः सब

कोई उनका अनुकरण नहीं कर सकते; जैसे भगवत्-आदेश-पालन सब कर सकते हैं परन्तु उनके आचरण का अनुकरण सब नहीं कर सकते, इस तरह गोपाङ्गनाओं के आदेश का पालन किया जा सकता है, उनके आचरण का नहीं।

वे कह रही हैं, हे अच्युत ! आपने स्त्री-धर्म का उपदेश किया।

'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग ।
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ॥
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे ।
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥'

(श्री०भा० १०/२९/३२)

रति, अपत्य एवं सुहृद्जनों का अनुसरण ही स्त्री का परमधर्म है, यह उपदेश—**सर्वेषामुपदेशानां महातात्पर्यविषयभूते परब्रह्मण्येव अस्ति।** सम्पूर्ण उपदेशों का महातात्पर्य परात्पर परब्रह्म परमेश्वर ही है; वह परमेश्वर आप ही हैं; अतः आपमें तन्मय होने से पति की सेवा और पुत्रादिक सुहृदों की अनुवृत्ति स्वभावतः ही हो जाती है; जिसने भगवान् का अनुसरण कर लिया, भगवान् में अपने मन को लगा दिया उसने सम्पूर्ण कर्म को पूरा कर लिया :—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥'

(श्रीमद्० गीता ४/१८)

अर्थात्, सामान्यतः कोई भी व्यक्ति सर्व कर्म नहीं कर सकता; उदाहरणतः यदि कोई ब्राह्मण है वह क्षत्रिय-कर्म नहीं कर सकता, क्षत्रिय है तो वह ब्राह्मण-कर्म नहीं कर सकता। तात्पर्य कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म, जाति-कुल आदि की विभिन्न मर्यादाओं से बँधा है। एकमात्र आपकी सर्व-कर्म-कृत ज्ञान-विज्ञान की ही स्थिति ऐसी है जिसमें प्राणी सर्व-कर्म-कृत् हो सकता है, वही युक्त है। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है,

'कृताय विजिताय कृतसंज्ञकः अयः द्यूतभागः जितः येन सः कृतायः। कृतायो विजितः येनासौ कृतायविजितः। तस्मै। यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति।' (छा० ४/१/४)

अर्थात्, जैसे कोई द्यूत करता है; द्यूत में कलियुग, द्वापर, त्रेता और कृत-युग चार स्थान होते हैं। कलियुग पर एक अंक, द्वापर पर दो, त्रेता पर तीन और कृतयुग पर चार अंक होते हैं; कुल मिलाकर दस अंक हुए; जिसका पासा कृतयुग पर पड़ गया उसको दस अंकों का लाभ होता है।

जिसने कृतसंज्ञक द्यूत को जीत लिया उसको कलि, द्वापर, त्रेतासंज्ञक द्यूत का भी फल मिल जाता है। यह उक्ति 'संम्वर्ग' विद्या के प्रसंग में की गई है। इस उक्ति का तात्पर्य है कि जो 'सम्वर्ग विद्या' को जान लेता है वह अन्य सम्पूर्ण ज्ञातव्य को जान लेता है। 'सम्वर्ग' विद्या ही प्राणविद्या है; इसके अन्तर्गत प्राण की उपासना की जाती है। अपर ब्रह्म ही प्राण है। 'सम्वर्ग' विद्या विशिष्ट महत्त्वमयी है एतावता ही राजा जानश्रुति पर अनुग्रह करने हेतु ऋषियों ने हंसरूप धारण कर उनको सयुग्वा रैक्व से 'सम्वर्ग' विद्या ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया।[1]

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥'

(श्रीमद्० गीता ४/१८)

अर्थात्, जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म को देखता है वही सब मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही सर्व-कर्म-कृत् है। ब्रह्म-विद्या को प्राप्त कर ब्रह्म-साक्षात्कार, चैतन्याभिन्न, अखण्ड, परमानन्दघन भगवत्-तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव कर लेने पर सम्पूर्ण कर्मों का फल स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे वापी, कूप, तड़ागादि जितने भर भी जल के प्रयोजन हैं वे सर्वतः सम्प्लुतोदक स्थानीय महासमुद्र में अन्तर्भूत हो जाते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण उपासनाएँ भगवत्-तत्त्व के अपरोक्ष साक्षात्कार से अन्तर्भूत हो जाते हैं। आप ही सम्पूर्ण कर्मों का फल हैं। एतावता कर्म एवं उपासना के सिद्धान्तों को जानते हुए ही हम **'गतिविदो वयं पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य'** पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब, स्वजन-परिजन सबका उल्लंघन कर, लौकिक मर्यादाओं की अपेक्षा न कर आपकी शरण आई हैं।

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥'

(श्रीमद्भा० ११/२०/९)

अर्थात्, जब तक पूर्णतः वैराग्य न हो जाय तब तक कर्म-काण्ड करते रहना चाहिए। जब तक भगवान् की मंगलमयी कथा-सुधा में अनन्य प्रीति, भक्ति, अनुरक्ति न उत्पन्न हो जाय तब तक कर्म-काण्ड का सांगोपांग निर्वाह करते रहना चाहिए; लेकिन सम्पूर्ण कर्म-काण्ड के परम-फल भगवत्-पादारविन्द में

---

१. पूर्व प्रसंग में ७वें श्लोक में राजा जानश्रुति एवं सयुग्वा रैक्व की कथा विस्तार-पूर्वक कही जा चुकी है।

अनुरक्ति संपन्न हो जाने पर, भगवत्-कथा-सुधा में अनन्य प्रीति हो जाने पर, वैराग्य हो जाने पर सम्पूर्ण कर्मों का प्रयोजन सम्पूर्ण हो जाता है।

'कृतार्थंनन्त्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥'

(नैष्कर्म्यसिद्धि १/४९)

अर्थात्, जैसे वर्षा के अन्त में बादल समाप्त हो जाते हैं वैसे ही कर्मों का परम फल, भगवत्-तत्त्व-जिज्ञासा **'इष्यमाण वेदन'** भगवत्-साक्षात्कार की उत्कट उत्कंठा प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान-वैराग्य होने के पूर्व ही कर्म-काण्ड का त्याग कर देने से **'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति हो जाती है। **'दुविधा में दोऊँ गए, माया मिली न राम'** कहावत ही चरितार्थ होती है। यथार्थ वैराग्य न होने तक कर्म कदापि त्याज्य नहीं।

योगी कर्म का परित्याग न करे; स्वतः कर्म ही योगी का त्याग कर देते हैं। जैसे, उर्वारुक फल को उसका बंधन-वृन्त स्वयं ही छोड़कर पृथक् हो जाता है, फल को उससे अलग होने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। कर्म न करने पर कर्माभिमानी देवता अनर्थ में डाल देते हैं, बन्धन को और भयंकर बना देते हैं; भगवत्-पदानुरागी पर देवता बन्धन नहीं कर पाते।

'मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक-परलोक दुख दिन दिन सोक समाजु ॥'

(मानस, अयोध्या० २/८)

'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणिवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।'

(तै० सं० ६/३/१०/१३)

अर्थात्, उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋणों से ऋणवान् होता है। यहाँ **'जायमानः'** का तात्पर्य है **'गृहस्थः सम्पद्यमानः'** गृहस्थ में प्रवेश करते ही ब्राह्मण ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण एवं देव-ऋण से ऋणी होता है। ऋषि-ऋण से उन्मुक्ति के लिए वेद-वेदांग का सम्यक् अध्ययन, देव-ऋण से अनऋण होने के लिए यज्ञ-पूजन आदि एवं पितृ-ऋण की निवृत्ति के लिए श्राद्ध-तर्पण तथा सन्तानोत्पत्ति आदि करना चाहिए।

इन तीनों ऋणों से मुक्त न होते हुए जो मोक्ष की इच्छा करता है वह गिरा दिया जाता है।

'अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्टावचैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥'

(मनुस्मृति, ६/३७)

'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥'

(श्रीमद्भा० ११/५/४१)

अर्थात्, हे राजन् ! न वह किसीका किंकर है, न किसीका ऋणी । जो सर्वात्मन्, सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परात्पर, परब्रह्म परमेश्वर को अपना आश्रयत्वेन, रक्षकत्वेन वरण-स्वीकरण कर लेता है, ऐसे व्यक्ति के लिए देवता भी बन्धन नहीं कर सकते ।

'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते'

(बृ० उ० १/४/१०)

अर्थात्, देवता भी उसकी अभूति में समर्थ नहीं होते ।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं **'अन्ति समीपे आगताः'** हे अच्युत ! ज्ञान, कर्म एवं उपासना की गति का जानकर ही उन सबका त्यागकर, अति लंघन कर हम आपके शरण आई हैं क्योंकि आप अच्युत हैं । संसार की सम्पूर्ण वस्तु क्षण-भंगुर है, नश्वर है; उनका सम्बन्ध अनित्य है; किन्तु आपका सम्बन्ध नित्य है क्योंकि आप अच्युत हैं । संसार की सम्पूर्ण वस्तु प्रच्युत है; जन्म-जन्मान्तर से उनके साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध जोड़ते-तोड़ते, जनन-मरणाविच्छेदलक्षणा संसृति में भटकते-भटकते संत्रस्त हो आप अप्रच्युत की शरण आई हैं ।

'तवोद्गीतमोहिताः' तुम्हारे उद्गीत से मोहित होकर ही तुम्हारी शरण आई हैं । ज्ञान से ही शरणागति सम्भव है । जो जानता ही नहीं वह क्योंकर शरणागत हो सकता है ? आपकी अनुकम्पा बिना सम्पूर्ण ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है । **'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् गतिविदः'** जो संसार की निस्सारता और भगवत्-अप्रच्युतता को जानता है, जो **'गतिविद्'** है वही आपकी शरण ग्रहण करेगा । क्योंकि **'जानातीच्छति अथ करोति'** सर्वप्रथम ज्ञान का होना अनिवार्य है; ज्ञान होने पर ही इच्छा होती है, इच्छा होने पर ही कर्म होता है । 'गति-विद्' होने के कारण निस्सार संसार को त्यागकर परम सारसर्वस्व भगवान् सर्वेश्वर प्रभु की शरण ग्रहण करना स्वाभाविक है; बिना प्रभु-कृपा के वह ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है । भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्रजी कह रहे हैं—

'मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम् ।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि ॥'

(अध्यात्मरामायण)

अर्थात्, जो भगवत्-भक्ति-विमुख हैं, भगवत्-प्रीति-शून्य हैं उनके लिये शास्त्र भी

गड्ढे ही हैं। इन शास्त्ररूप गड्ढों में वे मोहित हो निमग्न रहते हैं। ऐसे लोगों को सैकड़ों-हजारों जन्मों में भी न ज्ञान ही होता है, न मोक्ष ही प्राप्त होता है। कहा भी है,

'उपनिषदः परिपीता गीतापि हन्त मतिपथं नीता।
तदपि न सा विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति ॥'

(पण्डितराज जगन्नाथ, १/२/५१)

अर्थात्, उपनिषदों को घोट-घोटकर पी लिया, गीता को भी मति-पथ पर उतार लिया तदपि वह संसाररूपी चन्द्रमुखी क्षणभर के लिये भी हृदय से निकलती नहीं। तात्पर्य कि केवल गतिविद् हो जाने मात्र से ही कल्याण सम्भव नहीं; ज्ञान हो जाने पर भी विशिष्ट भगवदनुग्रह की अपेक्षा होती है। अक्रूरजी कह रहे हैं—

'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥'

(श्रीमद्भा० १०/४०/२८)

अर्थात्, हे नाथ ! हम आज आपके मंगलमय पादारविन्दों की शरण आये हैं; हमारी यह शरणागति भी आपके अनुग्रह, आपकी मंगलमयी भास्वती अनुकम्पा का ही फल है; इसमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं है। जब पुरुष के संसरण का, जननमरणाविच्छेदलक्षणा संसृति-परम्परा का अन्त होना होता है तब उसमें संतों के अनुग्रह से भगवान् के मंगलमय पादारविन्दों में प्रीत प्रादुर्भूत होती है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'गतिविदः वयं तवोद्गीतमोहिताः ते अन्ति आगताः'** हमारे आगमन में केवल गति-विज्ञान ही कारण नहीं है; केवल गीत-विज्ञान हेतु अपर्याप्त है; जो प्राणी कर्म, उपासना एवं ज्ञान-काण्ड का रहस्यज्ञ हो, आपकी मंगलमयी कृपा का भाजन हो, साथ ही, अपने सर्वस्व का त्याग-कर आपके चरणारविन्दों की शरण आया हो वही संसार से विमुक्त हो सकता है; अन्यथा मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

'आवत एहिं सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला॥
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला॥
बन बहु बिषम मोह मद नाना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥'

(मानस, बाल०, ३८)

गृह-कार्यरूप प्रपंच के दुर्गम शैल का उल्लंघन कर मानसरोवररूप मुक्ति सरोवर तक पहुँचना असम्भव है। भगवत्-कृपा बिना इस मुक्तिरूप सरोवर तक कदापि पहुँचा नहीं जा सकता।

'तवोद्‌गीतमोहिताः—आपके उद्‌गीत से मोहित; **उच्चैर्गीति,** वेणुनाद-पीयूष; श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द कन्द के मुखचन्द्र से निर्गत जो महत्त्वपूर्ण वेणु-गीत है, वही प्राणों को संसार के माया-मोह से बलात् छुड़ाकर भगवद्-चरणार-विन्दों में खींच ले जाता है। सामान्यतः किसी भी प्रवाह में गिरी हुई वस्तु की गति भी तदनुकूल ही होती है परन्तु वेणु-गीत-प्रवाह का यह अद्‌भुत चमत्कार है कि इसमें निक्षिप्त वस्तु गीत के उद्‌गम तक पहुँच जाती है। आपके इस उच्च उदात्त गीत, धर्म ब्रह्मैक सर्वोत्कृष्ट गीत से मोहित **'मा भगवद्विषयिणी प्रमा-ऊहिता याभिस्ताः तवोद्‌गीतमोहिताः'** आपके मुखारविन्द से निर्गत वेणु-गीत-पीयूष के माधुर्य के अनुभव द्वारा हमने आपके लोकोत्तर सौन्दर्य-सौरस्य-माधुर्य-सौगन्ध्य सुधा जलनिधि का अनुमान किया; यह अनुमान करते हुए कि जिस वेणु-गीत-प्रवाह में इतने दूर से आने पर भी ऐसा स्वारस्य माधुर्य है उसके उद्‌गम-स्थल उस सर्वाधिष्ठान परात्पर परब्रह्म प्रभु में कितना लोकोत्तर माधुर्य, कितनी अद्‌भुत मनोहारिता होगी। हे श्यामसुन्दर! मदन-मोहन! आप हम पर कृपा करें, दर्शन दें।

मानिनी गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं,

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् अतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः' हे अच्युत! ये जो बहुत सी गोपाङ्गनाएँ अपने सर्वस्व का त्यागकर आपके मंगलमय चरणार-विन्दों की शरण में आयी हैं इनका तो ध्यान करें। हमारी बात तो भिन्न है; हम तो आपके विशेष आग्रह के कारण आपके प्रति स्वानुग्रहवशात् ही आई हैं। हे श्यामसुन्दर! लगता है कि **'शठं प्रति शाठ्यम्'** की नीति आप नहीं जानते। शठता तो शठ के प्रति ही करनी चाहिए। **'एताः सरलाः'** ये तो बिचारी सरल गोपाली, व्रजवधूटो हैं।

'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि', आप व्यर्थ ही शठ बन रहे हैं, इनके प्रति शठता अनुचित है; अतः इन पर कृपा कर इन्हें दर्शन दें।

श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं,

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।'

श्रुतियाँ दो प्रकार की होती हैं; अन्यपूर्विका तथा अनन्यपूर्विका। जिनका सम्बन्ध इन्द्र-वरुणादि देवताओं से प्रतीत हो रहा है वे अन्य-पूर्विका हैं; **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर का ही बोधन कराती हैं, उनसे ही सम्बन्ध रखती हैं अतः ये अनन्य-पूर्विका हैं।

'इन्द्रो यातो वसि तस्य राजा'

(ऋग्वेद १/३२/१५)

'वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः'

(वही, १/२३/६; यजु० ३३/४६)

इत्यादि श्रुतियाँ पहले अपना सम्बन्ध इन्द्र, वरुणादि देवताओं से रखती हैं; उनके प्रतिपाद्य देवता अग्नि, वरुण, अग्निमीडे, पुरोहितं आदि हैं अतः ये श्रुतियाँ अन्य-पूर्विका हैं। गोपाङ्गना-उपलक्षित अन्य-पूर्विका श्रुतियाँ कह रही हैं, हे अच्युत ! हम लोगों का लौकिक अर्थ ही हमारे लिये पति-पुत्र, स्थानीय हैं। इन्द्रबोधिका श्रुति का अर्थ इन्द्र, अग्निबोधिका श्रुति का अर्थ अग्नि, वरुण, बोधिका श्रुति का अर्थ वरुण आदि अनेकानेक श्रुतियों के तत् तत् देवता ही उनके पति-पुत्र स्थानीय, लौकिक अर्थ हैं। इनमें से कोई अर्थ अभिधावृत्ति का, कोई लक्षणावृत्ति का एवं अन्य कोई व्यंजनावृत्ति का गोचर है। भिन्न-भिन्न वृत्तियों के गोचर अर्थ ही उनके 'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्' हैं। उन सबका अतिलंघन कर, परित्याग कर, हे अच्युत ! हम आपके सन्निधान में चली आई हैं। तात्पर्य कि परम तात्पर्य आपमें ही बोधन करती हुई हम आपकी ही शरण ग्रहण करती हैं।

जिस समय तत्त्व-बोध होता है उस समय ज्ञानी को ऐसा भान होता है कि सब श्रुतियाँ ब्रह्म का ही बोधन करती हैं।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २/१५)

सब वेद उसी परब्रह्म परमात्मा पद का निरूपण करते हैं; सब वेदों के द्वारा एकमात्र वेद्य परात्पर भगवान् ही हैं, इत्यादि मंत्रों के अनुसार जिन लोगों को उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगों से यह पूर्ण विज्ञान हो गया है कि सभी श्रुतियों का महातात्पर्य परब्रह्म में ही है; इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि प्रतिपादक

श्रुतियों का भी अवान्तर तात्पर्य इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि विभिन्न देवताओं में होते हुए भी महातात्पर्य परब्रह्म परमेश्वर में ही है, उन विद्वत् जनों पर कृपा कर आप दर्शन दें।

'तवोद्गीतमोहिताः' उपनिषदों का उपक्रमोपसंहारादि षड्विधलिंगों द्वारा निर्धारित महातात्पर्य परात्पर परब्रह्म में ही है। **'तत्तु समन्वयात्'** (ब्रह्मसूत्र १/१/४)। यह ब्रह्मसूत्र ही वेणुनाद है। इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा सम्पूर्ण उपनिषदों का, सम्पूर्ण श्रुतियों का **'ब्रह्मणैव मा प्रमा ऊहिता यासां'** ब्रह्म में ही यथार्थ-ज्ञान प्रमा ऊहित हुई आपके उद्गीत से; तात्पर्य कि **'तत्तु समन्वयात्'** आदि सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण उपनिषदों का सम्पूर्ण तत् तत् अर्थबोधक श्रुतियों का महातात्पर्य आपमें ही बोधित हुआ। अतः **'तवोद्गीतमोहिताः सत्यः वयं सर्वाः'**।

'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः' हे अच्युत ! अपने लौकिक अर्थों का परित्याग कर हम अपने मुख्य अर्थ ब्रह्म-बोधन, अखण्ड सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म के बाधन में ही तात्पर्य रखते हुए आपके सन्निधान में आई हैं।

'कितव योषितः न वयं योषितः किन्तु कितव योषितः, कैतव्येन योषितः भावप्रधानो निर्देशाः' अर्थात्, वस्तुतः हम स्त्रियाँ नहीं हैं तथापि कैतव से ही स्त्री-रूप धारण किए हुए हैं। गोपाङ्गनाएँ वस्तुतः श्रुतियाँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण भी कैतव से मनुष्यरूप बने हुए हैं—

> **'इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।**
> **मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥'**
> (श्री०भा० १०/१२/११)

तत्त्वविद् के लिये ब्रह्मसुखानुभूत्या साक्षात् अनन्त सुखरूप, अनन्त आनन्दरूप, अनन्त ब्रह्मरूप तथा भक्तों के लिये साक्षात् परदैवत परब्रह्म ईश्वर मायाश्रित प्राणियों के लिये नररूप में प्रतीत होते हैं। **'माया मनुष्यं हरिं'**-- प्रभु, आप ही माया से नररूप में उपस्थित हैं, वैसे ही हम भी कैतव से, छल से ही योषिता हैं **'एवं भूतान् अस्मान् कः अविद्वान् को वा विद्वान् निशि अविद्यालक्षणायां त्यजेत् क्षिपेत्।'** कौन समझदार ज्ञानी पुरुष हम श्रुतियों को अविद्यामय संसार में इन्द्र-वरुण-कुबेरादिक अर्थों में फेंक सकता है ? जिस विद्वान् ने उपनिषदों का अभिप्राय समझा, सूत्रों का विश्लेषण किया वह हमको संसार में, अविद्या-लक्षणा रात्रि में क्योंकर फेंक सकता है ? तात्पर्य यह कि वेद-मंत्रों, श्रुतियों को लौकिक अर्थ में कौन विद्वान् लगा सकता है ? किसी प्रकार भी हमारी प्रवृत्ति संसार में

नहीं हो सकती; हम लोग आपकी अनन्य हैं, सर्वस्व त्यागकर आपके मंगलमय चरणारविन्द की शरण आई हैं अतः आप द्वारा हमारी उपेक्षा उचित नहीं। हे श्यामसुन्दर! हे मदनमोहन! हमको आपके मुखचन्द्र का दर्शन मिले, आप हमारे लिये प्रकट हो जावें।

भगवदनुग्रहवशात् ही प्राणी की प्रवृत्ति भगवदुन्मुखी होती है। श्री वल्लभाचार्य कहते हैं—**'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः सर्वं कुर्वन्ति किन्तु भगवन्तं न भजन्ते।'** स्वभाव से दुष्ट जीव सम्पूर्ण लौकिक निरर्थक क्रिया-कलाप को करते हुए भी भगवद्-भजन नहीं करता।

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥'

(म० भा० १२/१४०/३४)

अर्थात्, अपने को संशय में डाले बिना प्राणी भद्रदर्शी नहीं हो सकता। जो अपने को संशय में डालता है वह यदि जीवित रह जाय तो अवश्य ही भद्रदर्शी होता है। संसार में जिस-जिसने भी महत्त्वपूर्ण काम किया है उसने सर्व-प्रथम अपने-आपको खतरे में डाला है। इसी तरह, भगवत्-साक्षात्कार हेतु प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ती है। दृढ़-निर्णय ही भगवत्-प्राप्ति का मूल हेतु है। भगवान् के स्वरूप-सौन्दर्य की ओर अन्तःकरण का खिंचाव शुद्ध भगवदनुग्रह का ही फल है। परिचय के अभाव में आकर्षण असम्भव है; जिस रस को चाखा नहीं उसमें वांछा क्योंकर हो सकती है? जिसको देखा नहीं उसमें आकर्षण क्योंकर हो सकता है? एतावता ही भगवान् अपने स्वरूप-माधुर्य का अनुभव अपनी अघटित घटना-पटीयसी मंगलमयी माया-शक्ति के द्वारा करा देते हैं। तीर्थों की महिमा, सच्छास्त्रों का अभ्यास, संतों का अनुग्रह, गुरु-कृपा आदि अनेकानेक हेतुओं से भगवत्-चरणारविन्दों का आकर्षण उद्भूत होता है। प्रभु की अकारण करुणा ही सर्वोपरि हेतु है। गोपाङ्गनारूपधारी महर्षियों को सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान एवं प्रभु-चरणों में अनुराग होने पर भी वेणु-गीतरूप भगवदनुकम्पावशात् ही भगवत् स्वरूप में पूर्णाकर्षण हुआ; इस आकर्षण से प्रेरित हो वे भगवत्-सन्निधान में खींची चली आईं। वे कह रही हैं, हे अच्युत! हम भी गतिविद् हैं, कर्म, ज्ञान एवं उपासना काण्ड सम्पूर्ण स्थिति एवं सम्पूर्ण तात्पर्य को जानती हैं तथापि आपके उद्गीत से मोहित होकर आपके सन्निधान में चली आई हैं। आपके मुखचन्द्र से निर्गत वेणु-गीत-पीयूष-प्रवाह हमारे कर्ण-कुहरों द्वारा हमारे अन्तःकरण में प्रविष्ट हुआ; उससे आकृष्ट होकर ही हम आई हैं अतः हे श्याम-सुन्दर! हे मदनमोहन! हमारे लिये आप प्रत्यक्ष हो जावें; हमें अपने मुखचन्द्र का दर्शन दें।

●

श्रीहरिः

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ।।१७।।

हे प्रिय ! तुम्हारी बातें हमारे हृदय में प्रेम-भाव को, एकान्त मिलन की आकांक्षा को प्रदीप्त कर देनेवाली हुआ करती थीं; तुम बारम्बार हमसे हास-परिहास किया करते थे और प्रेमभरी चितवन से हमारी ओर निहारते हुए मुस्कुरा देते थे । हम लोग तुम्हारे उस विशाल वक्षस्थल को जिस पर लक्ष्मीजी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं, निहारा करतीं । अतः हमारी लालसा प्रतिक्षण वृद्धि को ही प्राप्त होती जा रही है और हमारा मन भी क्षण-प्रतिक्षण अधिकाधिक मोहित होता जा रहा है ।

गोपाङ्गनाएँ अनुभव करती हैं कि मानों भगवान् श्रीकृष्ण उनसे कह रहे हैं, 'हे गोपाङ्गनाओ ! तुम यह भी जानती हो कि हम कितव, कपटी, अद्रुतचित्त, निर्दय-हृदय हैं । संसार में दोष-दर्शन कर तुम हमारे यहाँ आई हो; अब हमारे में भी दोषानुसंधान कर पूर्णतः विरक्त हो जाओ, पूर्णवैराग्य का संपादन करो ।

'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् ।
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।।'

(श्री०भा० १०/२९/३३)

संसार के नित्य-प्रिय पति-सुतादि सब आर्ति को ही देनेवाले हैं, विपद्जाल में ही डालनेवाले हैं; यह जानकर ही तुम हमारी शरण आई हो अतः तुमको वैराग्य का अभ्यास तो है ही, अब यहाँ भी दोष-दर्शन कर पूर्ण वैराग्य का सम्पादन करो ।

वे उत्तर देती हैं,

'रहसि संविदं हृच्छयोदयं ।
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।।'

हे प्रभो ! आपसे वैराग्य सम्भव नहीं । **'मुहुरतिस्पृहा'** आपमें हमारी स्पृहा तो उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है । हजार-हजार दोषानुसंधान करने पर भी

आपके स्वरूप में हमारी स्पृहा, उत्कट उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है अतः **'मुह्यते मनः'** हमारा मन बारम्बार मोह को प्राप्त हो जाता है। मरण-काल में प्राप्त मूर्च्छा ही मोह है। ब्रह्मसूत्र का वाक्य है **'मुग्धे अर्द्धसम्पत्तिः।'** (ब्र० सू० ३/२/१०) मुग्धता में मरण होता है; अतः मोह अथवा मूर्च्छा दसवीं दशा का सन्निधान है। तात्पर्य कि आपके मोह में ही हमारा अन्त भी हो जाएगा, आपके स्वरूप से वैराग्य की कल्पना भी नहीं हो सकती। वस्तुतः भक्त भगवान् के गुण-दोष का विचार ही नहीं करता; गुण-दोष-विचारयुक्त प्रीति अपूर्ण है। गोपाङ्गनाओं का तो स्वाभाविक उद्‌घोष है :—

'असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा, गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा, कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम् ॥

अर्थात्, श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन भले ही असुन्दर हों अथवा सुन्दर-शिरोमणि हों, सम्पूर्ण गुणगणों से रहित हों अथवा सर्वगुणसंयुक्त हों; भले ही वे मुझसे द्वेष करें अथवा मुझ पर करुणाम्बुधि, परमकृपालु हों, विशेष अनुग्रहकारक हों, तथापि हमारे तो ध्येय-ज्ञेय-सर्वस्व वे ही हैं। एतावता, हे प्रिय ! आपसे विमुख होने की कल्पना भी नहीं हो सकती। उनका एक और उद्‌घोष है—

'माधवो यदि निहन्ति हन्यतां बान्धवो यदि जहाति हीयताम्।
साधवो यदि हसन्तु हस्यतां, माधवः स्वयमुरीकृतो मया ॥'

(आनन्दवृन्दावन चम्पू)

अर्थात्, यदि माधव हमारा हनन भी करना चाहते हों तो अवश्य ही वे हमारा संहार कर अपनी इच्छा-पूर्ति कर लें; माधव के प्रति प्रेम के कारण यदि बंधु-बांधव भी हमारा त्याग करना चाहते हों तो वे कल के बदले आज ही हमें त्याग दें, हमारे इस भाव पर साधुजन हँसते हों तो भले ही हँस लें; हमने तो माधव, मदनमोहन, श्यामसुन्दर को सर्वतोभावेन स्वीकार कर लिया है, अब तो जो भी होना हो सो होता रहे।

हे प्रिय ! आपके मंगलमय श्रीअंग में पाँच-पाँच मोहन-मंत्र व्याप्त हैं। एक मोहन-मंत्र के प्रयोग से ही प्राणी विवश हो जाता है; जिस पर पाँच-पाँच मोहन-मंत्रों का प्रयोग किया गया हो उसकी कथा तो अकथ ही है।

'रहसि संविदं हृच्छयोदयं' आपका प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द हमारे मन, अन्तःकरण, अन्तरात्मा को मोहित करनेवाला है।

'रहसि संविदं' अर्थात् एकान्त में किया गया मधुर संकेत। वस्तुतः भगवद-

नुकम्पा, भगवदनुग्रहवशात् ही प्राणी भगवदुन्मुख होता है; भक्तों का मन अपनी ओर अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक आकृष्ट करने के लिए ही आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, आत्माराम, प्रभु भी लौकिक प्राणियों की तरह हो भक्त-सम्मिलन की इच्छा प्रकट करते हैं; जैसे कोई कामी पुरुष उत्कट कामना से किसी कामिनी के साथ उत्कट स्नेहमय वार्तालाप करता है, सम्मिलन हेतु प्रार्थना करता है इसी तरह सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु भी स्वयं में भक्त की उत्कट प्रीति उद्बुद्ध करते हैं; यही **'रहसि संविदं'**, प्रिया-प्रियतम के सम्मिलन के उद्बोधक ऐकांतिक संकेत हैं।

अथवा, **'यमुनातटे कात्यायनीव्रतावसरे यत् रहसि संविदं'**

'मयेमाः रंस्यथ क्षपाः' कात्यायनी-व्रत के अनन्तर, यमुना-तट पर जब आपके श्रीचरणों का दर्शन हुआ उस समय आपने अत्यन्त स्नेहसिक्त होकर कहा था कि हे गोप-युवतियो ! अमुक-अमुक दिव्य रात्रियों में तुम मेरे संग विहार कर सकोगी; ये पवित्र रात्रियाँ, जिनमें अनन्त-कोटि ब्राह्मी रात्रियाँ, एक-एक प्रहर चतुष्टयवती रात्रि से सन्निविष्ट होंगी। अमुक दिव्य काल में तुमको हमारा संस्पर्श प्राप्त होगा। इस प्रकार के जो ऐकान्तिक संकेत हैं, अथवा विभिन्न समय में रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राधारानी से अनुग्रह हेतु की गई विभिन्न प्रार्थनाएँ हैं तथा अन्यान्य अन्तरंगारंग सखी-वृन्द से सम्मिलन हेतु उत्कट उत्कण्ठा की अभिव्यंजना है, वही **'रहसि संविदं'** है। इन ऐकांतिक संकेतों के स्मरणमात्र से ही रोमांच हो जाता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है; यह **'रहसि संविदं'** ही प्रथम मोहन-मंत्र है।

'हृच्छयोदयं।' कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनको दार्शनिक दृष्टिकोण से ही सम्यक्भावेन समझा जा सकता है। आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, आत्माराम भगवान् भो भक्तिरूप भोजन के बुभुक्षु होते हैं। करमाबाई की खिचड़ी की कथा इसका सटीक उदाहरण है। स्वयं आप्तकाम, पूर्ण आत्माराम होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं की अविचल अनन्य निष्ठा से प्रेरित हो उनके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्ययुक्त श्रीअंग-संस्पर्श की कामना करते हैं। जैसे, भगवान् करमाबाई की खिचड़ी के लिये भूखे होकर उनसे मचलने लगते हैं, वैसे ही श्री गोपाङ्गनाओं के सम्मिलन हेतु उनसे प्रार्थना करते हैं। ऐसी प्रार्थना से एक प्रकार का हृच्छय उदित होता है; सम्मिलन को उत्कट इच्छा का विकार अंग-अंग पर एवं मुखमण्डल पर स्पष्टतः प्रतिभासित हो जाता है। जैसे लोक में, कामुक में कामोदय, उत्कट उत्कण्ठा का अभ्युदय होता है, वैसे ही भगवान् के मुखमण्डल पर भी गोपाङ्गनाओं के अंग-संगेच्छा की स्पष्ट रेखा का, हृच्छयोदय का उदय

हुआ। रस में रस का उदय हो, वीरता में भी वीर रस का उद्रेक हो, कारुण्य में करुणा का उद्रेक हो, ऐसे ही निखिल रसामृत मूर्ति, निखिल शृङ्गार रसमूर्ति भगवान् में भी रस का उद्रेक हुआ। शृंगार रस ही संपूर्ण रसों का अंगी रस है; भगवान् शृंगार-रस-मूर्ति हैं, सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक—उभयविध एककालावच्छेदेन उद्बुद्ध शृङ्गार-रस-निधिस्वरूप हैं। इस शृङ्गार-रस-निधिस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में भी जब रसोद्रेक हुआ, ज्वार आया हो तो वह स्वभावतः अपूर्व चमत्कार उपस्थित करता है। वे कह रही हैं कि हे प्रिय! आपका यह जो अनोखा **'हृच्छयोदय'** है यही दूसरा मोहन-मंत्र है, यही हमारे अन्तःकरण में आपके प्रति प्रगाढ़ मोह को उत्पन्न करनेवाला है।

हे मदनमोहन! आपके **'प्रहसिताननं'** प्रकृष्ट हास्ययुक्त मनोरम मुखचन्द्र के दर्शन से ही हमारा हृदय मोहित हो जाता है; आपके श्रीअंग के सौन्दर्य पर हमारा हृदय न्योछावर हो जाता है और हम आपका सम्मिलन प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आतुर हो जाती हैं; हमारी यह उत्कट उत्कंठा उत्तरोत्तर अभिवृद्धिगत होती रहती है। वस्तुतः रस का चर्वण ही रस की अभिवृद्धि का हेतु है। जितना ही अधिक रसास्वादन किया जाय उतनी ही स्पष्ट उसकी अभिव्यंजना होती है। यहाँ अनन्यपतिव्रता वृन्दा को कथा विचारणीय है। योगीन्द्र मुनीन्द्र परमहंस तथा देवाधिदेव ब्रह्मा-रुद्रादि भी जिसके मंगलमय कृपा-कटाक्ष के लिए तरसते रह जाते हैं, वे भगवान् विष्णु स्वयं ही वृन्दा की चिता-भस्म में लोट-पोट कर 'हा वृन्दे! हा वृन्दे!' विलाप कर रहे हैं। पति-परायणा, पतिपदानुगामिनी, परम सती वृन्दा को भगवान् ने छल-छद्मपूर्वक प्राप्त किया; तथ्य से अभिगत होने पर सती साध्वी वृन्दा ने भगवान् को शाप दे दिया—'तुम पत्थर हो जाओ', भगवान् शालग्राम हो गये। भगवान् को शाप देकर सती वृन्दा तत्काल चिता बनाकर उसमें प्रविष्ट हो गई। इस चिता-भस्म में भगवान् लोट-लोटकर 'हा वृन्दे! हा वृन्दे!' विलाप कर रहे हैं। भगवान् शंकर ने प्रकट होकर उनको समझाया—'भगवान्! आप ज्ञान-विज्ञान के आकर, समग्र ऐश्वर्य के आकर हैं'—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥

(श्रीविष्णुपुराण ६/५)

अज्ञ जन इस कथा में लौकिकता का भले ही अनुभव करें परंतु विज्ञ जानते हैं कि यहाँ वृन्दा, तुलसी जीव-रूप है। जैसे लक्ष्मी परमेश्वरस्वरूप ही है, वैसे ही तुलसी भी साक्षात् परमेश्वर का ही एक अंश है, तथापि जीवरूप में कथं-

चित् अन्य संबंध हो जाने पर भगवदुन्मुख न होते हुए भी जन्म-जन्मांतरों के, अद्भुत पुण्यपुञ्ज के कारण भगवान् ही उससे प्रेम करते हैं। जीव परतंत्र है, भगवान् स्वतंत्र हैं। तथापि प्रेम की पराकाष्ठा होने पर भगवान् ही परतंत्र और जीव स्वतंत्र हो जाता है। प्रथमतः जीव ही सर्वेश्वर भगवान् के कृपा-कटाक्ष की बाट जोहता है; अपने मन, बुद्धि एवं अहंकार को भगवदुन्मुख कर भगवद-नुसरण करता है परन्तु अनुराग के बढ़ जाने पर भगवान् ही उस प्रेमी जीव का अनुसरण करते हैं।

मधुसूदन सरस्वती की कथा है; मधुसूदन सरस्वती ने गोपालसहस्रनाम के चार पुरश्चरण किए, तथापि उनको भगवान् के दर्शन नहीं हुए। व्याकुल हो वे काशी चले आए और काल-भैरव की उपासना करने लगे। कालभैरव प्रसन्न हुए एवं प्रकट होकर उन्होंने मधुसूदनजी से वरदान माँगने को कहा। मधु-सूदन सरस्वती ने वरदान में भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन माँगे। कालभैरव ने उनको वृन्दावन जाकर 'गोपालसहस्रनाम' का पुरश्चरण करने का आदेश दिया। मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि उन्होंने 'गोपालसहस्रनाम' के चार पुर-श्चरण किए तथापि उनको भगवत्-दर्शन नहीं हुए। तब कालभैरव ने उनको जलते हुए चार पहाड़ दिखाए और कहा कि 'ये तुम्हारे पापरूप चार पहाड़ थे जो चार पुरश्चरण से जल रहे हैं। जन्म-जन्मान्तरों के तुम्हारे संचित पाप-पुञ्जरूप एक-एक पहाड़ 'गोपालसहस्रनाम' के एक-एक पाठ से जल रहे हैं। अब आप शुद्ध हो गए, आपके पापपुञ्ज जल चुके हैं, इस बार पुनः पुरश्चरण करने पर आपको निश्चित ही भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन होंगे।' कालभैरव के आदेश का पालन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने वृन्दावन जाकर पुनः 'गोपाल-सहस्रनाम' का पुरश्चरण किया। भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर प्रकट हो गए; अब तो भक्त ही रूठ गए और भगवान् से मुँह फेर लिया। भगवान् ने भक्त का दुलार किया, उनको मनाया तो भक्त कहने लगे—'भगवन्! आप भी कलियुग में इतने कठोर हो गए।' तात्पर्य यह कि एक समय ऐसा भी आता है कि दृढ़ अभिनिवेश हो जाने पर भगवान् ही भक्त का अनुसरण करने लगते हैं।

'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'

(श्रीमद्भा० ११/१४/१६)

अर्थात्, भगवान् कह रहे हैं कि जो निर्वैर, समदर्शी, निरपेक्ष महात्मा हैं, जिसको **'जाहि न चाहिए कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।'** निरंतर भगवत्-चिंतन के सिवा और कुछ न चाहिए, ऐसे भक्तों के पीछे मैं चलता हूँ ताकि

उनकी चरण-धूलि मुझ पर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।' भगवान् की दयालुता, भक्त-वत्सलता, भक्त-परायणता आदि ऐसे दिव्य गुण हैं जिनसे आकृष्ट होकर जीव भगवत्-परायण हो जाता है। जब भक्त यह सुनता है कि उसकी चरण-रज की स्पृहा से भगवान् भी उसका अनुसरण करते हैं तो अपने भगवान् में उसका अनुराग असीम वृद्धि को प्राप्त करता है। इसी तरह, वृन्दा की कथा-श्रवण से भी भक्त के हृदय में अपने आराध्य-चरणों में असीम प्रेम की वृद्धि होती है। गोपाङ्गनाएँ भी अपने प्रभु के 'रहसि संविद्' को देखकर, अपने लिए उनके हृच्छयोदय एवं प्रेमवीक्षण को देखकर प्रकृष्ट हासयुक्त उनके दिव्य मंगलमय मुखचन्द्र को देखकर, इतर सम्पूर्ण रागविस्मृत हो उनमें आकृष्ट हो जाती हैं। प्रभु के यह मोहन मन्त्र उनके हृदयों को अत्यन्त आकृष्ट कर लेते हैं।

भाव-दृष्ट्या, गोपाङ्गनाएँ सात्त्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार की थीं। गोपाङ्गनाओं के प्रसंग में सत्त्व, रज एवं तम क्रमशः पालकत्व, उत्पादकत्व एवं अवष्टम्भकत्व के अभिव्यंजक हैं। किसी भी कार्य की उत्पत्ति हेतु सत्त्व, रज एवं तम तीनों ही अनिवार्य हैं। स्वप्रकाश ही सत्त्व है; जब तक किसी कार्य की निष्पत्ति नहीं होती तब तक कार्य असम्भव है; उदाहरणतः घट-निर्माण हेतु घट के स्वरूप-बोध के साथ ही साथ घट के कारणभूत मृत्तिका, दण्ड, चक्र एवं चीवर का बोध भी अनिवार्य है; घट-स्वरूप एवं उसके कारणों का बोध ही सत्त्व है; कार्य-निर्माण-हेतु जैसे सत्त्व आवश्यक है, वैसे ही सक्रियता भी अनिवार्य है। गति अथवा चेष्टा न होने पर केवल विशिष्ट ज्ञान से ही कार्य का निर्माण असम्भव है। निष्क्रिय बोध एवं सम्पूर्ण उपकरण सर्वथा निरर्थक हैं यदि सक्रियता न हो। यह सक्रियता ही रज है। इसी तरह कार्य-निर्माण में अवष्टम्भ भी आवश्यक है। जैसे किसी भी प्राकृतिक कार्य के लिए सत्, रज, तम तीनों ही अनिवार्यतः अपेक्षित हैं, वैसे ही, दिव्य भावनाओं की सम्पन्नता हेतु भी प्रकाश, चांचल्य एवं अवष्टम्भ तीनों ही अनिवार्यतः अपेक्षित हैं, तथापि इनमें लौकिकता का समन्वय नहीं। त्रिगुणातीत भगवान् में भी सत् एवं रज की जो भावना है, वह प्राकृतिक सत्त्व-रज-तमादि से भिन्न अलौकिक एवं दिव्य है।

भगवान् की आँखों के सम्बन्ध में कहा गया है, **'रजःसत्त्वाभ्यां सृष्टि-पालकः।'** भगवान् के नयनों में जो लालिमा है वही रज है। इनसे भगवान् भक्तों के मनोरथ को रूप देते हैं, तात्पर्य भक्तों के मनोरथों का सृजन करते हैं। भगवान् के नेत्रों में जो स्वच्छता, प्रकाश अथवा श्वेतता है वही सत्त्व है। इस

शुक्लिमा के द्वारा ही भक्त के सम्पूर्ण अभीष्ट का पालन होता है। **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (श्री० भ० गी०) ही भगवत्ता का असाधारण माहात्म्य है।

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'
(श्री० भ० गी० ९/२२)

अर्थात् जो अनन्यभाव से सदा-सर्वदा हमारा चिन्तन करते हैं, हमारे ध्यान में रत हैं उनके सम्पूर्ण योगक्षेम का उत्तरदायित्व मुझ पर ही है। अप्राप्त की प्राप्ति ही योग है, धन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सम्पूर्ण प्राप्तव्य, सम्पूर्ण अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति, सम्पूर्ण अभिलषित का निर्माण भगवान् के नयनों की रक्तिमा से सम्पन्न होता है। प्राप्त की सुरक्षा ही क्षेम है, भगवान् के नयनों की शुक्लिमा सत्त्व द्वारा ही क्षेम सम्पन्न होता है।

'सत्त्वादयो न संतीशे यत्र च प्राकृता गुणाः' सत्त्वादि प्राकृत गुण भगवान् में नहीं हैं, भगवान् त्रिगुणातीत हैं, तथापि **रजःसत्त्वाभ्यां सृष्टिपालकाः** भगवान् के नयनों की शुक्लता रूप सत्त्व तथा लालिमा रूप रज भक्त के मनोरथों का पालन एवं सृजन करते हैं। इसी प्रकार निखिल रसामृतमूर्ति संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक एककालावच्छदेन उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसमूर्ति भगवान् की उत्पलाब्ज माला, नवल कोमल आम्रपल्लव एवं मयूर-पुच्छ-मुकुट भी सत्, तम एवं रज के सूचक हैं।

भगवत्-स्वरूप में चित्त का अवरोध ही निरोध है; इस प्रसंग में निरोध का तात्पर्य संहार नहीं अपितु विलयन है। भगवत्-स्वरूप में चित्त का अन्तर्लीन हो जाना ही निरोध है। भाव-गाम्भीर्यदृष्ट्या निरोध भी प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन-भेद से तीन प्रकार का है। भगवान् की उत्पलाब्ज माला, नवल-कोमल आम्र-पल्लव एवं मयूर-पुच्छ भी प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन अथवा सत्, रज एवं तम के बोधक हैं। भगवान् के मंगलमय श्रीअंग में विराजमान लोकोत्तर दिव्य उत्पलाब्ज माला के सौगन्ध्य से भक्तों को यह विदित हो जाता है कि भगवान् अमुक स्थान पर विराजमान हैं। उदाहरणतः वासन्तिक रसोत्सव के अवसर पर भी जब भगवान् अन्तर्धान हुए तो उनकी उत्पलाब्ज माला के सौगन्ध्य के आधार पर ही गोपाङ्गनाओं ने उनको ढूँढ़ लिया।

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।' (श्री० भा० १०/३०/११) अर्थात्, कुन्द की माला पहने हुए कुलपति भगवान् सर्वेश्वर कृष्णचंद्र के अंग से संबंधित दिव्य सुगन्ध अमुक दिशा से आ रही है ऐसा जानकर भ्रमर-मण्डली उधर ही

प्रवाहित हो रही है। भगवान् के श्रीअंगसंश्लिष्ट उत्पलाब्जमाला, हरि-चंदन-मिश्रित कुंकुमादि के सम्मिश्रित सौगन्ध्य के साथ ही साथ, रासेश्वरी नित्य निकुंजेश्वरी राधारानी के मंगलमय श्रीअंग के सौगन्ध्य से सम्मिश्रित दिव्य मृगमद एवं अंगरागादिकों तथा उत्पलाब्ज मालादिकों के सम्मिश्रण से जो अद्भुत-दिव्य-विचित्र सौगन्ध्य प्रचारित होता है उसके आधार पर गोपाङ्गनाएँ उनको खोज लेती हैं; एतावता, उत्पलाब्ज माला से बोधन हुआ अतः यह उत्पलाब्जमाला ही सत्त्व की सूचक है क्योंकि सत्त्व से ही बोधन होता है। नवल-कोमल आम्रपल्लव की अरुणिमा ही रज की सूचक है, अनुराग-आसक्ति ही राजस है। इसी तरह मयूर-पुच्छ की श्यामलता तम की बोधक है; अवष्टम्भ व्यसन ही तम है। एतावता विभिन्न भाव-स्तर को प्राप्त गोपाङ्गनाएँ सात्त्विक-तामसी, राजस-तामसी एवं तामस-तामसी आदि विभिन्न विशेषणों द्वारा सम्बोधित हुईं। तामस-तामसी अपने भावोद्रेक में भगवान् की ही निन्दा करती हैं, सात्त्विक-तामसी देव की निन्दा करती हैं तथा राजस-तामसी **'स्वात्मानमेव निन्दति'** स्वयं अपनी ही निन्दा करती हैं। राजस-तामसी गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—

'मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः' अतिस्पृहा में कहीं तृतीया एवं कहीं प्रथमा भी है; कहीं सम्पदादि प्राप्त्युपमान करके तृतीया **'उन्नति स्पृहा जातया, अभिलाषया मनः मुह्यति'** भी है। हे श्यामसुन्दर ! हमारे जीवन को धिक्कार है; हम जीवन-मरण दोनों में से किसी एक को भी प्राप्त नहीं कर सकीं। हे मदन-मोहन ! आपके जो **'रहसि संविद्'** हैं, ऐकान्तिक संकेत हैं, हृच्छयोदय है, उससे हमारा मन मोहित हो जाता है। **'रहसि तव हृदये गो पिता जा अस्मद् विषयिणी संवित् सम्यक् ज्ञानं'** ही **'रहसि संविदं'** है। यदा-कदा ऐसा भी होता है कि प्रेमी प्रेमास्पद के प्रतिराग की अपेक्षा न करते हुए भी प्रेम करता है; उदाहरणतः मीन अपने प्रेमास्पद जल से अथवा चातक अपने प्रेमास्पद घनश्याम से प्रतिराग-निरपेक्ष राग करते हैं। प्रेमास्पद द्वारा अपमानित होकर भी अनुराग वृद्धिगत होता रहे यही प्रेम का वैशिष्ट्य है तथापि सम प्रेम में ही स्वारस्य स्वाभाविक है। प्रेम के आलम्बन तथा प्रेम के आश्रय अथवा गोचर में परस्पर अनुराग ही सम प्रेम है। प्रेम के आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रेम का आलम्बन रासेश्वरी, नित्य निकुंजेश्वरी राधारानी तथा आश्रयभूता राधारानी के प्रेम का आलम्बन आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचंद्र हैं; उभय उभयाश्रय हैं, उभय उभयालम्बन हैं यही प्रेम की उन्नतावस्था है।

भगवद्-विषयिणी बुद्धि ही **'रहसि संविद्'** है। भक्त के हृदय में भगवद्-सम्मिलन की दृढ़ अभिलाषा उत्पन्न हो जाने पर निश्चय ही भगवान् भी उसका अनुसरण करते हैं। भगवत्-वचन है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (श्री० भ० गी० ४/११) जो मुझको जिस भाव से भजता है मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ। महाभारत-संग्राम की समाप्ति पर एक दिन महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के शिविर में जा पहुँचे। वहाँ जाकर देखते हैं कि भगवान् की विचित्र प्रेम-विह्वलित दशा हो रही है, उनका अंग-अंग कंटकित हो रहा है, उनका कंठ गद्गद हो रहा है एवं आंखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। महाराज युधिष्ठिर आश्चर्य-चकित रह गए; युधिष्ठिर के आने की आहट पाकर भगवान् ने आँखें खोलीं तो युधिष्ठिर ने पूछा—"भगवन् ! यह कैसा आश्चर्य हो रहा है ? आप किसके ध्यान में तल्लीन हैं ?" मुस्कुराते हुए श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"मेरा अनन्य भक्त भीष्म सूर्य के उत्तरायण हो जाने की प्रतीक्षा में शर-शय्या पर पड़ा हुआ मेरे ध्यान में तल्लीन है; भक्त-भावानुकूल भक्त-भजन ही मेरा संकल्प है अतः मैं भी अपने भक्त के ध्यान में ही प्रेम-विह्वल हो रहा हूँ।" इस कथा का तात्पर्य है कि प्राणी में भगवत्-सम्मिलन का दृढ़ संकल्प होने पर भगवान् भी भक्त-सम्मिलन का संकल्प करते हैं; उनके संकल्प अबंध्य हैं। कुछ उत्तम कोटि के महात्माओं के भी संकल्प अबंध्य होते हैं; साधारणतः प्राणीमात्र के संकल्प बध्य ही होते हैं। एतावता भक्त-भावानुसरण करते हुए भगवान् में भक्त-सम्मिलन की उत्कट अभिलाषा का उद्बोधन ही **'भगवत् हृच्छयोदय'** है। भगवत्-हृदय में रासेश्वरी नित्य निकुंजेश्वरी राधारानी, उनकी परमांतरंगा नखमणिचंद्रिका रश्मिस्वरूपा, उनकी अनन्त सौन्दर्य, सौगन्ध्य, माधुर्य, सौरस्य की ऐश्वर्यशालिनी तत्-तत् व्रज-सीमंतिनी जनविषयिणी तत्-तत् अभिलाषा ही **'हृच्छय'** है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—"हे श्याम-सुन्दर ! **'हृच्छयस्य उदयं भवति आलोक्य'** आपमें हृच्छय का उदय माने हमारे प्रति अभिलाष का उदय हुआ है। हम जानती हैं कि आप बाह्यतः कठोर बने हुए हैं, हमसे बोल भी नहीं रहे हैं परन्तु आपके हृदय में हमारे लिये प्रेम है; हमारा यह अभिज्ञान, यह बोध ही **'रहसि संविदं'** हैं; आपके हृदय में हमारे सम्मिलन की जो उत्कट उत्कंठा जाग्रत् हुई है वह आपके द्वारा किए गए तत्-तत् संकेतों एवं मुखचंद्र की रेखाओं आदि अनेक हेतुओं से स्पष्टतः व्यक्त हो जाती है; आपके इस हृच्छय से भी हमारे हृदय में आपके प्रति प्रेम का पूर्ण प्रादुर्भाव होता है। **'अतिस्पृहं सत् मे मनः मुह्यति'** अति-स्पृहा से संयुक्त हमारा मन अधिकाधिक मोहित होता है; आपके सम्मिलन की उत्कट अभिलाषा से हमारा मन क्षण-प्रतिक्षण अधिकाधिक मोह को प्राप्त होने लगता है; एतावता हम मर भी नहीं पातीं; साथ ही आपके विप्रयोगजन्य तीव्रताप से दग्ध प्राणों को धारण करने में भी अशक्त हो रही हैं अतः हमारे जीवन को ही धिक्कार है।"

'प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्' प्रहासयुक्त मुखचंद्र ही 'प्रहसिताननं' है; भगवान् का यह प्रहसितानन ही मानों सौन्दर्य का उमड़ता हुआ सागर है। भक्तों ने भगवान् के स्मित में भी अनेकानेक कल्पनाएँ की हैं। 'अध्यात्मरामायण' में भगवान् के ईषत् हास्य मनोहर मंद-मंद मुस्कुराहट का अत्यन्त भव्य वर्णन है—

'अनुग्रहाख्यहृत्स्येन्दु सूचकस्मितचंद्रिकाः।'

अर्थात्, प्रभु के हृदय में स्थित अनुग्रहरूप चंद्रमा की चंद्रिका ही भगवान् का मंगलमय स्मित है। भगवद्-दर्शन न पाकर भक्त को निराशा होती है; भगवान् के हृदय में स्थित अनुग्रहरूप चंद्रमा की चंद्रिका स्मितहास्यरूप से प्रकट होकर भक्त को आश्वासन देती है, धैर्य बँधाती है। गोस्वामीजो भी लिखते हैं, **'हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकाशा, सूचित किरन मनोहर हासा।'** (रा० च० मा० १९७/७) भगवान् का मधुर स्मित, मनोहर मुस्कान ही उनके हृदयस्थित अनुग्रह-रूप चंद्रमा का सूचक है, भगवान् के हृदयस्थित अनुग्रहरूप चन्द्रमा का प्रकाश ही उनके मंगलमय अधरों पर मधुर स्मितरूप में प्रस्फुटित हो जाता है।

'शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्।' (श्री० भा० ३/२८/३२) भगवान् का यह स्मित भक्त के शोकाश्रुसागर का शोषण करनेवाला है; भगवान् का प्रहास भगवद्-विप्रयोगजन्य संताप से व्यथित अथवा सांसारिक क्लेशों से संत्रस्त भक्त के शोकाश्रुसागर का तत्क्षण शोषण कर लेनेवाला है। क्षणमात्र के लिए भी भगवान् के प्रहसितानन का ध्यान संपूर्ण संतापों का समूल उन्मूलन कर देता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे श्यामसुन्दर ! आपके इस प्रहसितानन का दर्शन भी हमारे हृदय को उद्वेलित कर देता है, आपके सम्मिलन हेतु अत्यन्त उत्कंठित कर देता है।'

'प्रेमवीक्षणम्' प्रेमपूर्वक वीक्षण, प्रेमपूर्वक अवलोकन ही 'प्रेमवीक्षणम्' है। वस्तुतः भावों का अधिगम भावुकों को ही होता है; रसिक ही रस की विशेषताओं का अनुभव कर सकता है। लौकिकदृष्ट्या भी, अपने प्रेमास्पद द्वारा स्मरमयी, प्रेममयी दृष्टि से निहारे जाने पर प्रेयसी प्रियतमा का हृदय भी उद्वेलित हो जाता है; इसी तरह, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु द्वारा स्मरमयी, अनुरागमयी दृष्टि से निहारे जाने पर प्रेयसीरूप भक्तजनों के हृदय भी विशेषतः उद्वेलित हो उठते हैं। प्रभु का सामान्य वीक्षण भी स्वभावतः अनुग्रहमय है; योगीन्द्र, मुनीन्द्र अमलात्मा परमहंस भी इस स्वभावतः अनुग्रह-मय कृपा-कटाक्ष की, सामान्य वीक्षण की बाट जोहते रहते हैं; तथापि, यह कृपा-कटाक्ष अनुकम्पा, अनुग्रहमात्र ही है, अनुराग नहीं है; अनुराग में अनुग्रह नहीं, सर्वस्व समर्पण है। भक्त कहते हैं कि यदि सिर देकर भी प्रभु का प्रेम-वीक्षण

प्राप्त होता हो तो निस्संदेह दौड़कर ले लो, एक क्षण के लिए भी न रुको। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—'हे मदनमोहन ! तुम्हारा यह प्रेम-वीक्षण भी हमारे हृदयस्थित प्रेम-सागर को उद्वेलित, उद्दृप्त करनेवाला होता है।

हे श्यामसुन्दर ! आपका **'बृहदुरः'** बृहत् उरःस्थल, विशाल हृदयस्थल के दर्शन से भी आपके संस्पर्श की उत्कट उत्कंठा उद्भूत होती है। आपका **'बृहदुरः'** विशाल उरःस्थल ही **'श्रियो धाम'** श्री का आवासस्थान है। भगवान् के विशाल उरःस्थल के वाम पार्श्व में विराजमान पीतवर्णा सुवर्ण रोमराजि ही भगवती श्री का चिह्न है।

हारहास उरसि स्थिरविद्युत् (श्री० भा० १०/३५/४) **हारवत् हासो यस्य** हारवत् हास हो जिसका, वह हारहास; भगवान् के प्रहासकाल में उनके दिव्य दंतों की अलौकिक द्युति, उनके उन्नत विशाल उरःस्थल पर प्रतिबिंबित हो मुक्ताहारवत् भासित होने लगती है; इस प्रतिबिंबित हारहास के मध्य में पीतवर्णा विद्युत्-रेखास्वरूप साक्षात् लक्ष्मी ही दैदीप्यमान हो रही हैं। भगवान् के नील वक्षःस्थल पर पीतवर्ण विराजमान है, मानों इन्द्रनील मणि पर विद्युत्-रेखा विराजमान हो अथवा निकष-पाषाण कसौटी पत्थर पर सुवर्ण-रेखा, नील नीरद पर विद्युत्-रेखा, किंवा नवल कोमल तमाल पल्लव पर्ण पर पीतवर्णा विहंगिनी विराजमान हो। तमाल पल्लव अत्यंत श्यामल होता है, उस पर बैठी हुई पीतवर्णा तितली की कल्पना भी अत्यंत रंगभरी है; भगवान् ही कुशल रँगरेज हैं; भगवान् जैसे रँगरेज ही ऐसा रंग रँग सकते हैं।

'येन शुक्लीकृता हंसा, शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन, स ते वृत्तिं विधास्यति॥'

(हितोपदेश १/१६२)

अर्थात् जिसने हंसों का रंग शुक्ल और शुकों का रंग हरित बनाया, जिसने मयूर-पृच्छ पर विचित्र चित्रकारी की, जिसने फूलों पर बैठनेवाली तितलियों को अनेकानेक चित्र-विचित्र रंगों की साड़ी उढ़ायी, जिसने वन के पुष्पों एवं स्तबकों में विचित्र सुन्दरता, मधुरता, सरसता का आविष्कार किया वह सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु ही सर्वोत्तम रँगरेज है। सम्पूर्ण लौकिक उदाहरण उस दिव्य अलौकिक सौन्दर्य की तुलना में फीके हैं, तथापि लौकिक उदाहरणों द्वारा ही उस मूल तत्त्व के दिग्दर्शन का आयास होता है।

परमानुरागिणी लक्ष्मी के अतिशय त्याग से संतुष्ट होकर ही भगवान् ने उनको अपने वक्षःस्थल में स्थान दिया। देव एवं दानवों द्वारा किए गए समुद्र-मन्थन के अवसर पर अन्य रत्नों के संग समुद्र से ही लक्ष्मी का भी प्रादुर्भाव

हुआ; एक कमल-पुष्प-माल देकर उनसे कहा गया कि वे अपने मनोनुकूल वर का वरण कर लें। भगवती लक्ष्मी विचार कर रही हैं जो अनेकानेक ऐश्वर्ययुक्त जन मुझको चाहते हैं उनमें मेरी स्पृहा नहीं है।

'क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्च न कांक्षते हि माम्॥'
(श्री० भा० ८/८/२२)

जो सुमंगल है वह मुझको नहीं चाहता तथापि उन्हींमें मेरी स्पृहा है; इस विचार से भगवती लक्ष्मी ने श्री भगवान् के गले में जयमाला डाल दी; भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने हृदय में उनको आसन दिया। अनन्त ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी, परमानुरागिणी होकर जिस विशाल उरःस्थल में निवास करती हैं, उस उरःस्थल की आभा, शोभा, प्रभा, कांति का वर्णन भी अशक्य है; ऐसे अवर्णनीय कांतिमान्, शोभायमान उरःस्थल के दर्शन से उसमें मोह होना, उसके सम्मिलन की उत्कट अभिलाषा होना ही स्वाभाविक है। आपके इस अतुल आभा-प्रभा-शोभा से संयुक्त विशाल उरःस्थल संस्पर्श की तीव्र कामना से हमारा सापत्न्यभाव भी विनष्ट हो जाता है; आपकी प्रेयसीजन, हम गोपाङ्गनाएँ आपके विशाल उरःस्थल के जो श्री का धाम है, दर्शन कर आपके सम्मिलन हेतु अत्यन्त उद्वेलित हो उठती हैं। गोपाङ्गनाओं में सापत्न्यभाव के विनष्ट होने की चर्चा उनके प्रेम के उत्कर्ष को स्थापित करती है। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में सापत्न्य-भाव-माध्यम से अनेकानेक दिव्य भावों का वर्णन हुआ है; ये संपूर्ण भाव रसकोटि में परिगणित हैं। भक्त-मानस ही रसामृत-सिंधु है; इस रसामृत-सिन्धु में भिन्न-भिन्न भाव-लहरियाँ उद्बुद्ध होती रहती हैं। मानव-मन भौतिक तत्त्व है तथापि जैसे पारद में निर्घर्षित गंधक का निजी स्वरूप पारद में ही अन्तर्लीन हो जाता है, वैसे ही, रसामृत-सिंधु भगवान् के निरंतर चिंतन-स्मरण से मन की भौतिकता का बाध एवं रसात्मकता का उद्बोधन होता है।

वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व ही सच्चिदानन्दस्वरूप है; भौतिकता तो संस्कारजन्य आवरणमात्र है; इस आवरण के भंग हो जाने पर रसात्मकता का पुनः उद्-बोधन हो जाता है, एतावता भक्त-मानस ही रसामृत-सिंधु बन जाता है और वे विभिन्न भाव जो साधारणतः मन के विकारमात्र हैं, इस भक्त-मानस-रसा-मृत-सिंधु की अनेकानेक भाव-लहरियों में परिणत हो जाते हैं। गोपाङ्गनाओं के हृदय में सापत्न्य-भाव-जन्य जो ईर्ष्या उद्बुद्ध होती भी है वह लौकिक ईर्ष्याभाव नहीं किन्तु निखिल रसामृत-मूर्ति प्रभु के संसर्ग से रसामृत-सिंधुस्वरूप में परि-णत मानस की एक तरंग ही है। वे कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! **'श्रियो धाम**

उरः बृहदुरः वीक्ष्य मुहुरतिस्पृहा' श्री भगवती लक्ष्मी के आवास-स्थान आपके बृहत् उर को देखकर हमारे मन बारम्बार मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं।

'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥'
(श्रीमद्भा० १/१६/३२)

जिस भगवती लक्ष्मी के कृपा-कटाक्ष, अपरांग-मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मादि देवगण भी निरंतर कल्पना करते हैं वह भगवती लक्ष्मी भी अपनी जन्म-भूमि अरविन्द-उपवन का त्यागकर **'यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता'** आपके निर्मल पद-पंकज को भजने में अनुरक्त हैं; उस लक्ष्मी के आवास-स्थान आपके विशाल हृदय को देखकर हमारे मन में भगवत्-संस्पर्श की उत्कट उत्कण्ठा उद्वेलित हो उठती है और हमारे मन बारम्बार मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं अतः आप कृपा कर दर्शन दें।

भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं के उपर्युक्त कथन का उत्तर देते हुए कहते हैं, 'हे व्रज-सीमन्तिनीजनो! तुम लोगों ने मुझमें ब्रह्म-बुद्धि का आच्छादन कर कांतबुद्धि, रमणबुद्धि उद्बुद्ध कर ली है, यही तुम्हारे दुःख का हेतु है; अपनी इस रमण-भावना के कारण ही तुम इस असीम दुःख-सागर में निमग्न हो रही हो। यदि तुम अपने मोह को त्यागकर ब्रह्म-बुद्धि बना लो तो तुमको हमारे विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से सन्तप्त न होना पड़े क्योंकि मैं सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म सदा-सर्वदा सर्वव्याप्त हूँ; मुझ सर्वदा सर्वव्याप्त सर्वाधिष्ठान से वियोग की कल्पना भी असम्भव है। परिच्छेद-बुद्धि बनी रहने पर संयोग-वियोग-परंपरा अनिवार्य है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके साथ सदा अविच्छिन्न संबंध बना रहे। महर्षि वशिष्ठ महाराज अज को उपदेश करते हैं—

'स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद् वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्॥'
(रघुवंश ८/८९)

अर्थात् अपने ही शरीर एवं अपने ही आत्मा का संयोग विपर्यय श्रुत है; शरीर एवं शरीरी के भी संयोग-वियोग की अविच्छेद्य परंपरा चली आ रही है अतः बाह्य विषयों का वियोग विवेकी को सन्तप्त नहीं कर पाता। जब घनिष्ठातिघनिष्ठ शरीर एवं शरीरी में भी विच्छेद है तब जगत् के अन्यान्य विषयों से विच्छेद हो जाने में क्या आश्चर्य है? अतः 'हे गोपाङ्गनाओ! तुम भी मुझमें कांत-बुद्धि, रमण में बुद्धि को त्यागकर परात्पर पूर्ण ब्रह्म का दर्शन करो, तुम्हारे

सम्पूर्ण दुःख-सागर का निस्संदेह तत्क्षण शोषण हो जावेगा और तुम सर्वथा सुखी हो जाओगी।' प्रत्युत्तर में वे कह रही हैं, **'रहसि संविदं, हृच्छयोदयं'** हे श्याम-सुन्दर! यमुना-पुलिन आदि एकान्त स्थानों पर किये गये जो आपके **'रहसि संविद्'** हैं उन्हींसे हम उद्वेलित हो जाती हैं। **'संवित् सम्यक् वेदनं अनुरागो नाम यत्'** अर्थात् एतादृक् जो वचन-रचना है वही हमारे मोह का कारण है। लौकिक माया-मोह के अभिव्यंजक भावों के द्वारा महत् ज्ञान-विज्ञान भी तिरोहित हो जाते हैं। लौकिक भावों के द्वारा ज्ञान-विज्ञान का आवृत हो जाना दोषपूर्ण है लेकिन भगवद्-विषयक ज्ञान-विज्ञान का आवृत हो जाना दूषण नहीं, अपितु भूषण ही है। आपके मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन कर यशोदारानी को आपके परात्पर परब्रह्म प्रभुत्व का बोध हो गया। वे चिन्ता करने लगीं।

'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः' (श्री० भा० १०/८/४०) अर्थात् यह आश्चर्यमय दृश्य इस मेरे अर्भक का ही कोई स्वात्मयोग, अघटितघटनापटीयान् स्वात्म स्वाभाविक वैभव का ही कोई लोकोत्तर चमत्कार है और मैं मोह-ग्रस्त हो इसको अपना पुत्र मानती हूँ, फिर भी उनका यह ज्ञान स्थिर न रह सका।

'वैष्णवीं व्यतनोत् मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः' (श्री० भा० १०/८/४३) क्योंकि स्वयं आपने ही पुत्र-स्नेहमयी वैष्णवी माया का प्रसार कर दिया। निराकार-निर्विकार, अदृश्य-अग्राह्य, परात्पर, परब्रह्म होते हुए भी लीलाहेतु आप स्वयं ही सगुण साकार सच्चिदानन्दघन विग्रह धारण कर लेते हैं। एतावता आपके सदा-सर्वदा सर्वव्याप्त स्वरूप का अभिज्ञान भी आपकी लीला का बाधक ही सिद्ध होता अतः आपने पुनः अपनी वैष्णवी माया का प्रसार कर यशोदारानी के पुत्र-स्नेह को उद्बुद्ध किया। जैसे वांछित मात्रा में जो नमक दाल को सरस बनाने में सहायक होता है वही नमक अधिक हो जाने पर दाल को कड़वी बना देता है वैसे ही प्रभु-स्वरूप का ज्ञान-विज्ञान भी प्रभु-प्रेम में बाधक होने पर अवांछित ही हो जाता है।

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' ज्ञान और कर्म हो लेकिन इतना न हो कि वह कृष्णानुस्मरण का आवरक हो जाय। अतः हे श्यामसुन्दर!

'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' आप अखिल देहियों के अन्तरात्मा, अहमर्थ के भी द्रष्टा हैं, साथी हैं, यह जानते हुए भी आपके **'रहसि संविदं'** के कारण ही हमको मोह हो रहा है। आपके इन एकांत स्थानों में किए गए **संकेत, प्रेम-वीक्षण**, आपका **प्रहसत आनन** एवं आपके अस्मद्विषयक **हृच्छय** को देखकर, **'हृच्छयस्य अभिलाष-**

विशेषस्य उदयः यस्मिन्' आपकी इस प्रकार की **वचन-रचना** को सुनकर तथा आपके **श्रीमुख के दर्शन** से, आपके श्री अंग के **विभिन्न विभावों** से सम्मिलन की अत्यन्त उत्कट अस्मद्विषयिणी उत्कंठा को परिलक्षित कर हमारे हृदय में भी हृच्छय का उदय होता है। आपके प्रहसितानन की लोकोत्तर छवि है : **'प्रहसितानि स्वस्मात् निम्नतमानि अन्यानि सर्वाणि आननानि येन तत् प्रहसिताननं'** संसार के सम्पूर्ण आननों को न्यून जानकर उपहास किया जिसने वही **'प्रहसिताननं'** है; आपका मनोरम मंगलमय मुखचन्द्र संसार के अन्यान्य आननों का उपहास करनेवाला है; तात्पर्य कि आपका मुखचन्द्र लोकोत्तर छवियुक्त है; मृदु मनोहर द्राक्षा एवं मधु आदि से अधिक मधुर है। आपका प्रहसितानन ही विकसित पंकजाभ है, मानों सुधाकर ही विकसित पंकजरूप में प्रकट हुआ है। आपके इस प्रहसितानन को देखकर ही हमारा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है। आपके इस **'प्रेम्णा वीक्षणं विविधं ईक्षणम्'** विविध प्रकार के भावों का अलं द्योतन करनेवाला ईक्षण अवलोकः ईक्षण से ही अनुग्रह, क्रोध आदि विभिन्न भावों की व्यंजना होती है। प्रेम के अवान्तर विविध भेद, प्रेम के विविध भावों को प्रेमपूर्वक दृष्टि से अभिव्यंजित करनेवाले ईक्षण ही **'प्रेमवीक्षणं'** हैं। वस्तुतः **'प्रेमवीक्षणं'** प्रयोग **'प्रहसिताननं'** का विशेषण है। **'प्रेम्णैव वीक्षणं यस्य तत् प्रहसिताननं'** जिस प्रहसितानन का दर्शन उत्कट अनुराग से ही सम्भव हो; उत्कट भगवदनुरागी को ही प्रभु-मुखचन्द्र का दर्शन प्राप्त हो सकता है।

'नित्याव्ययोपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः।
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैवं ॥'

(कठो० २/३/९)

चक्षुओं से नित्य अव्यक्त भगवान् का दर्शन असम्भव है तदपि सानुराग दृष्टि से उस नित्य अव्यक्त के भी दर्शन हो जाते हैं। **'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य'** (कठो० २/३/९) जिनका रूप किसी भी दृष्टि में नहीं आ सकता उन्हींके लिए यह अपवादरूप वचन है। एतावता **'बृहत् उदारं उरः'** जो बृहत्, उदार उरःस्थल भक्तों को आनन्द देनेवाला है, जो श्री का धाम है, जो विविध प्रकार के शृंगार रस एवं नाना प्रकार की सम्पदाओं की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी का आस्पद है उसको देखकर हमारा हृदय मोहित हो जाता है, सम्मिलन हेतु, गाढ़ालिंगन हेतु उत्कंठित हो उठता है; और **'तद्भावात् इदानीं'** उसके अदर्शन से हम मूर्च्छा को प्राप्त होती हैं। हे श्यामसुन्दर ! आप हमें वैराग्य का उपदेश करते हैं। हे मदनमोहन ! आपके मोहिनी रूप को देखकर दग्धकाम महारुद्र

भी मोहित हो गए। **'किमु वक्तव्यं अस्माकं वराकीनां'** हम अबलाएँ आपके इस अद्‌भुत रूप को देखकर मोहित हो जायँ तो क्या आश्चर्य है !

गोपाङ्गनाएँ स्वयं को 'अबला' कहती हैं; वस्तुतः यह उनकी भाव-निष्ठा ही है। दण्डकारण्यवासी महर्षिगणस्वरूपा ये गोपाङ्गनाएँ भी पूर्णतः निष्काम ही हैं। कृष्णोपनिषद् का वाक्य है, **'दण्डकारण्यवासिनो ऋषयो भगवन्तं रामचन्द्रं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः।'** दण्डकारण्यवासी आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम आत्माराम महर्षिगण भगवान् रामचन्द्र के अतुलित सौन्दर्ययुक्त मुखचन्द्र के दर्शन प्राप्त कर उनके गाढालिंगन के लिए व्याकुल हो उठे। आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम हृदय में ही भगवद्-विषयक काम उद्‌बुद्ध हो सकता है। प्राणिमात्र में, जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर से तत्-तत् संस्कारवशात् तत्-तत् लौकिक काम-परम्परा अविच्छेदतः चली आ रही है तदपि भगवद्-विषयक काम का उद्‌बोधन, भगवद्-विषयक उत्कट उत्कंठा, अभिलाषा का उद्‌बोधन अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञान-वैराग्य से ही सम्पूर्ण लौकिक काम दग्ध हो जाते हैं तदपि कोटि-कोटि ज्ञान-वैराग्य भी भगवद्-विषयक राग पर न्योछावर हैं। इसीलिए भक्त-वांछा है—

> **'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहिं के जिमि दाम।**
> **तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लाग मोहि राम॥'**

अद्वैतसिद्धि के निर्माता मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

> **'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं,**
> **ज्योतिः किञ्चनयोगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु तं।**
> **अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं,**
> **कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तत् नीलंमहो धावति॥'**
>
> (गी० गू० १३/१)

उपनिषद् भी कहते हैं कि जो जगत् से विरक्त हो जाता है, वही भगवान् में अनुरक्त होता है। लौकिक-राग एवं भगवत्-राग दोनों कदापि साथ-साथ नहीं रह पाते। सम्पूर्ण जागतिक रागों के विस्मरण का मूल-मंत्र **'तत् परं पुरुष-ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'** (पा० यो० सू० १/१६) वैराग्य ही गुणवैतृष्ण्यं लक्षण है। **'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'** (पा० यो० सू० (१/१५) दृष्टानुश्रविक विषयों से जो वितृष्ण हैं, जो लौकिक-पारलौकिक विषयों से विमुख है उसको वशीकारसंज्ञक वैराग्य प्राप्त है। वैराग्य भी चार प्रकार के होते हैं; यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार; एक पाँचवें प्रकार का

परवैराग्य भी है; यह पाँचवें प्रकार का परवैराग्य **'पुरुषस्य ख्यातेः'** पुरुष की ख्याति से उद्बुद्ध होता है। **'सत्त्वपुरुषान्यथा ख्यातिः सत्त्वं अन्यत् बुद्धरूपं परिणतसत्त्वम् अन्यत्। ह्ययं अवर पुरुषः, ततो अन्यः सर्वद्रष्टा। पुरुषाः ततो अन्ये'** इस प्रकार की जो अन्यता भिन्नता है उस अन्यता की ख्याति, अनुभूति साक्षात् प्रतीति से ही 'पर'-वैराग्य उत्पन्न होता है; 'पर'-वैराग्य होने पर ही पूर्णतः वैराग्य सम्पन्न होता है तथा भगवत्-राग का अवसर उपस्थित होता है। एतावता सनकादि, शुकादि वीतराग भी भगवत्-स्वरूप में अनुरागी होते हैं। जैसे चुम्बक का सर्वाधिक आकर्षण स्वच्छ लौह में होता है, वैसे ही, अचिन्त्य, अनन्त, अपरिमित विविध कल्याण-गुणगणों से युक्त भगवान् का आत्माराम चित्ताकर्षकत्व गुण स्वच्छ, अमलात्मा हृदय को विशेषतः आकर्षित कर लेता है। भगवान् के इस आत्माराम चित्ताकर्षकत्व स्वरूप का आकर्षण निष्प्रयोजन ही होता है। **'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'** जो ज्ञानी मुक्त अमलात्मा विषय से सर्वथा वितृष्ण, नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच सत्ता की अनुभूति से सर्वथा रहित

'स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो, स्वसुखेनैव स्वरूपभूतपरमानन्द-सुधासमुद्रेणैव निभृतं परिपूर्णचेतो यस्य सः स्वसुखनिभृतचेताः' स्वस्वरूप-भूत परमानन्द सिन्धु से ही जिनका चित्त भरपूर है, और भगवत्-स्वरूप-सुधा से जिनका चित्त परिपूर्ण है और **'तद्व्युदस्तान्यभावो तेनैव व्युदस्तो दूरीभूतः अन्यास्मिन् तत् तत्पदार्थजाते भावः अस्तित्वभावना यस्य सः'** तत्-तत् पदार्थों में अस्तित्वभावना ही जिनकी बाधित हो गई है उनके चित्ताकर्षण का हेतु ही विनष्ट हो जाता है। तदपि **'इत्थंभूतगुणो हरिः'** हरि में जो आत्माराम चित्ताकर्षकत्व के लोकोत्तर गुण हैं वही अमलात्मा, आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम अत्यंत वीतरागी के मन को भी बलात् आकर्षित कर लेता है जैसे चुम्बक स्वभावतः ही स्वच्छ लौह को आकर्षित कर लेता है। ब्रह्मनिष्ठा से विशेष धैर्य, विशेष निश्चलता उद्बुद्ध होती है; कहते हैं चाहे चन्द्रमा तप्त हो जाय और सूर्य शीतल हो जाय, चाहे समुद्र उद्वेलित हो विश्व-विप्लावन कर दे, मेरु चूर्ण-विचूर्ण हो जाय परन्तु परम-प्रभुनिष्ठाजनित निश्चय-वृत्ति तनिक भी विचलित नहीं हो सकती।

'इतो न किंचित् परतो न किंचित्। यतो यतो यामि ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किंचित्। स्वात्मावबोधादधिकं न किंचित्॥'

ऐसी जो अविचल निष्ठा किंवा धैर्य है वह भी **'अजितरुचिरलीलाकृष्ट-सारः।'** अजित भगवान् की रुचिर लीलाओं से आकृष्ट हो जाता है।

'प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः' ॥७॥
'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्' ॥९॥

(श्री० भा० २/१)

जैसे कोई ग्रहगृहीत प्राणी परवश हो जाता है वैसे ही, हम भी आपके उत्तम श्लोकरूप ग्रह के कारण विधिनिषेधातीत हो चुकी हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का वाक्य है, **'अष्टग्रहा, अष्टौ अतिग्रहाः'** आठ ग्रह हैं तथा आठ ही अतिग्रह हैं; इन्द्रियाँ ही ग्रह हैं, उनके विषय ही अतिग्रह हैं। विषय-लोलुप इन्द्रियों के वशीभूत हुआ प्राणी संत्रस्त हो उठता है परन्तु **'कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्'** (श्री० भा० ७/४/३७) कृष्णरूप ग्रह से गृहीत प्राणी जगत् को विपरीत ही देखता है; कृष्ण-ग्रह ऐसा प्रबल है कि उसमें गृहीत प्राणी जगत् को सदा ही विपरीत स्वरूप में ही देखता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे नाथ ! आप कहते हैं कि हमने ब्रह्मबुद्धि का आच्छादन कर कांत-बुद्धि, रमण-बुद्धि उत्पन्न कर ली है इसी कारण दुःख-समुद्र में निमग्न हैं अतः इस कांत-बुद्धि का उन्मूलन कर सुखी हो जावें। पर प्रभु ! हम विवश हैं क्योंकि इस हृच्छय का उदय ही आपसे है। **'हृच्छयस्य उदयो यस्मात् तदपि प्रहसिताननं'** आपके प्रहसितानन के वीक्षण से, दर्शन से ही तो इस हृच्छय का उदय हुआ है।

हे श्यामसुन्दर ! आपके इस प्रहसितानन के वीक्षण से हमारे हृच्छय का उदय हुआ और आपके प्रेम-वीक्षण से उसमें स्थैर्य आया। जिस विशिष्ट दृष्टि से वीक्षण होता है उसका वैसा ही प्रभाव भी होता है। ज्ञानी अपनी ज्ञान-दृष्टि से जिसको देख देता है उसके हृदय में ज्ञान-विज्ञान के अंकुर उद्भूत हो जाते हैं। वार्तिककार कहते हैं—

'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्परगोचरा ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः ॥'

अर्थात्, जिसकी तत्त्वार्थगोचरा बुद्धि; ब्रह्मात्मगोचरा बुद्धि अनुभवपर्यन्ता हो गई; तात्पर्य कि जिसकी बुद्धि अनुभवपर्यन्त तत्त्व-गोचरा हो गई ऐसे तत्त्वविद् की दृष्टि में जो प्राणी आ जाते हैं उनमें भी कभी न कभी ज्ञान-विज्ञान के संस्कार उद्भूत हो जाते हैं; उनकी मुक्ति का सुस्थिररूपेण सूत्रपात हो जाता है। इसी तरह, अनुग्रह-दृष्टि का, स्नेहमयी दृष्टि का भी विशिष्ट चमत्कार है; यत्किंचित् अवलोकन तो सतत ही होता रहता है परंतु स्नेहावलोकन, प्रेम-वीक्षण से हम गोपाङ्गनाओं के हृच्छय, भगवत्विषयक उत्कट

अनुराग में स्थैर्य आया। आपके प्रहासयुक्त मुखचन्द्र के दर्शन से भगवत्-विषयक अभिलाष उदित हुआ; साथ ही संशय भी हुआ कि जो आप्तकाम, पूर्णकाम, अनन्तकोटि सर्वाधिष्ठान है, अधिस्याग्रह्य लक्षण अचिन्त्य व्यपदेश है उस परात्पर परब्रह्म में हमारा अभिलाष उदित तो हुआ परंतु उसकी पूर्ति भी होगी अथवा नहीं परन्तु आपके प्रेम-वीक्षण से हमारे अभिलाष में स्थैर्य आया क्योंकि अभिलाषा उदित होने पर भी सम्मिलन की संभावना न हो तो अभिलाषा-वृद्धि नहीं हो पाती। प्रेममार्ग में निराशा पिशाचिका है और आशा ही कल्पलता है। आशा के आधार पर ही प्रयास होता है, निराशा से प्रयास में शैथिल्य आ जाता है।

भक्त के हृदय में प्रभु के प्रहसितानन के अवलोकन से हृच्छय उदित तो हो गया परन्तु निराशा पिशाची के कारण वह हताश भी हो गया।

'अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद् भा० ३/२/२३)

अर्थात्, जब बकी पूतना जैसी राक्षसी, लोकबालघ्नी रुधिराशना जो कालकूट विष को अपने स्तन में लगाकर आपकी जिघांसा से, हननेच्छा से ही आयी थी उसको भी आपने दिव्यातिदिव्य मातृपदोपयुक्त गति प्रदान की; जो जिघांसा से प्रवृत्त प्राणी को भी आत्मसात् कर लेते हैं ऐसे परमदयार्णव, परमकरुणाजलनिधि, अकारणकरुण भगवान् के लिए तो अकिंचन परमप्रिय है। एतावता, भगवान् के प्रहसितानन के वीक्षण से गोपाङ्गनाओं में हृच्छय हुआ, साथ ही भगवत्-कर्तृक प्रेम-वीक्षण से हृच्छय वृद्धिगत हुआ; उसमें स्थैर्य आया क्योंकि प्रभु के प्रेम-वीक्षण से उनको अपने प्रति प्रभु का स्नेह विदित हुआ। प्रभु द्वारा देखा जाना, अथवा प्रभु का दर्शन करना दोनों ही जीवन का साफल्य है।

'यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥'

(वा० रा० २/१७/१४)

अर्थात्, जिसने राम को नहीं देखा अथवा जिसको भगवान् राघवेन्द्र रामचंद्र ने नहीं निहारा वह सब लोकों में गर्हित है; उसकी आत्मा भी उसको धिक्कारती है। इस प्रसंग में आत्मा पद का प्रयोग अन्तःकरण, अहंकारादिक का ही सूचक है।

'अतिपातकयुक्तोपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥'

अर्थात्, अत्यन्त पातकी प्राणी भी यदि एक क्षण के लिए भी अन्तर्मुख हो जाता है, अच्युत भगवान् के ध्यान में तन्मय हो जाता है तो वह परम तपस्वी होकर पंक्ति-पावनों को भी पावन करनेवाला हो जाता है।

निर्गुण, निर्विकार, निराकार श्रीमन्नारायण के ध्यान की बड़ी महिमा है—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्तापि सर्वावनिः ।
यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ॥
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्य पूज्यो ह्यसौ ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥'

अर्थात्, जिसका मन एक क्षणमात्र के लिए भी निर्विकार, सर्वद्रष्टा आत्म-ज्योति स्वप्रकाश ब्रह्म के अनुसंधान में स्थिर हो गया, उसने मानो सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान कर लिया, सम्पूर्ण यज्ञादिकों का अनुष्ठान कर लिया तथा अनंत धनधान्यपरिपूरित अखण्ड भूमण्डल का दान भी कर दिया; तात्पर्य कि एक क्षणमात्र भी निर्विकार सर्वद्रष्टा में ध्यान-रत हो जाने पर महतातिमहत् यज्ञ, दान एवं तप का फल प्राप्त हो जाता है। स्वभावानुसार निर्गुण, निर्विकार, निराकार, स्वप्रकाश, सर्वद्रष्टा, सर्वाप्तस्वरूप का ध्यान अथवा सगुण साकार सच्चिदानन्दघन भगवान् के स्वरूप का दर्शन दोनों में से कोई एक बन जाने पर जीवन सार्थक हो जाता है, अन्यथा समय तो अपनी गति से व्यतीत होता ही जाता है।

'दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥'

काल क्रीड़ा कर रहा है; प्रातः, सायं एवं रजनी के रूप में अनेक दिन और मास आ-आकर चले जाते हैं, शिशिर-वसन्त आदि षड् ऋतुओं में अनेक संवत्सर व्यतीत हो जाते हैं तदपि तृष्णा प्राणी को नहीं छोड़ती। मानव-जीवन का पूर्ण काल सौ वर्षों का माना गया है। अनेक ऐसे भी प्राणी हैं जो सहस्रायु हैं; अन्ततो-गत्वा सब काल के गाल में चले जाते हैं। एतावता मानव-जीवन का एकमात्र सार यही है कि वह निरन्तर अपने इष्टदेव के ध्यान में रत रहे; वही एक वेदान्त-वेद्य, स्वप्रकाश, पूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर, परब्रह्म प्रभु ही भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र; आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, भूत-भावन भगवान् शिवशंकर, राज-राजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी श्री ललिता पराम्बा आदि भिन्न-भिन्न

अभीष्ट रूप में पूजनीय, वन्दनीय एवं स्मरणीय हैं। राजा खट्वाङ्ग को अपने जीवन का एक मुहूर्त काल शेष रह जाने का ज्ञान हुआ और वे भगवन्नाम में तल्लीन हो गए, महाराज परीक्षित अपने जीवन की सप्तदिवरात्रिपर्यन्त-शेषावधि से भिज्ञ हो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय चरित्रामृत-रसास्वादन में संलग्न हो गए; उनका जीवन सफल हुआ, उनको परमात्म-पद की प्राप्ति हुई।

गोपाङ्गनाएँ कहती हैं कि हे श्यामसुन्दर! आपके इस 'प्रहसिताननं', 'प्रेमवीक्षणं' एवं बृहदुर श्रियोधाम को देखकर ही हमारे में भी हृच्छय का उदय हुआ। आपके प्रेमयुक्त वीक्षण के कारण ही हमारा यह हृच्छय विशेषतः उद्वेलित हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा सर्वद्रष्टा हैं। सर्वद्रष्टा का वीक्षण भी सर्व-विषयक ही होता है, फिर भी प्रेमपूर्वक दृष्टि से निहारे जाने में ही वैशिष्ट्य है। भगवदनुकम्पा से ही प्रेम-वीक्षण प्राप्त होता है।

'स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं, यत्र गच्छन्ति योगिनः॥'

(श्रीमद्भागवत ९/११/२२)

अर्थात् जिस-जिसने आनन्दघन भगवान् श्रीमद्राघवेन्द्र की ओर निहारा अथवा उनका अनुसरण किया वे सब उस दिव्य धाम को प्राप्त हुए जो अमलात्मा परमहंस योगीन्द्र-मुनीन्द्र द्वारा प्राप्तव्य हैं। यथाकथंचित् येनकेन रूपेण न्यूनाधिक रूप में जिस किसी तरह एक बार भी भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लेने पर अन्ततोगत्वा प्राणी अशेष कल्याण का, भगवत्-पद का दायभागी हो जाता है।

'प्रेम ब्रह्मैव वीक्षणं यस्य, प्रेम-वीक्षणं' जिसका वीक्षण ही ब्रह्म-स्वरूप है; जो भगवत्-दर्शन ऐसा अमूल्य है वह प्राप्त क्योंकर हो सकता है? **'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य।'** (कठोपनिषत् २-३-९) उसका रूप तो दृष्टिअगोचर है; **'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।'** इन स्थूल चक्षुओं से उसको देखा ही नहीं जा सकता; फिर भी **'प्रेम्णा वीक्षणं यस्य प्रहसिताननं'** अनुरागवान् भक्त को प्रेममयी दृष्टि से ही भगवान् के प्रहसित आनन का दर्शन सम्भव होता है।

'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥'

(गीता ७/२८)

भगवत्-आराधना से जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों के कृत पापपुञ्ज विनष्ट होने पर भगवत्-स्वरूप में सम्यक् प्रवृत्ति, भक्ति, भगवद्-

स्वरूप में अनुराग उद्बुद्ध होता है। **'नित्याव्यक्तोपि भगवान् वीक्ष्यते निज-भक्तितः।'** भगवत्-स्वरूप में अनुराग होने पर नित्य अव्यक्त परब्रह्म भी भक्ति-युक्त भक्त के दृष्टि-गोचर हो जाते हैं। **'यन्मनसा न मनुते'** (केनोप० १/५) मन से भी भगवान् का मनन सम्भव नहीं। **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** (बृ० ४।४।१९) **'मनसैवेदमाप्तव्यम्'** (कठ० २।१।११) मन से ही भगवत्-दर्शन सम्भव नहीं तदपि **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (कठोपनिषत् १।३।१२) शास्त्राचार्योपदेशजन्य जन्म-जन्मान्तर संस्कार-संस्कृत बुद्धि के द्वारा ही भगवत्-दर्शन सम्भव होता है। अस्तु, केवल बुद्धि से नहीं अपितु शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कार-संस्कृत बुद्धि से, अथवा केवल मन से नहीं अपितु जन्म-जन्मान्तर-पर्यन्त की गई आराधना द्वारा पाप-पुञ्ज विनष्ट होने पर निर्मल, स्वच्छ, स्नेहमय अन्तः-करण से भगवत्-दर्शन संभव होता है। भगवत्-स्वरूप सामान्यतः दृष्टि-अगोचर होते हुए भी अनुरागमयी दृष्टि के गोचर हो जाता है; प्रेम की अतुलित महिमा से अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अखण्ड, अव्यपदेश्य, परात्पर, परब्रह्म परमात्मा विभु भी सगुण-साकार सच्चिदानंदघन प्रभु भगवत्-स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं।

'व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कोसल्या की गोद॥'

(मानस, बाल० १९८)

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर ! वस्तुतः तो हम दण्डकारण्यवासी आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम ऋषि-महर्षियों में भी आपके राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप-दर्शन से हृच्छय का, आपके श्रीअंग-सम्मिलन का अभिलाष उदित हुआ; अनंतकोटि ब्रह्माण्डों की ऐश्वर्याधिष्ठात्री एवं विविध प्रकार के शृंगार रसों की अधिष्ठात्री देवी महाशक्ति श्री महालक्ष्मी का आवास-स्थान आपके बृहत् उदार उरःस्थल के दर्शन से वह अभिलाषा-वृद्धि को प्राप्त हुआ; आपके दिव्य सौन्दर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य, माधुर्यपूर्ण अद्भुत प्रहासयुक्त आनन, प्रहसितानन के दर्शन से वह उत्कट उत्कण्ठा स्थायित्व को प्राप्त हुई; एतावता हमारे हृदय में **'मुहुरतिस्पृहा'** अत्यन्त उत्कट स्पृहा उद्बुद्ध हुई; इस विशिष्ट स्पृहा के कारण ही आपके अदर्शन से हम बारम्बार, क्षणे-क्षणे मोह को, मूर्च्छा को प्राप्त हो जाती हैं, अतः हे व्रजेन्द्र-नन्दन ! हे मदनमोहन ! हे श्रीकृष्णचन्द्र ! हम पर अनुग्रह कर आप हमारे लिए प्रत्यक्ष हों, हमको दर्शन दें।

'गोपी-गीत' के अन्तर्गत प्रत्येक उक्ति की अनेक व्याख्याएँ सम्भव हैं। इसी श्लोक की एक अन्य व्याख्या भी है, **'त्वां वीक्ष्य मुहुरतिस्पृहा जाग्रते।'**

गोपाङ्गनायें कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर ! तुमको देखकर हमारे हृदय में श्रीअंग-सम्मिलन की उत्कट उत्कंठा जाग्रत् होती है और तुम्हारे अदर्शन में तुम्हारे विप्रयोगजन्य तीव्र संताप के कारण क्षण-क्षण पर मूर्च्छा प्राप्त होती है। हे श्यामसुन्दर ! आप ही **'रहसि संविदं'** हैं। **'रहसि त्वदेकपरायणतया सर्वभाव-शून्यहृदये सम्यक् वित् बोधो यस्य तत् रहसि संविदं'** जो इतर सम्पूर्ण विश्व को भुलाकर एकमात्र निरंतर भगवत्-चिन्तन में रत रहते हैं, उनके **'सर्व-दृश्य-शून्ये हृदि रहसि'** सर्वदृश्यरिक्त हृदय में ही आपका सम्यक् वेदन, सगुण, साकार सच्चिदानंदघन भगवत्-स्वरूप का दर्शन अथवा निर्गुण निर्विकार निराकार परब्रह्म का प्रबोध सम्भव है। जैसे कुआँ खोदने के लिए, स्थलविशेष पर जल को प्रकट करने के लिए वहाँ के अन्य द्रव्य, मृत्तिका आदि को निकाल दिया जाता है, अथवा जैसे किसी घर में भरे हुए पदार्थ को निकाल दिये जाने पर वह घर स्वभावतः ही घटाकाश परिपूरित हो जाता है, वैसे ही, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धजन्य दृश्य-प्रपंचरूप आवरण को हटा देने पर, ब्रह्मतत्त्व स्वभावतः अनावृत हो जाता है; प्रत्यक्ष हो जाता है। इतर सर्वभानशून्य हृदय में ही भगवत्-स्वरूप माधुर्य का प्राकट्य होता है—चित्त जितना ही अधिक एकाग्र होता जाता है उतना ही अधिक भगवत्-स्वरूप के अद्भुत लावण्य का, सौन्दर्य-माधुर्य का अनुभव करता है, भगवत्-स्वरूप के अनुपम, अतुल, असीम सौन्दर्य-निधि का अनुभव कर चित्त उन्हींमें अधिकाधिक लीन हो जाता है और जितना ही अधिक लीन होता है उतना ही स्वच्छ होता जाता है। इतर सर्वभान-शून्य हृदय में भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य एवं तज्जन्य अधिकाधिक स्थैर्य का यह क्रम चक्रवात गतिमान् रहता है, यही **'रहसि संविदं'** है; एतावता एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही **'रहसि संविदं'** हैं।

'अथवा रहसि स्वानां स्वीयानां वेदनं वित् वेदनं यस्मिन्' अर्थात् जिसमें अपने भक्त जनों के हृदयगत भावों का वेदन है; गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे श्याम-सुन्दर ! आप **'रहसि संविदं'** हैं। आप हम व्रजसीमंतिनी जनों के हृदयगत भावों को जानते हैं; क्योंकि सर्वज्ञ शिरोमणि हैं; आप स्वीयों को जानते हैं, स्वीयों के हृदयगत भावों को भी जानते हैं। इस प्रसंग में **'हृच्छयोदयं'** पद त्वां का विशेषण है। भगवान् के उदासीन, स्तब्ध, संगरहित निरपेक्ष स्वरूप में भक्त की उत्कट सम्मिलनेच्छा भी कुछ कम ही प्रबल हो पाती है; अपने प्रेमास्पद भगवान् में अपने प्रति हृच्छय का अनुभव कर प्रेमी भी असीम स्नेह का अनुभव करता है; अतः लोकोत्तर उद्रेक से उसका अन्तःकरण उद्वेलित हो उठता है। अशोक-वाटिका में बैठी हुई जनकनंदिनी जानकी भी हनुमान् द्वारा अपने प्राणनाथ प्रियतम भगवान् राम के संदेश को सुनकर मूर्च्छित हो जाती हैं :

'तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरस इतनेहिं मांहीं।
प्रभु सन्देश सुनत वैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥'

(मानस, सुन्दर०, १४/६)

यदा कदा उदासीन निरपेक्ष में भी एकांगी प्रेम सम्भव है तदपि प्रेम की पराकाष्ठा का विकास उभयनिष्ठ समकक्ष प्रेम-स्थिति में ही सम्भव होता है। **हृच्छयस्य उदयो यस्मिन्** हृच्छय के उदय-योग्य अवस्था होने पर हृच्छय का उदय हुआ है जिसमें; व्रजकुमारिकाएँ कह रही हैं—हे श्यामसुन्दर ! अवस्था के अनुरूप हृच्छय का उदय हुआ है जिसमें ऐसे आपके सौन्दर्य-माधुर्ययुक्त श्री-विग्रह के दर्शन से ही आपके श्रीअंग-सम्मिलन की उत्कट उत्कंठा हमारे हृदय में भी स्वभावतः ही जागृत हो गई है। तदपि गोपाङ्गनाओं का यह 'हृच्छय' भी अनंगप्रेरित नहीं था :

'हृदयमनङ्गस्तासामविशद्वयसः क्रमादेव।
श्यामाङ्गः स तु साङ्गो विवेश सहसा ततः पूर्वम्॥'

(आनन्दवृन्दावनचम्पू २/)

अनुरूप अवस्था में ही हृदयान्तर्गत अनंग उदित होता है। वय आविर्भाव के प्रातःकाल से ही गोपकुमारिकाओं के अन्तःकरण अन्तरात्मा एवं रोम प्रति रोम में सांग-श्यामांग सन्निविष्ट हो गए अतः वहाँ अनंग-प्रवेश का अवकाश ही असम्भव हो गया।

अथवा **'हृच्छयाय कामाय उदयं उद्यमं वीक्ष्य'** हृच्छय के विजय हेतु आपके उद्यम को देखकर ही हमारे मन में भी आपके श्रीअंग-संस्पर्श की अत्यंत उत्कट लालसा उदित हुई है। वस्तुतः भगवान् कृष्णचन्द्र आनंदकंद द्वारा की गई यह रासलीला कंदर्प-विजय-लीला ही है।

'ब्रह्मादि जय संरूढ-दर्प कंदर्प दर्पहा' ब्रह्मादिकों पर विजय प्राप्त कर अधिरूढ (अभिमानी) जो कंदर्प; ऐसे कंदर्प के **'हृच्छय'** विजय के लिए उद्यमशील **'विजयाय उद्यतं'** वीर स्वरूप को **'वीक्ष्य'** देखकर हमारे मन में उस दिव्यातिदिव्य स्वरूप संस्पर्श की कामना जाग्रत् हुई। दण्डकारण्यवासी महर्षि-जनों ने भी भगवान् राघवेन्द्र रामचंद्र के अनन्त सौन्दर्य पर रीझकर उनसे श्रीअंग संस्पर्श की प्रार्थना की थी। वस्तुतः भगवत्-स्वरूप ही कुछ ऐसा मोहक है कि उसके दर्शन से प्राणीमात्र विवश हो उठता है। यहाँ तक कि नर में भी नारीभाव का उदय हो जाता है—यही गोपाङ्गना-भाव है; जैसे गोपाङ्गना को

अपने प्रियतम मदनमोहन श्यामसुन्दर में अत्यन्त अनुराग, स्वारसिक प्रीति होती है, वैसे ही, प्रत्येक पुमान् में, जीवमात्र में भगवत्-स्वरूप में अनन्य अनुराग स्वारसिक प्रीति होने पर ही भगवत्-स्वरूप-प्राप्ति संभव है। इसी हेतु से कहा जाता है कि गोपाङ्गना-भाव से ही भगवत्-प्राप्ति होती है। भगवत्-स्वरूप की मोहकता का वर्णन करते हैं—

'यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥'
(श्री० भा० ३/२/१२)

अपने योगमाया-बल को प्रकट करते हुए भगवान् ने मर्त्यलीलोपयोगी ऐसे दिव्य शरीर को धारण किया **'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'** जो स्वयं सर्वज्ञ की सर्वज्ञता को ही चुनौती देता प्रतीत होता था; जो सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, ऐश्वर्य, धैर्य एवं वैराग्य के अधिष्ठाता को भी मोहित कर रहा था। आपके इस **'प्रहसिताननं' 'बृहदुरः श्रियो धाम'** स्वरूप एवं **'रहसि संविदं'** से मनोरम संकेत-बोधक वचन आविर्भूत होते हैं; **'तद् वीक्ष्य तेऽपि मुहुरतिस्पृहा जायते'** ऐसे स्व-स्वरूप को देखकर स्वयं आपमें भी उसके संस्पर्श हेतु मुहुर्मुहुः अत्यंत स्पृहा उद्बुद्ध होती है। फलतः **'मुह्यते मनः'** स्वयं आपका मन भी बारम्बार मूर्च्छित हो जाता है। अपने मणिमय प्रांगण में अथवा दर्पण में अपनी मुख-छवि का प्रतिबिम्ब देखकर अपने श्रीअंग की दिव्य आभा, प्रभा एवं कान्ति का अवलोकन कर, अपने अनंत माधुर्य-सौन्दर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधा-जल-निधि का अनुभव कर उसके सम्मिलन हेतु व्याकुल हो आप अपने ही अँगूठे को चूसने लगते हैं; योगीन्द्र मुनीन्द्र अमलात्मा परमहंस भी जिन चरणों के ध्यान में निरन्तर रत हैं उन चरणों के असाधारण रस का आस्वादन करने हेतु ही आपने अपने पैर के अँगूठे को अपने मुँह में ले लिया। एकमात्र नित्य निकुञ्जेश्वरी राधारानी ही आपके इस विशिष्ट स्वरूप का सम्यक् अनुभव कर सकती हैं।

श्री गोपाङ्गनाओं के श्रीअंगों में तत् तत् विशिष्ट स्थानों को आश्रय बनाकर उनके कांचनमय कामदानि दिव्य श्रीविग्रह रूप का आश्रयण कर कंदर्प ने श्रीकृष्ण से युद्ध ठाना; श्रीकृष्ण को वहाँ विजय हेतु उपस्थित देखकर उस दुर्धर्ष वीर में भी स्वभावतः उत्कर्ष-भाव जाग्रत हो उठा।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर ! युद्ध-रत हो आप दोनों वीर तो अपने-अपने बल को आजमा रहे हैं परन्तु मारी जा रही हैं हम अबलाएँ। विजय हेतु आपके उस हृच्छयोदय को देखकर कंदर्प **'मुहुरतिस्पृह'** भी बारम्बार अत्यंत उत्कट उत्कंठा से उद्वेलित हो उठता है।

'प्रेम-वीक्षणं प्रेम च वीक्षणं च' हे मदनमोहन ! आप शुष्क अथवा नीरस नहीं हैं—

'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवितं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥'

(प्रबोधानन्दसरस्वती)

गोपाङ्गनाजनों का पुञ्जीभूत प्रेम ही भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दकन्दरूप में प्रस्फुटित हुआ; भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधारानी के सिवा अन्य कोई प्रेम की रीति को जान भी नहीं पाते ।

ब्रज में प्रसिद्ध है—

'प्रीत की रीति रँगीलो ही जाने ।
कै जानत वृषभानु लाड़ली कै जानत यह कान्हों कारो ।'

अपने प्रभु की इस प्रेममयता का अनुभव कर भक्त भी अनायास ही प्रभु-चरणों में अत्यन्त समर्पित हो जाता है ।

'उमा राम स्वभाव जेहि जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना'

'वीक्षणं विविधं ईक्षणं' विविध प्रकार का ईक्षण, विविध प्रकार का कटाक्ष-युक्त अनुरागभरी दृष्टि से निहारना ही विविधं ईक्षणं है । किसी-किसी वीक्षण के प्रभाव से प्रेम होने पर भी विदा होने लगता है **'सहजहुँ चितवत मनहु रिसाते ।'** मर्मज्ञ-जन मुखाकृति देखकर, नेत्र-वीक्षण देखकर हृदयगत भावों का सहज ही अनुभव कर लेते हैं । भगवान् सर्वद्रष्टा हैं : सर्वद्रष्टा का वीक्षण भी स्वभावतः सर्वविषयक ही होता है : तदपि भक्त के प्रति प्रेमयुक्त चितवन से निहारना ही इस वीक्षण की विशेषता है । इस वीक्षण को देखकर ही हमारा मन भी मोहित हो जाता है ।

अथवा **'प्रेम्णा विशिष्टे ईक्षणे नेत्रे यस्मिन्'** प्रेम से विशिष्ट हैं ईक्षण जिसके ।

'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोहम् ॥'

(श्रीमद्भाग० १०/२१/७)

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं–हे सखि ! अपने समवयस्क गोप-बालकों के संग पशुओं को गोष्ठ में प्रवेश कराते हुए दोनों नंद-कुमारों के अनुरक्त कटाक्ष-मोक्ष-मण्डित वंशी-विभूषित मुखारविन्द-सुधा का अपने नेत्ररूप पान-पात्रों द्वारा पान करना ही नेत्रवानों के नेत्रों का फल है । हे सखी ! इस प्रेम-वीक्षण को देखना ही नेत्रवानों के नेत्रों की सफलता है ।

भक्त कवि सूरदास के कुएँ में गिरने की कथा प्रसिद्ध है। नेत्रहीन होने के कारण सूरदास किसी अन्धकूप में गिर गये; भक्त की पुकार पर भगवान् भी उस अन्धकूप पर दौड़कर पहुँचे। भगवान् की मंगलमय भुजाओं के सहारे उस अन्धकूप से सूरदास बाहर आये। प्रभु के मंगलमय हस्तारविन्द का अलौकिक दिव्य संस्पर्श पाकर प्रभु के अंग-प्रत्यंग की आभा, प्रभा, शोभा, कांति, उनके दामिनीद्युतिविनन्दक पीताम्बर एवं नखमणिचन्द्रिका के दर्शन की उत्कट लालसा भक्त-हृदय में उद्‌बुद्ध हुई; सूरदास खिन्न हो उठे 'हा, हतभाग्य मेरा, प्रभु स्वयं पधारे हैं परन्तु मैं उनके दर्शन नहीं कर पाता।' भगवान् ने भक्त पर अनुग्रह किया : भक्त के नेत्र खुल गये; प्रभु के श्रीअंग की अगणित कंदर्प-दर्प-पटीयान्, अद्‌भुत माधुरी का स्पष्टतः अनुभव कर सूरदास का रोम-रोम ब्रह्मानन्दपरिपूर्ण हो गया। वे कृतकृत्य हो गए। भगवान् ने भक्त को दृष्टि-दान देना चाहा परन्तु भक्त कहता है—

'जिन नैनन्हि ते इन रूप लख्यो, उन नैनन ते अब देखिहैं काहू।'

हे प्रभु ! जिन नेत्रों से मैंने आपके मंगलमय मुखचन्द्र के अद्वितीय सौन्दर्य-माधुर्य, सारसर्वस्व का दर्शन कर लिया उनसे अब और क्या देखना है ? हे भगवन् ! किसी प्रकार का भी लौकिक प्रकाश अब इन नेत्रों को स्पर्श न कर सके। मान्य है कि भक्त की यह इच्छा भी पूरी हुई; सूरदास के नेत्र पूर्ववत् लौकिक ज्योति-विहीन हो गए; भगवान् अन्तर्धान हो गए; भक्त ने चुनौती दी,

हाथ छुड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हृदय माँझ ते जाऊगे तब मरद बदोंगो तोहि॥

अथवा

'हस्तमक्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्‌भुतम्।
हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते॥'

अर्थात्, हे प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् हैं, मैं निर्बल हूँ। अतः आप मेरा हाथ छुड़ाकर तो जा रहे हैं—इसमें कौन विशेषता है ? जब आप मेरे हृदय से निकल जायँ तभी मैं आपके पौरुष को, सर्वज्ञता, सर्व-शक्तिमत्ता को मानूंगा। प्रेम-रस में डूबा भक्त ही भगवान् को ऐसी चुनौती दे सकता है।

भक्तों के प्रति भगवान् के कृपा-कटाक्ष पर कवियों ने अत्यन्त भावमयी अनेकानेक उक्तियाँ की हैं। भगवान् के नेत्रों में बड़ी विशेषता है; उनका कृपा-कटाक्ष ही भक्त के प्रति अशेष अनुकम्पा अथवा मोक्ष है। आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, आत्माराम, अमलात्मा, परमहंस योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी इस कृपा-

कटाक्ष की, अपांग मोक्ष की सतत कामना करते रहते हैं, सदा-सर्वदा बाट जोहते रहते हैं।

प्रहसिताननं, प्रहसितेन आसमन्तात् न याच्ञा अस्वीकारो न यस्मिन् न निषेधोऽस्ति

आपका यह लोकोत्तर प्रहास ही **'शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्'** भक्तों के शोकाश्रु-सागर को विशोषित कर लेनेवाला है। आपका यह लोकोत्तर प्रहास ही ऐसा अद्भुत है कि मानिनी भी आपकी याच्ञा को अस्वीकार नहीं कर सकती। इन मानिनियों का व्यवहार, सदा ही बाह्यतः विपरीत ही होता है। वे कह रही हैं–'हे श्यामसुन्दर! आपके इस 'प्रहसिताननं' लोकोत्तर प्रहास-युक्त आनन के दर्शन से हम मानवती होते हुए भी आपकी अभ्यर्थना को अस्वीकार करने में असमर्थ हैं।' तात्पर्य कि भगवत्-स्वरूप के लोकोत्तर महत्त्व का अनुभव करनेवाले, अनन्य भावयुक्त, परम-नैष्ठिक कर्म में प्रतिष्ठित जन भी श्रीकृष्णचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य से मोहित हो जाते हैं; यही सर्वत्यागपूर्वक अखण्ड ब्रह्म-निष्ठा है। **'बृहदुरः श्रियो'** बृहत् अर्थात् ब्रह्मन्।

'बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।'
(श्री० भा० १०/८७/१५)

जो अनन्तानन्त कल्याण गुण-गण के आस्पद हैं अथवा **'उदारत्वेन बृहदुरः'** विशिष्ट उदारता के कारण जो 'बृहदुरम्' हैं; भक्तों को स्वालिंगन-दान देकर भगवान् ब्रह्मानन्द-सुख का समर्थन करते हैं इसलिए उदार-हृदय हैं। भगवान् की इस उदारता का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

भगवान् श्रीराम कह रहे हैं—

'प्रति उपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।
सुनु सुत तोहि उऋण मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं॥'
(मानस, सुन्दर० ३१/६७)

'एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥'
(वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड ४०/२३)

भगवान् राम कह रहे हैं, 'हे हनुमन्तलाल! यदि मैं तुम्हारे एक-एक उपकार के बदले अपने प्राणों को भी न्योछावर करूँ तो भी तुम्हारे से उऋण नहीं हो सकता।'

'मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥'

(वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड ४०/२४)

साधारणतः तो प्रत्येक ऋणी यही कामना करता है कि उसके ऋण का शोधन हो जाय, परन्तु मैं एक ऐसा ऋणी हूँ जो अपने ऋण-शोधन की भी इच्छा नहीं कर सकता क्योंकि विपद्-कालीन अवस्था में ही प्राणी प्रत्युपकार का पात्र होता है। अतः न तुम विपत्ति में पड़ो, न हम तुम्हारा प्रत्युपकार कर उऋण हों इत्यादि कहते हुए भक्त-वत्सल प्रभु ने अपने भक्त को स्वालिंगनजन्य ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कराया।

'एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः ॥'

(वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड १/१३)

यह सर्वस्वभूत परिष्वंग है जो मैं तुमको प्रदान कर रहा हूँ। यह कहकर भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र ने अपनी विशाल भुजाओं से मारुति को उठाकर अपने उरःस्थल से लगा लिया। वेद-वेदांगों में भी ब्रह्म-संस्पर्श को ही सर्वस्वभूत माना गया है; ब्रह्मानन्द-रसास्वादन ही परम पुरुषार्थ है।

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥'

(श्री० भ० गी० ५/२१)

अर्थात्, बाह्य-स्पर्शों से विरक्त आत्मा को ही ब्रह्म-सुख, आत्मानन्द की अनुभूति होती है। एतावता गोपाङ्गनाएँ भी भक्तों को स्वालिंगन-दान कर ब्रह्मानन्द-सुधा-समुद्र को अर्पण करनेवाले इस परम उदार 'बृहदुरः' के आश्लेष की, परिष्वंग की सतत कामना करती हैं।

अथवा **'बृदुदुरः बृहत् उन्नतम् उरः'** हम गोपाङ्गनाओं के आलिंगन हेतु जो उत्सुक है, उन्नत है उस बृहत् उरःस्थल को देखकर ही हमारे मन में भी आलिंगन की अत्यन्त तीव्र उत्कंठा उद्वेलित हो जाती है। आपका यह **'बृहदुरः श्रियो धाम' 'श्रियाः शोभाया'** उरःस्थल जैसा उदार, दान-शील, उन्नत एवं अनन्तानन्त कल्याण-गुण-गणों का आस्पद है, वैसे ही, श्री का, अनिंद्य शोभा का, स्वयं शोभा की अधिष्ठात्री देवी भगवती महालक्ष्मी का आवास-स्थान है। चंचला महालक्ष्मी भी अत्यन्त सानुरागिणी हो पीत-रेखास्वरूप में आपके वक्षःस्थल पर अचला हो गई हैं। यह **'बृहदुरः रूप वेश भृङ्गारादिकं'** विविध

प्रकार के रूप, वेश, लीला आदिकों की अशेष श्री का, शोभा, आभा, प्रभा, कांति का धाम है। आपके अनुपम, अतुलित, अद्वितीय, विशाल उरःस्थल **'बृहदुरः श्रियो धाम'** के दर्शन से हमारे मन में भी **'मुहुरतिस्पृहा'** अव्यक्त, उत्कट स्पृहा उदित होती है; इस अत्यन्त उत्कट उत्कंठा के कारण ही **'मुह्यति'** हम बार-बार मोह को, मूर्च्छा को प्राप्त हो जाती हैं।

'रहसि संविदं त्वां वीक्ष्य रहसि निर्जने एकान्ते संविदं स्वान्तर्भावावेदक-वचनस्ताम्'

एकान्त निर्जन यमुना-पुलिनादि स्थानों में स्वान्तर्भाव के सम्यक् वेदन करने-वाले आपके वचनों को **'वीक्ष्य'** विचार कर ही हम **'मुह्यति'** मोह को प्राप्त हुई हैं। इस समय तो आप परम निरपेक्ष हो तिरोहित हो रहे हैं लेकिन यमुना-पुलि-नादि एकान्त निर्जन में आपही ने सम्वेदना एवं अनुरागपूर्ण वचन कहे थे। आपके ये वचन कितने मधुर थे। आपकी इन अभिव्यंजनाओं के स्मरण से ही हमारा भावसागर अत्यन्त उद्वेलित हो उठता है।

'रहसि संविदं हृच्छयोदयं भगवतं त्वाम् पुनः ईदृशं हृच्छयोदयं।'

'हृच्छयस्य उदयं यस्मिन् तं' हृच्छय का उदय हुआ है—जिसमें; जिसके हृदय में अपनी प्रेयसी गोपाङ्गना-जनों के प्रति उत्कट अनुराग है उसके हृदय में उनके प्रति हृच्छय का भी उदय हुआ होगा. आपके कपोल, पुलकावली एवं अधर-स्फुरणादि से आपके मनोगत भावों को जानकर ही हममें भी हृच्छय उदित हुआ।

'हृदि शयानस्यापि—लीनस्यापि मनोजस्य उदयो अस्मासु यस्मात्।'

हमारे हृदय में जो काम प्रसुप्त था, लीनप्राय था उसका भी उदय हुआ। साधक योगीन्द्र, मुनीन्द्र, भगवत्-भक्तों के हृदय में काम का उदय भी नहीं होता;

> **'ममता तरुन तिमिर अँधिआरी, राग द्वेष उलूक सुखकारी।**
> **तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥'**
> (मानस, ५/४६/३, ४)

जब तक हृदय में प्रभु-प्रतापरूपी सूर्य का उदय नहीं होता तब तक ही मोह-ममता, अविद्यारूप अन्धकारमयी तमिस्रा रात्रि रहती है; यह तमिस्रा रात्रि राग-द्वेषरूप उलूकादिकों के लिए सुखकारी है। काकभुसुण्डीजी कहते हैं—

'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायावस परिछिन्न जड़, जीव कि ईश समान॥'

(मानस, ७।१११ ख)

द्वैत बुद्धि के बिना क्रोध नहीं होता और अज्ञान के बिना द्वैत बुद्धि नहीं होती। परमज्ञानी सनकादि महर्षियों में भी प्रभु-प्रेरणा से प्रभु-लीला हेतु ही क्रोध उत्पन्न हुआ। कथा है, सनकादि महर्षि भगवान् श्री विष्णु के दर्शन हेतु वैकुण्ठ-धाम पहुँचे, प्रभु-प्रेरित द्वारपालों ने उन महर्षि-जनों को प्रवेश करने से रोक दिया; क्रुद्ध महर्षियों ने उनको श्राप दिया–'तुम भगवत्-विरोधी कुल में उत्पन्न होवो' तत्काल वे द्वारपाल वैकुण्ठधाम से पतित हो गये और हिरण्याक्ष आदि भयंकर राक्षसरूप में उत्पन्न हुए। भगवान् विष्णु एवं हिरण्याक्ष के बीच रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ; छल-बल से भगवान् ने राक्षस को आहत भी कर दिया तथापि '**नात्मानं जयिनं मेने**' भगवान् ने अपने को जयी नहीं माना। जैसे मृत्यु जीव का पीछा करती है, वैसे ही हिरण्यकशिपु ने भी भगवान् का पीछा किया। अन्ततोगत्वा भगवान् हिरण्यकशिपु के पेट में ही घुस गये, अब हिरण्यकशिपु भगवान् को खोजते-खोजते परेशान हो गया; अन्तःप्रविष्ट भगवान् को बहिर्मुख होकर पाना क्योंकर सम्भव है? दृष्टान्त है—दस मित्रों की एक मण्डली नदी पार कर दूसरे तीर पर पहुँची, अपने सब साथी सुरक्षित आ गए यह जानने के लिये उन लोगों ने साथियों को गिनना प्रारम्भ किया। प्रत्येक गणक साथी स्वयं अपने को न गिनकर केवल अन्य नौ साथियों को गिन ले, अतः एक साथी नदी में डूब गया ऐसा जानकर मित्र-मण्डली रुदन करने लगी। इतने में ही रास्ता चलते कोई मर्मज्ञ वहाँ पहुँचे और '**दशमस्त्वमसि**' तुम ही दशम हो बताकर उनको प्रबुद्ध कर दिया। '**दशमोऽस्ति**' दशम है इस परोक्ष ज्ञान को प्राप्त करने पर ही प्राणी का कल्याण होता है।

मूलप्रसंगानुसार अभिप्राय यह हैं कि जैसे भगवत्-प्रेरणा से ही सनकादिक महर्षियों को भी क्रोध उत्पन्न हुआ, वैसे ही भगवत्-प्रेरणा से ही कन्दर्प-दर्प-दमन जैसी भगवदीय लीला हेतु ही इन गोपाङ्गना उपलक्षित परम-निष्काम मुनिगण के हृदयों में हृच्छय, काम-विकार उदीयमान हुआ।

निर्बल, विजित, अथवा मरे हुए का दमन करना शौर्य का स्वरूप नहीं, शौर्य का प्रस्फुटन तो समान-बली शत्रु को पाकर ही होता है। असुर राहु भी अपूर्ण चन्द्रमा को नहीं ग्रसता, वह भी चन्द्र के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करता है। 'शंकर-कोपदग्ध' कन्दर्प-विजय में महत्ता का अनुभव न कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सुमधुर अधर-सुधारस को वेणु-छिद्रों में सन्निविष्ट कर वेणु-गीत-पीयूषरूप में गोपाङ्गनाओं के संस्कार-संस्कृत कर्ण-कुहरों द्वारा उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट

कर उनके अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य एवं लावण्ययुक्त देहरूप कांचनमय कामगामी दुर्ग के भीतर प्रसुप्त, विलीनप्राय कन्दर्प को उज्जीवित कर दिया; अतः शिव-कोपाग्नि अथवा व्रजकुमारियों की साधना से, योगाग्नि से दग्ध कन्दर्प भी पुनर्जीवित हो गया; तारुण्य प्राप्त होने पर युद्ध को उपयुक्तावस्था की प्राप्ति हुई। **'हृच्छयोदयं अस्माकं श्री व्रजसीमन्तिनीजनानां हृदि शयानस्य, लीनस्य, प्रसुप्तस्य उत्कृष्टः अभ्युदयः यस्मात् तत्'** व्रजसीमन्तिनी-जनों के हृदय में भगवत्-विषयक हृच्छय होने पर ही विश्वोद्धार हार-विहार-लीला सम्भव है ऐसी भगवत्-प्रेरणा हुई।

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥'

(श्री० भा० १०/३३/४०)

भगवान् की दुर्धर्ष कन्दर्प-दर्प-लीला का श्रवण-मनन से कामरूप हृद्रोग का तत्काल प्रशमन हो जाता है।

'हृच्छयस्य उदयः सौभाग्यं यस्मात्'

जिससे हृच्छय का भाग्योदय हुआ। अरे! हृच्छय। निन्द्य, अतिशय निन्द्य, योगीन्द्र, मुनीन्द्र जिसके नाम से दूर रहते हैं; काम-कला, काम-क्रीड़ा की कथा नाम से ही छींक आती है सत्पुरुषों को। छिः छिः छिः; तुच्छं, तुच्छं, तुच्छं; शांतं पापं, शांतं पापं; ऐसा जो **'सद् विरहे यस्यापि सौभाग्योदयो यस्मात्'** एवं सर्वत्याज्य, सर्वहेय, परम-निन्द्य काम भी जिसका आश्रय पाकर **'सदभिर्ज्ञेयत्व ध्येयत्वजाताः'** संतों द्वारा, महात्माओं द्वारा, भक्तों द्वारा ध्येय, गेय एवं परम स्तुत्य हो गया।

भगवान् श्रीकृष्ण का उत्तम श्लोक है 'चोरजार-शिरोमणिः।' गोपाल-मंत्र का ध्यान ही

'स्मरेद् वृन्दावने रम्ये मोहयन्तम-नारतम्' आदि है। गोपाल-मंत्र की महिमा, पूजा-अर्चन की विधि को बतानेवाला 'मंत्र-दीपिका' नामक एक अत्यंत सरस एवं गम्भीर ग्रंथ है। इस ग्रन्थ में गोपाङ्गनाओं के साथ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णस्वरूप के अनेक ध्यानों का उल्लेख है। एक भक्त कह उठता है--

'कथयति नवनीतचोरचतां ते
व्रजयुवतिजनेषु च जारतां जनो यः।
वितरसि निज रूपमीश तस्मै
स्वकृतधिया परिगोपनाय नूनम्॥'

अर्थात् हे श्यामसुन्दर ! हम आपके गुणगान करते-करते, प्रशम्ति करते-करते थक जाते हैं तथापि आप हमारी ओर आँख उठाकर नहीं देखते, किन्तु जो आपके नवनीत-चौर्य एवं व्रजयुवती-जन-जारता को गाने लगता है उसको आप तत्काल दर्शन देते हैं, मानों उसका मुँह बन्द करने के लिये ही उसको घूस दे रहे हों। तात्पर्य कि अन्य सम्पूर्ण साधनाओं में मन उतनी तीव्रता से आकृष्ट नहीं हो पाता, आकृष्ट हो जाने पर भी ऐसी सहजता से तन्मय नहीं हो पाता; किन्तु भगवान् की व्रजलीलाएँ जो माधुर्य-भाव-ओतप्रोत हैं, रस-ओतप्रोत हैं, मन को बरबस आकृष्ट कर लेती हैं; एक बार आकृष्ट हो जाने पर मन भी क्रमशः रस-सागर में निमग्न हो जाता है। तन्मयता ही भगवद्-दर्शन का एक-मात्र हेतु है।

दार्शनिक सिद्धान्त है कि वस्तु स्व-स्वरूप, स्वाश्रय तथा स्व-विषय से महिमायुक्त होती है। जैसे ध्यान, जपादि की महिमा स्वरूपतः है; चौर्य अथवा जारतास्वरूप से निन्द्य होते हुए भी स्वाश्रय श्रीकृष्ण की महिमा से महिमा-मंडित है। सामान्यतः काम तिरस्कृत होते हुए भी गोपाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण-विषयक काम सर्वपूजनीय हुआ।

'अविद्या तत कारणात्मकं प्रपञ्चं जरयति, अविद्या-ग्रन्थि जरयति, कोष-पञ्चकं जरयति, शरीरत्रयं जरयति, इति जारः॥'

जो जीर्ण कर दे, जला दे, वह जार। लौकिक जार पुण्य को, धर्म को जलाता है, साथ ही अविद्या-प्रपंच का विस्तार करता है; परन्तु जार-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण अन्नमयादि पंचकोषों को, स्थूल-सूक्ष्म, कारणत्रय शरीर को जलाकर, अविद्या-ग्रन्थि को जीर्ण कर, सम्पूर्ण लौकिक-राग का बाध कर भगवदाकारा-कारित वृत्ति उदित कर देते हैं। इस दृष्टि से भी भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से ही व्रजांगनाओं में श्रीकृष्णविषयक हृच्छय का उदय हुआ।

'रहसि संविदो' या **'हृदि स्पृहाः'** के उपर्युक्त जितने भी अर्थ किये गये वे सब बहुवचनव्यंजक थे। अब **'रहसि संविद'** एकवचनात्मक है अर्थात् एक ही अन्तर्भावव्यंजक है। आपकी वचन-रचना हम लोगों के हृदय को मोहित कर देती है। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, जो अनेक वचन-रचनाएँ विभिन्न अन्तर्भावों की अवद्योतिका हैं उनके द्वारा हमारे मन में व्यामोह का होना स्वाभाविक है। **'हृच्छयात् उदयः उत्कर्षो यस्य तं'** हृच्छय से अधिक उत्कर्ष है जिसका तात्पर्य कि आपके मंगलमय श्रीअंग का अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य, सौगन्ध्य हृच्छयादपि उत्कृष्ट है, अनन्त-कोटि-कन्दर्प-दर्प-दमनीय पटीयान्

हैं। **'प्रहसिताननं'** की अनेक व्याख्याओं के अन्तर्गत **'प्रहसितेन न याच्ञा अंगीकारो न न यस्मिन्; आसमन्तात्—आईषदपि न न यस्मिन्।'** आपका यह अद्भुत सौन्दर्ययुक्त प्रहसितानन स्वभाव से भी अत्यन्त सुन्दर है, जो मुख स्वभावतः याच्ञा का अनंगीकार करने में असमर्थ हो ऐसा उदार स्वभाव एवं सौन्दर्ययुक्त मुखचन्द्र ही आपका यह प्रहसिताननं है। याच्ञानंगीकार का अभाव भी अचिन्त्य अनन्त कल्याण-गुण-गण के आस्पद भगवान् का एक विशिष्ट गुण है। इतना ही नहीं,

'आ' ईषत् तथा 'समन्तात्' दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सर्वप्रकारेण, सांगोपांग याच्ञा की पूर्ति तथा याच्ञा से भी अधिक देने की प्रवृत्ति, यही भगवान् का वैशिष्ट्य है। उदाहरणतः, लंकेश-भ्राता विभीषण को बिना याच्ञा के ही लंकाधिपति बना दिया।

'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग मांहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥'

(मानस, सुन्दर० ४८/९, ११)

और वह भी अत्यन्त संकोच के साथ

'जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा विभिषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'

(वही, ४९ ख)

अनन्त ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री भगवती महालक्ष्मी ही जिनकी पाद-सेविका हैं, उनके लिये कौन दान अलम् हो सकता है? महतोतिमहत् दान भी उनके लिये तो तुच्छ ही है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे प्रभो! हम आपके इस प्रहसिताननं, प्रेम-वीक्षण एवं बृहदुरः श्रियो धाम का 'वीक्षण' कर, अनुभव कर, सर्वस्व का त्यागकर आपके श्रीचरणों की शरण आई हैं और आप अन्तर्धान होकर हमारे असह्य संताप की करुण कथा सुन रहे हैं, यह कहाँ तक उचित है? **'बृहदुरः उर स्थायी यस्य'** वेद-वेदान्तानुसार धर्म ही भगवान् का उरः-स्थल है; अतः आपके इस उरः-स्थल की प्राप्ति साक्षात् धर्म की ही प्राप्ति है। श्रियो धाम, आपका यह विशाल उरः-स्थल अनन्त ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी के अपूर्व शोभा, आभा, प्रभा एवं कान्ति से युक्त है, साथ ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्वर्ग की अधिष्ठात्री दिव्य महाशक्ति श्री का भी धाम है। ऐसे आपके स्वरूप को देखकर उसके संस्पर्श के लिये हम मोहित हो रही हैं और उसकी अप्राप्ति से व्यामोहविशेष के कारण बारम्बार मूर्च्छा को प्राप्त हो रही हैं।

भगवान् के उरःस्थल को 'श्रियो धाम' कहकर गोपाङ्गनाएँ अपने दैन्य को भी सूचित कर रही हैं। यद्यपि **'तद्वशो दारुयन्त्रवत्'** (श्री० भा० १०/११/७) अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड के ब्रह्मादिक शिरोमणियों को भी नाच नचानेवाली माया नदी भी जिसके भृकुटी-विलास पर नाचती रहती है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही गोपाङ्गनाओं के प्रेम-वशीभूत हो उनके हाथों में दारुयंत्रवत् क्रीड़ा करते हैं।

'सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहूँ,
जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड,
अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं
पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ,
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(रसखान)

भावविभोर गोपालियाँ अपने लिये श्रीकृष्ण भगवान् की प्राप्ति को दुर्लभ ही समझती हैं। यही प्रीति की रीति है। प्रेमी को स्वभावतः अपने प्रेमास्पद, अत्यन्त अनुराग के आस्पद की प्राप्ति दुर्लभ प्रतीत होती है। प्रेम-सागर की ऐसी अनेक भाव-लहरियाँ हैं। **'अनिष्टाशंकीनिहि सुहृदां चेतांसि'** प्रेमिल हृदय प्रेमास्पद के अनिष्ट की आशंका से भी व्यथित रहता है। नित्य-निकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी, राधारानी एवं भगवान् श्रीकृष्ण का अभेद्य सम्बन्ध है और व्रजसीमन्तिनीजन सत्य-स्वरूपा, स्वरूपभूता, परमांतरंगा हैं तदपि प्रेमातिशयता के कारण ही इनको भी दुर्लभता की प्रतीति होती है। भावावेश में वे कह उठती हैं,

'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।'

(श्रीमद्भा० १०/२१/११)

अर्थात्—ये मूक हरिणियाँ भी धन्य-धन्य हैं, अत्यन्त सौभाग्यवती हैं। जब व्रजेन्द्रनन्दन वृन्दावन को जाते हैं तो ये अपने कृष्णसार पतियों के साथ ही उनके दर्शन के लिये वहाँ आ जाती हैं; जैसे कोई भक्त-पुरुष अपनी पत्नी को तीर्थ कराता हो, अथवा देव-दर्शन-हेतु मन्दिर में ले जाता हो वैसे ही ये कृष्ण-सार मृग भी अपनी हरिणियों को संग ले कृष्ण-दर्शन-हेतु वृन्दावन चले जाते हैं। ये मृग कृष्ण-सार हैं। **'कृष्ण एव सारो येषां ते कृष्णसाराः।'** इन्होंने एकमात्र

भगवान् श्रीकृष्ण को ही सार समझा है। अतः अपनी हरिणियों को साथ लेकर कृष्ण-दर्शन-हेतु वृन्दावन आते हैं। किन्तु हमारे पति **'अभिमानसाराः'** हैं अतः स्वयं तो जाते ही नहीं, साथ ही हमें भी इस अभिमान में ही बाँध रखना चाहते हैं। एतावता, इन हरिणियों के भाग्योत्कर्ष की तुलना में हमारा भाग्य अत्यन्त हीन है।

प्रेम-विह्वला गोपाङ्गनाएँ अपने भावोद्रेक में घनश्याम के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करती तड़ित् को देखकर भी अपने भाग्य की न्यूनता की कल्पना करती हैं। नित्य-प्राप्त में भी दुर्लभता की, दैन्य की अनुभूति अतिशय प्रेम-विह्वलता की द्योतक है। वे कह रही हैं---हे श्याम-सुन्दर ! आपका विशाल वक्षःस्थल अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डगत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्वर्ग की अधिष्ठात्री दिव्य महाशक्ति श्री और साक्षात् धर्म का आवास-स्थान है अतः हम गोप-कुमारियों को इसमें दुर्लभता की प्रतीति होती है। फलतः हम **'मुहुरतिस्पृहा'** अप्राप्तिजन्य व्यामोह के कारण **'मुह्यते मनः'** बार-बार मूर्च्छा को प्राप्त होती हैं।

इस श्लोक का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है, मानो भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'हे व्रजांगनाओ ! अपने प्रति तुम्हारे इस अनन्य प्रेम, अनन्य समर्पण के कारण हम तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हैं। तुम लोग धैर्य धारण करो, यथा-समय हम तुमसे मिलेंगे।' प्रतिउत्तर में वे कह रही हैं–आप जो सर्वज्ञशिरोमणि हैं, आप स्वयं भी अपने सौन्दर्यातिशययुक्त प्रहसितानन से मुग्ध हो जाते हैं।

'रत्नस्थले जानुचरः कुमारः सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातु कामः तदलाभखेदान्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद ॥'

माता यशोदा के मणिमय प्रांगण में घुटनों के बल चलते हुए उस आँगन में एवं उसके स्तम्भ में जड़ी हुई मणियों में अपने ही मुखछवि के प्रतिबिम्ब को देख-कर, उसको प्राप्त कर हृदय से लगा लेने की इच्छा से अम्बा के मुख की ओर देखते हुए रो पड़े थे।

'यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥'
(श्री० भा० ३/२/१२)

अर्थात्, अघटित-घटना-पटीयान् स्वात्मवैभव का अद्भुत प्रताप भगवान् श्रीकृष्णस्वरूप में इस अपूर्व चमत्कृति से अभिव्यक्त हुआ कि स्वयं श्रीकृष्ण ही विस्मयापन्न हो गये। भगवत्-स्वरूप में एक और भी विलक्षणता है। सामान्यतः 'मोह न नारी नारी के रूपा।' कोई नारी अन्य नारी-सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाय

यह असाधारण स्थिति है। जनक-नन्दिनी जानकी की असाधारण सुन्दरता का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी, देखि रूप मोहे नर-नारी।'

महाभारत में भी द्रौपदी के अनुपम सौन्दर्य का ऐसा ही वर्णन मिलता है। द्रौपदी जब स्नान करने लगतीं तो उनके मनोहर लावण्य को देखकर उनकी सखियाँ भी मुग्ध हो जातीं। व्रजाङ्गनाएँ भी कह रही हैं, 'हे गोपाल! अपने इस अतुलित सौन्दर्य से मुग्ध हो, इस अधर-सुधा को प्राप्त करने हेतु आप स्वयं भी कठिन तपस्या कर रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राधारानी का सायुज्य प्राप्त करने की इच्छा करने लगते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि भगवती राधारानी से अन्य कोई इस अधर-सुधा को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। हे श्याम-सुन्दर! जब अपने प्रहसितानन, प्रेम-वीक्षण एवं रहसि-संविद् का अनुभव कर **'त्वय्यपि अतिस्पृहा'** स्वयं आपको ही उसमें अत्यन्त स्पृहा जाग्रत् हो जाती है **'मुहुर्मनः मुह्यते'** और आप स्वयं मूर्च्छा को प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में हम अनुरागिणी व्रज-वनिताओं को धैर्य धारण करने का आपका यह उपदेश निरर्थक है। एतावता, आप अविलम्ब प्रकट होकर दसवीं दशा को प्राप्त होने से हमारी रक्षा करें।'

अन्य कुछ व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'हे श्यामसुन्दर! आपके प्रहसितानन, प्रेमवीक्षण आदि को देखकर हमें अपस्माररूप रोग हो गया है। आपके दर्शन एवं श्रीअंग-संस्पर्श-सम्मिलन से ही इस अपस्मार-रोग की निवृत्ति सम्भव है अतः आप कृपा कर हमें अपना अपरोक्ष दर्शन दें।'

मानिनी गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे श्यामसुन्दर! हम जानती हैं कि हमसे परोक्ष रहकर आपकी मनःस्थिति कितनी कारुणिक हो जाती है। आपकी इस व्याकुलता को, आपके इस उत्कट अनुराग को देखकर हम यमुना-पुलिन आदि निर्जन एकान्त स्थानों पर मिलन-हेतु संकेत कर देती हैं। **'अस्मत्कृतं रहसि संविदम्'** हमारे किये हुए इस रहसि संकेतों को 'वीक्ष्य' देखकर, उन संकेतों का संस्मरण कर आपको अत्यन्त स्पृहा हो रही है; **'प्रहसिताननं'** अनन्त सौन्दर्य-माधुर्ययुक्तमुखचन्द्र, **'प्रेमवीक्षण'** सप्रेमावलोकन **'रहसि संविदं'**, एकान्त सम्मिलन-हेतु संकेत तथा **'बृहदुरः श्रियो धाम'**, मनीषी के मन में भी तीव्र स्पृहा उदित कर देनेवाले अनन्त शोभा के धाम हमारे उरःस्थल आदि को देखकर आपके मन में भी हृच्छयोदय होता है। तब भी हमको केवल दुःख देने के लिये ही परोक्ष रहकर आप स्वयं भी अत्यन्त दारुण दुःख को भोग रहे हैं; आपकी यह स्थिति हमारे लिये असह्य है, अतः आप प्रकट हो जावें।'

गोपाङ्गनाओं के ये भाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं; जीव भगवान् पर मोहित हो यह तो सामान्य धर्म है परन्तु भगवान् भक्त पर मोहित हो जायँ यह वैशिष्ट्य है, इतर सम्पूर्ण राग-विस्मरण-संयुक्त उत्कट, अनन्य अनुराग, अनन्य समर्पण ही इस असाधारण धर्म की भित्ति है। इस भाव में परिपक्वता आ जाने पर भगवान् ही भक्त का मान मनाते हैं। पूर्वश्लोकों में इस भाव की विशद व्याख्या की गई है।

पूर्वश्लोक का श्रुति-पक्षीय अर्थ करते हुए कहा गया था कि अन्यपूर्विका श्रुतियाँ ही अन्यपूर्विका गोपाङ्गनाओं से उपलक्षित हैं; इन अन्यपूर्विका श्रुतियों का इन्द्र, वरुण, कुबेरादि में अवान्तर तात्पर्य होते हुए भी महातात्पर्य एकमात्र परात्पर परब्रह्म में ही है। उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंग-विचार से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वेदानुमोदित सम्पूर्ण कर्मकाण्ड एवं उपासना का प्रसंगानुसार तत्-तत् विभिन्न देवताओं में भी तात्पर्य है, तथापि, अन्ततोगत्वा **'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'** (कठो० १/२/१५) सम्पूर्ण वेद एकमात्र ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं।

इस श्लोक में भी ये अन्य-पूर्विका श्रुतियाँ, अपने उपर्युक्त कथन का ही विश्लेषण करती हैं। श्रुतियाँ कह रही हैं 'रहसि संविदं' यद्यपि हम पारमार्थिक ब्रह्मभूत में ही पर्यवसित हैं तथापि प्रमाद-वश अन्यार्थ करते हैं।

प्रमाद ही सर्वानर्थ की जड़ है। महाराज धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए सनत्सुजात महर्षि कहते हैं **'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'** (म० भा० ५/४२/४) प्रमाद ही महत् मृत्यु है। मनु महाराज भी कहते हैं—

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥'

(मनुस्मृति ५/४)

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

'सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥'

(मानस, अयोध्या० १७२/४)

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥'

(श्रीमद्भा० ११/१७/४२)

ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र लौकिक सुखों के लिए नहीं बनाया गया; अत्यन्त कठिन तपस्या करते हुए परलोक में अनन्त सुख प्राप्त करने के हेतु ही ब्राह्मण-देह का निर्माण हुआ।

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥'

(मनुस्मृति ५/४)

अर्थात्, वेदों के अनभ्यास से, आचार-पालन न करने से, आलस्य से एवं अग्राह्य प्रतिग्रह आदि प्रमादों से ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है। 'अन्नदोषात्' प्रमाद होता है; अन्न से मन का निर्माण होता है।

'दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति ।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति दुष्कृतम् ॥'

(भविष्यपुराण, उत्तरपर्व १६९/३६)

मनुष्यों के पाप, दुष्कृत अन्न के आश्रय से ही स्थिर होते हैं। अर्थात् अन्न में ही टिकते हैं। एतावता, जो जिसका अन्न खाता है वह उसके दुष्कृत को भी ग्रहण करता है। इन्हीं प्रमादों के कारण मृत्यु ब्राह्मण को मारता है। जब ब्राह्मण को भी मारता है तो शेष का तो कहना ही क्या ? निर्णयपूर्वक श्रुतियों का अर्थ महातात्पर्य में निश्चित कर लेने पर भी प्रमादवश लौकिक कांचन-कामिनी-सुख वशीभूत होने पर परम-त्यागी विद्वान् में भी हृच्छयोदय होता है। वीतरागी प्राणी भी यदि सुन्दरीजनों के **'प्रहसितानन'**, **'प्रेम-वीक्षण'**, **'रहसि संविदं'** आदि विषयों का चिन्तन करता रहे तो अन्ततोगत्वा प्रमाद को प्राप्त होता है।

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥'

(श्री० भ० गी० २)

विषयों का ध्यान करने से, चिन्तन करने से, निश्चित ही, चिन्तक रागी हो जाता है। संग से, चिन्तन से काम उद्भूत होता है। काम में प्रतिघात होने से क्रोध जाग्रत् होता है; क्रोध उदित होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है, यह प्रमाद ही मृत्यु है।

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥'

(श्री० भ० गी० २/६७)

इन्द्रियाँ यदि विषयों में चरती हों तो चरने दो, परन्तु जब मन भी विषयों का सेवन करती हुई इन्द्रियों का अनुसरण करने लगता है तो अनर्थ अवश्यम्भावी

है क्योंकि **'यन्मनोऽनु विधीयते'** इन्द्रियों का अनुसरण करनेवाला मन तत्त्वा-तत्त्व, कर्तव्याकर्तव्य की अध्यवसायकारिणी निर्णयकारी प्रज्ञा को खींच लेता है।

जैसे, महासमुद्र में वायु नाव को खींच लेती है, वैसे ही, विषयानुगामिनो इन्द्रियों का अनुसरण करनेवाला मन निर्णयात्मिका प्रज्ञा को आकृष्ट कर लेता है। एतावता, इन्द्रियों को संयमित करना ही प्रथम कर्तव्य है। श्रुति कहती है **'अति स्पृहा मनो मुह्यति नः अस्माकं'** नाना प्रकार के तर्क-वितर्क से, वेद-वेदांगों के महातात्पर्य का निर्धारण कर लेने पर भी **'मनः अभिजयः'** मन मोह में पड़ जाता है। महाभारत में राजा नहुष की कथा प्रसिद्ध है। अजगर-योनि को छोड़कर पुनः मानव-रूप को प्राप्त होकर राजा नहुष ने युधिष्ठिर के प्रति महतोतिमहत् ज्ञान-विज्ञान का उपदेश किया; आश्चर्यचकित हो युधिष्ठिर ने राजा नहुष से प्रश्न किया, "हे महात्मन् ! यह ज्ञान-विज्ञान आपको इस समय सहसा प्राप्त हुआ है अथवा पहले भी था ?" राजा नहुष ने उत्तर दिया, "हे युधिष्ठिर ! मेरा यह ज्ञान पुराना है, किन्तु विषयों के संग के कारण प्रमाद हुआ। फलतः प्रज्ञा के प्रावृत्त हो जाने से ही अजगर जैसी नीच योनि को प्राप्त हुआ।" तात्पर्य यह कि श्रुतियों का उपदेश है कि प्राणीमात्र का कल्याण इसीमें है कि वे अपने को लौकिक विषयों से संयमित रखते हुए अपनी-अपनी इष्ट-भावनानुसार भगवत्-चरणों का आश्रय ग्रहण करें।

●

श्री हरिः

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ।।१८।।

अर्थात्, हे श्यामसुन्दर ! आपका यह प्राकट्य सम्पूर्ण व्रजवासी एवं वनवासी जनों के सब प्रकार के पापों का हनन करनेवाला है; साथ ही, विश्व का पूर्ण मंगल करनेवाला है। हमारा हृदय आपके सम्मिलन की लालसा से भरपूर है। हे मदनमोहन ! आप प्रकट होकर स्वजनों के हृदय-रोग को उपशमन करनेवाली औषध हमको दें।

सदा-सर्वदा सर्वव्याप्त परात्पर परब्रह्म प्रभु की प्रकट, अप्रकट एवं प्रकटाप्रकट ये तीन प्रकार की लीलाएँ होती हैं। अप्रकट लीला चक्षु-गोचर नहीं होती; प्रकट लीला का प्रत्यक्ष अनुभव देवता एवं मानवों को होता है। प्रकटाप्रकट वह लीला है, जिसमें प्रकट के साथ ही अप्रकट दिव्य तत्त्व भी अभिव्यक्त रहता है।

अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में परात्पर प्रभु विद्यमान हैं—

'देस काल दिसि बिदिसिहुँ माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।।'

(मानस, बाल० १८४/६)

इस अखण्ड, अनन्त, निर्विकार परमतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार सर्वसाधारण के लिए सम्भव नहीं; यदा-कदा ही सहस्रों-लक्षों में कोई एक ऐसा महापुरुष आविर्भूत होता है, जो इस दिव्य परमतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव कर पाता है।

यदा-कदा सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान, सर्व-व्यापी परात्पर प्रभु स्वयं ही अभिव्यक्ति लेते हैं; यह विशिष्ट अभिव्यक्ति ही अवतार है। अदृश्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य, अचिंत्य, अलक्षण, निर्विकार परब्रह्म भक्तानुग्रहार्थ अवतरित होकर दृष्ट, ग्राह्य, व्यपदेश्य, चिन्त्य, सगुण एवं साकार सच्चिदानन्दघन-स्वरूप में प्रकट हो जाता है।

'ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ।।'

(मानस, बाल० १९८)

व्यापक निरंजन निर्गुण विगत विनोद ब्रह्म भी भक्त-प्रेमवश मंगलमयी अम्बा कौशल्या के अंक में राघवेन्द्र रामचन्द्र और नन्दरानी यशोदा की मंगलमयी गोद में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचंद्र स्वरूप में प्रकट हो गया। जैसे एक ही स्वाती बिन्दु सीपी, सर्प, बाँस एवं गजकर्ण आदि विभिन्न अधिष्ठानों में मोती, विष, वंशलोचन एवं गजमुक्ता रूप से व्यक्त होता है वैसे ही, एक ही परात्पर परब्रह्म भी विभिन्न अधिष्ठानों में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में प्रकट होते हैं। अतः प्रकट लीला में धाम का भी विशेष महत्त्व है। एतावता, काशीपुरी, अयोध्यापुरी, श्रीमद्वृन्दावनधाम आदि विशिष्ट स्थानों का विशेष माहात्म्य है। इन विशिष्ट स्थानों में सर्वशक्तिमान् प्रभु का प्राकट्य विशेष रूप से होता है। जैसे नेत्र-गोलक में ही नेत्र-इन्द्रिय रहती है किन्तु वस्तुतः सूक्ष्म अतीन्द्रिय में ही उसका प्राकट्य होता है; फिर भी, सम्पूर्ण नेत्र-गोलक ही नेत्रेन्द्रिय कहलाता है; इसी तरह श्री वृन्दावन-धामरूप गोलक में भी सूक्ष्म नित्य वृन्दावन-तत्त्व सहज ही प्रकट हो जाता है अतः सम्पूर्ण धाम ही की विशिष्टता मान्य होती है। वेद-स्तुतियों में भी अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवत्-परायण अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रजनों ने भी विशेष महिमा-मण्डित पवित्र तीर्थ-स्थानों में निवास को उत्तम जानकर विभिन्न तीर्थों का सेवन किया है।

ऐसे ही एक काशी-निवासी महात्मा से हम भी परिचित हैं। यहाँ एक कोई दण्डी स्वामी थे। अनेक ग्रन्थ उनको कण्ठस्थ थे। लोगों ने उनसे प्रश्न किया, "महाराज! आप तो ज्ञानी हैं, स्वयं मुक्ति-स्वरूप हैं। आप जहाँ भी देह-त्याग करेंगे आपको मुक्ति प्राप्त होगी, फिर आपको काशीवास की स्पृहा क्यों है?" महात्मा ने हँसते हुए उत्तर दिया, "भैया! मल-मूत्र-त्याग के लिए भी उपयुक्त स्थान की खोज की जाती है, तो फिर जिस शरीर से हमारा इतना कल्याण हुआ, ज्ञान-विज्ञान की, भगवत्-पद की प्राप्ति हुई, उसे क्या हर कहीं ही त्याग देना समीचीन होगा? हम पर उपकार करनेवाले इस शरीर का भी पवित्र स्थान पर ही विसर्जन करना चाहिए, ऐसा विचार कर ही मैं काशी में रह रहा हूँ।" तात्पर्य कि जिस परमतत्त्व का प्राकट्य अन्यत्र कठिन प्रयास-सिद्ध है, वह तीर्थ-धामों में सहज-सुलभ है। जैसे सूर्यनारायण की किरणें सभी स्थानों पर प्रकीर्ण होती हैं, फिर भी स्फटिक-मणि, काँच आदि पर विशिष्ट रूप से प्रकट होती हैं, वैसे ही, सर्व-व्याप्त परात्पर प्रभु भी सूर्यकान्त-मणि-रूप विशिष्ट तीर्थ-स्थानों में अग्निरूपवत् स्पष्टतः भासित हो जाते हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे श्यामसुन्दर! मदन-मोहन! श्रीकृष्ण-स्वरूप

में आपकी जो यह अभिव्यक्ति है, प्राकट्य है, परम पवित्र दिव्य अवतार है, **'वृजिनहन्त्र्यलं' अलं अत्यर्थम् अतिशयेन वृजिनहन्त्री वृजिनस्य पापस्य हन्त्री।** वह सम्पूर्ण दोष, सम्पूर्ण पापों का हनन करनेवाला है। हे प्रिय ! आपकी यह अभिव्यक्ति **'व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते'** व्रज के खदिर, बकुल, कदम्ब एवं काम-वन आदिक विभिन्न वनों के सम्पूर्ण तरु, लता एवं गुल्म तथा पशु-पक्षी आदि प्राणीमात्र के ही सर्वप्रकार के दुःख-दारिद्र्य के वेदन का विधूनन करनेवाली है। हे प्रिय ! हम तो आपकी अत्यन्त प्रिय, परमांतरंगा सखीजन हैं; आप हमारे प्रेमास्पद, प्रेयान् हैं, हम आपकी प्रिय प्रेयसीजन हैं। हे प्रभो ! दीपक तले ही अँधेरा है; आपका यह प्राकट्य ही सर्वजन-शोक-विशोषक है। अन्तर्धान होकर आप हमारे असह्य संताप का कारण बन रहे हैं, क्या यह आपके योग्य है ?''

'व्रजन्तीति व्रजाः व्रजेषु वने च ओकांसि गृहाणि येषांते व्रजवनौकसः तेषां व्रजवनौकसां' व्रज में स्थिर होकर रहनेवाले स्थावर वृक्षादि तथा विश्वभर के स्थावर **'व्रजन्ति इति व्रजाः, जंगमाः'** जंगम, सम्पूर्ण जड़-चेतन मात्र के **'वृजिन'** दुःख-दारिद्र्य का आपके प्राकट्य से ही विधूनन हो जाता है। श्रीमद्भागवत में कथा है—आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के वैकुण्ठधाम पुनः पधार जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर एवं भगवान् के प्रिय सखा अर्जुन ने जगत् का जो रूप देखा वह सर्वथा भिन्न था; भगवान् श्रीकृष्ण के सन्निधान में जगत् का जो मंगलमय स्वरूप था, वह उनके विप्रयोग में सर्वथा विपरीत हो गया; जब तक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द पृथ्वीतल पर विराजमान थे तब तक कलि का राज्य-काल आ जाने पर भी वह पृथ्वीतल का स्पर्श नहीं कर सका। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के चरण-कमलों से पृथ्वी का विप्रयोग होते ही तत्काल ही कलि ने पृथ्वीतल पर आधिपत्य जमा लिया। सर्व-साधन-बाधक कलि के अमंगल स्वरूप को देखकर जड़-चेतन मात्र वृक्ष-लतादि, पशु-पक्षी आदि एवं संपूर्ण नर-नारी भयभीत हो गये। कलि के प्रवेश से विश्व को अपने रहने के अयोग्य समझकर युधिष्ठिर ने अपने भाई एवं द्रौपदी के संग तत्काल विश्व का त्याग कर दिया। तथ्य है कि भगवद्-भक्त महापुरुष के सन्निधान से भी देश-काल का वातावरण शुद्ध हो जाता है और असत् पुरुषों के सन्निधान से भी अशुद्ध हो जाता है; एतावता जिस देश-काल में स्वयं भगवान् का ही साक्षात्कार हो, प्राकट्य हो उसकी विशेषता तो स्वभाव-सिद्ध ही है।

परमात्मा श्रीकृष्ण के प्राकट्य से व्रजधाम अलौकिकत्व को प्राप्त हो रहा था; वहाँ की भूमि, जल, वायु, सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सबसे ही भगवत्-तत्त्व की

पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही थी। पृथ्वी की यह स्थिति भी अवतारकालीन मर्यादा है। भगवान राघवेन्द्र रामचन्द्र के चित्रकूट पधारने पर वहाँ की प्रकृति उद्वेलित हो उठी। तरु-लता-गुल्मादि भी ऋतु-काल की प्रतीक्षा न कर फूलने-फलने लगे।

'परसि राम पद पदुम परागा। मानत भूमि भूरि निज भागा॥'

(मानस, अयोध्या० ११२/८)

राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वरूप में ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त कर भूमि ने अपने भाग्य को सराहा। अरण्यादिकों में नाना प्रकार की रस-धाराएँ प्रवाहित हो चलीं। समुद्रों में नाना प्रकार के रत्न प्रस्फुटित होने लगे। सम्पूर्ण लोक ही वैकुण्ठ-धामवत् हो गया और श्रीराम-विप्रयोग में अयोध्या की नदियों का जल भी खौलने लगा—

'अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥४॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥५॥

(वाल्मीकि रामा० अयोध्या० ५९)

जितने फूल, पल्लव, अंकुरादि थे वे सब भी संतप्त हो उठे; जहाँ जड़ की ऐसी विपरीत स्थिति हो वहाँ चेतन प्राणी की कथा तो निश्चय ही अकथनीय है। एतावता **'व्रजवनौकसां'** भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव से व्रजधाम के सम्पूर्ण स्थावर-जंगम के **'वृजिन'** ताप-संतापों का शमन स्वभावतः ही हो गया।

आपकी यह अभिव्यक्ति विश्व-मंगल-हेतु है, एतावता अमांगल्य का दर्शन एवं श्रवण दोनों ही नहीं होता। मांगल्य का दर्शन एवं श्रवण दोनों ही बड़े पुण्य का फल है। स्वप्न में भी मांगल्य-दर्शन पुण्य का ही फल है। धन्य हैं वे जिनको स्वप्न में भी कभी कदाचित् राघवेन्द्र रामचन्द्र किंवा आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अथवा राजराजेश्वरी श्री ललिता पराम्बा किंवा भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ के दर्शन प्राप्त होते हैं। स्वप्न में भी अमंगल का दर्शन पाप का फल और मंगल-श्रवण, मंगल-दर्शन पुण्य का फल है। अतः वेदों में भी **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'** हे भगवन्! हम अपने कानों द्वारा सदा मंगल-श्रवण करें, आँखों द्वारा सदा भद्र-दर्शन करें, जैसी प्रार्थना की गई है। मानव-समाज एवं स्वजनों के प्रति स्नेह एवं सहानुभूति का अनुभव एवं व्यवहार भी भद्र-दर्शन एवं भद्र-श्रवण ही है।

आधुनिक युग में जब कि अनेकानेक वैज्ञानिक साधनों द्वारा दुनिया की दूरी बाह्यतः कम होती जा रही है, मानव-हृदय परस्पर वस्तुतः दूर होते जा

रहे हैं; साथ ही, सामाजिक एवं पारिवारिक संगठन व्यक्तिवाद में परिणत होते जा रहा है। फलतः मानव मात्र ही विशेष संतप्त है। एतावता सदा-सर्वदा भगवन्नाम-संकीर्तन करते रहना चाहिए। भगवन्नाम से बढ़कर अन्य कोई सदा-सर्वदा सर्व-मांगल्यमय नहीं हो सकता। व्रजवासियों की भी यही विशेषता रही है—

'तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥'

(श्रीमद्भा० १०/१४/३४)

जिनके पदाम्बुज-रज की श्रुतियाँ आज भी खोज रही हैं, ऐसे निखिल ब्रह्माण्डाधिपति मुकुन्द ही जिनके सर्वस्व हैं, ऐसे इन व्रजवासीजनों के पाद-पंकज-रज का संस्पर्श भी विशिष्ट भाग्य से ही प्राप्त होता है।

व्रजवासियों के चरण-रज-संस्पर्श की आकांक्षा से सत्यलोकाधिपति ब्रह्मा भी व्रजधाम में तरु-लता-गुल्मादि कुछ भी बन जाने की सतत कामना करते हैं। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! हम भी इस व्रज की ही वासिनी हैं परन्तु हमारे दुःखों का पारावार ही नहीं; हे प्रभु! कृपा करो। आप परम उदार हैं, **'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्। त्यज मनाक् च'** स्वजनों के हृद्रोग का निषूदन करनेवाली औषध का कार्पण्य-रहित त्याग करो। तात्पर्य कि कार्पण्य-रहित होकर दे दो। आपके विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप की प्रज्वलित ज्वाला से संतप्त हम गोपाङ्गनाओं के लिए त्रुटिमात्र काल भी युगवत् प्रतीत होता है और हम बारम्बार मूर्च्छा को प्राप्त होती हैं; क्षणमात्र के लिए भी आपके मुखचन्द्र के दर्शन से हमारे सन्तापों का शमन हो जायेगा, अतः आप जो स्वभावतः परम उदार हैं, हमारे लिए भी कार्पण्य-रहित होकर हमारे हृच्छयरूप हृद्रोग के निषूदन-हेतु मुखचन्द्र दर्शनरूप औषध प्रदान करें। अपनी भीषण ज्वालाओं से महासमुद्र को भस्म करनेवाली वड़वाग्नि भी आपके पाद-पंकज-निःसृत गंग-धारा के संस्पर्श से शीतल हो गई, अतः हे आनन्दकन्द! **'त्यज मनाक् च नः कार्पण्यं अकुर्वन्'** कार्पण्य न करते हुए आप अपने विप्रयोग से प्रज्वलित भीषण वड़वानल से हमारे हृदयरूप महासमुद्र की रक्षा-हेतु भगवती गंगा के उद्गम-स्थान, स्वयं अपने चरणारविन्दों को ही हमारे हृदय-स्थान पर धारण करें।

गोपाङ्गनाओं में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा किए गए प्रश्न का स्फुरण होता है; वे भावना करती हैं मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे व्रजाङ्गनाओ! यदि

तुम्हारे इस हृद्‌रोग का कोई अन्य उपचार हो तो बताओ क्योंकि तुम्हारी यह स्पृहा अमाननीय है।" वे उत्तर दे रही हैं, हे प्रभो! **'त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां त्वयि स्पृहा, त्वद्विषयिणी स्पृहा त्वत्स्पृहा अस्ति यस्य सः त्वत्स्पृहः आत्मा यासां तासाम्, अथवा त्वयि स्पृहायुक्तं आत्मा मनः यासां ता आत्मस्पृहा।'** अर्थात्, सर्वान्यकामना-शून्य हमारा मन, हमारा अन्तःकरण एकमात्र भगवद्‌विषयिणी स्पृहा से, आपके मुखचन्द्र-दर्शन की अभिलाषा से आपके पादारविन्द नखमणि-चन्द्रिका एवं हस्ताम्बुजों के संस्पर्श की आकांक्षा से संयुक्त है। अमलात्मा परमहंस महामति भगवत्-भक्त-शिरोमणि की वृत्तियाँ ही सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं से विनिर्मुक्त होकर एकमात्र भगवदाकाराकारित हो पाती हैं। ऐसे अनन्य भक्तों के हृद्‌रोग का एकमात्र उपचार भगवद्‌मुखारविन्द का दर्शन एवं हस्तारविन्द, चरणारविन्द का संस्पर्श प्राप्त करना ही है।

अन्य कुछ गोपाङ्गनाएँ भगवत्-अधर-सुधा-रस की अभिलाषा रखती हैं। शास्त्रानुसार आधिदैविक दृष्टि से भगवान् का उरः-स्थल ही धर्म, पीठ अधर्म एवं स्वयं अधर ही लोभ है। लोभ ही जिस कोष का अध्यक्ष हो, उस कोष से प्राप्ति की आशा ही दुर्लभ है। पूर्व-श्लोकों में विभिन्न प्रकार की अधर-सुधा एवं उसकी प्राप्ति के अधिकारी जनों से संबंधित विशद व्याख्या की जा चुकी है अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि विशिष्टातिविशिष्ट भक्त ही भगवत्-अधर-सुधा-रस के अधिकारी होते हैं। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, "हे श्यामसुन्दर! आप **'त्यज मनाक् च नः'** हमारे लिए थोड़ा-सा त्याग करें। दयावान् पुरुष अन्य का दुःख दूर करने हेतु अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ का भी त्याग कर देते हैं; आपको तो वस्तुतः कोई त्याग भी नहीं करना है क्योंकि केवल मात्र आपका प्राकट्य ही संपूर्ण सचराचर जगत् के सम्पूर्ण दुःख एवं विपत्तियों का निषूदन, समूल उन्मूलन करनेवाला है, साथ ही सम्पूर्ण विश्व के मांगल्य का कारक भी है। अतः आप हम आपकी प्रेयसीजन, स्वजन, व्रजांगनाओं को उनके हृत्ताप का उपशमन करनेवाली एकमात्र दुर्लभ औषध, अपने अधर-सुधा-रस का दान कार्पण्य-रहित होकर करें।"

'तव स्पृहा त्वत् कर्तृका या स्पृहा सा त्वत्स्पृहा स्वस्पृहा, त्वत् स्पृहां पूरयितुं आत्मानः यासां तासां त्वत्स्पृहात्मनाम्।' कुछ गोपाङ्गनाएँ **'तत्सुख-सुखित्व भाववती'** हैं, प्रियतम प्रेमास्पद के सुख में सुखी होना ही तत्-सुख-सुखित्व-भाव है। वे कह रही हैं, "हे श्यामसुन्दर! तुम्हारे हृदय में जो अस्मत्-विषयक स्पृहा है, जैसे रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी एवं उनकी परमांतरंगा सखीजनों के सम्मिलन की जो उत्कट उत्कण्ठा आपमें निरंतर

बनी रहती है, अथवा सती वृन्दा जैसे उच्चस्तरीय अन्यान्य भक्तों के सम्मिलन में आपकी जो स्पृहा सदा बनी रहती है, उसकी पूर्ति-हेतु ही हम सर्वस्व का अर्पण कर-कर भी, लोक-परलोक-विचार को तिलांजलि देकर भी, सदा ही व्याकुल रहती हैं; आपकी इस स्पृहा की पूर्ति-हेतु ही हम अपने उरःस्थल पर आपके कर-कमलों एवं चरणारविन्दों का विन्यास तथा अधर-सुधा-रस-दान की आकांक्षा करती हैं; आपकी स्पृहा-पूर्ति ही हमारे जीवन का लक्ष्य है।"

व्रजांगनाओं का असन, वसन, भूषण, सम्पूर्ण प्रसाधन श्रीकृष्ण-हेतु ही होता था; आत्माराम श्रीकृष्ण परमात्मा आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम होते हुए भी भक्त-भाव के परमाकांक्षी हैं। भक्त-शिरोमणि में ही भक्त-भाव के परमाकांक्षी भगवान् की स्पृहा-पूर्ति की कामना उद्‌बुद्ध होती है। इस दृष्टि से ही गोपाङ्गनाएँ भी अपने जीवन-सर्वस्व द्वारा भगवान् की कामना-पूर्ति की स्पृहा करती हैं; एवंभूता भगवद्-विषयिणी स्पृहा-हेतु ही प्रेम-विभोर व्रजाङ्गनाएँ भगवान् से अपनी भाव-पूर्ति की कामना, याञ्चा कर रही हैं। भगवत्-पद-प्राप्ति ही सर्वातिशायी निरतिशय श्रेय है। इस निःश्रेयस पद की प्राप्ति कराने के हेतु से ही श्यामसुन्दर ! आपका यह प्रादुर्भाव हुआ है। एतावता काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदि किसी भी भाव से आपका अनुसरण करने पर हमें भगवत्-पद-प्राप्ति होनी ही चाहिए।

'तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथंचिन्नेक्षते पृथक् ॥'
'यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥'

(श्रीमद्‌भा० ७/१/२५, २६)

श्रीकृष्ण के अत्यधिक भय से ही कंस का हृदय द्रवीभूत हो गया; इस द्रवीभूत हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र का सन्निवेश अनायासेन ही हो गया।

'स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन् वदन् वा विचरन् स्वपञ्श्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यस्-
तदेव रूपं दुरवापमाप ॥'

(श्रीमद्‌भा० १०/४४/३९)

तथा—

'आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥'

(श्रीमद्‌भाग० १०/२/२४)

उठना, सोना, खाना, घूमना आदि जीवन के यावत् क्रिया-कलाप करते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण के भय से भीत कंस को सदा-सर्वदा सर्वत्र अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में कृष्ण के ही दर्शन होने लगे; इतर सम्पूर्ण राग-विस्मरण ही अनन्य-भक्ति का चमत्कार है।

'इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्'

'व्रजन्ति इति व्रजाः जंगमाः, वने ओकांसि येषां ते वनौकसः स्थावराः'

हे अंग! आपकी यह व्यक्ति, अभिव्यक्ति, प्राकट्य संपूर्ण स्थावर-जंगम-मात्र के कल्याण-हेतु है, अतः वृन्दावनधाम के तरु-लता-गुल्मादि सब परम कल्याण के भागी हैं। 'वेणुगीत' के प्रसंग में उल्लेख है कि वृन्दावन के तरु-लतादि ही वेद हैं, वृक्षों की शाखाएँ ही वेदों की शाखा-उपशाखा हैं (लगभग ११३७), शाखाओं के पल्लव ही उपनिषद् हैं; इन उपनिषद्-रूप पल्लवों का रसास्वादन करनेवाले परमहंसगण ही वृन्दावन के अनेकानेक विहंग हैं—

'आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥'
'नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतम्
आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः॥'

(श्रीमद्भा० १०/२१/१४, १५)

वृन्दावन के ये विहंग भगवद्-स्वरूपोद्बोधक वाक्य-भिन्न अन्य वाक्य का उच्चारण भी नहीं करते; इनके सम्पूर्ण कथन भगवद्-विषयक ही हैं। वृन्दावन-धाम के विहंग भी **'सारासारविवेकनिपुणाः'** सारासार-विवेक-निपुण हंस हैं। अखण्ड, अनन्त, निर्विकार परब्रह्म में प्रतिष्ठित, मननशील मुनीन्द्र ही परमहंस हैं। वेदरूप द्रुम की विविध शाखाओं के सुन्दर, सुकोमल, नवल, रुचिर, आनन्ददायक पल्लवरूप श्रुतिशीर्ष उपनिषदों के सन्निधान में आरूढ हो, तत्-तत् वेद-शाखाओं का रसास्वादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-मुखचन्द्र-निर्गत-वेणुगीत-पीयूष का अपने कर्ण-कुहररूप पान-पात्रों द्वारा रसास्वादन कर आनन्दोद्रेक को प्राप्त हो रहे हैं; भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन हो रहे हैं अतः इस आनन्द के कारण भी उनकी आँखें झँपती नहीं। एतावता अपने कर्ण-कुहरों द्वारा वेणु-गीत-पीयूष का पान एवं आँखों द्वारा श्रीकृष्ण के मंगलमय मुखचंद्र में निरन्तर तन्मय वे वृन्दावन-धाम के देव एवं मुनिगण-रूप विहंग भगवद्-विषय के अतिरिक्त अन्य वाणी के उच्चारण में भी असमर्थ हैं। वृन्दावन-धाम के तरु-लतादि से निरन्तर झरती हुई मधु-धारा ही इन विहंगोपलक्षित परम-हंसजनों के आनन्दाश्रु हैं। इसी तरह वृन्दावन-धाम के सरोवरों में, सरिताओं

में विकसित कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी में रोमांचोद्गति की कल्पना की गई है।

'आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेः
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः।'

(श्रीमद्भा० १०/२१/१५)

मानों ये ह्रद-सरोवर एवं सरिताएँ अनुभव कर रही हैं कि हमारे जल से सींचे हुए बाँस की वंशी, हमारे वंश से उद्भूत वंशी आज उन्नति के उच्चतम शिखर को प्राप्त हो रही है। अपने वंश के इस लोकोत्तर अभ्युदय के अनुभव से वृन्दावन-धाम की सरसियों में अतिशय आनन्द का उद्रेक हुआ और इस आनन्दोद्रेक के कारण उनको रोमांच हो गया और वृक्षादिकों से आनन्दाश्रु झरने लगे। आनन्दाश्रु हृदय-द्रवण के पुष्ट प्रमाण हैं। द्रवता से भक्ति तुरंत अन्तःप्रविष्ट होती है। एतावता, वृन्दावन के तरु-लतादि भक्तिसंचारित करने की विशिष्ट शक्ति से संयुक्त हैं। ये तरु-लतादि भूमि-संस्पर्श के लिए समुद्यत हैं मानों भगवत्-पाद-पद्म-संस्पृष्ट भूमि के संस्पर्श की स्पृहा रखते हों। एकनाथजी कृत 'भाव रामायण' नामक एक ग्रन्थ है। इसमें तथा सती-खण्ड (शिव-पुराण) में भी यह प्रसंग आता है कि जनकनंदिनी जानकीजी के विरह-पीड़ित भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र वन में व्याकुल भाव से विचर रहे थे। इस दृश्य को देखकर भगवती सती को मोह हुआ अतः वे राघवेन्द्र रामचन्द्र की परीक्षा लेने गईं। वस्तुतः सती को मोह होना कदापि संभव नहीं; देवगण स्वभावतः ही परस्पर एक-दूसरे का उत्कर्ष स्थापित करने के हेतु विभिन्नभावेन अनेक लीलाएँ करते हैं। विष्णु का उत्कर्ष स्थापित करने के लिए शिव एवं शिव का उत्कर्ष स्थापित करने के लिए विष्णु स्वयं अपना अपकर्ष दिखाते हैं पर वस्तुतः ये दोनों ही परस्पर एक-दूसरे की आत्मा हैं, एक-दूसरे के स्तुत्य एवं वंद्य हैं।

'शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे।
शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः॥'

(स्कन्दोपनिषद् ८)

श्रीधरस्वामीकृत स्तुति है—

'माधवोमाधवोशौ च सर्वसिद्धिविधायिनौ।
वन्दे! परस्परात्मानौ परस्परनुतिप्रियौ॥'

माधव एवं उमाधव, हरि और हर दोनों परस्पर एक-दूसरे को नमस्कार करते हैं। विष्णु को प्रसन्न करने पर शिव एवं शिव को प्रसन्न करने पर विष्णु तत्तत् भक्तों के लिए सर्वस्व लुटा देने के लिए भी सदैव तत्पर रहते हैं।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि **'व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्'** हे अंग ! आपकी इस अभिव्यक्ति से इन सबकी जन्म-जन्मान्तर-व्याप्त क्लांति का निरसन हो गया। भगवत्-बिछोहजन्य ग्लानि, संताप ही क्लांति है। हे अंग ! आपकी इस अभिव्यक्ति से ही सम्पूर्ण व्रजवासियों के गो, गोवत्स एवं गोपालक सबके दुःख का उपशमन हो गया। जन्म-जन्मान्तर के पुंजीभूत पुण्य के कारण आप नन्द-गेहिनी यशोदारानी के पुत्र बन गये; ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-समूह का हरण कर लिये जाने पर आप स्वयं ही तत्-तत् गोवत्स-स्वरूप में प्रकट हो गए; उन गायों ने भी अपने पुत्ररूप में आपको सूँघ-चाट-कर दुलारा, गायों के बछड़ों के रूप में स्वयं आपने उनका दूध पीया; ग्वाल-बालों ने आपके साथ सख्य-भाव से अनेक क्रीड़ाएँ कीं, यहाँ तक कि आपने पराजित होकर श्रीदामा को, खेल की शर्त के अनुसार अपने कंधों पर चढ़ा लिया। एतावता संपूर्ण व्रजवासियों के जन्म-जन्मान्तरों के पुंजीभूत पाप-पुंज का विधूनन हो गया। फिर भी, हे श्यामसुन्दर ! हमारे ही दुर्भाग्य के कारण हमारे वृजिन का निरसन नहीं हुआ। सम्पूर्ण व्रजधाम के अमंगल का नाश एवं मंगल की प्राप्ति हुई और हम व्रजाङ्गनाओं के, आपकी परमान्तरंगा प्रेयसीजनों के वृजिन, अमंगल का निरसन नहीं हुआ। आपके अन्तर्धान होने के कारण हम तो आज भी वड़वानल की प्रज्वलित ज्वाला के दुःसहाग्निवत् विरहानल से दग्ध हो रही हैं, हे विश्वमंगल ! क्या यह आपके स्वरूप के अनुरूप है ?

वे अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, "हे सखीजनो ! आप स्वयं कह रही हैं कि **'व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं'** व्रजवन में रहने-वाले सबके वृजिन का निरसन हो गया। तुम भी तो व्रजवासियों के अन्तर्गत आ जाती हो अतः तुम्हारे भी वृजिन, अमंगल का निरसन भी स्वाभाविक ही है। उदाहरणतः, गोवर्द्धन-धारण कर, केशी, पूतना, बकासुर आदिकों का वध कर अथवा अनेकानेक अन्य विभिन्न प्रकार के उपद्रवों से सम्पूर्ण व्रजधाम की रक्षा करते हुए हमने तुम लोगों की भी बारम्बार रक्षा की है। अतः तुम्हारे वृजिन का निरसन नहीं हुआ यह वक्तव्य ही असंगत है। इन सबसे भिन्न की आकांक्षा तुम क्यों करती हो ?"

इसके प्रत्युत्तर में वे कहती हैं—**'त्वत्स्पृहात्मनां, त्वयि स्पृहावान् आत्मा यस्य यासां वा तासां त्वत्स्पृहात्मनां'** आपमें है जिसकी स्पृहा, एकमात्र आप ही हमारी स्पृहा हैं यही हम व्रजांगनाओं की विशेषता है। त्रुटिकालपर्यन्त आपका वियोग भी हमारे लिए अत्यन्त दुःसह होता है।

'गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥'

(श्री० भा० १०/१९/१६)

हे अंग ! रोग के अनुसार ही उपचार होता है । जिसका जैसा वृजिन है, वैसा ही निरसन भी उपयुक्त है । बाह्यतः संताप का निरसन बाह्य कर्म द्वारा सम्भव है, उदाहरणतः आपने गोवर्द्धन-धारण कर, केशी, पूतना, बकासुर का वध कर भीषण दुर्घटनाओं से सम्पूर्ण व्रज के साथ ही साथ निस्सन्देह हमारी भी रक्षा की, परन्तु आपका वियोग ही हमारा वृजिन है, आपको नित्य-प्राप्ति ही इस वृजिन का हनन है । अतः आपकी नित्य-प्राप्ति से अन्य किसी प्रकार भी हमारे अमंगल का उपशमन असम्भव है ।

'त्वयि स्पृहा आत्मा प्राणश्च यासां तासां त्वत्स्पृहात्मनां' अर्थात्, **'अन्तः-करणं अहमर्थः प्राणाः शुद्धात्मा च यासां'** जिसकी आत्मा, अन्तःकरण, अहमर्थ एवं प्राण सब एकमात्र आप ही में स्पृहालु हैं; जो स्वर्ग-अपवर्ग, लौकिक-ऐश्वर्यादि, पति-सुतमन्, भ्रातृ-बान्धवान् सबको तिलांजलि देकर एकमात्र आपमें अनुरक्त हैं; यही हमारी विशेषता है ।

हे अंग ! प्राण-वियोग ही भीषण दुःख है । जो आत्मा में अध्यस्त है वही प्राण है अतः प्राण के वियोग से प्राणीमात्र विकल हो जाता है, भीषण दयनीय दशा को प्राप्त हो जाता है । अस्तु, जिसको प्राणों का ही नहीं, अपितु आत्मा का भी वियोग हुआ हो उसके वृजिन की कथा की कल्पना भी सम्भव नहीं ।

'चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥'

(श्रीमद्भागवत १०/३०/९)

'धनहीनानामुपरि दया भवति' तथा **'सुखहीनानामुपरि कृपा भवति'** धनहीन पर दया और सुखहीन पर कृपा की जाती है परन्तु हुतात्मा के लिए तो कृष्ण-सम्मिलन ही एकमात्र उपचार है । **'केचित् पुत्ररहिताः, केचित् धनरहिताः, केचित् सुहृद्रहिताः, काश्चन पतिरहिताः, केचन प्राणादिरहिताः भवन्ति; वयन्तु आत्मरहिताः'** व्रजाङ्गनाएँ व्रजधाम के वृक्षों से कहती हैं, 'हे वृक्षो ! हम पुत्र-हीन, धनहीन, जनहीन, पतिहीन, प्राणहीन नहीं हैं, हम तो आत्महीन हैं । देखो, हम कितनी दयनीय स्थिति को प्राप्त हैं, हम पर दया कर हमारे श्यामसुन्दर, मदनमोहन का पता बता दो । श्रीकृष्ण व्रजेन्द्रनन्दन ही हमारे प्राणाधार हैं,

आत्मा हैं; उनसे वियुक्त होकर ही हम आत्महीन हो रही हैं। हम दयनीय अबलाओं पर दया करो, हमें श्रीकृष्ण व्रजेन्द्रनन्दन का पता बता दो।

दर्शनशास्त्रों में जीव-स्वरूप के अनेक विश्लेषण हैं; द्वैत, अद्वैत, विशिष्टा-द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सभी मतों के अनुसार बिंब भगवान् का ही प्रतिबिंब जीव है; जैसे बिंब एवं प्रतिबिंब के बीच में झीनी चादर का व्यवधान आ जाने पर प्रतिबिंब का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है, वैसे ही, बिंब भगवान् से विश्लिष्ट होकर प्रतिबिंब जीव का भी अस्तित्व संभव नहीं। अद्वैतवादानुसार जीव ही विष्णुसंज्ञक है। **'विष्णुर्विकल्पोज्झितः'** सर्वविकल्परहित जीव ही विष्णु है। वही परमात्म-स्वरूप को प्राप्त होता है।

'स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥'

(श्रीमद्भा० ११/१२/१७)

यहाँ जीव का अर्थ ईश्वर है; **'जीवयति इति जीवः परमेश्वरः'** (श्रीधरी)। जीवन जिसमें चलता है उसीका नाम जीव है; एतावता जीव का अस्तित्व तब तक ही सम्भव है, जब तक उसकी गति, स्थिति, प्रवृत्ति अन्तर्यामी के अधीन रहती है। जीव की स्थिति, गति, प्रवृत्ति सबका एकमात्र प्रयोजक अन्तर्यामी ही है।

'स उ प्राणस्य प्राणः' (के० १/२)

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (श्वे० ६/१३)

'हरिर्हि साक्षाद् भगवान् शरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।' (श्री० भा० ५/१८/१३)

वह जीव का भी जीव, प्राण का भी प्राण है।

'प्रान प्रान के जीव के जिय सुख के सुख राम।'

(मानस, अयोध्या० २९०)

'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥१५॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः॥१६॥'

(वा० रा० २/४४)

प्राण के वियोग से ही प्राणी शव हो जाता है किन्तु जो प्राणों का भी प्राण है उसके वियोग में प्राणी क्षणमात्र भी क्योंकर जीवित रह सकता है? जैसे बिंब ही प्रतिबिंब का आधार है, वैसे ही, सच्चिदानन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु जीव के

आधार हैं, तथापि इस वस्तु-स्थिति का अनुभव आवश्यक है। साधारणतः प्राणी इस सत्य-स्थिति से ही अपरिचित रहता है। आचार्यगण कहते हैं कि इस तथ्य को एक बार भी अनुभव कर लेने पर प्राणी अनिवार्यतः भगवत्-पादपद्मों का प्रेमी हो जाता है। स्वरूप से विस्मृत जीव अपने स्वरूप का पुनः परिचय पाकर, अपने संविद् का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर भगवद्-पद-पंकज में अनिवार्यतः अनुरक्त हो जाता है।

आभासवाद के अनुसार भी जैसे सूर्यादिकों के बिना सूर्य का आभास संभव नहीं, वैसे ही सच्चिदानन्दघन प्रभु से विश्लिष्ट जीव की स्थिति भी संभव नहीं। अवच्छेदवादानुसार महाकाश भगवान् का एवं घटाकाश जीव का स्वरूप है; महाकाश के बिना घटाकाश की स्थिति संभव नहीं।

आचार्य श्री रामानुजाचार्यजी महाराज द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत-मत के अनुसार नीलोत्पल की नीलिमा से अथवा रक्तोत्पल का रक्तिमा से जैसा अभेद सम्बन्ध है किंवा विशेषण-विशेष्य का जैसा संबंध है वैसे ही सच्चिदानन्द प्रभु एवं जीव का भी असाधारणतः अभेद संबंध है।

संबंध भी सहज एवं कृत्रिम के भेद से दो प्रकार के होते हैं। नील-कमल का नीलिमा के साथ अकृत्रिम सहज सम्बन्ध है। सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा यह अकृत्रिम सहज संबंध ही अपृथक्-सिद्धत्व-संबंध कहा जाता है। तात्पर्य कि भगवत्-सत्ता से पृथक् होकर जीव की सिद्धि ही नहीं होती। निम्बार्कादि मत-मतान्तरों के अनुसार भी सुवर्णभिन्न कुण्डल सम्भव नहीं; सुवर्ण के विज्ञान में ही कुण्डल का भी विज्ञान अन्तर्निहित है, अथवा कहें कि सुवर्ण-विज्ञान में ही कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा भी है। भेदाभेदमतानुसार जैसे कुण्डल सुवर्ण से भिन्न होते हुए भी सुवर्ण से अभिन्न ही है ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा से भिन्न होते हुए भी परमात्म-स्वरूप से अभिन्न है। इसमें भी दो मत हैं—स्वाभाविक भेदा-भेद तथा औपाधिक भेदाभेद। भट्ट भास्करादिक औपाधिक भेदाभेद एवं निम्बार्कादिक स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं। शुद्धाद्वैतवादानुसार जीव एवं परमात्मा का ऐसा सर्वथापि सम्बन्ध निर्धारित है कि भगवद्-वियुक्त होकर जीव क्षणमात्र के लिए भी अपनी सत्ता नहीं रख सकता। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवे-चन का निरूपण करती हुई गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि 'हे अंग ! जिनको पुत्र-पौत्रादि, ऐश्वर्यादि, स्वर्ग-अपवर्गादि विभिन्न पुरुषार्थों की आकांक्षा है उनके लिए तत्-तत् पुरुषार्थ की प्राप्ति ही मंगल है; उनके वृजिन का विधूनन है; किन्तु, हम तो **'नस्त्वत्स्पृहात्मनां'** आपसे अन्य किसीमें भी स्पृहा नहीं रखती हैं अतः जब तक आपके विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से हमारी रक्षा न हो तब तक

न हमारे वृजिन का निरसन ही सम्भव है और न हमें मंगल की प्राप्ति ही हो सकती है। हमारे लिए तो आपका विप्रयोग ही वृजिन पाप-कुञ्ज है और आपका आश्लेष, आपकी-प्राप्ति ही सर्व-मंगलस्वरूप है। हे अंग ! आपके आविर्भाव से संपूर्ण विश्व का मंगल हुआ परन्तु आपके अन्तर्धान हो जाने से हम आपकी परमांतरंगा शक्ति-स्वरूपा प्रेयसीजन आपके विप्रयोगजन्य संताप से अत्यन्त त्रस्त ही रहीं अतः हे प्रभो ! कृपा कर शीघ्र दर्शन दो, अपने प्राकट्य से हमारे भी वृजिन का निरसन करते हुए हमारे लिए भी निरतिशय मंगल-कारक बनो। **'त्वत्स्पृहात्मनां'** जैसे घटाकाश महाकाश में, प्रतिबिम्ब बिम्ब में, विशेषण विशेष्य में अर्पित हो जाता है, वैसे ही, हम जीवात्मा भी सर्वतोभावेन अपने-आपको आप परात्पर परब्रह्म प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप में अर्पित कर चुकी हैं।' श्रीमद्भगवद्गीता-वाक्य है—

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥'

(श्रीमद्भ० गीता १०/९)

अर्थात् अपने संकल्प-विकल्पात्मक चित्त को मुझमें ही अर्पित कर दो, अपने प्राणों को भी मुझमें ही अर्पित कर दो। इस प्रसंग में प्राण शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण इन्द्रियों का सूचक है। वेद एवं उपनिषदों में प्राण शब्द से वाकादि इन्द्रियाँ गृहीत होती हैं; वाकादि इन्द्रियाँ प्राण शब्द के व्यपदेश्य विषय हैं। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—'हे अंग ! अन्य सम्पूर्ण स्पृहा से विनिर्मुक्त हो हम अपनी आत्मा, अहमर्थ, अन्तःकरण, प्राण एवं इन्द्रिय सब कुछ आप ही में अर्पित कर चुकी हैं अतः अब आप हमें दर्शन देकर हमारे वृजिन का हनन एवं निरतिशय मंगल का उद्बोधन करें।'

व्रजाङ्गनाएँ पुनः अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उनसे जिज्ञासा कर रहे हैं—'अच्छा, सखियो ! बताओ, तुमको क्या दे दें ?' प्रतिउत्तर में वे कह रही हैं—**'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं, स्वजनानां गोपाङ्गनाजनानां'** हम स्वजनों के हृद्-रोग का शमन करनेवाली औषध दें।' **'ममैवांशो जीवलोके, जीवभूतस्सनातनः'** प्राणीमात्र भगवान् के अंश हैं; नगण्य किंवा अग्रगण्य, देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी, जलचर, सम्पूर्ण सचराचर, सम्पूर्ण जगत् ही भगवान् का अंश है तदपि **'स्वः असाधारणेन जनः स्वजनः व्रजाङ्गनाः'** हम व्रजाङ्गनाएँ आपकी असाधारण स्वजन हैं। भगवान् का अंश होते हुए भी प्राणी इस वस्तुस्थिति से अपरिचित ही रह जाता है—

'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥'

(मानस, उत्तर०, ४५/३)

भगवान् के प्रति–दास्यभाव एवं विश्व-प्रपंचों के प्रति आशालता, दोनों एक साथ नहीं फलते क्योंकि इन दोनों में मूलभूत विरोध है। एक बहुत पुरानी बात है; कोई वैरागी थे—रामदासजी। ये शहर के बाहर किसी बगीचे में रहते थे। वे कहा करते थे कि हम राघवेन्द्र रामचन्द्र के पुत्र हैं। शाहंशाह चक्रवर्ती नरेन्द्र के या अन्य किसी लौकिकपदाभिषिक्त व्यक्ति के पुत्र होकर भी लोग गौरव का अनुभव करते हैं; रामदासजी को गर्व था कि हम स्वयं राघवेन्द्र रामचन्द्र के पुत्र हैं। यह अभिमान भी स्पृहणीय है। ऐसे अभिमान से संयुक्त प्राणी स्वभावतः ही लौकिक उत्कर्ष-अपकर्ष-निरपेक्ष हो जाता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि 'हे अंग ! आपकी इस अभिव्यक्ति से व्रज-वासियों एवं वन-वासियों के वृजिन का निरसन हुआ एवं उनको मंगल की प्राप्ति हुई परन्तु हम आपकी असाधारण जन सखियाँ संतप्त ही हैं; एतावता हम विभिन्न भाववती अंगनाओं के तत्-तत् मनो-भावों की पूर्ति करें। हम अपरिगणित जनों में कोई सख्य-भाववती हैं तो कोई कान्त-भाववती हैं, कोई केवल पादारविन्द स्पर्श की, कोई हस्तारविन्द को उरः-स्थल में विन्यस्त करने की ही कामना करती हैं; अन्य कुछ ऐसी भी हैं जो केवल श्याम तेज संवलित गौर तेज एवं गौर तेज संवलित श्याम तेज के दर्शन की ही कामना करती हैं। इन अपरिगणित गोपाङ्गनाओं के विभिन्न भावों के निरूपण में ही दीर्घकाल व्यतीत हो जावेगा, आपके अदर्शन से हमारे प्राण प्रयाण करने-वाले हैं अतः हे अंग ! आप हमको स्वजन जानकर ही हमारे हृद्रोग की औषध प्रदान करें।' इस प्रकार के अनेकानेक अभीष्ट भी होते हैं जो विशेषतः रहस्या-त्मक एवं गोप्य होते हैं; उनका स्पष्टतः विवेचन अवांछित होता है। एतावता **'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं'** कहकर ही विभिन्नभाववती गोपाङ्गनाओं की विभिन्न आकांक्षाओं के प्रति संकेत कर दिया गया है।

'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं त्वत् मनाक् त्यज' वे कह रही हैं, हे स्वजन ! हम गोपाङ्गनाओं की अनेक प्रकार की वाछाएँ हैं तथापि अन्ततोगत्वा आपका सम्मिलन ही सबका मूल मन्त्र है। एक ही सच्चिदानन्द प्रभु को सख्य, मधुर, दास्य आदि विभिन्न भावों से भजते हुए भी प्रत्येक भक्त अंततोगत्वा भगव-दाश्लेष की ही कामना करता है। हे स्वजन ! भक्त की इस कामना, स्पृहा का निषूदन करनेवाली औषध, आपका सम्मिलन, आपका आश्लेष शीघ्र ही प्रदान करें। सच्चिदानन्दघन प्रभु के प्रति स्वजन संबोधन विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे यही लक्षित होता है कि सर्वसाधारण के अधीश्वर होते हुए भी भगवान् विभिन्न रूपों से भावुकों की ममता के आस्पद होते हैं। भगवद्-विषयिणी ममता एवं उसका अभिमान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गौरवयुक्त हैं।

'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'

(मानस, अरण्य० १०/२१) (सवीक्षण-स्तुति)

संपूर्ण लौकिक अभिमान हेय एवं त्याज्य हैं परन्तु 'रघुपति पति मोरे' अभिमान विशेष प्रयास-सिद्ध है। ध्यान-धारणा आदि कठिन प्रयासजन्य है। गीता-वाक्य है—**'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत्'** (श्री० भ० गी० ९/१८) एकमात्र भगवान् ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, आश्रय, रक्षक एवं स्वजन हैं तदपि इस अनन्य सम्बन्ध के प्रति प्राणी की वृत्ति नहीं होती; जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-पुंज के फलस्वरूप ही इस वृत्ति का उदय होता है। व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे स्वजन! स्वभावतः ही स्वजन परस्पर एक-दूसरे के दुःख से दुःखी होते हैं फलतः स्वजन की दुःख-निवृत्ति का प्रयास करते हैं, परन्तु आप ऐसे स्वजन हैं जो अपने स्वजनों के हृद्रोग के प्रति भी परम उदासीन हैं। **'स्वीयेषु जनः जनिः उत्पत्तिर्यस्यासौ स्वजनः'** स्वीय कुल में, हमारे अपने कुल, गोपकुल में आपका जन्म हुआ है इस नाते भी हम गोपालियों के हृद्रोग का उपचार करना, हमारी वेदना को दूर करना आपका परम कर्तव्य है।

'स्व आत्मा एव जनः स्वजनः' आप हमारी आत्मा हैं। **'स्व असाधारणः आत्मा एव** जनः **स्वजनः'** संसार के सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धी भी हमारी ही तरह जीव ही हैं; परन्तु आप आत्मस्वरूप जन, आत्मा हैं, किन्तु अपनी अघटित घटना पटीयसी मंगलमयी मायाशक्ति के योग से इस पृथक् रूप में प्रतिभासित हो रहे हैं।

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥'

(श्रीमद्भा० १०/१४/५५)

श्रीकृष्ण ही प्राणिमात्र के अन्तरात्मा हैं; सकल अन्तरात्मा परात्पर परब्रह्म ही अपनी दिव्य लीलाशक्ति के योग से देहवान् प्रतीत हो रहे हैं। एतावता आत्मा के वियोग से जो सन्ताप होता है वह अन्यथा सम्भव नहीं। वाल्मीकि रामायण में ऐसा ही वर्णन है—

'नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥'

(२/४८/५)

अर्थात् भगवान् श्री रामचन्द्र के वनवास होने पर तज्जन्य दुःख के कारण संतान-हीन को पुत्र होने पर, दरिद्रों को विपुल धन मिलने पर अथवा प्रोषित-भर्तृका विरहिणी को दीर्घ कालावधि के पश्चात् प्रियतम-सम्मिलन होने पर भी

आनन्द का अनुभव न हो सका। संतान-हीन को पुत्र-प्राप्ति अथवा प्रोषित-भर्तृका को प्रियतम-सम्मिलन-जन्य जो आनन्द होता है, वह अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। ऐसा उत्कृष्ट असाधारण आनन्द भी राम-वनवास के कारण हुए राम-वियोग-जन्य दुःख से इतना न्यून था कि उसका लेशमात्र भी अनुभव सम्भव नहीं हो सका। किसी सामान्य राजपुत्र के विरह से ऐसे भयंकर दुःख की कल्पना सम्भव नहीं है। इस संताप का एकमात्र कारण यही है कि भगवान् श्रीराम प्राण के प्राण, जीव के जीव, सुख के सुख हैं।

गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति 'स्वजन' का सम्बोधन कर रही हैं। सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान् निरस्व निरुपाधिक प्रभु-भक्त को एकमात्र अपने ही परम प्रेमास्पद के रूप में ध्येय, ज्ञेय, पूज्य एवं आराध्य अनुभूत होते हैं। अद्भुत महिमायुक्त हैं ऐसे अनुभव। रामायण के अन्तर्गत लक्ष्मण का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—'**नित्यं प्राणो बहिश्चरः**' (श्री० वा० रा० ३/३४/१४) लक्ष्मण राम के बहिश्चर प्राण हैं; दायीं भुजा, प्राण, प्राणों के प्राण, अंग, बहिश्चर प्राण आदि पद-व्यवहार असाधारण, अद्भुत उच्च प्रेममय निजी सम्बन्ध के सूचक होते हैं। इसी तरह '**आत्मा एव स्वजनः**' इत्यादि से उत्तरोत्तर भगवद्-स्वरूप की अभिव्यंजना होती है। भगवद्-विषयिणी ममता से जगत्-विषयिणी ममता की निवृत्ति हो जाती है। जागतिक ममत्व बन्धनकारक है, भगवद्-विषयक ममत्व मुक्तिदायक है।

'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा'

मैं प्रभु का हूँ, अथवा प्रभु मेरे हैं ऐसी भावना का बन जाना ही विशिष्ट साधना है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'बारेक कहिये कृपाल तुलसिदास मेरो।'

ऐसी भावना सहज ही सम्भव नहीं होती। इनके लिए विशेष प्रयास किया जाता है। भगवान् शंकराचार्य ने भी प्रयास किया। 'षट्पदी स्तोत्र' पद में श्रीमन्नारायण की स्तुति है—

'अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'

(षट्पदी १/२/३)

अर्थात्, हे नाथ ! अद्वैतवादानुसार आपमें और मुझमें कोई भेद नहीं है तदपि हम आपके हैं और आप हमारे हैं। जैसे तरंग एवं समुद्र अभिन्न हैं, समुद्ररहित तरंग के अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं, वैसे ही, हे नाथ ! हम भी आप भगवद्-स्वरूप समुद्र की तरंग हैं, हे प्रभो ! आप सर्वाधिष्ठान हैं, हम आपके हैं। जैसे समुद्र में अनेकानेक तरंगें उठती हैं, परस्पर मिलती हैं और पुनः बिखर जाती हैं, वैसे ही, जीव भी संस्कारवशात् बार-बार मिलता-बिछुड़ता रहता है; जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों से न जाने कितने संबंध बने और बनकर बिछुड़ गए; कितने बन्धु-बान्धव, कितने पति-पत्नी, कितने पुत्र-पौत्र, कितने सुहृद्-मित्रों का पुनः-पुनः संयोग-वियोग हुआ; समुद्र की तरंगों की तरह ही संसार-सागर की तरंगें भी एक क्षण के लिए परस्पर टकराती-मिलती हैं और पुनः लुप्त हो जाती हैं परन्तु समुद्र और तरंग का संबंध सदा अविच्छेद्य ही रहता है। समुद्र ही सम्पूर्ण तरंगों का एकमात्र अधिष्ठान है, इसी तरह जीवात्मा सदा ही सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान् परात्पर परमात्मा से अविच्छेद्यतः संबद्ध रहता है, प्रभु के साथ जीवात्मा का असाधारण संबंध सदा बना रहता है। एतावता कहते हैं—**'तवाहम्'** हे नाथ ! हम तुम्हारे हैं, इस महत्तम भावना में भी परिपक्वता एवं दृढ़ता आने पर भक्त अपने आराध्य को ही अपना कहने लगता है—**'ममैवासौ'** भगवान् मेरा है, मेरे बिना भगवान् रह नहीं सकते। करमाबाई की भावना थी, मेरा गोपाल मेरी खिचड़ी के बिना भूखा रह जायगा; भक्त की यह ममता ही भगवान् को भूखा बना देती है। अकथ कहानी है प्रेमोद्रेक की, ममत्व-भावोन्मेष की। इस सामान्य व्यवहार-भिन्न अद्भुत स्थिति में देह-गेह की सम्पूर्ण लौकिकता यहाँ तक कि प्रेमास्पद के पार्थक्य का भी विस्मरण हो जाता है। ऐसी ही विचित्र स्थिति में राधा-रानी कह उठती हैं—

'कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥'

(श्रीमद्भा० १०/३०/१९)

सखी ! देखो, मैं ही परात्पर परमात्मा श्रीकृष्ण हूँ। जयदेव अपने गीतगोविन्द में गा उठे—**'मधुरिपु रहमिति भावनशीला'** एकान्त में बैठी-बैठी राधारानी कृष्ण का चिन्तन करती-करती भूल गई संसार को, अपने-आपको; और कह उठी, मैं ही मधुरिपु हूँ, मैं ही मधुरिपु हूँ। सखि ! हमारी इस ललित गति को देखो तो ! ऐसी असाधारण अवस्थाएँ लाख साधनाओं से भी सम्भव नहीं; केवल मात्र प्रेमोद्रेक में ही 'कृष्णोऽहम्' की भावना प्राप्त की जा सकती है।

इसी दृष्टि से गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, हे नाथ ! आप हमारे स्वजन हैं, हमारे हृच्छयरूप हृद्रोग का निषूदन करनेवाली औषध को आप कार्पण्य-रहित होकर प्रदान करें। हे अंग ! इस औषध को **'त्यज मनाक् च नः'** किंचित् मात्रा में भी प्रदान कर दो। जैसे किसी महत् दुर्लभ वस्तु का याचक सकुचाते हुए 'किंचिन्मात्र' की याचना करता है, वैसे ही गोपाङ्गनाएँ भी श्रीकृष्ण-सम्मिलन को अत्यन्त दुर्लभ मानते हुए अत्यन्त दैन्य-भाव से भगवदाश्लेष की याचना करती हैं।

भगवद्-विषयिणी स्पृहा ही भक्ति है। जागतिक स्पृहा से जगत् की एवं भगवदीय स्पृहा से भगवान् की प्राप्ति होती है—**'मनो मोक्षे निवेशयेत्'** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जिस किसीमें मन को लगाया जाय उसकी प्राप्ति होती है; गोपाङ्गनाओं ने सर्व-कामना-विनिर्मुक्त होकर अपने मन को केवल श्रीकृष्ण में लगाया है। यह अहैतुक्य व्यवहृति ही निर्गुण भक्तियोग है।

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या' ॥३२॥

(श्रीमद्भा० ३/२५)

'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

(श्री० भा० ३/२९/१२)

शब्द-स्पर्शादि गुण ही लिंग है; लिंग ही जिनका ज्ञापक है ऐसे जो देव, चक्षु, श्रोत्र, त्वक् आदि ही **'द्योतनात्मकत्वात्'** शब्द, स्पर्श, रूप एवं गंध के ज्ञापक हैं; इन्द्रियों से ही गुण का बोध होता है अतः इन्द्रियाँ ही लिंग के ज्ञापक देवगण हैं।

'आनुश्रविकाणि कर्माणि येषां' आनुश्रविक, वर्णाश्रमानुसारी श्रौतस्मार्त धर्म-कर्म में संलग्न देव **'सत्त्वे सत्त्वोपाधौ विष्णौ'** सत्त्वोपाधि विष्णु में एक-निष्ठ हैं, तात्पर्य कि जिन लोगों ने अपने श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, वागादि सम्पूर्ण इन्द्रियों को लौकिक साध्य-साधनात्मक प्रपंच से हटाकर वैदिक धर्म-कर्म के अनुष्ठान में संलग्न कर दिया है उनकी आनुश्रविक गुण-लिंग देव विष्णु में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वही निर्गुण भक्तियोग है। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह निकला कि जो विभिन्न अभिप्राय से विभिन्न कर्मों में संलग्न होते हैं उनके लिए तत्-तत् फल-प्राप्ति ही अभीष्ट है, एतावता मंगल है परन्तु जिनका मन इन सबसे व्यावृत्त हो चुका है, थक चुका है, जिनकी अभिरुचि, प्रीति, अनुरक्ति एकमात्र भगवत्-विषयिणी है उनके लिए भगवद्-प्राप्ति ही एकमात्र अभीष्ट, एकमात्र मंगल है।

सूक्ष्मतः विचार करने पर निर्वाणादिक श्री भगवत्-स्वरूप ही सिद्ध होता है, क्योंकि **'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः'** (त० प्र० ४/८) अन्ततोगत्वा मोह-निवृत्ति किंवा अविद्या-निवृत्ति ही वेदान्त का फल है। मोह-निवृत्ति सती अथवा असती भी नहीं, सदसती भी नहीं। अविद्या-निवृत्ति को सती मान लेने पर अद्वैत ब्रह्म में सद्वितीयापत्ति हो जाती है और असती मान लेने पर ख-पुष्प किंवा वन्ध्या-पुत्र की तरह मिथ्या हो जाती है, फिर उसमें साध्यता नहीं बनती। एतावता तदर्थ प्रयास ही व्यर्थ सिद्ध होता है। अविद्या-निवृत्ति को सदसती मान लेने पर भी परस्पर विरोध हो जाता है; सदसती जैसी स्थिति असंभव है। जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता एवं जो असत् है वह सत् नहीं हो सकता।

यदि अविद्या-निवृत्ति, मोह-निवृत्ति को सदसद्विलक्षण कहें तो भी वह अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या ही सिद्ध होती है। **'तत्त्वान्यत्वाभ्यां वक्तुमनर्हा'** अविचारित रमणीया भाव-रूपा है, मिथ्या है, मिथ्या में पुरुषार्थ नहीं होता; अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह कि अविद्या-निवृत्ति सती अथवा असती भी नहीं, सदसद्विलक्षण भी नहीं किन्तु पंचम प्रकार है, कोटि-चतुष्टय-विनिर्मुक्त है, **'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।'** (त० प्र० ४/८) आत्मा ही मोहनिवृत्ति है। मोह-निवृत्ति अभाव है; अभाव अधिष्ठानस्वरूप है **'अधिष्ठानावशेषो हि बाधः कल्पितवस्तुनः'** कल्पित वस्तुओं का बाध ही अधिष्ठानावशेष है; एतावता अविद्या-निवृत्ति, मोह-निवृत्ति किंवा प्रपंच-निवृत्ति अधिष्ठानस्वरूप ही सिद्ध होती है। अब प्रश्न उठता है कि यदि अधिष्ठान सार्वकालिक है तो प्रपंच-निवृत्ति मुक्ति भी सार्वकालिक होनी चाहिए; सदा स्थित के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि साधनचतुष्टय सम्पादन करना व्यर्थ है। इस प्रश्न का समाधान यही है कि अधिष्ठान भूत होते हुए भी अज्ञात था; अज्ञात-अधिष्ठान से मोह-निवृत्ति संभव नहीं; ज्ञात-अधिष्ठान से ही प्रपंच-निवृत्ति सम्भव है। अब कहते हैं यह ज्ञातता क्या है? वृत्ति ज्ञान है, तद्विषयता ध्यासना है, महावाक्य-जन्य वृत्ति अनित्य है अतः तन्निरूपिता ज्ञातता भी अनित्य ही सिद्ध होती है; एतावता यदि ज्ञात आत्मा ही मोह-निवृत्ति है तो आत्मा भी अनित्य सिद्ध होती है अतः मोक्ष भी अनित्य ही सिद्ध हो जाता है; अनित्य में प्रयास नहीं होता। एतावता, सिद्धान्त है कि ज्ञातता विशेषण नहीं, अपितु उपलक्षण है, जैसे **'काकोपलक्षितं देवदत्तस्य गृहं'** में काक उपलक्षण है, काक का सदा रहना अनिवार्य नहीं वैसे ही ज्ञान का बोधन अनिवार्य है, ज्ञान उत्पन्न होने से ज्ञातता बन जाती है; ज्ञातता बन जाने के बाद ज्ञातता का सदा बना रहना अनिवार्य नहीं, यह ज्ञातता उपलक्षित अधिष्ठान निर्धारण ब्रह्म ही मोक्ष है।

तात्पर्य कि निरावरण ब्रह्म का साक्षात्कार ही मोक्ष है। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार भी निरावरण ब्रह्म-स्वरूप ही मोक्ष है। एतावता भगवद्-पद-प्राप्ति **'विष्णोः परमं पदम्'** मोक्ष या निर्वाण दोनों एक ही हैं। कहीं-कहीं मोक्ष को मिथ्या भी कहा गया है; वह इसी दृष्टि से कि मोहरूपी प्रतियोगी अनित्य है; एतावता प्रतियोगी प्रयुक्त निवृत्ति भी अनित्य ही होगी; भागवत के शब्द हैं—

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥'

(श्री० भा० १०/१४/२६)

अर्थात्, जैसे सूर्यनारायण में दिन और रात्रि नहीं होते तदपि सूर्यनारायण के सन्निधान से ही दिवा-रात्रि की कल्पना की जाती है, वैसे ही, ब्रह्म में मोक्ष एवं बन्धन दोनों ही नहीं हैं।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'

(गौडपादीय कारिका २/३२)

जो न निरोध है न उत्पत्ति, न बद्ध है न साधक, न मुमुक्षु है न मुक्ति, वही परमार्थता है; वस्तुतः निरावरण नित्य अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप-विवेचनदृष्ट्या मुक्ति एवं बन्धन निर्वाण एवं अनिवार्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं; एतावता, नित्य निरस्त द्वैत प्रपंच और अखण्ड अनन्त निर्विकारबोधकस्वरूप सर्वोपलक्ष्य-विवर्जित अविदित्व स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म तत्त्व में ही अज्ञान के कारण संज्ञा होती है।

'अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ अज्ञानसंज्ञौ भव-बन्ध मोक्षौ—भव-बन्धश्च, भवरूपो बन्धः, भवबन्धः मोक्षश्च भवबन्धमोक्षौ अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ अज्ञानसंज्ञौ।' वस्तुतः बन्ध तथा मोक्ष भगवत्-व्यतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं तदपि भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार न होने तक भिन्न-भिन्न दृष्टि से बंध और मोक्ष दोनों ही मान्य हैं। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह कि जो अनन्त ब्रह्माधिष्ठान स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म प्रभु मोक्षस्वरूप वेदान्ती का परम लक्ष्य है वही भक्त का भी परम प्रेमास्पद परम वांछनीय है, एतावता वेदान्ती एवं भक्त दोनों का ही लक्ष्य एक है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ भी कहती हैं **'त्वत्स्पृहात्मनां, त्वत् स्पृहायां, भगवदनुरागलक्षणायां प्रीतौ आत्मा अन्तःकरणं मनः यासां तासां त्वत्स्पृहा-**

त्मनां' हम व्रजाङ्गनाओं का मन संसार से उपरत होकर विभिन्न पुरुषार्थों से व्यावृत्त होकर एकमात्र आपकी ही स्पृहा में संलग्न है; इस तथ्य को मधुसूदन सरस्वती ने बड़े समारोह के साथ प्रतिपादित किया है--

'भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारः रसतामेति पुष्कलम्॥'
(भक्तिरसायन १/१०)

अखण्ड सच्चिदानन्दघन भगवान् ही भक्त के द्रवीभूत मन पर अभिव्यक्त होकर भक्त-पदाभिलक्ष्य होते हैं क्योंकि **'रसो वै सः'** (तै० २/७) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही रसस्वरूप हैं; सम्पूर्ण लौकिक रस, रसस्वरूप ब्रह्म की ही विकृति है; **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति।'** (तै० २/७) रस-स्वरूप आत्मा को, ब्रह्म को प्राप्त कर ही संसार के प्राणी रस का अनुभव करते हैं; स्त्री-समागम में पुमान् को अथवा पुम्-समागम में स्त्री को जो रस प्राप्त होता है अथवा, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधादि अभिलषित विषयों की प्राप्ति में जो रस-आनन्द की अनुभूति होती है वह सब स्वप्रकाश विशुद्ध ब्रह्मानन्द का एक क्षुद्र कणमात्र है। श्रुति-वाक्य--**'एतस्यैव आनन्दस्य एताभि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति'** (वृ० आ० ४/३/३२) अखण्ड परमानन्द सुधा-सिन्धु ब्रह्म के बिन्दु-मात्र को प्राप्त कर अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्तकोटि ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेरादिक देवशिरोमणि भी आनन्दित होते हैं। वस्तुतः ब्रह्म-तत्त्व ही सम्पूर्ण जगत् के आनन्द का एकमात्र आधार है। इसी तरह सम्पूर्ण रस रस-स्वरूप ब्रह्म की ही स्थितिविशेष है तथापि जहाँ रस का आश्रय, आलम्बन विषय, उद्दीपन-विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, संचारी आदि सब परिच्छिन्न वस्तुमात्र हैं, प्राकृत हैं वहाँ आश्रय की क्षुद्रता के कारण रस में भी क्षुद्रता भासित हो जाती है, यद्यपि वहाँ भी रस में तत्त्वतः क्षुद्रता नहीं है; केवल परिच्छिन्नता के कारण ही वह क्षुद्र एवं लौकिक है। जहाँ अचिन्त्य, अनन्त अखण्ड परमानन्द-सुधा-सिन्धु परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र ही रस का आश्रय तथा अनन्त अखण्ड ब्रह्माण्ड की महाशक्ति, श्री रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी भगवती राधारानी ही उसका विषय हों **'आत्मरतिः आत्मक्रीडः जक्षन् क्रीडन् रममाणः'** अनात्मज्ञ प्राणियों की क्रीड़ा का विषय तो अनेकानेक लौकिक पदार्थ हैं, परन्तु आत्मज्ञ की क्रीड़ा, रति, अनात्मा में नहीं होती, आत्मा में ही आत्मज्ञ का रमण होता है **'आत्मैव राधिका प्रोक्ता'** आत्मा ही राधिका कही जाती हैं। तन्त्रशास्त्रानुसार राज-राजेश्वरी त्रिपुर-सुन्दरी पराम्बा षोडशी भी आत्मा राधिका हैं; अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य है, निरतिशय, निरुपाधिक परमप्रेम की

आस्पद त्रिपुरसुन्दरी ही हैं। जैसे चन्द्रमा में चन्द्रिका, गंगाजल में शीतलता, मधुरता, पवित्रता, अभेद्यतः विद्यमान है, वैसे ही परमानन्द सुधा-सिन्धु कृष्ण-चन्द्र में माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री रासेश्वरी नित्य निकुंजेश्वरी राधा-रानी तत्स्वरूपतः अविभक्तरूप से विद्यमान रहती हुई अघटित-घटना-पटीयसी मंगलमयी मायाशक्ति के योग से विभक्त-इव प्रतीत होती है—

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥'

(श्री० भा० १०/१४/५५)

जो सम्पूर्ण सचराचर प्राणियों के अन्तरात्मा हैं, जो साक्षात् स्वप्रकाश परब्रह्म तत्त्व हैं वे ही अपनी दिव्य मायाशक्ति के योग से देहवान् इव भासित हो रहे हैं। गोपाङ्गनाएँ भी कहती हैं, हे श्यामसुन्दर ! आप **'न खलु गोपिका-नन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** हैं। अस्तु, प्रेम का आश्रय, आलम्बन विषय एवं विकास एक रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी तत्स्वरूप-भूता अभेद्य महाशक्ति राधारानी हैं एतावता व्रजधाम की सम्पूर्ण वस्तु, सरसी-सरोवर, शीतल-मंद-सुगन्ध पवन, कमल-कमलिनी आदि सम्पूर्ण उद्दीपन-सामग्री, उद्दीपन-पति श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूप ही हैं। आचार्यगण कहते हैं, **'यत्र प्रविष्टोपि सकलोपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति'** वृन्दावन-धाम में प्रवेश करते ही प्राणीमात्र तत्क्षण आनन्दघन, सत्घन, चिद्घन हो जाता है। वृन्दावन-धाम भी शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है, पूर्णानुराग रससार सरोवर में रस-सार-सर्वस्व से उत्पन्न पंकज ही वृन्दावन-धाम है; व्रजाङ्गनाएँ ही इस पंकज की केसर हैं, श्रीकृष्ण व्रजचन्द्र ही इस केसर में पराग हैं, श्री वृषभानुलली नित्य निकुंजेश्वरी राजराजेश्वरी रासेश्वरी श्री राधारानी ही श्रीकृष्ण व्रजचन्द्ररूप पराग की मकरंद हैं; एतावता वहाँ उद्दीपन, आलम्बन, संचारी-भाव, विभाव आदि सम्पूर्ण विशुद्धतः रसात्मक ही हैं; शुद्ध परब्रह्म ही अपनी दिव्य लीला-शक्ति से तेन-तेन रूपेण विलसित हो रहे हैं। एतावता इनकी रति भी आत्मरति-व्यतिरिक्ताश्रया नहीं। जिस तरह आत्मरति में रति का विषय एवं स्वरूप आत्मा ही है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र और श्री रासेश्वरी नित्य-निकुंजेश्वरी राधारानी एवं व्रजाङ्गनाओं की परस्पर रति भी आत्मरति ही है क्योंकि सम्पूर्ण ही शुद्ध परब्रह्मस्वरूप है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर ! **'एवंभूतायां तु स्पृहा, त्वयि स्पृहा, त्वत् स्पृहा, त्वत् स्वरूपा, तदभिन्ना त्वत् विषया तदाश्रया'** हमारी स्पृहा तदाश्रया है, आप ही उसका स्वरूप आश्रय और विषय भी हैं। **'त्वत् स्पृहायामेव आत्मा मनः यासां तासां त्वत् स्पृहात्मनां'** हमारे मन में आपसे अन्य कोई

स्पृहा ही नहीं है इसलिए हमारे वृजिन-हनन एवं मांगल्य-सम्पादन का प्रकार ही भिन्न है। **'व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलं'** यह विश्व मंगलरूप में आविर्भूत भी हमारे वृजिन-हनन एवं मांगल्य-सम्पादन के लिए पर्याप्त नहीं। **'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं त्यज मनाक् च नः'** हम स्वजनों के हृद्रोग का निषूदन आपके असाधारण साक्षात्कार से ही सम्भव है।

गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण के प्रति **'ताः'** सम्बोधन का प्रयोग करती हैं, **'ताः' पद** 'तदा**त्मिका'**, पदार्थात्मिकासूचक है; जैसे **'तत्त्वमसि'** (छा० ६/८/७) में **'तद्'** शब्द पदार्थात्मिका है, वैसे ही, यहाँ भी 'ताः' शब्द तद्रूपता का ही द्योतक है। भगवत्-शक्ति-स्वरूपा रासेश्वरी राधारानी एवं राधारानी की अंशभूता व्रजाङ्गनाएँ भगवतेच्छावश लीला-विशेष के विकास हेतु तत्-तत् रूप में प्रादुर्भूत हुई हैं। एतावता वे सब भगवान् श्रीकृष्ण के असाधारण जन स्वजन, अन्तरंग जन हैं। इन असाधारण, अन्तरंग स्वजनों को 'हृद्रुजां' हृदय-रोग हुआ है; भगवान् श्रीकृष्ण के विप्रयोग में **'युगशतं इव क्षणं'** एक-एक क्षण भी युगवत् भासित होता है यही इनका हृद्रोग है। ऐसे असाधारण रोग का उपचार भी असाधारण ही है। लौकिक वैद्य तो शारीरिक क्लेशों का ही निषूदन करने में समर्थ होते हैं किन्तु आप तो वैद्यनाथ हैं, भवरोग का निषूदन करनेवाले हैं; आप रोगी के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों देहों के सम्पूर्ण क्लेशों का आमूल उन्मूलन कर पूर्ण स्वस्थता प्रदान करते हैं **'अनात्मतादात्म्याभिमानवान्, देह-तादात्म्याभिमानवान्, इन्द्रियतादात्म्याभिमानवान्, मनो-बुद्ध्यादि-तादात्म्याभिमानवान्'** स्वरूप में स्थित हो जाना ही पूर्ण स्वस्थता है; **'स्वरूपे प्रत्यक् चैतन्याभिन्ने ब्रह्मणि यत् तिष्ठति इति स्वनिष्ठ'** प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म में स्थित हो जाना ही स्वरूप में प्रतिष्ठा है, यही परम स्वस्थता है। यही कारण है कि काशी में मरण मंगलकारक कहा गया है; अन्य सम्पूर्ण श्मशानों में मृतक के स्थूल देह का ही विसर्जन होता है परन्तु महाश्मशान काशी में प्राणी के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों देहों का विसर्जन हो जाता है।

'कासी मरत जंतु अवलोकी। तासु नाम बल करउँ बिसोकी॥'

और

'जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं॥'

(मानस, बाल० ११८/१)

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे अंग ! हमारे मन में आपसे अन्य कोई स्पृहा नहीं है, अतः आपका संयोग, आपकी तादात्म्यता ही हमारे हृद्-रोग की एकमात्र औषध है अतः हे स्वजन ! कार्पण्य-रहित ही हमें उचित औषध प्रदान

करते हुए अपने विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से सदा-सर्वदा के लिए हमारी निवृत्ति करें। भगवान् की पूजा का दर्शन भी पुण्य है; पूजा करना महत् पुण्य है, ज्ञान-मय यज्ञ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति 'स्वजन' संबोधन के प्रयोग द्वारा व्रजाङ्गनाएँ अपनी स्वकीयात्व-परकीयात्व-विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रही हैं, **'स्वीयामेव स्वकीयामेव वयं गोपीजनाः यस्य न परकीया'** गोपाङ्गनाएँ श्री भगवान् की स्वकीया, नित्य-सिद्धा, शक्ति-स्वरूपा हैं, एतावता वे कह रही हैं **'हृद्रुजां यत् निषूदनं तत् त्यज।'** हमारे हृद्रोग का यथा-योग्य निरसन करो।

गोपाङ्गनाओं में स्फुरण होता है मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे व्रजाङ्ग-नाओ! तुम परकीया हो, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ति के योग्य है भी अथवा नहीं? प्रत्येक प्राणी की प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति संभव नहीं। प्राचीन पद्धति के अनुसार पत्र लिखते हुए परस्पर 'योग्य सेवा लिखें' लिखने की परम्परा है। योग्यतानुसार ही प्रत्येक व्यक्ति की सेवा की जा सकती है, सबके प्रति एक जैसी सेवा सम्भव नहीं होती, न एक व्यक्ति ही सब प्रकार की सेवा कर सकता है। इसके प्रति-उत्तर में वे कह रही हैं, हे श्यामसुन्दर! हम तो आपकी परम अंतरंगा, स्वकीया हैं, परकीया नहीं, परकीयात्व तो विभ्रम है; **'सुलभां अवमन्यते, दुर्लभां एव कामयन्ते'** नित्य-प्राप्त में अवमानना होती है, दुर्लभ की कामना होती है, एतावता उत्कट उत्कण्ठा की अभिवृद्धि हेतु ही हम अंतरंगा जनों में भी परकीयात्व आरोपित किया गया है, 'स्वकीया एव वयं न परकीयाः' हम आपकी परम स्वकीया हैं, परकीया नहीं, एतावता हम स्वकीया-जनों की कोई अभिलाषा पूर्ति के अयोग्य है ही नहीं अतः **'हृद्रुजां त्यन्निषूदनं तत् त्यज मनाक् च नः'** आप कार्पण्य को, संकोच को छोड़कर हम परम स्वकीया-जनों के हृद्रोग निषूदनार्थं उचित औषध प्रदान करें। वस्तुतः द्वैत में ही संकोच सम्भव है।

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बनदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥'

(मानस, बाल० १८)

गोपाङ्गनाएँ भी श्रीकृष्णचन्द्र की परम स्वकीया, परमांतरंगा हैं, गिरा एवं अर्थ, समुद्र एवं तरंग की तरह सदा ही अभिन्न एवं तद्रूपा हैं। अस्तु, वे कह रही हैं, हे अंग! आप हमारे स्वजन हैं; **'स्वः जनः आत्मा एव भवान्'** आप हमारी आत्मा हैं। **'अनिवृत्तम्'** लौकिक सम्बन्धों में भी कुछ भेद रह ही जाता है किन्तु सर्वद्रष्टा सर्व-साक्षी स्वप्रकाशभूत, सर्वाधिष्ठान आत्मा से किसी प्रकार का भी भेद कदापि सम्भव नहीं। वे पुनः अनुभव कर रही हैं कि भगवान्

श्रीकृष्ण उनसे कह रहे हैं, 'हे व्रजाङ्गनाओ ! यदि तुम मुझको सर्वद्रष्टा, सर्व-साक्षी, सर्वान्तर्यामी मानती हो तो क्यों रो रही हो ? सर्वान्तर्यामी का, स्वात्मा का वियोग ही क्योंकर सम्भव है ?' इसका उत्तर देती हुई वे कह रही हैं, 'हे प्रभो ! अघटित-घटना-पटीयसी आपकी माया-शक्ति ही नित्य-सिद्ध आत्मा का भी विप्रयोग अनुभव कराती है।'

'व्यापकु एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'

(मानस, बाल० २२/१-६)

प्राणीमात्र के हृदय में सच्चिदानन्द, आनन्दघन, आनन्दसिन्धु स्थित है तथापि माया-वशीभूत प्राणी आनंद-कण की भिक्षा माँगते हुए यत्र-तत्र भटकता रहता है ऐसा अद्भुत चमत्कार है अविद्या का। गोपाङ्गनाएँ अविद्या से नहीं अपितु भगवान् की मोहिनी शक्ति से मोहित हैं। अविद्या बंधन है; मोहिनी-माया लीला हेतु स्वेच्छया स्वीकृत है। माया से जीव स्व-स्वरूप विस्मृत होकर अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवी में भटकता रहता है, परन्तु मोहिनी-माया से जीव स्वेच्छया मूर्च्छा स्वीकार करता है जैसे कोई व्यक्ति भाँग पीकर कुछ देर के लिए मदहोशी स्वीकार कर ले। इस वैष्णवी माया के कारण ही नित्य-निकुंजेश्वरी, रासेश्वरी भगवती राधारानी एवं अन्यान्य गोपाङ्गनाएँ, सब भगवत्-स्वरूप, भगवदंश होते हुए भी अपने अभेद को भूलकर भिन्नता का अनुभव करती हैं, विप्रयोग का अनुभव करती हैं एवं तज्जन्य तीव्र संताप का अनुभव करती हैं; भगवान् श्रीकृष्ण के अदर्शन में उनका त्रुटिपरिमित काल भी **'त्रुटिर्युगायते'** युगवत् व्यतीत होता है, और वे कृष्ण-दर्शन के लिए अत्यन्त लालायित हो उठती हैं। इस विषय का जितना ही अधिक विश्लेषण किया जाय उतना ही अधिक इसका स्पष्टतः स्फुरण होता है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं त्यज मनाक् च।'** सामान्यतः **'मनाक्'** शब्द का अर्थ है **'ईषत्'**; इस प्रसंग में यह शब्द **'युगपत्'** का ही द्योतक है; व्रजाङ्गनाओं की संख्या अगणित है। अतः वे कह रही हैं —'हे प्रभो ! आप यदि एक-एक का मनोरथ पूर्ण करने लगेंगे तो जितना दीर्घ समय लगेगा उसमें हमारा प्राणान्त हो जायगा। अतः हे विभो ! आप अपनी अघटित घटना पटीयसी योगमयी मंगलमयी मायाशक्ति के द्वारा युगपत् तत्त्व को प्राप्त हों तो हम सबकी अभिलाषाएँ एक ही साथ पूरी हों।' भगवान् स्वरूपतः पूर्ण एवं अनन्त हैं, उनमें किंचित् की कल्पना भी नहीं, एतावता भगवत्-स्पर्श, भगवत्-परिरम्भण आदि सब अनन्त हैं, पूर्ण हैं, उसमें भी किंचित् की कल्पना

सम्भव नहीं । अस्तु, यहाँ 'मनाक्' शब्द एककालावच्छेदेन 'युगपत्' का ही सूचक है ।

मुग्धा किंवा अनभिज्ञ गोपाङ्गनाएँ याचक-भाव से श्रीकृष्ण की स्तुति कर रही हैं । जैसे याचक दाता की, उसके कुल-परम्परा की वदान्यता, दानशीलता की प्रशंसा द्वारा दाता की दानशक्ति प्रोत्साहित करता है, वैसे ही वे भी भगवत्-स्तुति कर उनको दान के लिए प्रोत्साहित करती हैं । वे कह रही हैं, हे श्याम-सुन्दर ! आपका यह प्राकट्य स्थावर-जंगम सबके वृजिन के हनन एवं मांगल्य के संपादन हेतु ही हुआ है । गर्गाचार्य महाराज ने भी कहा था, '**अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ।**' (श्री० भाग० १०/८/१६) 'नन्दराय, यह तुम्हारा बालक विशेष प्रभावशील होगा; यह सर्व-प्रकार के दुर्गों से' दुर्गम विपत्तियों से, संसार-सागर से तार देगा ।' आप द्वारा बालघ्नी पूतना, नल-कुबेर आदिकों का उद्धार इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, '**त्यज मनाक् च**' 'हे सखियो ! बोलो, तुमको क्या दे दें ?' वे उत्तर दे रही हैं, हे प्रभो ! जैसे आपने पातकी के पातक को, दुःखी के दुःख को नष्ट कर दिया तथा मांगल्य के इच्छुक को मांगल्य प्रदान किया, वैसे ही '**अस्माकं रोगं निवर्तयस्व**' हमारे भी रोग का निवर्तन करो; '**स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनं तस्य**' हम स्वजन हैं, हमारे हृद्रोग का निवारण करनेवाली जो औषध हो वह हमें प्रदान करें; '**कार्पण्यं न कर्तव्यं**' इसमें जरा भी कृपणता न करें । आपने पातकी के पातक, दुःखी के दुःख का निरसन करने में अथवा मांगल्य-कामुकों के मांगल्य-संपादन में तो कृपणता कदापि नहीं की तो फिर अब हमें हृद्रोग-निषूदन-औषध प्रदान करने में भी कार्पण्य न करें । '**भिक्षु-पाद-प्रसारणं-न्यायतः**' जैसे किसी भिक्षु को बैठनेभर जगह दी तो उसने पाँव ही फैला दिए इसी तरह गोपाङ्गना भी पहले थोड़े की ही प्रार्थना करती हैं, परन्तु भगवदनुग्रह का अनुभव कर कार्पण्य न करने के लिए ही कहने लगती हैं ।

मानिनी गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे श्यामसुन्दर ! बाल्यावस्था से ही आपका जो स्वभाव है वही हमको पसंद है । आप द्वारा इस स्वभाव का परित्याग हमें अभीष्ट नहीं । आपके आविर्भाव से व्रजवासी एवं वनवासियों के वृजिन का हनन हुआ; आपके सगुण साकार, सच्चिदानंदघन स्वरूप के प्रादुर्भाव से सम्पूर्ण विश्व का ही मांगल्य-संपादन हुआ परन्तु '**हे स्वजन ! नः अस्माकं हृद्रुजां यन्निषूदनं तत् त्यज**' हे स्वजन ! आपकी यह उदासीनता हमारी हृत्कांति को विनष्ट करनेवाली, हमारी प्रफुल्लता, हमारे विकास का निषूदन करनेवाली है । '**एतत् औदासीन्यं त्यज**' **अतः** आप इस उदासीनता का त्याग करें ।

हे प्राणनाथ ! आप प्रकट होकर पूर्ववत् ही हमारा सम्मान करें, हमसे अनुनय-विनय करें।' गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त उच्चकोटि की भक्त हैं, दृढ़ एवं अनन्य निष्ठा के कारण ये 'त्राहि मां शरणागतं' जैसी प्रार्थना नहीं करतीं अपितु भगवान् द्वारा ही मान मनाये जाने को अपना अधिकार मानती हैं। कहते भी हैं—

'गाँठी तो बांधे नहीं, माँगत हू सकुचायँ।
उनके पीछे हरि फिरें कहुँ भूखे नहिं रह जायँ ॥'

वे कह रही हैं '**त्वत्स्पृहात्मनां, त्वत्कर्तृका या स्पृहा तस्यामेव मनः यासां तासां त्वत्स्पृहात्मनां**' हे श्यामसुन्दर ! हम तो अस्मद्-विषयिणी त्वत्-कर्तृक-स्पृहा की ही कामना करती हैं। आप जो इस समय उदासीन होकर अन्तर्धान हो रहे हैं, यह संगत नहीं है; इस उदासीनता को त्यागकर आप प्रकट होकर हमसे पूर्ववत् स्नेहमय व्यवहार ही करें। भक्त में भगवत्-सम्मिलन की इच्छा होना सामान्य स्थिति है परन्तु भगवान् में भक्त-सम्मिलन की इच्छा विशिष्ट है। भक्ति-भावना का विशेष विस्तार होने पर ही ऐसी कामनाएँ, ऐसे उद्‌गार सम्भव होते हैं। भगवान् में भक्तरूपता एवं भक्त में भगवत्रूपता आ जाना अत्यन्त स्पृहणीय स्थिति है।

'**व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् व्रजाः वेदाः, व्रजाः गोष्ठः**' '**व्रज**' शब्द वेद एवं गोष्ठ तथा '**गो**' शब्द श्रुति एवं धेनु दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। '**वाचं धेनुमुपासीत**' वाणी की उपासना धेनुरूप में करने का विधान है। जैसे धेनु अपने चार स्तनों से दूध देती है, वैसे ही वाणीरूप धेनु भी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चार स्तनों से पुरुषार्थरूप दुग्ध देती है। '**धेनु वाकम्**' वाक्-लक्षणा धेनुओं का आवास-स्थान गोष्ठ, व्रज किंवा वेद तथा '**संसारारण्ये पतितानां वनौकसां**' संसाररूपी अरण्य में पतितजनों के '**वृजिन-हन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्**' दुःखों का हनन कर विश्व-मंगल के लिए '**व्यक्तिरङ्ग ते**' आपका यह प्राकट्य पर्याप्त है। तात्पर्य कि आपके साक्षात्कार से संसारारण्य में भटकते हुए प्राणियों के ताप का शमन होता है और विश्व का मंगल होता है।

भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार न होने पर वेद अज्ञापकत्व लक्षण अप्रामाण्य हो जाते हैं; भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार से ही वेद प्रामाण्य होते हैं। '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' सब वेदों का एकमात्र वेद्य परात्पर परब्रह्म प्रभु ही है; ब्रह्म-साक्षात्कार में ही वेद के एक-एक अक्षर का परम पर्यवसान है। भगवत्-साक्षात्कार न होने पर वेदों का महातात्पर्य विषय-तत्त्वावबोधकत्व नहीं रह जाता अतएव उनका अप्रामाण्य हो जाता है; यह अप्रामाण्य ही वेदों का **वृजिन** है; एतावता आचार्य की वन्दना करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं—

'वक्तारमासाद्य यमेव नित्या,
सरस्वती स्वार्थसमन्विताभूत् ।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का,
नमामि तं शङ्करमर्चितांघ्रिम् ॥'

(संक्षेपशारीरक १/५)

उस वक्ता के बिना वेद-लक्षणा सरस्वती पर दुस्तर्क कलंक-पंक का आरोपण होता है; सम्पूर्ण वेदों के महातात्पर्य सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परब्रह्म के साक्षात्कार से ही इस कलंकरूप दुःख का, वृजिन का निरसन होता है ।

भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार से ही स्वभावतः सम्पूर्ण दुःखों का उन्मूलन हो जाता है, **'को मोहः कः शोकः'** (ई० ७) तत्त्वदर्शी के शोक एवं मोह का निरसन हो जाता है, संसार दुःख-दावानल में दह्यमानीय प्राणी तभी तक विलाप करता रहता है जब तक उसको भगवत्-साक्षात्कार नहीं होता; भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार से तो सर्व दुःखों का उन्मूलन होता ही है, भगवत्-कथा-श्रवण से भी दुःख दूर होते हैं ।

'मन करि विषय अनल वन जरई । होइ सुखी जो एहि सरि परई ॥'

(मानस, बाल० ३४/५)

और

भव श्रम सोषक तोषक तोषा । समन दरित दुख दारिद दोषा ॥
काम कोह मद मोह नसावन । बिमल विवेक विराग बढ़ावन ॥
सादर मज्जन पान किए तें । मिटहिं पाप परिताप हिए तें ॥

(वही ४२/५, ६, ७)

विषयरूप दावानल में दह्यमान महामत्त गजेन्द्ररूप मन अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है; यह अत्यन्त संतप्त महामत्त गजेन्द्र मन भी भगवत्-कथारूप मधुर नाद-श्रवण से तद्-वशीभूत हो शान्त हो जाता है; क्रमशः उसकी कथा से मानसरोवर में अवगाहन का आनन्द आने लगता है । जब भगवत्-चर्चा से ही ऐसी अतुल शांति प्राप्त होती है, तो फिर अचिन्त्य अनन्त परमानन्द की प्रत्यक्ष कृपास्वरूप मानसरोवर का अवगाहन भगवत्-साक्षात्कार होने पर सर्व सन्तापों का समूल उन्मूलन स्वाभाविक ही है क्योंकि भगवत्-स्वरूप ही सच्चिदानन्द है ।

एतावता गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे प्रभो ! आपकी व्यक्ति, आपका प्राकट्य, सर्व प्रकार के दुःखों का समूल उन्मूलन करनेवाला एवं विश्व-मंगल को प्रस्फुटित करनेवाला है । हे भगवन् ! आपने जिस-जिसको अनुकम्पाभरी दृष्टि से देख दिया उन सबके सम्पूर्ण दुःखों का ही निरसन हो जाता है—

'विद्यानुभवपर्यन्तां यस्य तत्त्वार्थगोचरा ।
तद्दृष्टिगोचरा सर्वे मुक्ता एव न संशयः ॥'

जिसकी केवल वाक्य-ज्ञान से ही नहीं, अपितु अनुभवपर्यन्त ब्रह्म-बुद्धि, सत्यार्थगोचरा बुद्धि हो गई है उस ब्रह्मविद्-वरिष्ठ की दृष्टि में भी जितने प्राणी आते हैं उन सबका निरतिशय मंगल होता है क्योंकि उन सबके मन में भी ज्ञान-विज्ञान के संस्काररूप बीज पड़ जाते हैं। जैसे धरती में डाला गया बीज यथा-समय पर ही फलित, प्रफुल्लित होता है वैसे ही हृदयरूप धरित्री में डाले गए ज्ञान-विज्ञान-संस्काररूप बीज भी उपयुक्त समय पाकर ही शाखा-उपशाखा-समन्वित हो पुण्य-फलप्रदायक होंगे, क्रमेण वैराग्य उद्बुद्ध होगा, वैराग्य से सम्पूर्ण दुःखों का निरसन हो जावेगा, **'को मोहः कः शोकः'** (ईशा० ७) तत्त्वदर्शी शोक-मोह निवृत्त हो जाता है।

हे विभो ! **'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्'** हम स्वजनों के हृद्रोग का हनन करो। जीव ही भगवान् का स्वजन है; अनात्मा बहिरंग है; देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार ही अनात्मा है। **'परापराभ्यां प्रकृतिभ्यां सर्वाभ्यां इदं जगत्'** प्रकृति परा एवं अपरा दोनों ही के द्वारा भगवान् जगत् की सम्पूर्ण लीलाएँ करते हैं।

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥'

(श्रीमद्० गी० ७/४)

अर्थात्, अव्यक्त, महत्, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि अष्ट प्रकृति ही अपरा, मम प्रकृति है। **'इतश्चान्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां'** अपरा-प्रकृति-भिन्न जो प्रकृति है वही परा-प्रकृति है : **'जीवभूतां'** जीवभूता-प्रकृति ही भगवान् की परा-प्रकृति है। अस्तु, अपरा-प्रकृति भगवद्स्वरूप बहिरंगा तथा परा-प्रकृति भगवद्-स्वरूप अन्तरङ्गा है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर अपरा-प्रकृति बाधित हो जाती है और परा-प्रकृति भगवद्स्वरूपा हो जाती है। **'भूतप्रकृति-मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।'** (श्रीमद्० गी० १३/३४) भूतों की प्रकृति अर्थात् अव्यक्त-तत्त्व मूल प्रकृति देहादि अनात्मा से भिन्न, अनन्त, अखण्ड, अभेद्य, निर्विकार, विशुद्ध आत्मा एवं उसके अनन्तर भूत प्रकृति के बाध का अनुभव कर जीव परात्पर, परब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। परा-प्रकृति जीव भगवत्-स्वरूपापन्न होता है; अनात्मा अपरा-प्रकृति बाधित होती है अतः परा-प्रकृति जीव ही भगवान् का स्वजन है, अपरा-प्रकृति अनात्मा ही परजन है। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** जीव भगवान् का अंश है; अंशी को अंश सर्वाधिक प्रिय होता है। विशेष प्रिय के लिए ही प्राणप्रिय विशेषण का व्यवहार

होता है। महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं 'लक्ष्मण राम के प्राण-प्रिय थे।' तदपि प्राण बहिश्चर ही हैं। जब बहिश्चर प्राण भी इतना अधिक प्रिय होता है, तो फिर अपना अंश कितना अधिक प्रिय हो सकता है ?

'नानाविधैर्नश्च नैवेद्यैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम्।
भूतावमानिनोर्चायां नाहं तुष्ये कदाचन॥'

हे अम्ब ! नाना प्रकार के नैवेद्य एवं प्रचुर ऐश्वर्य से संयुक्त होते हुए भी जो पूजा भूतावमानी है उससे हम कदापि संतुष्ट नहीं होते। जैसे शुष्क भस्म में दी गई आहुति व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही, भूत-मात्र में भगवद्-भावना न रखते हुए जो पूजा की जाती है वह निरर्थक हो जाती है।

जैसे सम्पूर्ण लौकिक सुख-सुविधाएँ आयास-सिद्ध हैं, वैसे ही, भगवत्-साक्षात्कार-मुक्ति भी आयास-सिद्ध है; ज्ञान-मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है; वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्म का पालन करते हुए श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते हुए उपासना करने पर ही भगवत्-साक्षात्कार, भगवदाश्लेष, ज्ञान-मुक्ति प्राप्त हो सकती है। जैसे, सुख-सुविधाओं की कामना रखते हुए भी दरिद्र उनको पा नहीं सकता, वैसे ही उपासना-संस्कार-दारिद्रय के रहते हुए भगवत्-साक्षात्कार-सुख-प्राप्ति भी असंभव है। ऐसा भी कहा गया है कि **'काश्यां हि मरणान् मुक्तिः'** काशी में मरणमात्र से ही मुक्ति हो जाती है। वेदान्तसिद्धान्तानुसार भी ईश्वर सत्यसंकल्प है; कर्तुम्-अकर्तुम्-समर्थ है; अस्तु, भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ के विशिष्ट अनुग्रह-वशात् उनका आवास-स्थान काशीपुरी सबके लिए मोक्षप्रदायिनी है। जैसे सदाव्रत अन्नक्षेत्रादि में व्यक्तिविशेष के परिचय की अपेक्षा न रखते हुए ही दान दिया जाता है, वैसे ही भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ की पुरी, काशीपुरी भी मुक्ति का भंडार है; यहाँ मरनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अन्ततोगत्वा मुक्ति अनिवार्यतः प्राप्त होती है तदपि अपने कर्मानुसार प्राणी को भैरवी-यातना भी भोगनी पड़ती है। काशी-भूमि एवं जग-पावनी माँ गंगा के स्पर्शमात्र से ही सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं, तदपि प्रमाद-वश जो अकर्म-कुकर्म काशीभूमि में बन जाते हैं उनके प्रायश्चित्त-हेतु ही भैरवी-यातना भोगनी पड़ती है। केदार-खण्ड में मरण भैरवी-यातना से भी मुक्त कर देता है। कथा है, किसी समय भगवान् केदार का काशी में आगमन हुआ; भैरवी-यातना-संत्रस्त प्राणियों के भीषण आर्तनाद से दयार्द्र हो भगवान् केदार ने विशेष अनुग्रह किया और केदारखण्ड में मरनेवालों को भैरवी-यातना से भी मुक्ति दे दी। बद्रीनारायण, हरिद्वार, कनखल, काशी का केदार-खण्ड, केदार-स्थान आदि सभी इस क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परब्रह्म हैं,

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥'

(श्री० भा० १/३/२६)

एक महा-विराट्स्वरूप पुरुषावतार से अनेक प्रकार के अवतार होते हैं। जैसे सरोवर से सहस्रों नहरें निकलती हैं वैसे ही, महा-विराट् पुरुष अविनाशी से अनेक प्रकार के अवतारों की सृष्टि होती है, विराट् का कारण हिरण्यगर्भ एवं हिरण्यगर्भ का कारण अव्याकृत है किन्तु आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णचंद्र स्वयं ही परात्पर परब्रह्मस्वरूप है। जैसे, भागवत-शब्द के आधार पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं महाविराट् के अधिष्ठान हैं, साक्षात् अवतारी हैं, वैसे ही, वाल्मीकि रामायण के आधार पर **'भवान्नारायणो देवः'** (वा० रा० ६/११७/१३), **'आदिकर्ता स्वयंप्रभुः'** (वा० रा० ६/११७/७) भगवान् राम भी परात्पर परब्रह्म-स्वरूप हैं, अधिष्ठान हैं, स्वयं अवतारी हैं। एतावता सगुण साकारस्वरूप भगवान् कृष्णचंद्र परमानन्द अथवा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र दोनों ही की उपासना सामान्यतः मुक्ति-प्रदायिनी है।

❁

श्रीहरिः

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

हे श्यामसुन्दर ! तुम्हारे चरणारविन्द अतिशय कोमल हैं, अतः हम इनको अपने कठोर स्तनों पर धारण करने में संकोच का अनुभव करती हैं, आपके इन निरावरण चरणों में वृन्दाटवी के कुश-काशादि के गड़ने से व्यथा होती होगी, इस विचार से ही हम मूर्च्छा को प्राप्त हो रही हैं।

गोपाङ्गनाएँ नित्य नवयौवना हैं, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्ययुक्त हैं; इस नव-नवायमान यौवन के कारण उनके उरोज अत्यन्त कठोर हैं। वे कह रही हैं, 'हे प्रियतम ! आपके चरण-कमल अत्यन्त सुकोमल, विशिष्ट सौगन्ध्य, सौरस्य, माधुर्यसंपन्न, दिव्य गुण-गणयुक्त, सुजात अम्बुरुह (कमल) से भी कोटि-कोटि गुणाधिक सुकोमल हैं अतः गाढालिङ्गन की अत्यन्त उत्कट उत्कंठा रहते हुए भी हम आपके इन विशेषतः सुकोमल चरण-कमलों को अपने कठोर स्तनों पर धारण करने में भय खाती हैं। हमारे स्तन विशेषतः कर्कश हैं और आपके चरण-कमल विशेषतः सुकोमल हैं। हमारे कठोर स्तनों से आपके सुकोमल चरणों में आघात लग जाने के भय से हम अपने उत्कट अनुराग को, अपनी उत्कट अभि-लाषा को, उत्कट कामोन्माद को भी समेट लेती हैं।

गोपाङ्गनाओं का यह 'तत्-सुख-सुखित्वभाव' ही उनकी विशेषता है। पूर्व श्लोकों में बताया जा चुका है कि गोपाङ्गनाओं का लोकोत्तर कामोन्माद भी लौकिक काम द्वारा प्रेरित न था। अनंग-प्रवेश के उपयुक्त समय से पूर्व ही गोप-बालिकाओं के तन-मन में सांग श्यामांग सन्निविष्ट हो चुके थे अतः अनंग-प्रवेश का अवसर ही असम्भव हो गया। **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्'** अर्थात्, गोपाङ्गनाओं का भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दविषयक विशुद्ध प्रेम ही काम शब्द से व्यपदिष्ट है।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं—**'सोऽकामयत बहु स्याम्'** (तै० उ० २/६) जगत्-कारण, परमेश्वर में सृष्टि की कामना उद्‌बुद्ध हुई। संसार में प्राण-स्थिति की कामना से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर ने **'तस्मिन् गर्भं दधा-म्यहम्'** (श्री० भ० गी० १४/३) महत् ब्रह्म ने प्रकृति तत्त्व में गर्भाधान किया। फलतः अचेतन प्रकृति चेतित हुई। सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था ही जड़ प्रकृति

है। शुक्र (वीर्य) ही गर्भाधान का कारण है। शुक्र तेज है। सर्वांग का रस-सार ही तेज है। **'अंगादंगात् संभवसि।'** जैसे दुग्ध के कण-कण में रहनेवाला घृत ही दुग्ध का सार, शुक्र है, वैसे ही, अंग-प्रत्यंग में रहनेवाला तेज, शुक्र है। स्वप्रकाश-च युत, ब्रह्माच्युत, इच्छावयन से सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था-भूत जड़ प्रकृति भी चिदाभाससमन्वित हो चेतित हो उठी; वह तेज ही प्रकृति में प्रतिबिंबित हुआ। ब्रह्म स्वयं तेजस्-स्वरूप ही है। चित्त की छाया ही शुक्र है। वह तेज ही प्रकृति में प्रतिबिंबित होता है; यही प्रकृति का गर्भाधान है;

'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'

(श्री० भ० गी० १४/३)

ब्रह्म शब्द महत् विशेषणसंयुक्त होकर प्रकृति-वाचक हो जाता है। सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था-प्रकृति ही सर्वाधिष्ठान, सर्वपति, परब्रह्म की योनि है।

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्।' (शु० य० वे० वा० सं० २३/१९)

'प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनान्त्वा निधिपतिं हवामहे।' मंत्र द्वारा याज्ञिक पद्धति के अनुसार गणेश का ही स्तवन किया जाता है। मंत्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधियाज्ञिक। प्रत्येक अर्थ अपने स्थान पर उपयुक्त है। आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि में गणपति शब्द अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक का ही वाचक है। महदादि, इन्द्रियादि, भूम्यादि, सम्पूर्ण गणों के एकमात्र पति सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर परात्पर परब्रह्म ही गणपति हैं। वही **'प्रियाणान्त्वा प्रियपति'** भी हैं। सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर ही सम्पूर्ण गणों का परमप्रिय **'प्रियाणान्त्वा प्रियपति'** भी है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, सर्वेश्वर, परात्पर परब्रह्म परमेश्वर जो गणपति है, जो 'प्रियाणां पति' है वही अपनी जाया सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था जड़ प्रकृति में गर्भाधान करता है। **'गर्भधं'** ही बिम्ब है। जैसे बिम्ब ही दर्पणादिक में प्रतिबिम्ब का आधान करता है वैसे ही भगवान् भी प्रकृतिरूपी दर्पण में अपने बिम्ब का, तेजस् का आधान करते हैं एतावता गर्भज प्रतिबिम्ब भी भगवत्-स्वरूप **'सोऽहं'** ही है।

'अजामि हृदये स्थापयामि' उसको हम अपने हृदय में धारण करते हैं। अस्तु, सर्वतोभावेन यही सिद्ध होता है कि साक्षात् मन्मथ-मन्मथ ही मूल काम है एवं अन्य सम्पूर्ण काम उसका अंश है। तत्-तत् स्त्री-पुरुषों में रहनेवाला व्यष्टिरूप मन्मथ उस साक्षात् मन्मथ-मन्मथ का ही विकृत रूप अथवा अंश-

मात्र है। **'कामस्तु वासुदेवांशः'** (श्री० भाग० १०/५५/१) काम भगवान् वासुदेव का ही अंश है। श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रद्युम्न काम का अवतार है। भगवान् शंकर द्वारा काम को दग्ध कर दिए जाने पर काम-पत्नी रति ने भगवान् शंकर की आराधना की। संतुष्ट होकर भूत-भावन विश्वनाथ ने रति को वरदान दिया कि द्वापर युग में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अंश से प्रद्युम्न के रूप में काम पुनः प्रकट होंगे। प्रद्युम्न द्वारा शंबरासुर का वध होने का विधान था। अतः द्वेषवश शंबरासुर ने सद्यःजात बालक प्रद्युम्न को चुराकर समुद्र में फेंक दिया। समुद्र में एक मछली बालक को निगल गई। काल-क्रमेण वह मछली जालिक के जाल में फँसकर अन्ततोगत्वा शंबरासुर के ही भोजनागार में पहुँची। मछली के काटे जाने पर उसके पेट से एक अत्यन्त सुन्दर बालक निकला। रति ने उसका लालन-पालन किया। महर्षि नारद की प्रेरणा से कामपत्नी रति, अपने पति को पुनः पाने की इच्छा से, शंबरासुर के भोजनागार की देख-रेख किया करती थी। समय पाकर बालक प्रद्युम्न यौवन को प्राप्त हुए। उन्होंने शंबरासुर का वध किया और रति को लेकर लौटे। भगवान् शंकर के वरदान से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अंश से काम प्रद्युम्न-स्वरूप में पुनः प्रादुर्भूत हुए। तात्पर्य कि काम कामयितृत्व कामयिता से भिन्न नहीं अपितु उसका अंश ही है। निःस्पर्श आकाश से स्पर्शवान् वायु, अरूप तेजस् से रूप तत्त्व एवं निर्गन्ध जल से गन्धवती पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इसी तरह आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, आत्माराम से ही काम की उत्पत्ति होती हैं। जैसे अग्नि में दाहकत्व, जल में शीतलता आदि उनके स्वभाव-सिद्ध एवं नित्यगुण हैं वैसे ही आत्मा स्वभावतः सुख-स्वरूप एवं रस-स्वरूप है। एतावता आत्मा में आत्मा की प्रीति भी स्वभाव-सिद्ध एवं नित्य है। सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच का बोध हो जाने पर अधिष्ठानभूत परब्रह्म के साक्षात्कार से स्वरूप-निष्ठा, आत्मरति उद्बुद्ध होती है। जैसे शर्करा के सम्बन्ध से रूखे चणक-चूर्ण में भी मिठास आ जाती है, वैसे ही, रस-स्वरूप भगवान् के सम्बन्ध से वस्तुतः सत्यहीन, रसहीन एवं स्फुरण-हीन जगत् में भी सत्यता एवं स्फूर्तिमत्ता की प्रतीति होने लगती है।

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'
(मानस, बाल०)

तात्पर्य कि निःसत्त्व, निःस्फूर्त एवं नीरस जगत् में भगवत्-सम्बन्ध से ही सत्त्व, स्फूर्ति एवं रस प्रस्फुटित हुआ। आत्मरति के कारण भगवत्-स्वरूप में सरसता का प्रादुर्भाव हुआ। यह आत्मरति, आत्मप्रीति लौकिक रति-प्रीति से

नितान्त विलक्षण एवं आत्म-स्वरूपभूता, आत्म-स्वरूप से अभिन्ना है। इस आत्मप्रीति, आत्मरति को लेकर ही मधुसूदन सरस्वती ने भक्तियोग का अलख जगाया। इस भक्तियोग में अनित्य एवं सातिशय प्रीति की कल्पना भी सम्भव नहीं। मधुसूदन सरस्वती के वचन हैं—

'भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥'

(भक्ति-रसायन १/१०)

परमानन्दस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही भक्त के द्रवीभूत चित्त में प्रकट होकर भक्ति शब्द व्यपदेश्य बन जाते हैं।

स्त्री-पुरुष रतिक्रियाभिलाष भी काम है तथा रतिक्रियाभिलाष से पृथक् सम्पूर्ण इच्छामात्र भी कामपद-वाच्य है। काम ही आकर्षण का कारण है। आकर्षण का मूल है रस। रस व्यापक है। रस के कारण ही अणु-अणु में आकर्षण होता है। दो अणुओं के मिलने से एक द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों के मिलने से एक त्रसरेणु बनता है। यथाक्रम सृष्टि-रचना होती रहती है। अस्तु, रस ही विश्व का कारण है। रस से ही संसार की सृष्टि होती है। सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् में रस के द्वारा आकर्षण होने पर ही नवीन सृष्टि संभव होती है। रस के अभाव में सृष्टि असंभव है। रस के उद्‌बोधन पर ही सत्त्व-रज-तम तीनों गुण परस्पर मिलते हैं; फलतः उनमें महत्-तत्त्व, अहं-तत्त्व, पंचतन्मात्रा एवं षोडश विकारों का प्रादुर्भाव होता है।

स्फूर्ति-रूप, रस-रूप, सत्य-स्वरूप भगवान् से नीरस, निःसत्त्व, स्फूर्तिहीन जगत् में सरसता, सत्त्वता एवं स्फूर्तिमत्ता का स्फुरण हुआ; काम में कामत्व, आकर्षणत्व, संयोजकत्व, सृष्टि-तत्त्व का संचार हुआ।

'दग्धुर्दग्धा अग्निः। दग्धाऽयःपिण्डः, तस्य दग्धुरयस्पिण्डस्यापि दग्धा अग्निः।

अर्थात्, **अनुत्तापकस्य दहनगुणसंयुक्तस्य दाहकस्य अयःपिडस्यापि दग्धा अग्निः** 'अयस्' पिण्ड, लौहपिण्ड स्वयं अनुष्णाशीत होते हुए भी अग्नि तादात्म्यापन्न होकर दाहकत्वयुक्त हो जाता है। लौहपिण्ड में अग्नि-सम्बन्ध होने से पूर्व भी दाहकत्व नहीं था और अग्नि-सम्बन्ध छूट जाने पर भी दाहकत्व नहीं रह जावेगा। एतावता, दग्धाअयस्पिण्ड का दाहकत्व सातिशय एवं अनित्य है। यही न्याय सर्वत्र है। इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं। जड़ वस्तु न स्वयं प्रकाशयुक्त है और न अन्य को ही प्रकाशित कर सकती है। स्वप्रकाश अखण्डबोध आत्मा से ही तत्-तत् इन्द्रिय में स्व-स्व विषय प्रकाश की क्षमता प्रस्फुटित होती है।

'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।'

(ना० रा० २/४४/१५)

भगवान् राम सूर्य के भी सूर्य हैं; अग्नि के भी अग्नि हैं; ईश्वर के भी ईश्वर हैं। **'ब्रह्म को ब्रह्म, ईश को ईश, यो गोकुल गाँव को कुँवर कन्हाई ।'** व्रजेन्द्र-नंदन श्रीकृष्ण ब्रह्म के ब्रह्म, ईश के ईश हैं। जैसे लोह-पिण्ड में सातिशय, अनित्य, दाहकत्व, प्रकाशत्व का उद्‌बोधक अग्नि स्वयं नित्य एवं निरतिशय है वैसे ही अनित्य एवं सातिशय आकर्षण गुणसम्पन्न मन्मथ का उद्‌बोधक परब्रह्म स्वयं नित्य निरतिशय रसस्वरूप **'रसो वै सः'** (तै० उ० २/७) साक्षात् मन्मथ-मन्मथ है।

सामान्यतः स्वात्मा के लिए ही, अपने लिए ही जगत् प्रिय होता है। कहते हैं 'आप मरे जग परलय' स्वयं मर गए तो मानो जग का ही प्रलय हो गया, यही स्व-सुखित्व भाव है।

'यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥'

(श्रीमद्‌भा० ४/२९/४६)

व्रज-सीमन्तिनी जन लोक-वेद से अतीत हैं। उनको स्वसुख की कल्पना भी नहीं। वे तो अपने परम-प्रेमास्पद, प्राणनाथ, प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के सुख में ही सुखी हैं। यह तत्-सुख-सुखित्वभाव ही उनकी विशेषता है।

लोक एवं वेद का व्यापक सिद्धान्त है—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।'

(बृ० आ० २/४/५)

आत्मा के लिए ही अपने सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धी, संपूर्ण पदार्थ प्रिय होते हैं। स्त्री से प्रेम होता है क्योंकि वह हमें सुख पहुँचाती है। पुत्र द्वारा इहलोक एवं परलोक में सुख मिलने की कल्पना के कारण हम पुत्र से प्रेम करते हैं; देवगण हमारे लिए ऋद्धि-सिद्धि-प्रदाता हैं अतः हम देवता से भावना बनाते हैं। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह कि प्राणीमात्र केवल अपने में, अपनी आत्मा के सुख के हेतु में ही प्रेम का अनुभव करते हैं। **'भगवतः कामाय सर्वं प्रियं भवतु'** हमारी आत्मा भगवत्-सुखोपयोगी बने; भगवत्-सुखोपयोगी होने के कारण ही हम अपनी आत्मा में भी प्रेम करें, ऐसी भावना अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् हमारे शेषी हैं, हम शेष हैं, भगवान् अंशी हैं, हम अंश हैं, भगवान् अंगी हैं, हम अंग हैं ऐसी भावना ही तत्-सुख-सुखित्वभाव है।

मूल प्रसंगानुसार गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे प्रिय ! आपके चरण-कमल अत्यन्त सुकोमल हैं, हमारे उरोज अत्यन्त कठोर हैं अतः इन सुकोमल पादारविन्दों में आघात लग जाने के भय से हम अपने उत्कट अनुराग को भी समेट लेती हैं। एतावता अत्यन्त उत्कट उत्कंठा के रहते हुए भी हम आपके सुजात चरणाम्बुरुहों को अपने उरःस्थल पर धारण नहीं करतीं। उनकी एकमात्र वांछा है—

'पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटम् ।
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ॥'
तद्वापीषु पयः ।

जिस क्षण प्रभु का विप्रयोग हो उसी क्षण यह अनन्त सौन्दर्य, माधुर्ययुक्त वपु भी अपने-अपने भूत-समुदाय को प्राप्त हो जाय। हम विधाता से अति विनम्र होकर प्रार्थना करती हैं कि पंचत्व को प्राप्त होने पर भी हमारे शरीर का पार्थिवांश उसी भूमि में जा मिले जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण पदचारण करते हों, जलीयांश उस सरोवर में जा मिले जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण स्नान करते हों, वायवीय अंश उस वायु में जा मिले जो श्रीकृष्ण का स्पर्श करती हो ताकि मृत्यु के उपरांत भी हमें उनका संस्पर्श मिलता रहे; ऐसी उच्चकोटि की लोक-वेद-शून्य भावनाएँ ही व्रजाङ्गनाओं का वैशिष्ट्य है।

वे कह रही हैं—हे श्यामसुन्दर ! आपके चरण-कमलों को अपने उरःस्थल में धारण करने की अत्यन्त उत्कट स्पृहा एवं तज्जन्य भीषण वेदना को सहते हुए भी हम अपने उरोजों की कर्कशता एवं आपके चरण-कमलों की अतिशय कोमलता के कारण अपने उरःस्थल में उनका विन्यास करने में भी **'भीताः'**, संकुचित रहती हैं। परन्तु आप इन कोमल निरावरण चरणों से ही वृन्दाटवी में भ्रमण करते हैं। वृन्दाटवी के कुश-काशादि आपके निरावरण निरतिशय-कोमल-चरणारविन्द में गड़ते होंगे। आपको वेदना होती होगी; यह विचार ही हमारे हृद्रोग का कारण है। रोग के अनुसार औषध दी जाने से ही रोग का निषूदन होता है अतः आप प्रकट हों और अपने साक्षात्कार से हमारे हृद्रोग का हनन करें। विशिष्ट सौभाग्यशालियों को ही ऐसे हृद्रोग का अनुभव होता है; जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर के पुण्य-पुंज के फल-स्वरूप ही ऐसे हृद्रोग का प्रादुर्भाव एवं विशिष्ट भगवदनुग्रहवश ही उसका निषूदन सम्भव है।

गोपाङ्गनाओं ने अपनी विभिन्न भावनाओं का क्रमशः प्रदर्शन किया। सर्वप्रथम उन्होंने भगवद् हस्तारविन्द को अपने उरःस्थल में धारण करने की इच्छा

प्रकट की; तदनन्तर भगवत्-चरणारविन्दों के दर्शन, भगवत्-मुखारविन्द के दर्शन एवं भगवत्-अधरामृत-रसास्वादन आदि की अनेकानेक अभिलाषा व्यक्त की, तथापि भगवदभिव्यक्ति न हुई। अब उनमें यह भावना उद्बुद्ध हुई कि भगवान् श्रीकृष्ण उनसे परोक्ष रहने के हेतु ही गहनतर वनों में जा रहे हैं। इन गहनतर वनों में उनके अतिशय कोमल चरणारविन्द में कुश-काशादि के कारण आघात पहुँचने की सम्भावना भी प्रबलतर होती जा रही है। इस सम्भावना के उदित होते ही उन्होंने अपने तत्-सुख-सुखित्वभाव के कारण भगवान् श्रीकृष्ण को खोजना भी समाप्त कर दिया और यमुना-पुलिन पर एकत्रित होकर उच्च स्वर से रुदन करने लगीं। अपने सुख-दुःख एवं कामनाओं से निरपेक्ष होकर केवल मात्र प्रेमास्पद के सुख की कल्पना में विभोर रहना ही स्वारसिकी प्रीति, शुद्ध प्रेम है।

भगवान् के चरणारविन्द अत्यन्त शीतल एवं त्रिविध-तापापनोदक हैं; एतावता भक्त उन चरणाम्बुरुहों को अपने हृदय में विन्यस्त करना चाहता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सम्पूर्ण ताप का अनुभव हृदय में ही होता है। भगवान् के मंजु, मृदु सुरभित परम शीतल एवं सुजात चरणाम्बुरुहों के हृदय में विन्यास कर लेने से इस त्रिताप का अपनोदन हो जाता है। भगवान् के चरणारविन्द नित्य हैं, अन्य सम्पूर्ण अरविन्दों की मृदुलता, शीतलता, तापापनोदकता एवं सुरभि ससीम है, भगवत्-चरणारविन्दों की मृदुलता, शीतलता, तापापनोदकता एवं सुरभि असीम है, निरतिशय एवं लोकोत्तर है।

'चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु'—इस पद में—चरणाम्बुरुह-पद एकवचन और 'स्तनेषु' पद बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। भगवान् के चरणारविन्द सर्व-व्यापक हैं अतः अनन्तानन्त गोपाङ्गनाओं के कर्कश स्तनों पर एककालावच्छेदेन भी विन्यस्त हो सके।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। माया-यवनिका का अपसारण होते ही परात्पर प्रभु का प्राकट्य हो जाता है—

'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥'
(श्रीमद्भा० ३/९/११)

भगवदाकारकारित निर्मल प्रज्ञा, तद्-भाव-रस-भाविता शुद्ध मति से भक्त-जन भगवान् के जिस स्थिति-स्वरूप की विभावना करते हैं, वैसे ही, भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य भक्त के हृत्-सरोज में होता है। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्याम्बर के अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं। यह दिव्याम्बर कहीं

कदम्बकिंजल्कतुल्य आभायुक्त है, तो कहीं दामिनी-द्युति-विनिन्दक आभा से युक्त और कहीं-कहीं रविकर गौर वराम्बर सूर्यनारायण की रश्मियों के तुल्य भी कहा गया है। इस सम्बन्ध में एक आख्यान है; राघवेन्द्र रामचन्द्र लंका जाने की तैयारी कर रहे हैं। मुख्य समस्या है समुद्र पार करने की। मन्त्रि-मण्डल परामर्शरत है। हनुमान् एवं अंगद की प्रार्थना है कि अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है क्योंकि दोनों स्वयं ही सारी सेना को अपने कन्धे पर समुद्र पार करा देंगे। भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र उनको उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह निश्चित सत्य है कि हनुमान् एवं अंगद जैसे वीर सारी सेना को अपने कंधों पर समुद्र पार कराकर लंका पहुँचा देंगे। परन्तु 'रामायण' में महर्षि वाल्मीकि ने पुल-रचना लिखी है, अतः हमें पुल बाँधना ही पड़ेगा। भक्तभावानुसार लीला करनेवाले भगवान् रामचन्द्र राघवेन्द्र के लिए महर्षि-भाव-प्रामाण्य हेतु पुल का निर्माण अनिवार्य हो जाता है।

माया-यवनिका का अपसरण होते ही तत्-तत् देश-काल में तत्-क्षण ही सर्व-शक्तिमान्, सर्व-व्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी भगवान् का प्राकट्य हो जाता है। जैसे कोटि-कोटि घट में एक ही सूर्य की छाया दिखलाई देती है, वैसे ही, पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु भी एककालावच्छेदेन ही अनेकानेक रूपों में प्रकट हो गए और प्रत्येक ने यही अनुभव किया कि भगवान् ने सर्वप्रथम मेरी ही ओर अनुकम्पामयी दृष्टि से निहारा, सर्वप्रथम मुझसे ही मिले।

'छन महिं सब ही मिलें भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥'

(मानस, उत्तर० ५/७)

श्रीमद्भागवत् में भी इसी भाव को द्योतक एक कथा है। सरोवर के सन्निधान में हरित दूर्वादल पर भगवान् श्रीकृष्ण को घेरे ग्वालबालों की मण्डली बैठी ऐसी शोभायमान हो रही है मानों चन्द्रमा को घेरकर सहस्र-सहस्र चकोरों की मंडली बैठी हो। प्रत्येक ग्वाल-बाल यही अनुभव कर रहा था कि भगवान् श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र मेरी ही ओर है; भगवान् अपनी अनुकम्पामयी दृष्टि से मुझे ही निहार रहे हैं, भगवान् मुझसे ही वार्तालाप कर रहे हैं, मैं ही भगवान् का विशेष कृपापात्र हूँ।

'कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥'

(श्रीमद्भा० १०/१३/८)

निष्कर्ष यह है कि माया-यवनिका का अपसरण होते ही भक्त हृत्-सरोज

में भक्त-भावानुसार भगवत्-स्थिति-स्वरूप का प्राकट्य हो जाता है अतः तत्-तत् देश-काल में तत्-स्वरूप एककालावच्छेदेन में ही अनुभूत होता है। एतावता इस पद में **'स्तनेषु'** बहुवचन एवं **'चरणाम्बुरुह'** एकवचन साथ ही साथ प्रयुक्त हुआ है।

'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

तेनाटवीमटसि'–गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे श्यामसुन्दर! आप तो स्वधर्म-बुद्धि से ही गोचारण-हेतु वृन्दावन के वनों में निरावरण चरणारविन्दों से भ्रमण कर रहे हैं। आपको गोधन में इष्ट-भावना है; गोधन-निरावरण चरण है अतः आप भी अपने इष्ट-देव का तदनुकूल ही अनुसरण कर रहे हैं। एक आख्यान है, कभी कोई गोपाङ्गना कृष्ण से पूछ बैठी–"हे श्यामसुन्दर! तुम जहाँ-तहाँ दधि एवं नवनीत का दान लेते रहते हो, कभी इसका कोई प्रायश्चित्त भी करते हो अथवा नहीं?" भगवान् श्याम-सुन्दर उत्तर देते हैं—"हे सखि! गो-रज, गंगा-स्नान ही हमारा प्रायश्चित्त है। काली, धूरी, झूमरी आदि गो-नाम हमारा जप है। गो-चारण करते हुए हम नाम ले-लेकर गौओं को पुकारते हैं मानों मंत्र का जाप करते हैं।"

'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥'

(रघुवंश म० का० २/६)

भगवान् श्रीकृष्ण उपासना-बुद्धि से गो-धन का अनुसारण करते हैं। ईर्ष्यावश गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—**'चलसि यद् व्रजाच्चारणमन् पशून्'** पशुओं को चराते हुए आप व्रज-चारण कर रहे हैं। **'सर्वाणि अविशेषाणि पश्यति इति पशुः अविशेष ब्रह्मात्मना सर्व ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन'** ब्रह्मज्ञ किंवा पशु दोनों ही **'सर्वाणि सविशेषाणि पश्यति'** सब कुछ अविशेष देखते हैं।

वे व्यंग्य करती हैं, वृन्दावन धाम का ऐश्वर्य अपार, अतुल एवं असीम है क्योंकि ऐश्वर्याधिष्ठात्री वैकुण्ठधाम की सेव्या महालक्ष्मी यहाँ सेविका बनकर भी सेवा का अवसर सतत खोजती रहती हैं। **'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'** तब भी गोचारण में स्वधर्म-बुद्धि होने के कारण आप उनके पीछे-पीछे निरावरण चरणों से वृन्दावन के अरण्यों में भ्रमण करते रहते हैं। **'शिलतृणाऽङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति।'** हे नाथ! **'नलिनसुन्दरं नाथ ते पदं'** अरविन्द से भी अधिक मंजुल कोमल आपके चरणों में शिल-तृण-अंकुरादिक के कारण अवश्य ही दारुण पीड़ा होती होगी। परन्तु इन पशुओं के लिए आप वह

भी सह रहे हैं। आपके विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से संतप्त हो **'पतिसुतान्वयभ्रातृ-बान्धवान् अतिविलङ्घ्य'** सबका परित्याग कर एकमात्र आपको ही अपना ध्येय परमाराध्य मानकर आपकी ही अनुरागिणी बनकर हम इस रात्रि के अन्धकार में ही वृन्दावन के अरण्य में चली आई हैं; पर हमारे भीषण संताप का अनुभव न करते हुए आप अन्तर्धान हो रहे हैं। इतना ही नहीं, केवल मात्र हमें दुःख देने के लिए ही आप वृन्दावन के गम्भीरतम वनों में भ्रमण करने लगे हैं। हे श्यामसुन्दर ! जरा सोचिए तो सही। इन पशुओं को तो सुख देने के लिए और हम अनुरागिणी, परम प्रेयसी जनों को दुःख देने के लिए ही आप स्वयं यह कष्ट सह रहे हैं।

वे अनुभव करती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उनसे पूछ रहे हैं कि हे सखि ! सब रोगों में हृद्-रोग ही अत्यन्त गम्भीर-रोग है; प्रियतम की कष्ट-सम्भावना का अनुभव दुःसह हृद्-रोग है। इस असह्य दुःख का अनुभव करती हुई भी तुम क्योंकर जीवन-धारण कर पा रही हो ? प्रति उत्तर में वे कहती हैं, **'भवदायुषां नः' भवानेव आयुः यासां तासां भवदायुषां।** हे श्यामसुन्दर ! यह हमारा नहीं, विधाता का दोष है। यह जानते हुए कि आपके सुजात चरणाम्बुरुह मंजुल मनोहर श्रीपाद पंकज में कूर्पादि संसर्ग-जन्य किंचिन्मात्र वेदना के आशंका-जन्य सन्ताप से ही हमारे प्राण प्रयाण कर जावेंगे, विधाता ने शरीर तो हमारे अधिकार में दे दिया परन्तु हमारी आयु आपके हाथ में दे दी। 'भवानेव आयुर्यासां' आप ही हम सबकी आयु हैं।

'नाम पाहरु दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज-पद जंत्रिका, प्रान जाहिं केहिं बाट ॥'

(मानस, उत्तर० ३०)

हे राम ! आपका नाम ही संतरी है, अहर्निश तुम्हारा ध्यान ही किवाड़ है फिर मेरे प्राण किस रास्ते से निकलें ? गोपाङ्गनाएँ भी कहती हैं, हे श्यामसुन्दर ! आपके मुखचन्द्र-दर्शन की आशा ही हमारे जीवन का आधार है, इस आधार को पाकर ही हमारे प्राण-पखेरू उड़ नहीं पाते।

'कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।' भ्रमति मूर्च्छति अभिघूर्णते।

मूर्च्छा से पूर्व कुछ चक्कर जैसा भी आता है। भगवान् श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन प्रेम-सिन्धु हैं, प्रेम के एकमात्र अधिष्ठान हैं। गोस्वामीजी कहते हैं **'जानत प्रीति रीति रघुराई'** केवल भगवान् राम ही प्रीति की रीति जानते हैं। भगवती सीता के विप्रयोगजन्य तीव्र ताप में भगवान् राघवेन्द्र उन्मत्तवत् देह-गेह का भान भूलकर दण्डकारण्य में विहरण कर रहे हैं, कभी लक्ष्मण से पूछ रहे

हैं—'हे लक्ष्मण ! हम कौन हैं ? यहाँ क्यों आए हैं ? **'कोऽहं वत्स !' 'स आर्य एव भगवान्', 'आर्यः स को ?' 'राघवः' 'किं कुर्मो विजने वने ?'**

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजसीमन्तिनी जन एवं नित्य-निकुञ्जेश्वरी, राधारानी के प्रति उत्कट अनुराग से उन्मत्त हो निरावरण सुजात चरणाम्बुरुहों से ही इस वन से उस वन में भ्रमण कर रहे हैं। व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—हे प्रभो ! यह सब देखकर हमें मूर्च्छा होने लगती है, हमारे मन मोह को प्राप्त होते हैं, एतावता आप शीघ्र प्रकट हों, अपने साक्षात्कार से हमारी मूर्च्छा भंग करें।

हे श्यामसुन्दर ! हम सबसे विलग होकर आप वृन्दाटवी में क्यों परिभ्रमण कर रहे हैं ? पर-सुख के लिए स्वार्थ का विघात करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं।

'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः, स्वार्थान् परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥'

(भर्तृहरिनीतिश० ६४)

जो लोग स्वार्थ-सिद्धि-हेतु परसुख का हनन करते हैं 'वे कौन हैं' यह मैं नहीं जानता।

'मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नसुलभो यमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनस्तु पुरुषाः परतुष्टिहेतो-
र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥'

(भर्तृहरि सु० संग्रह)

अर्थात् **'श्रेयोऽर्थीजन'** अपना कल्याण चाहनेवाले लोग बड़े परिश्रम से कमाए हुए धन को भी दूसरों के सुख के लिए त्याग देते हैं एतावता यदि हमारी निन्दा मात्र से ही किसीको सुख होता है तो वह हमारे लिए सुख-रूप ही है। सुतरां, हे श्यामसुन्दर ! हम परमानुरागिणी जनों से वियुक्त होकर वृन्दाटवी-भ्रमण करने से आपके किसी स्वार्थ की सिद्धि तो होती नहीं, साथ ही, आप हमारे असह्य दुःख के कारण बन जाते हैं। हमें दुःख देने के लिए आप स्वयं भी दुःख उठा रहे हैं। रात्रि के अन्धकार में निरावरण निरतिशय कोमल चरणारविन्दों से आप वृन्दाटवी में भ्रमण कर रहे हैं अतः हम नहीं समझ पातीं कि आप कौन हैं ? किस हेतु से आप दुःसह दुःख को झेल रहे हैं ? हे श्यामसुन्दर ! हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है।

प्रेम-विभोर गोपालियाँ परस्पर कह रही हैं—हे सखि ! हमारे श्यामसुन्दर का हृदय नवनीत-कोमल है, शरीर भी अत्यधिक कोमल है। परन्तु स्वभाव अत्यन्त कठोर है। हम नहीं समझ पा रही हैं कि इन श्रीकृष्ण में यह स्वभाव-विपर्यय क्योंकर संभव हो सका ? अपने इस प्रश्न के उत्तर की कल्पना भी वे स्वयं ही कर लेती हैं। वे परस्पर कह उठती हैं—हे सखि ! यह दोष हमारे उरोजों का ही है। हमारे उरोज इतने अधिक कठोर हैं; इन अत्यन्त कठोर उरोजों के संसर्ग से हमारे हृदय में भी कठोरता आ गई है। एतावता प्रियतम के चरणारविन्दों की वेदना की कल्पना करती हुई भी हम जीवित हैं। इतना ही नहीं, हमारे इन अत्यन्त कठोर उरोजों के कारण ही श्यामसुन्दर का नवनीत कोमल हृदय भी कठोर हो गया है; एतावता हमें दुःख देने के लिए ही परम दया-सिन्धु, परम कृपालु, आर्तत्राण-परायण, परदुःख-सहिष्णु होते हुए भी व्रजेन्द्र-नन्दन अपने निरतिशय कोमल निरावरण चरणारविन्दों से काश-कुश-कण्टकादि-युक्त कठिन वृन्दावन-भूमि पर भ्रमण कर रहे हैं।

मानिनी गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—हे श्यामसुन्दर ! आपके इस स्वभाव-विपर्यय से हमें आश्चर्य होता है। हे मदनमोहन ! हमारे इन कठिन उरोजों के संसर्ग से आपके कोमल चरणारविन्दों में आघात लगता होगा इस कल्पना से ही आपके सम्मिलन-काल में भी हमें तो कष्ट ही होता है। भक्त-भावना के कारण ही आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, आत्माराम भगवान् भी सकाम-वत् चेष्टा करते हैं; अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् को भी अहीर की छोहरियाँ नाच नचाती हैं—

'गावें गुनी गनिका गंधर्व औ, सारद सेस सबै गुन गावैं।
नाम अनन्त गनन्त गनेस ज्यों, ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं।
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।'

(रसखान)

गोपाङ्गनाओं का भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति निरुपाधिक प्रेम है। अनात्मा में प्रेम सोपाधिक होता है।

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।' (श्री० भा० १०/१४/५५)
भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ही सम्पूर्ण आत्माओं के अन्तरात्मा हैं।

'कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि स्यात् कस्य विरहः सति विरहे नाम को जीवेत् ?'

अर्थात्, इस मनुष्य-लोक में कैतवरहित, निश्छल, निःस्वार्थ प्रेम संभव हो

नहीं, यदि ऐसा संभव होता तो दो प्रेमियों का कभी वियोग न होता और यदि कदाचित् उनका वियोग भी हो जाता, तो भला जीवन-धारण करने में उनमें कोई कैसे समर्थ हो पाता ? एतावता शंका होती है कि गोपाङ्गनाओं को भगवान् श्रीकृष्ण में निरुपाधिक निरतिशय नित्य-प्रेम होते हुए भी भगवत्-विरह क्योंकर सम्भव हुआ और भगवत्-विरह होने पर वे क्योंकर जीवन-धारण कर सकीं ?

इसका समाधान यह है कि गोपाङ्गनाओं का भगवत्-विरह जीव का अविद्या-कृत भगवत्-विच्छेद नहीं अपितु भगवान् की अघटित-घटना-पटीयसी-मंगलमयी लीला-शक्ति का ही ऐसा अद्भुत चमत्कार है जिसके कारण वस्तुतः विच्छेद न रहते हुए भी उनको वियोग की प्रतीति हुई।

'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीच इव गावहिं बेदा ॥'
(मानस ७/१११/३)

जैसे तरंग कदापि जल से वियुक्त नहीं होती, वैसे ही जीव भी कदापि परमात्मा से वियुक्त नहीं होता; अविद्याजन्य भेद-वशात् प्रभु से वियुक्ति का अनुभव करना ही प्राणीमात्र के समस्त संतापों का मूल है। भगवान् की नव-मणि से प्रादुर्भूत परम-पावनी भगवती गंगा भी भगवत्-चरणारविन्द से विश्लिष्ट होकर आज तक भी निरंतर बहती ही चली जा रही है और न जाने आगे भी कब तक बहती रहेगी। भगवत्-विश्लिष्ट होकर सूर्य और चन्द्र भी निरन्तर आकाश में भ्रमण करते रहते हैं; वहाँ भी राहु एवं केतु जैसे प्रबल शत्रुओं का भय बना ही रहता है। तात्पर्य कि अविद्याकृत भगवत्-विच्छेद समस्त संतापों का मूल है परन्तु मोहिनी वैष्णवी मायाकृत भगवदिच्छा से भगवद्-लीला संपादनार्थ स्वीकृत आहार्य-भेद तद्-भाव-भावित-आहार्यवान् है। एतावता गोपाङ्गनाओं को भगवान् श्रीकृष्ण में वस्तुतः निरुपाधिक नित्य प्रेम होते हुए भी मोहिनी माया के कारण विप्रयोग का अनुभव हुआ।

वे कह रही हैं **'भवदायुषां भवति अर्पितानि आयूंषि याभिस्तासां अस्माकं भवदायुषाम्'** इष्ट-भावना से गोचारण करते हुए अथवा हम आपकी चिर अनुरागिणी, अनुगामिनी, परम प्रेयसी जनों को भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार-सुखानुभूति से विरक्त कर कष्ट देने के हेतु ही आप रात्रि के इस अंधकार में निरावरण चरणों से वृन्दाटवी में भ्रमण कर रहे हैं; इस असह्य वेदना से संत्रस्त हो हमारे प्राण प्रयाण कर रहे हैं। हे श्यामसुन्दर ! अब आप ही हमारी आयु से दीर्घायु बनें। हम अनेक गोपालियों की सम्मिलित आयु विशेषतः दीर्घ

होगी। हम चाहती हैं कि आप चिरकाल सुखी रहें अतः अपनी सम्पूर्ण आयु आपको ही दे जाती हैं।' भाव-भरी ये गोपालियाँ श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए अत्यन्त विह्वल हैं।

गोपाङ्गनोपलक्षित श्रुतियाँ कहती हैं—

'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥'

(श्रीमद्भाग० १०/३१/१९)

वेद-वचन हैं, **'तद् विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्'**॥ (ऋ० सं० १/२२/२०)

'तद्विप्रासोविपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥'

(ऋ० सं० १/२२/२१)

अर्थात् तत्त्व-विद्, ब्रह्म-विद्, वरिष्ठ जन जिस व्यापन-शील, विष्णुपद का निरन्तर अनुभव करते हैं, वही सर्वान्तरात्मा, सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, व्यापन-शील विष्णु-स्वरूप आप **ब्रह्मणा प्रार्थितः**

'विखनसार्थितो विश्वगुप्तये। सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥'

(श्री० भा० १०/३१/४)

ब्रह्मा के द्वारा प्रार्थित होकर भक्तों के कुल में विश्व-रक्षा-हेतु प्रकट हुए हैं। निर्गुण, निराकार, अद्वैत, स्वप्रकाश, सर्व-व्याप्त, परमपद, तत्त्व-पद विष्णु-स्वरूप ही ब्रह्मा द्वारा प्रार्थित होकर सगुण साकार सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण-स्वरूप में प्रादुर्भूत हुआ। वेद-स्तुति के अनुसार भी—

'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥'

(मानस ७/१३/६)

आपके अज, अनन्त, अखण्ड पद का ध्यान उत्तम है, हम ऋचाएँ तो आपके सगुण साकार सच्चिदानन्द-स्वरूप का ही गुण-गान करती हैं। तात्पर्य कि सम्पूर्ण

श्रुतियाँ भी अंततोगत्वा गुणों के द्वारा ही ब्रह्म-पद का प्रतिपादन करने में समर्थ होती हैं।

'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥'

(श्री० भा० १०/८७/२)

'क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥'

(श्री० भा० १०/८७/१४)

जिस समय आप सत्-रज-तम त्रिगुणवती अजा माया में विहरण करते हुए विश्व-कारण बनते हैं, उस समय आपमें नाना रूप गुण-क्रिया एवं जाति आदि शब्द की प्रवृत्ति के सम्पूर्ण निमित्तों का प्रादुर्भाव हो जाता है, उस समय श्रुतियाँ आपका प्रबोधन करती हैं। तात्पर्य कि अखण्डता, अनन्तता, निर्विकारिता, निर्गुणता एकरसता के बाधित हो जाने पर भी आपके स्वरूप में कोई न्यूनता नहीं आती। आपका स्वरूप तद्वत् अजर अमर अखण्ड अनन्त अभेद्य अच्छेद्य अदृश्य अग्राह्य अलक्षण एवं अचिन्त्य ही बना रहता है। अजा के साथ निहरण करते रहने पर भो आपमें उपाधिगत दूषण नहीं आ पाता है। प्रतिबिंब में ही उपाधिगत दूषण संभव है। जैसे दर्पणगत मलिनता के कारण स्वच्छ मुखरूप बिम्ब भी मलिन भासित होने लगता है--वस्तुतः वह स्वच्छ ही रहता है। अथवा जैसे जल को चंचलता के कारण जलान्तर्गत सूर्य किंवा चन्द्र का प्रतिबिम्ब भी चंचल प्रतीत होने लगता है, वैसे ही अविद्या उपाहित जीवरूप प्रतिबिम्ब में ही अविद्याकृत दूषण भासित होने पर भी भगवत्-स्वरूप बिम्ब सदा हो मायातीत ही रहता है। अजा के साथ निरन्तर विराजमान रहते हुए भी आप **'अजया आत्मना च चरतः'** उपाधिजन्य गुणागुण-विवर्जित, शुद्ध स्वरूप में ही स्थित हैं। **'तद् विष्णोः परमं पदं'** वहां ब्रह्म-स्वरूप **'ब्रह्मणा-प्रार्थितं'** ब्रह्मा से प्रार्थित होकर विश्व-कल्याण हेतु सगुण चरणाम्बुरुह-स्वरूप में प्रकट हो गया, इस तथ्य का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं। **'दधीमहि'** धारण करती हैं। **'स्तनेषु–स्थानेषु तत् तत् उपासना कर्म प्रतिपादकेषु वाक्येषु'** श्रुतियाँ ही गोपाङ्गना-रूप में आविर्भूत हुई हैं। श्रुतियों के उपासना-प्रतिपादक विशिष्ट स्थल ही गोपाङ्गनाओं के स्तनादिक विशिष्ट स्थान हैं। उपासना-बोधक ये वाक्य अत्यंत कठोर हैं। तात्पर्य कि उनका वास्तविक अर्थ अत्यन्त दुर्बोध है। अतः उनमें अन्यान्य अर्थ प्रतिभासित होने लगते हैं। 'उत्तरमीमांसा' आदि के द्वारा श्रुतियों के आशय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। एतावता श्रुतियाँ

कह रही हैं-हे विभो ! स्तन-स्थानीय उपासना-प्रतिपादक वाक्य द्वारा हम आपके पद को भयभीत होकर ही धारण करती हैं। आपके **'तद् विष्णोः परमं पदम्'** विशेषतः सावधान होकर ही हम आपके चरणाम्बुरुह स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं। गन्धर्वराज पुष्पदन्तकृत महिम्नस्तोत्र का वचन है—

'अतद् व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' श्रुतियाँ भी आपके विवेचन में चकित हो जाती हैं। तात्पर्य कि ब्रह्म-विवेचन करते हुए अवाच्य एवं अलक्ष्य में प्रतिपादन-विषमता प्रादुर्भूत न हो किंवा लक्षण एवं अभिधा विवर्जित में लक्षणा एवं अभिधा-शक्ति प्रतिभासित न होने लगे अथवा वस्तु-प्रबोध होते हुए भी वस्तु में निर्विषयत्व का बाध न हो जाय तदर्थ विशिष्ट सतर्कता अनिवार्य हो जाती है—

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदसः' (केनोप० २/३)

जिसने ब्रह्म को मन का गोचर **'विद्धि'** नहीं समझा उसीने ब्रह्म को जाना। **'अमतं मनोऽविषयीभूतं।'**

जिसकी दृष्टि में ब्रह्म मन का अविषयीभूत है उसीने वस्तुतः ब्रह्म को जाना है। **'मतं यस्य न वेदसः'** जिसने ब्रह्म को मन का विषय जान लिया है उसने वस्तुतः कुछ भी नहीं जाना। **'अविज्ञातं विजानतां'** विज्ञान-रहित अज्ञ ब्रह्म को मन द्वारा ज्ञात ही मानता है परन्तु विज्ञानवान् ब्रह्मविद् वरिष्ठ, ब्रह्म को अविज्ञात रूप से ही जानता है। एतावता श्रुतियों के लिये भी ब्रह्म का प्रतिपादन अत्यन्त दुरूह हो जाता है। फलतः श्रुतियाँ भी नेति-नेति कहने लगती हैं।

'मौनं सम्मतिलक्षणं' मौन ही स्वीकृति का लक्षण है। निष्कर्ष यह कि अप्रतिपाद्य में विषयता तथा अज्ञेय में ज्ञेयता दोष-वर्जन भी हो, साथ ही प्रतिपाद्य-तत्त्व, ज्ञेय-तत्त्व अगोचर अविदित भी न रह जाय, इस हेतु से विज्ञ जन एकान्त मनन करते हुए कहते हैं—

'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेतिवेद च॥'
(केनोप० २/१०)

ब्रह्म गोचर है न अगोचर है; ऐसा भी नहीं कि हमने उसको जाना नहीं, फिर भी वेदन अगोचर, अप्रतिपन्न, अनादि, अनिर्वचनीय भी है अतः ऐसा भी

नहीं कि हमने उसको जान लिया है। ऐसे दुर्बोध कठिन वाक्य को भी हे प्रिय ! हम '**भीताः**' अत्यन्त संकोच के साथ हृदय में उपासना हेतु धारण करती हैं। उपासना के द्वारा क्रमेण संस्कृत-बुद्धि, तत्त्व-जिज्ञासा-वृद्धि के द्वारा भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार होता है, भगवत्-चरणाम्बुरुह का हृदय में विन्यास होता है। '**त्वं तु तेनैव रूपेण अटवीं अटसि।**' आपका '**विष्णोः परमं पदं**' वही जीव-स्वरूप से संसाराटवी में भटकता है–'**कूर्पादिभिर्भ्रमति**' कूर्पादि आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक त्रिताप से संतप्त होता रहता है अतः हम आपके जीव-स्वरूप के संसाराटवी में भ्रमण करने से संतप्त रहती हैं।

अभिव्यक्ति से प्रेम में अनिवार्यतः न्यूनता आ जाती है। वाणी रूप-द्वार पर आ जाने से प्रेम-प्रदीप या तो बुझ ही जाता है अथवा अनिवार्यतः लघुता को प्राप्त हो जाता है। हृदय की निर्वात कोठरी में ही प्रेम-प्रदीप सम्यकतः प्रकाशयुक्त रहता है। अस्तु, गोपाङ्गनाएँ भी अपने प्रेम को गुप्त रखना चाहती हैं फिर भी भावोद्रेक में हृदयगत भावों की बरबस अभिव्यक्ति हो जाती है। यह सहज अभिव्यक्ति दूषण नहीं, अपितु भूषण ही है। वे कल्पना करती हैं कि अपने हृदयगत भावों को गुप्त रखने के हेतु ही भगवान् के मंगलमय, मुखचन्द्र के अधरामृत का निरन्तर रसास्वादन करती हुई भी वंशी बाहर से जड़ बनी हुई है। भगवान् के पादारविन्द-संस्पर्श से पाषाण भी नवनीत-तुल्य द्रवीभूत हो जाते हैं। भगवत्-मुखारविन्द-निर्गत वेणु-नाद-श्रवण से सतत प्रवाहमयी यमुना भी नील-मणि-शिला-तुल्य स्थिर हो जाती है, वृन्दावन के लता-गुल्मादि से मधु-धाराएँ झरने लगती हैं तदपि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय अधरों पर आसीन एवं भगवद्-हस्तारविन्द की परम सौन्दर्यमयी कोमल अंगुलि-दलों से संवेदित एवं भगवदधरामृत का निरन्तर रसास्वादन करती हुई भी वंशी पूर्ववत् सच्छिद्र सग्रन्थि शुष्क एवं पोली ही बनी रहती है; इस अद्भुत भगवत्-संस्पर्श को प्राप्त कर भी वंशी न तो पुष्पित-पल्लवित ही होती है, न निर्ग्रन्थि-निच्छिद्र एवं रसमयी ही होती है मानों जानती है कि सग्रन्थि सच्छिद्र एवं निस्सार रहते हुए, पुष्पित-पल्लवित न होने पर ही उसको यह अपूर्व अद्भुत सौभाग्य प्राप्त हो सकता है; यह सौभाग्यशालिनी चतुरा अपने हृद्गत भावों को गुप्त रूप से ही सँजोए रहती है। इस गुप्त-प्रेम की महिमा से ही इस सच्छिद्र-सग्रन्थि, शुष्क एवं पोली वंशी भी ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुणादि देवाधिदेव दुर्लभ परम-पद को एवं रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानु-नन्दिनी तथा उनकी अन्तरंगा सखी-वृन्द के लिए भी दुर्लभ लोकोत्तर अद्भुत सौभाग्य को प्राप्त कर रही है। अभिव्यक्ति से लोकरंजना हो सकती है परन्तु प्रेम को टोना लग जाता है। कहते हैं—

'कहो कवन विधि लोक रिझाए।
प्रभु जानहि सब बिनहि बताए॥'

(मानस)

हरि अविनाशी सर्वज्ञ शिरोमणि हैं अतः उनके लिए अभिव्यक्ति अनपेक्षित ही है तदपि गोपाङ्गनाओं के हृदय में जो कृष्ण-विषयक पूर्णानुराग-रस-सार-समुद्र आलोड़ित होता रहता है उसमें ज्वार आने पर गोपन-हेतु किए गए सम्पूर्ण प्रयासों के अनन्तर भी यदा-कदा उनके हृदयगत भावों की बरबस अभिव्यक्ति हो ही जाती है; गोपियों के हृदयगत श्रीकृष्ण-विषयक पूर्णानुराग-रस-सार-समुद्र के उद्वेलित हो जाने पर ही उसके कुछ बिन्दु उनके विभिन्न उद्‌गार अथवा गोपी-गीत-रूप में छलक उठे।

गोस्वामी तुलसीदासकृत, 'विनय-पत्रिका' भी केवल मात्र काव्य-रचना नहीं अपितु भक्त-भावोद्‌गार ही हैं। भगवत्-स्वरूप के लोकोत्तर माधुर्य, सौन्दर्य सौरस्य-सौगन्ध्य-रससार-सर्वस्व सुधा-जलनिधि का आस्वादन करते हुए परि-भावना द्वारा उसमें अभिवर्द्धन होता है। भाव-रस का जितना अधिक चर्वण होता है उतना ही अधिक रस में उल्लास होता जाता है। यह उद्वेलित रस ही अन्तःकरण, अन्तरात्मा, रोम-रोम में परिपूरित हो वागेन्द्रिय द्वारा शब्द-ब्रह्म-रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। यह प्रस्फुटन ही भक्त-हृदय का उद्‌गार है। 'वाल्मीकि रामायण' में तो स्पष्टतः ही कहा गया है—**'शोकः श्लोकत्वमागतः।'** राघवेन्द्र रामचन्द्र के विप्रयोगजन्य तीव्र सन्ताप से संतप्त जनक-नन्दिनी जानकी के करुण, विलाप-श्रवण से महर्षि वाल्मीकि के हृदय में कारुण्य-रस-समुद्र आलोड़ित होने लगा; व्याध द्वारा क्रौंच वध एवं क्रौंची के करुण-क्रंदन-श्रवण से आलोड़ित समुद्र में आघात लगा तो वह उद्वेलित हो उठा। क्रौंची के करुण-क्रन्दन से आसन्न-प्रसवा जनक-नन्दिनी जानकी के करुण-विलाप की स्मृति को उद्‌बुद्ध कर दिया, महर्षि का हृदयगत शोक ही तत्-तत् शब्दावलि रूप में प्रस्फुटित हो गया। ऐसे काव्य साक्षात् शब्द-ब्रह्मस्वरूप हैं। द्वन्द्व एवं शब्दों के जोड़-तोड़ द्वारा की गई कविताएँ काव्य-कोटि में नहीं आतीं। यह तुकबन्दी कविता नहीं, कपिता होती है। उनमें स्थैर्य नहीं अपितु पतिता का चांचल्य होता है। गोपाङ्गनाओं का गीत उनके आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति है अतः विशेषतः स्तुत्य है।

●

श्रीहरिः

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

हे राजन् ! विरहजन्य तीव्रताप से दग्ध हो वे सहस्रकोटि गोपाङ्गनाएँ सब एक ही स्तर पर आ गईं और अपने भावावेश में सुमधुर सकरुण स्वर से गाने एवं रोने लगीं । श्रीकृष्ण-दर्शन की अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठावशात् वे अपने-आपको संयत न रख सकीं अतः बिलख-बिलखकर रुदन करने लगीं ।

जब तक भक्त के लिए भगवद्-विरह सह्य है, जब तक भक्त आराध्य-सम्मिलनहेतु औत्सुक्यातिशयात् अधीर नहीं हो जाता तब तक भगवान् भी भक्त-सम्मिलन में अग्रसर नहीं होते; जब भक्त अपने आराध्य के विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से विवश हो रुदन करने लगता है तो भगवान् भी भक्त-सम्मिलन हेतु अत्यन्त उत्कण्ठित हो दौड़ पड़ते हैं ।

श्री श्रीधरस्वामी कहते हैं :—

'द्वात्रिंशेविरहालाप विक्लिन्नहृदयो हरिः ।
तत्राविर्भूयगोपीस्ताः सान्त्वयामास मानयन् ॥१॥
स्वप्रेमामृतकल्लोलविह्वलीकृतचेतसः ।
सदयं नन्दयन् गोपीरुद्गतो नन्दनन्दनः ॥२॥'

अर्थात्, भगवत्-विरहजन्य तीव्र ताप से संत्रस्त हो गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त आतुर हो विलाप करने लगीं । इस करुण विलाप को सुनकर भगवान् का हृदय भी विक्लिन्न हो गया, द्रवित हो गया । शुष्क एवं कठोरतम हृदय भी प्रेमी शरीर से संस्पृष्ट वायु का स्पर्श पाकर कुछ न कुछ द्रवित होता ही है । असंग, उदासीन, ज्ञानीशिरोमणि आत्माराम भगवान् के हृदय में भी भगवत्-प्रेमामृत-सिंधु की अनन्त दिव्य लहरियों के कारण विह्वलमना गोपाङ्गनाओं के प्रति करुणा का संचार हुआ अतः उनको सान्त्वना देते हुए, उनका सम्मान करते हुए, भगवान् कृष्ण उनके मध्य में प्रकट हो गए ।

उक्त श्लोक में शुकदेवजी परीक्षित् के प्रति 'राजन्' सम्बोधन करते हैं । इस सम्बोधन का विशेष तात्पर्य है, **'सार्वभौमश्रिया राजन्'** सार्वभौम-श्री से युक्त ही राजा होता है । अतः 'राजन्' सम्बोधन द्वारा शुकदेवजी इंगित कर

रहे हैं कि **'सार्वभौमश्रिया राजमानस्यापि तव न मम दर्शनं सम्पन्नम्'** हे राजन् ! जब तक तुम सार्वभौम-श्री में सम्पन्न रहे तब तक तुम्हें हमारा दर्शन भी प्राप्त न हो सका परन्तु अब जब कि तुम सार्वभौम राजत्व, सम्पूर्ण बन्धु-बान्धवादि सर्वस्व का त्यागकर दैन्य-श्री को स्वीकार कर अरण्यवासी हो गये हो तो हमारा सान्निध्य भी तुम्हें प्राप्त हो रहा है। भक्ति-मार्ग में दैन्य-स्वीकार महा-महिम है; जब तक प्राणी लौकिक सर्वश्रीसमन्वित रहता है तब तक उसके लिए भगवत्-दर्शन असम्भव ही है परन्तु दैन्य-श्री को स्वीकार करते ही भगवत्-दर्शन सम्भव हो जाता है। प्रभु पर सर्वतोभावेन निर्भर हो जाना ही दैन्य है; प्रेम-मार्ग, अनुराग-साधना में दैन्य ही मुख्य है। भक्तप्रवर तुलसीदासजी कहते हैं, हे प्रभो ! यदि मैं अपने सुकृतरूप नख-निकृन्तनी से अपने पापरूप सुमेरु पर्वत को उखाड़ना चाहूँ तो वह सर्वथा असम्भव कृत्य होगा। मेरे पाप-पुञ्ज का समूल उन्मूलन तो आप अशरण-शरण अकारण करुण, करुणावरुणालय के अनुग्रह पर ही निर्भर है। तात्पर्य कि प्रभु की महाभास्वती भगवती अनुकम्पा की प्रतीक्षा करते रहना ही सर्वोत्तम साधना है। जप-तप, यज्ञ-दान-व्रतादि से प्राणी में बाट जोहते रहने की योग्यता सम्पादित होती है, वह नैराश्य से कलुषित नहीं हो पाता। शबरी इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। गुरु-वचनों में विश्वास कर शबरी नित्य ही भगवान् रामचन्द्र राघवेन्द्र के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती; दिन-प्रतिदिन अपने आँगन को गोमय से लीपकर वन-पुष्पों से शय्या सजाती, दूर-दूर तक मार्ग को बुहारकर उस पर फूल बिखेर आती और तब पलक-पाँवड़े बिछाए प्रभु-आगमन की बाट जोहती रहती। धन्य हैं वे जो ऐसी प्रतीक्षा में तल्लीन हैं।

एक कथा है : किसी गोपी को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने वचन दिया कि वे उसके घर रात्रि में पधारेंगे; वह गोपी बहुत रात तक जागती रही परन्तु उसको श्यामसुन्दर के दर्शन नहीं हुए; गोपिका प्रतीक्षा करती बैठी रही, तथापि दुर्भाग्य-वशात् उसकी आँखें कुछ क्षणों के लिये झपक गईं–भगवान् आये और लौट गए; दूसरे दिन गोपी ने श्याम-सुन्दर को उलाहना दिया, 'भगवन् ! वचन देकर भी आप नहीं पधारे।' श्याम-सुन्दर ने उत्तर दिया,'मैं आया था सखी। परन्तु तुम्हारी ही आँख लगी थी।' तात्पर्य कि चित्त की विभ्रांति, प्रमाण, विसर्ग, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि विभिन्न वृत्तियाँ होती हैं। इन क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों को समाप्त कर शुद्ध निर्निमेष नयनों से प्रभु-आगमन की बाट जोहते रहने पर ही भगवत्-दर्शन सम्भव है; यह बाट जोहना भी समाधि है।

'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥'
(श्री० भा० १०/१४/८)

अर्थात्, जो आत्मकृत विपाकों को प्रारब्धरूप से भोगते हुए, सुष्ठु रूप से वीक्षण करते हुए प्रभु की मंगलमयी भास्वती भगवती कृपा को नमस्कार करते हुए उसकी ही बाट जोहते रहते हैं वे निश्चय ही मुक्तिपद के दायभागी होते हैं; उनको मुक्ति की याचना नहीं करनी पड़ती ।

'इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।'

भगवत्-मुखचन्द्र के दर्शन के लिए गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त आतुर हो, भावावेश में विक्लिन्न हृदय हो गद्गद कंठ से अनर्गल, अनर्थक प्रलाप करने लगीं । सर्वान्तर्यामी प्रभु सम्पूर्ण अभिप्रायों से सम्पूर्णतः अवगत हैं । प्रेमी के अनुराग-परिप्लुत वचन एवं संकेतों का यथार्थ अभिप्राय रसिक-शिरोमणि श्याम-सुन्दर, मदन-मोहन ही जानते हैं; उनसे भिन्न अन्य कोई जान ही कैसे सकता है ? इस अन्वय से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भगवान् शुष्क नहीं अपितु सरस हैं : रसिक-शिरोमणि हैं; इतना ही नहीं, भगवान् रस-स्वरूप हैं; वेद-वाक्य हैं, '**रसो वै सः**' (तै० २/७) जो रस-स्वरूप है वही भगवान् है । प्रारम्भ में ही कहा गया है कि गोपाङ्गनाओं के इस भाव-पूर्ण गीत का अर्थ 'श्रीकृष्णैकगम्यः' एकमात्र प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र ही जान सकते हैं । भगवान् शंकराचार्यजी अपने ग्रंथ 'आनन्द-लहरी' में राज-राजेश्वरी-त्रिपुर-सुन्दरी श्री ललिता पराम्बा का सौन्दर्य-वर्णन करते हैं,

'घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदैर्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमाऽगोचरगुणे ॥'
(आनन्दलहरी २)

अर्थात्, हे मातः ! जैसे मधु, द्राक्षा, दुग्ध, शर्करादि की भिन्न-भिन्न मधुरिमा का भेद वाणी का विषय नहीं है, वैसे ही आपका अनुपम सौन्दर्य भी एकमात्र परमपूत दृष्टि का ही विषय है; तदभिन्न अन्य के लिए आपका सौन्दर्य-वैभव सर्वथा अगोचर ही है । इसी तरह, गोपाङ्गनाओं के पवित्र गीतामृत के माधुर्य के रसास्वादन में एकमात्र रसिक-शिरोमणि, व्रजेन्द्र-नन्दन, मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण ही समर्थ हैं । भगवान् श्रीकृष्ण की विशिष्ट अनुकम्पा-प्राप्त जन भी वक्ता एवं श्रोतागण के रसना, श्रोत्र एवं हृदय को शुद्ध करने के हेतु से ही इस गीत का यत्किंचित् वर्णन कर लेते हैं ।

'प्रलापोऽनर्थकं वचः' अनर्थक वचन ही प्रलाप है। जैसे अनुभवहीन अज्ञानी के लिए **'एकोऽनास्ति द्वितीयं', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्'** गम्भीर श्रुति-वचन भी निरर्थक ही प्रतीत होते हैं परन्तु अध्ययन-मनन कर्ता के लिये निराकार निर्गुण ब्रह्म-परिचयात्मक होते हैं इसी तरह सर्व-सामान्य के लिये सामान्य उक्तिवत् प्रतीत होनेवाले

'चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्' जैसे भाव-परिपूर्ण गोपाङ्गनाओं के वचनों पर रसिक-शिरोमणि भगवान् आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी सर्वेश्वरता के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं रह पाये; प्रेम-रस पगे वे नंगे पाँवों ही दौड़ पड़े।

'इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।' गोपाङ्गनाएँ **'चित्रं-चित्रं-चित्रं'** भिन्न-भिन्न प्रकार से विलाप करने लगीं। गोपाङ्गनाएँ अपरिगणित हैं, उनके भाव भी अपरिगणित हैं। उनकी स्थिति भी कान्त-भाव, महाभाव, अधिरूढ़ भाव आदि भिन्न-भिन्न हैं; अपनी-अपनी विशिष्ट भावना एवं स्थितियों के अनुसार ही उनके प्रलाप भी अनेक प्रकार के हैं। लोक-परलोक-बोध-शून्या गोपालियाँ कृष्ण-दर्शन-लालसा से अभिभूत हो विविध प्रकार के प्रलाप करती हुई उच्च स्वर से रुदन करने लगीं।

'कृष्ण-दर्शनलालसया।' श्रीकृष्ण-दर्शन ही गोपाङ्गनाओं की भुक्ति-मुक्ति-निरपेक्ष एकमात्र अभिलाषा है; इस लालसा से विह्वल हो वे रो पड़ीं; उनका यह रोदन भी गान की तरह सुस्वर एवं सुमधुर था। जैसे अतृणाद-वत्स के 'ए मा' हुम्मारव सुनते ही स्नेहमयी अम्बा दौड़ी चली आती हैं, वैसे ही, भगवान् श्रीकृष्ण भी कातरहृदया व्रज-वनिताओं के गम्भीर भाव-पूर्ण रुदन को सुनकर तत् क्षण उनके मध्य में प्रकट हो गए।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

अर्थात्, भाव-विह्वल गोपाङ्गनाओं के करुण-रुदन को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण उनके मध्य आविर्भूत हुए; उनका मुख-कमल मन्द-मुस्कान से प्रफुल्लित हो रहा था; वे कंठ में वनमाला तथा कटि पर पीताम्बर धारण किए हुए थे; उनका यह रूप स्वयं मन्मथ के मन में भी क्षोभ उत्पन्न करनेवाला था।

'पीताम्बरधरः' भगवान् श्रीकृष्ण स्वभावतः ही पीताम्बरधारी हैं तथापि प्रस्तुत प्रसंग में यह उक्ति विशिष्ट भावों की अभिव्यंजिका है। भगवान् श्रीकृष्ण-

चन्द्र अपने इष्ट देवता गोधन का अनुगमन करते हुए निरावरण चरणारविन्दों से ही वृन्दावन में पर्यटन कर रहे हैं; उनके चरणारविन्द-कमल से भी अधिक सुकोमल हैं, इन चरणारविन्दों में वृन्दाटवी के कुश-काश-तृणादि गड़ते होंगे; उनके कारण भगवत्-चरणारविन्दों में पीड़ा होती होगी, यह सम्भावना ही गोपाङ्गनाओं की व्यथा का मूल है; एतावता भगवान् श्रीकृष्ण ने पीताम्बर को गले में कुछ इस प्रकार डाल लिया है कि वह उनके पादारविन्द-पर्यन्त अनुलम्बित हो रहा है मानों यह अनुभव करते हुए कि हमारे भूमि-संश्लिष्ट निरावरण चरणारविन्दों के दर्शन से इन विरह-कातरा अंगनाओं की पीड़ा वृद्धि को ही प्राप्त होगी। श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपने चरणारविन्दों को ही पीताम्बर से आवृत कर लिया।

किंवा पादारविन्द-विलम्बित पीताम्बर द्वारा भगवान् गोपाङ्गनाओं को यह दरसा रहे हैं कि हमारे पादारविन्द इस पीताम्बर के कारण सुरक्षित हैं अतः उनमें वृन्दाटवी के कुश-काश-तृणादि गड़ने की एवं तज्जन्य व्यथा की सम्भावना ही निर्मूल है; अस्तु, उनको एतदर्थ दुःखी नहीं होना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने दोनों हस्तारविन्दों से पीताम्बर को श्रीदन्त के समीप धारण कर प्रकट हुए मानों विरह-व्याकुला गोपालियों की अनवरत प्रवाहित अश्रु-धारा को तत्काल पोंछ देने के लिए व्याकुल हो दौड़ पड़े हों। अथवा, जैसे कोई अपराधी अपने द्वारा किए गए कठोर कर्म के लिए क्षमा-याचना हेतु दाँतों में तिनका दबाए हुए दैन्य-भाव से प्रस्तुत होता है वैसे ही, भगवान् श्रीकृष्ण भी गोपाङ्गनाओं के प्रति अपने कठोर व्यवहार के कारण उनसे क्षमा-याचना करते हुए श्रीदन्त में पीताम्बर दबाए हुए प्रकट हुए। भगवान् स्वयं ही कह रहे हैं—

'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।'

(श्री० भा० १०/३२/२२)

अर्थात्, हे गोपाङ्गनाओ ! हमारे प्रति तुम लोगों का जो यह निष्कपट, निर्लोभ, निर्दोष, निष्काम, लोकोत्तर अनुराग है उसकी महिमा का वर्णन भी सम्भव नहीं। हे गोपालियो ! तुम्हारे इस ऋण से हम देवताओं की आयु पाकर भी उऋण नहीं हो सकते।

'पीताम्बरधरः स्रग्वी' भगवान् श्रीकृष्ण अपने पादारविन्दपर्यन्त लम्बमान पीताम्बर को धारण किए हुए हैं। यथार्थतः रात्रि-काल में कुन्द नहीं अपितु जूही, बेला, चमेली आदि पुष्प ही खिलते हैं अतः उनकी कांति एवं सुगन्ध रात्रि-काल में ही सर्वश्रेष्ठ होती है। भागवत में वर्णन है—

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः'

(श्री० भा० १०/३०/११)

अस्तु, इस श्लोक में तारतम्य-निर्वाहार्थ ही 'पीताम्बरधरः स्रग्वी' जैसे विशेषण का प्रयोग किया गया है।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के कथनानुसार इस समय भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो रहे हैं; उनकी सेवा हेतु प्रत्येक भक्त यहाँ तक कि अनन्त ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी भी बाट जोह रही हैं; जिस भक्त को अवसर मिल गया उसने भगवत्-पूजन कर लिया; जिसने जो पूजा की भगवान् ने उसको स्वीकार कर लिया। सभी देवों के साथ ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं—

'पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः'

(श्री० भा० ११/६/१२)

अर्थात्, हे प्रभो ! भक्तों द्वारा समर्पित अर्हण को भी आप अत्यधिक स्नेह से स्वीकार कर लेते हैं। भक्तों के द्वारा प्रदत्त माला के शुष्क हो जाने पर भी आप उसको अपने वक्षःस्थल पर से हटाते नहीं। यह चिरचिराती हुई शुष्क माला आपके वक्षःस्थल पर सतत विहरण करनेवाली भगवती लक्ष्मी के आक्रोश का कारण बन जाती है तदपि वह आपके वक्षःस्थल पर ऐसी लहराती रहती है मानों भगवती की सपत्नी हों। हे भक्त-वत्सल प्रभो ! आप आप्तकाम, पूर्णकाम, समस्त काम, परमनिष्काम हैं अतः आप अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी के रुष्ट हो जाने पर भी निरपेक्ष रहते हुए सतत भक्तानुग्रह में ही रत रहते हैं।

'क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।'

(श्री० भा० १०/४७/५९)

अर्थात् कहाँ ये वनचरी गोपालियाँ जो लोक-दृष्ट्या व्यभिचार-दोष-दुष्टा हैं और कहाँ परमात्मा कृष्ण में यह रूढ़ भाव !

जैसे अमृत का सेवन करने पर प्रत्येक प्राणी के सर्व प्रकार के रोग निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही, सर्वात्म-भाव से भगवान् को भजनेवाले अविद्वान् का भी परम-कल्याण हो जाता है।

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव से वे सब गोपाङ्गनाएँ तत्क्षण उठ खड़ी

हुईं। जैसे प्राण के चले जाने पर शरीर के प्रत्येक अवयव निर्विचेष्ट हो जाते हैं, वैसे ही, भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर उनके विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से दग्ध गोपाङ्गनाएँ भी मृतप्राय हो निर्विचेष्ट हो रही थीं। जैसे निर्विचेष्ट शरीर में अकस्मात् ही प्राणों का पुनः संचार हो जाय तो शरीर के समस्त अवयव पुनः तत्क्षण सचेष्ट हो जाते हैं, वैसे ही, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव से गोपाङ्गनाएँ सहसा ही उठ खड़ी हुईं।

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥४॥

भगवान् श्रीकृष्ण के पधारने पर गोपाङ्गनाएँ अपने-अपने भावानुसार उनसे मिलीं। किसीने भगवत्-हस्ताम्बुजों को अपने दोनों हाथों में ले लिया; किसी-ने उनके चन्दन-चर्चित बाहु को अपने कन्धों पर रखा तो किसी अन्य ने उनके मंगलमय पदाम्बुजों को अपने उरोजस्थल पर धारण कर अपने हृत्ताप का उपशमन किया। तात्पर्य कि दक्षिणभाववती गोपाङ्गनाओं ने स्व-स्वभावानुसार विभिन्न चेष्टाओं द्वारा असह्य हृत्ताप का प्रशमन किया।

निर्गुण, निर्विकार, निराकार परब्रह्म का अनुभव होता है किन्तु उनमें अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता का स्फुरण सम्भव नहीं। जैसे, घर का दीपक घर के मालिक और चोर दोनों को ही समान रूप से प्रकाश देता है, वैसे ही, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म भी सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सर्व-निरपेक्ष हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

'उदासीनस्तब्धः सततमगुणः संगरहितो भवांस्तातः कातः पुनरिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुषे ? वसस्वस्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन् पुनरपि॥'

अर्थात् हे प्रभो! आप उदासीन, स्तब्ध, अखण्ड, अनन्त, निर्विकार एवं कूटस्थ हैं; सम्पूर्ण गुण-गण-रहित निर्गुण एवं निःसंग हैं। ऐसे आप हमारे पिता हैं; ऐसे असंग पिता के पुत्र की जीवन-गति कैसी दयनीय होगी ? हे तात ! यदि आप निर्गुण, उदासीन एवं स्तब्ध होने के कारण हमसे प्रेम न भी करें तो भी हमारे अन्तःकरण में स्थित तो रहें, हमारे अन्तःकरण में आपके इस रूप की स्थिति भी कल्याणकारिणी है क्योंकि निर्मल अन्तःकरण में ही आपका अधिष्ठान सम्भव है। तात्पर्य यह कि निर्गुण, निराकार परब्रह्म के भजन से परम कल्याण हो जाता है तथापि उसमें अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता का स्फुरण नहीं बनता। आनुकूल्य किंवा प्रातिकूल्य का स्फुरण सगुण, साकार ब्रह्म में ही सम्भव है। जिसकी अनुकूलता अनुग्रह में और प्रतिकूलता विनाश में समर्थ हो वही उपयुक्त स्वामी है। अस्तु, सर्वेश्वर, सर्व-शक्तिमान्, सगुण श्रीकृष्णचन्द्र

परमात्मा के दर्शन के साथ ही साथ उनके आनुकूल्य के स्फुरण से दक्षिण-भाववती गोपाङ्गनाओं के सम्पूर्ण शोक-संताप का समूल-उन्मूलन हुआ तथा उनको परमानन्द की प्राप्ति हुई।

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥८॥

वाम्यभाववती गोपाङ्गनाओं ने दूर ही से भृकुटीबन्धनपूर्वक कटाक्ष-शरों से भगवान् श्रीकृष्ण का स्वागत किया। कोई तो निर्निमेष नेत्रों द्वारा भगवान् के मुखारविन्द के माधुर्यामृत का पान करने लगीं; अन्य किसीने नेत्र-रन्ध्रों द्वारा भगवत्-स्वरूप को अपने हृदय-स्थल में प्रविष्ट कर लिया; उनके अंग-अंग भावमय संस्पर्शजन्य आनन्दोद्रेक से रोमाञ्च-कण्टकित हो गये; वे आनन्दसिंधु में निमज्जन करने लगीं। इस तरह दक्षिण एवं वामभाववती 'शतकोटि प्रविस्तर' गोपाङ्गनाएँ स्वभावानुसार अपने हृत्ताप का प्रशमन करते हुए अलौकिक आनन्द को प्राप्त हुईं।

गोपाङ्गनाओं की संख्या में मतभेद है। एकमतानुसार उनकी संख्या तीस कोटि थी तो अन्यमतानुसार उनकी संख्या शतकोटि थी। इन बहुसंख्यक गोपाङ्गनाजनों में षोडश-सहस्र मुख्या थीं; उनमें भी अष्ट-पटरानियाँ मुख्य थीं। 'मुख्या', 'काचित्', 'एका' आदि विशेषण-विशिष्ट कोई एक गोपाङ्गना सर्वाधिक सौभाग्यशालिनी, सर्वाधिकप्रमुखा थी। नित्य-निकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी श्री राधारानी ही वह सर्व-प्रमुखा गोप-सीमन्तिनी हैं।

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥९॥

केशवालोक से कर्म-काण्ड एवं उपासना-काण्डपरायण सम्पूर्ण श्रुतियों को परमोत्सव हुआ। भगवत्-साक्षात्कार ही सम्पूर्ण वर्णानुसारी, आश्रमानुसारी धर्मानुष्ठानों का परम फल है।

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥'

(श्रीमद्भा० १/२/८)

अर्थात्, सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त धर्म का अनुष्ठान करने पर भी भगवत्-कथा-सुधा में रति नहीं हुई तो सम्पूर्ण श्रम ही व्यर्थ है। प्राणी की बुद्धि को विशुद्ध कर देने में ही कर्म-काण्डपरक श्रुतियों की सार्थकता है। उपासना-काण्डपरक श्रुतियों की भी सार्थकता इसीमें है कि उपासना-रत प्राणी को उपास्य-स्वरूप

का साक्षात्कार हो जाय। उपनिषदों में दहर, वैश्वानर, शाण्डिल्य एवं प्राणोपासना आदि विभिन्न विद्याओं का वर्णन है; इन विभिन्न विद्याओं का अन्तिम परिणाम बुद्धि को निर्मल, निष्कलंक एवं स्थिर बना देना ही है। निर्मल, निश्चल चित्त से किया गया भगवत्-साक्षात्कार ही फल-पर्यवसायी होता है।

'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० उ० ४/४/१९) आदि अनेकानेक ज्ञान-परक, **'तत्त्वमसि'** (छा० ६/८/७), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १/४/१०) आदि विधिमुख और **'नेति नेति'** (बृ० २/३/६) आदि निषेधमुख सम्पूर्ण श्रुतियों का महा-तात्पर्य एकमात्र परात्पर परब्रह्म में ही है। एतावता, जीव को परब्रह्म-स्वरूप का प्रबोध कराने पर स्वार्थ-प्रयोजन सिद्ध होने के कारण सम्पूर्ण श्रुतियाँ संतुष्ट होती हैं। केशवालोक से श्रुतियों को परमानन्द, परमोत्सव होता है। जैसे सदाचारी, धर्मनिष्ठ, भगवत्-परायण, उपासना-रत व्यक्तिविशेष को ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है परन्तु सम्पूर्ण संसार आनंदित हो उसकी प्रशंसा करता है अथवा कठोर कर्मरत, दुराचारी को ही नरक की प्राप्ति होती है तथापि सम्पूर्ण संसार त्रस्त होकर उसकी निन्दा करता है; इसी तरह जीवात्मा को सगुण किंवा निर्गुण किसी भी स्वरूप में परब्रह्म का प्रबोध हो जाने पर श्रुतियाँ, ऋषिगण एवं देवता परम संतुष्ट एवं परमानन्दित होते हैं।

'जहुर्विरहजं तापं' (श्री० भा० १०/३३/१) जीवात्मा चिरकाल से भगवत्-विप्रयोगजन्य तीव्र संताप को भोग रहा है तथापि अबोध रहता है; कोई सजग, सचेत जीवात्मा ही भगवत्-विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से दग्ध होता है। श्रुतियाँ जीवात्मा के अबोध से पीड़ित रहती हैं। ब्रह्माजी का दिन समाप्त होने पर दैनंदिन प्रलयकाल में प्रलयाग्नि से भूः, भुवः एवं स्वर्लोक नष्ट हो जाते हैं; इस प्रलयाग्नि की आँच महर्लोक तक नहीं पहुँच पाती अतः महर्लोकवासी स्वयं संतप्त न होते हुए भी भूः भुवः एवं स्वर्लोकवासियों के संताप से संतापित होते रहते हैं। श्रीमद्भागवत-वचन है—**'चित्ततोदः कृपयानिदंविदाम्'** (२/२/२७) भूः, भुवः एवं स्वर्लोक के वासी ब्रह्मज्ञान-परिशून्य हो संतप्त रहते हैं; उनके इस संताप से ही महर्लोकवासी संतप्त हैं। उनका यह संताप भी भूः, भुवः एवं स्वर्लोकवासियों के प्रति एक प्रकार का अनुग्रह ही है। इसी तरह जीवात्मा के परब्रह्म-परिज्ञान-शून्य होने पर श्रुतियों को अकल्पनीय संताप होता है क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतियाँ भगवान् की अनुग्रह-शक्ति-रूपा ही हैं। गीता-वचन है—**'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम'** (श्री० भ० गी० १०/१५) 'हे पुरुषोत्तम! अन्य कोई आपको नहीं जान पाता; आप स्वयं ही अपने ज्ञाता हैं।' गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, **'जानत तुम्हही तुम्हइ होइ जाई।'** जीवात्मा के प्रति स्वानुग्रह-

वशात् स्वरूप-साक्षात्कार-हेतु परात्पर परब्रह्म प्रभु स्वयं ही वेद एवं गुरुस्वरूप में प्रकट हो जाते हैं। आचारवान् एवं आचार्यवान् होकर ही प्राणी परात्पर परब्रह्म का प्रबोध प्राप्त कर सकता है।

भगवान् अशरण-शरण, अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय हैं एतावता आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम आत्माराम होते हुए भी प्राणी के पुरुषार्थ-साफल्य-हेतु ही सम्पूर्ण चेष्टाएँ करते हैं। भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है। जैसे सूर्यनारायण की पूजा करते हुए सम्पूर्ण ज्योतिमय सूर्यनारायण को भी दीपक दिखाया जाता है, वैसे ही, भगवान् की पूजा-अर्चा भी विभिन्न स्वरूपों में प्रस्फुटित ब्रह्म-स्वरूप को ही निमित्त बनाकर सम्भव होती है। भगवत्-कृपा प्राप्त करने के अनेकानेक निमित्त हैं; स्मरण, चिन्तन, उपासना, किसी एक का आश्रय लेकर भगवदनुग्रह प्राप्त करना ही मानव-जीवन की यथार्थता है। भगवदनुग्रह प्राप्त कर प्राणी अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवी-भयमुक्त हो कृत-कृत्य हो जाता है। अस्तु, कर्म एवं उपासना-काण्ड परा, निवृत्ति एवं प्रवृत्ति परा, वेदान्त परा, अन्य-पूर्विका, अनन्य-पूर्विका आदि माता-पिता से सहस्र कोटि-गुणाधिक परम हितैषिणी श्रुतियाँ जीवात्मा को परम तत्त्व-साक्षात्कार करा देने के लिए सदा प्रयत्नशीला रहती हैं। श्रुति-वचन है—**'अथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'** (केनो० २/५) अर्थात्, ब्रह्मज्ञान से रहित जीवन ही महाविनाश है।

'सा हानिस्तन् महच्छिद्रं साचान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत्॥'

अर्थात् वही जड़, मूर्ख, अंध, सच्छिद्र एवं सदोष है जिसने क्षणभर के लिए भी केशव भगवान् का स्मरण नहीं किया। तात्पर्य कि अनादिकाल से भगवत्-स्वरूप से वियुक्त होकर जीव प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परात्पर, परब्रह्म प्रभु के ज्ञान से वंचित हो अनेकानर्थ-परिप्लुत भवाटवी में परिश्रान्त हो रहा है यही भगवदनुग्रहरूपा श्रुतियों का सानुक्रोश अनुताप है। जीवात्मा को भगवत्-स्वरूप-साक्षात्कार, केशवालोक प्राप्त हो जाने पर श्रुतियाँ भी परमोत्सव, परमानन्द को प्राप्त होती हैं।

उपनिषद्-वाक्य है—

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥'

(श्वे० ६/२०)

अर्थात् यदि आकाश को लपेटकर मृगचर्म की तरह बगल में दबा लेना सम्भव हो तो भगवद्-दर्शन बिना हो आनन्द की प्राप्ति भी सम्भव हो सकती है। तात्पर्य कि जैसे आकाश को मृगचर्म की तरह लपेटकर बगल में दबा लेना सर्वथा असम्भव है, वैसे ही भगवद्-दर्शन, भगवत्-साक्षात्कार बिना आनन्द-प्राप्ति भी कदापि सम्भव नहीं; 'केशवालोक' केशव के दर्शन ही सर्वानर्थ-निवृत्ति एवं सर्वानन्द-प्राप्ति का एकमात्र आधार है।

केशवालोक के भी दो प्रकार हैं, एक कर्म-प्रधान, दूसरा कर्तृ-प्रधान। केशव भगवान् द्वारा सानुग्रह दृष्टि से निहारा जाना ही कर्तृ-प्रधान तथा भगवान् केशव को सानुराग-दृष्टि से निहारना हो कर्म-प्रधान केशवालोक हैं। किसी भी विधा से केशवालोक प्राप्त कर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।

'यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥'

(वा० रा० २/१७/१४)

अर्थात्, जिसको राम ने सानुग्रह दृष्टि से नहीं निहारा अथवा जिसने राम को सानुग्रह दृष्टि से नहीं निहारा वह समस्त लोकों में निंद्य है; ऐसे प्राणी की अन्तरात्मा एवं अहमर्थ भी उसका तिरस्कार करते हैं। नागोजीभट्ट लिखते हैं कि विचारमात्र से भी भगवत्-मूर्ति का दर्शन कल्याणकारी है। जो प्राणी विचार से भी भगवत्-मूर्ति का दर्शन नहीं कर पाता उसका अन्तःकरण, अह-मर्थ, इन्द्रियाँ एवं सम्पूर्ण शरीर ही त्रस्त हो जाता है। सम्पूर्ण सत्, तप, यज्ञ, ज्ञान, दान, व्रत आदि अनुष्ठानों का साफल्य भगवत्-तत्त्व-जिज्ञासा में ही है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** ज्ञान के बिना भगवत्-साक्षात्कार नहीं होता; भगवत्-साक्षात्कार बिना मुक्ति नहीं होती।

'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव॥'

(नैष्कर्म्यसिद्धि १/४९)

अर्थात्, जैसे प्रावृड् ऋतु (वर्षा) के अन्त में सार्थकता की पूर्ति हो जाने पर बादल समाप्त हो जाते हैं वैसे ही, सम्पूर्ण कर्म-काण्ड अपने एकमात्र प्रयोजन, प्रभुदर्शन की उत्कट अभिलाषा का जनन कर लुप्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण लौकिक ऐश्वर्य एवं लाभ अपूर्ण हैं अतः उनको प्राप्त कर लेने पर भी कृतार्थता नहीं होती परन्तु केशवालोक से परमोत्सव होता है। सर्वानर्थ की निवृत्ति एवं सर्वा-नंद की प्राप्ति ही परमोत्सव है। इस आशय से ही काशी में मरण मंगलकारी

मान्य है। अग्नि-संस्कार से प्राणी के स्थूल देह का विसर्जन होता है, भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ के प्रताप से काशी में मरनेवालों के अन्य दोनों, सूक्ष्म एवं कारण-शरीर का भी विसर्जन हो जाता है। कारण-देह अविद्या है; सूक्ष्म-देह सत्रह तत्त्व का लिंग-शरीर है जो सम्पूर्ण वासनाओं का केन्द्र, कर्मों का आधार एवं पुनर्जन्म का निमित्त है। कारण एवं सूक्ष्म-देहों का विसर्जन हो जाने पर प्राणी जन्म-मरण-परंपरा से मुक्त हो परमोत्सव को प्राप्त होता है।

'मरणं मंगलं यत्र विभूतिर्यत्र भूषणम्।
कौपीनं यत्र कौशेयं, काशी कुत्रोपमीयते॥'

(काशीखण्ड ९३/९१)

अर्थात्, काशी में मरण ही मंगलप्रद, विभूति ही भूषण तथा कौपीन ही पीताम्बर है; ऐसी काशी की उपमा किससे दी जाय ?

'शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥'

(म० भा०, वनपर्व २/१६)

अर्थात्, संसार में शोक एवं भय के सहस्रों कारण प्रतिदिन बनते हैं तथापि अभ्यास होने के कारण प्राणी उनका स्पष्टतः अनुभव न करते हुए उसीमें सुख की भी कल्पना कर लेता है। **'शिरो भारापगमे सुखी अहम्'** जैसे कोई मूढ़ प्राणी अपने सिर के भार को अपने कंधों पर रखकर भार-मुक्ति के आनन्द की कल्पना करने लगता है परन्तु पण्डित यथार्थ को जानता है। यथार्थ ज्ञान के कारण विज्ञ प्राणी सांसारिक शोक-संतापों से विरत रहता है। अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि केशवालोक से होनेवाली निर्वृत्ति ही सर्वोत्कृष्ट है; केशवालोक का उत्सव ही परमोत्सव है। निर्विकार, निराकार, निर्गुण स्वरूप में किंवा सगुण निराकार स्वरूप में किंवा सगुण साकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप में केशव का दर्शन ही प्राणीमात्र का परम पुरुषार्थ है।

सामान्यतः शास्त्रों में व्यक्तिगत साधन का विधान होता है; कोई प्राणी विशेष ही मुमुक्षु, जिज्ञासु होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि में प्रवृत्त होकर भगवत्-साक्षात्कार करता है। गोपाङ्गनाओं की संख्या सहस्र कोटि थी। **'गोप्यः ऊचुः'** **'सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः'** आदि उक्तियाँ भी बहुवचनात्मक ही हैं। ज्ञानाभ्यास ही भगवत्-साक्षात्कार का असाधारण कारण है।

'तद् चिन्तनं तद् कथनं, अन्योन्यं तद् प्रबोधनं' परस्पर उसी तत्त्व का बारंबार कथन, चिन्तन एवं प्रबोधन करना ही ज्ञानाभ्यास है। बारम्बार के

कथन, चिन्तन एवं प्रबोधन से ही विचार-क्रांति होती है। विचार-क्रांति-हेतु तदनुकूल वातावरण एवं संगति अनिवार्य है। प्राणी जैसे वातावरण में रहता है, जैसी चर्चा करता है; उन सबका उस पर प्रभाव पड़ता है; उस प्रभाव से विचार-क्रांति होती है; विचार-क्रांति से संस्कार बनते हैं।

'अनाराध्य राधा पदाम्भोजयुग्मं,
अनासेव्य वृन्दाटवीं तत् पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्,
कथं श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥'

अर्थात्, रासेश्वरी राधारानी के चरण-युगल की आराधना, उनके चरणारविन्दों से अंकित वृन्दाटवी का सेवन, उनकी बारम्बार चर्चा एवं गम्भीर चिन्तन किए बिना ही श्याम-रस-सिन्धु में क्योंकर अवगाहन किया जा सकता है ? वृन्दावन-धाम में साक्षात् परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री महाशक्ति राधारानी, परमानुरागिणी ललिता, विशाखा, रंगदेवी, श्रीदेवी, चन्द्रावली आदि लोकोत्तर अनुरागिणी सखी-वृन्द विराजमान है; साथ ही, साधन-सिद्धादि अग्निकुमार, देवाङ्गनाएँ, देव-कन्याएँ, ऋषिरूपा, मुनिरूपा, श्रुतिरूपा भी विद्यमान हैं। रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी की कृपा-दृष्टि-वृष्टि के प्रभाव से **'सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः'** वे सब केशवालोक प्राप्त कर परमोत्सव को प्राप्त हुईं।

भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं; आत्मा में ही उनका रमण सम्भव है। **'आत्मा तु राधिका प्रोक्ता'** रासेश्वरी राधारानी ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द की आत्मा हैं। जैसे अमृत का माधुर्य, गंगाजल की शीतलता, मधुरता एवं पवित्रता तद्भिन्न है, वैसे ही, रासेश्वरी राधारानी आनन्दकन्द परमानन्द-सिन्धु-सार-सर्वस्व हैं। राधारानी के बिना श्रीकृष्णचन्द्र अपूर्ण हैं; युगल सम्मिलित तत्त्व ही पूर्ण है। गौर-तेज संवलित श्याम-तेज तथा श्याम-तेज संवलित गौर-तेज उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा हैं। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र का रमण वहीं होगा जहाँ राधिका शक्ति का संचार है। अपने-अपने सम्प्रदायानुसार तत्-तत् सखीरूपा गुरु के अनुशमन से राधा-शक्ति अनुगामिनी ललिता सखी का सन्निधान प्राप्त होता है; ललिता सखी का गुरुरूप में अनुगमन एवं आराधना से राधारानी का सन्निधान प्राप्त होता है। राधारानी के सन्निधान से राधारानी की तत्-तत् शक्तियों का संचार होता है, इस तरह क्रमागत उपासना द्वारा साधक राधारानी-स्वरूप बनता है; तब उसमें आत्माराम भगवान् श्रीकृष्ण का रमण होता है।

सामान्यतः लोक-व्यवहारानुसार भी राजाधिराज एवं श्रीमन्तों के घर कोई सहसा ही प्रवेश नहीं पाता। यदि कथंचित् प्रवेश भी हो जाय तो उनके अमात्यगण उस व्यक्ति को वहाँ नहीं टिकने देते।

सामन्त की कथा इस तथ्य का प्रत्यक्ष उदाहरण है। भर्छु सामन्त किसी राजा को अत्यन्त प्रिय था, एतावता, अन्य अमात्यजनों ने ईर्ष्यावश कुचक्र रच-कर भर्छु को जंगल में छुड़वा दिया और प्रचार करवा दिया कि भर्छु सामन्त मरकर जंगल में प्रेतरूप से विचरण कर रहा है। यह प्रचार इतना प्रबल हुआ कि स्वयं राजा ने भी इस प्रचार को सत्य ही मान लिया। देवयोग से राजा शिकार करता हुआ इसी वन में पहुँच गया जहाँ भर्छु सामन्त रह रहा था। जंगल में भटकते हुए भर्छु ने राजा को देखा और भावावेश में उससे मिलने को दौड़ पड़ा। राजा ने उसको प्रेत ही समझा और भयभीत हो जंगल से भाग खड़ा हुआ।

'पुरुषापराधमलिना धिषणा।
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा।
न फलाय भर्छु विषया भवति।
श्रुतिसम्भवापि तु तथात्मनि धीः॥'

(संक्षेपशारीरक १/१४)

अर्थात्, आँखें दोषहीन हैं फिर भी राजा ने अपनी आँखों से ही भर्छु को प्रेत-स्वरूप देखा; तात्पर्य कि प्रमेय शुद्ध है, तथापि पुरुष-प्रमाता असम्भावना, विपरीत भावना के संस्कार से दूषित है अतः निर्दोष नेत्र भी उन गलत भाव-नाओं के उन्मूलन में समर्थ नहीं होता। इसी तरह **'तत्त्वमसि'** (छा० ६/८/७), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १/४/१०), **'सोऽहम्'** इत्यादि वेदान्त-वाक्यों के कारण जीवात्मा अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेने पर भी अनादिकाल से भवाटवी में भटकता हुआ पुरुषापराध-मलिना-बुद्धि के कारण तत्त्व-साक्षात्कार नहीं कर पाता। अतः राजा की सेवा करते हुए उसके चक्र (अमात्यगणों) की भी सेवा करें तात्पर्य कि श्रीकृष्ण रमण-योग्यता-प्राप्ति-हेतु स्व-स्व सम्प्रदायानुसार गुरुरूपा सखी का अनुगमन अनिवार्य है।

अद्वैतमतानुसार भी शुद्ध परब्रह्म का पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता **'असङ्गो नहि सज्जते'** (बृ० उ० ३/९/२६), वृत्त्युपहित चेतन ही पदार्थ का प्रकाशक है; चेतन की सत्तामात्र से ही पदार्थ की प्रतीति नहीं होती क्योंकि चेतन का संश्लेषण सन्निकृष्टासन्निकृष्ट सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ है। प्रमाणजन्य वृत्त्यभिव्यक्त चेतन के संसर्ग से ही पदार्थ का प्रकाशन सम्भव है। जैसे, घटादि

का प्रकाश अन्तःकरण वृत्युपहित चेतन द्वारा ही होता है किन्तु अन्तःकरण स्वतंत्रता से ही चेतन के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही, अन्तःकरणरूपा वृषभानु-नन्दिनी, राधारानी परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ निरपेक्ष भाव से रमणरूप असाधारण सम्बन्ध का रसास्वादन करती हैं। अन्य गोपाङ्गनाओं को राधारानी का समाश्रयण करना पड़ता है। माया से मोहित प्राणी नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच में आसक्त हो स्वरूप से विस्मृत हो जाता है। स्वरूप-विस्मृति के कारण विभ्रम होता है; विभ्रम के कारण असंग आत्मा में संग की, अकर्ता में कर्तृत्व की तथा एक में अनेकत्व की भ्रान्ति होती है। प्राणी के भगवदुन्मुख हो जाने पर माया का समूल-उन्मूलन हो जाता है।

यथार्थ में तो रासेश्वरी राधारानी की प्रसन्नता ही रासलीला का हेतु है। सम्पूर्ण लौकिक सुख सविशेष एवं ससीम है अतः लोक में पारस्परिक सापत्न-भाव प्राणी के उत्कर्ष में बाधक होता है। भगवत् सम्मिलन-जन्य आनन्द अगाध, अखण्ड एवं अनन्त है अतः सापत्न से सर्वथा रहित है। हरि की परमान्तरङ्ग, चिरसहचरी, राधारानी परम-कल्याणमयी, करुणामयी (दयामयी) हैं अतः वे तो सदा ही यही कामना करती रहती हैं कि प्रत्येक जीवात्मा निरन्तर भगवदुन्मुख रहे। राधारानी की वांछा है—

'अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो।
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना॥'

अर्थात् प्रत्येक अङ्गना के साथ माधव और प्रत्येक माधव के साथ अङ्गना हो। तात्पर्य कि रासेश्वरी राधारानी की वांछा है कि सम्पूर्ण अधिकारी उपासक-जन भी राधा-भाव से ही पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्य का रसास्वादन करें। अस्तु, राधारानी की परम कृपा, परम करुणा से **'प्रमदा शतकोटिभिः'** सहस्रकोटि प्रमदा, गोपाङ्गनाओं के मान का प्रशमन कर उनको प्रसन्न करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यमुना-पुलिन पर विराजमान हुए।

श्रीमद्भागवत में स्पष्टतः ही लिखा है—

'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः'
(१०/३३/३१)

अनीश्वर प्राणी मन से भी रासलीला का आचरण न करें। प्राणीमात्र अपूर्ण हैं, ईश्वर ही अलौकिक, अद्भुत, शक्ति-संयुत हैं। गोवर्द्धन पर्वत को कनिष्ठिका पर उठा लेना आदि अनेकानेक अद्भुत कर्म ईश्वरीय शक्ति के ही चमत्कार हैं। पूर्णकाम, आप्तकाम, परम निष्काम, आत्माराम, पूर्णतम पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र की रासलीला श्रोतव्य,

मननीय एवं प्रणम्य है परन्तु व्यवहार्य कदापि नहीं। रासलीला का लक्ष्यार्थ ही व्यवहार्य है।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

(श्री० भ० गी० १८/६१)

अर्थात्, प्राणीमात्र का अन्तस्थ ईश्वर ही प्राणियों की बुद्धि का नियंत्रण करता है। जैसे सूत्रधार नट काठ की पुतलियों को स्वेच्छानुसार नचाता है, वैसे ही, सर्वनियन्ता ईश्वर ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों की बुद्धि में प्रविष्ट होकर अपनी मायाशक्ति के द्वारा नियंत्रित करते हुए सबको नाच नचानेवाले सूत्रधार हैं।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥१०॥

(श्री० भा० १०/३२/१०)

अर्थात्, भगवान्, श्रीकृष्णचन्द्र अच्युत, सदा एकरस हैं तथापि उन शोक-रहित एवं परमोत्सव को प्राप्त गोपाङ्गनाओं से समावृत होकर उनकी अतिशय शोभा हुई, जैसे शक्तियों से सेवित परमेश्वर विशेषतः सुशोभित होते हैं।

'ताभिर्विधूतशोकाभिः विधूतो जीवानां शोको याभिस्ताः विधूतशोकाः ताभिर्विधूतशोकाभिः।'

जिन श्रुतियों ने जीव के सम्पूर्ण शोकों का विधूनन कर डाला है वे ही **'विधूतशोकाः'** हैं। श्रौत-स्मार्त धर्मानुसरण से ही जीव के सम्पूर्ण दुःखों का प्रशमन हो जाता है; सम्पूर्ण श्रुतियों के महातात्पर्य का प्रबोध होने पर उस तत्त्वदर्शी ब्रह्मविद् वरिष्ठ के लिए शोकोपलक्षित संसार का ही बाध हो जाता है अतः वह सम्पूर्ण शोक-सन्ताप से पूर्णतः निवृत्त होकर परमोत्सव को प्राप्त होता है। वेदान्त-वाक्य है–**'तरति शोकमात्मविद्'** (छा० ७/१/३) आत्मविद् शोक को तर जाता है। **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** (ईशा० ७) जिसने ब्रह्मात्मैकत्व का दर्शन कर लिया उसको मोह एवं शोक नहीं होता; भगवत्-साक्षात्कार से उसके सम्पूर्ण शोक-मोह का विधूनन हो जाता है।

'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १/१/४) **सर्वासां श्रुतीनां तस्मिन् समन्वयः।**

विभिन्न उपनिषदों की सम्पूर्ण श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में ही है। सांख्य-मतानुसार प्रकृति प्रधान है:

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १/१/५) **अशब्दम्; शब्द-प्रमाणशून्यम् अनुमानं अनुमीयते इति अनुमानं प्रधानं जगत्-कारणं।**

सांख्य-मत शब्द-प्रमाण-शून्य अनुमानमात्र है; श्रुत्यनुसार जगत्-कर्ता में ईक्षण होता है, **'जगत्कर्तुः ईक्षतेः ईक्षितृत्वश्रवणात्।'** प्रकृति जड़ है, जड़ में ईक्षण सम्भव नहीं; अतः ईक्षण से रहित जड़ प्रकृति जगत्-कर्ता नहीं हो सकती। **'ईक्षतेः ईक्षितृत्व-श्रवणात्।'** जगत्-कर्ता में ईक्षितृत्व श्रवण है। **'ईक्षणपूर्विका सृष्टिः श्रुता'** उपनिषदों में **'तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेय'** (छा० ६/२/३) सृष्टि ईक्षण-पूर्विका है; जड़ प्रकृति में ईक्षण बन नहीं सकता; अस्तु, सांख्य-मत में श्रुतियों का समन्वय नहीं है एतावता आस्तिकदृष्ट्या वह त्याज्य है। श्रुतियों का समर्थन ब्रह्म में है अतः ब्रह्म आदरणीय है। श्रुतियों से समन्वित होकर ही जगत्-कारण, मूलाधिष्ठानभूत, सर्वशेषी, परात्पर, परब्रह्म का ज्ञान सम्भव है। श्रुति-विपरीत भगवत्-कथन भी अमान्य हैं।

'जेहि निन्दत निन्दित भयौ विदित बुद्ध अवतार'

बहुप्रसिद्ध बुद्धावतार श्रुतियों की निन्दा करने के कारण स्वयं भी निन्दित हो गया। तात्पर्य कि, श्रुति ही सर्वाधिक सम्माननीय है।

'भगवान् अच्युतो वृतः' (श्री० भाग० १०/३२/१०) जिसमें समग्र ऐश्वर्य, वैराग्य, आनन्द, धर्म, यश एवं श्री षड्भग सांगोपांग नित्य-विद्यमान हो वही भगवान् है। ऐसे अच्युत भगवान् भी जीवों के सम्पूर्ण शोक-सन्ताप का विधूनन करनेवाली श्रुतियों से समावृत होकर अतुलित शोभा को प्राप्त हुए। तात्पर्य कि जिनके द्वारा भगवत्-साक्षात्कार, भगवत्-प्रबोधन होता है उनकी महिमा से ही भगवान् शोभायमान होते हैं। न्याय एवं तर्क के पण्डित उदयनाचार्य महाराज की कथा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किसी समय उदयनाचार्यजी महाराज जगन्नाथजी के दर्शन हेतु पुरी पधारे; मन्दिर के पट बन्द हो चुके थे अतः पुजारियों ने उनको दर्शन कराने से अस्वीकार कर दिया। क्रुद्ध हो उदयनाचार्यजी कह उठे—

'ऐश्वर्यमदमत्तोसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥'

अर्थात्, हे प्रभो! अभी तो ऐश्वर्यमद से मदोन्मत्त हो तुमने मेरी अवज्ञा की परन्तु याद रखना कि जब बौद्ध तुम्हारा खण्डन करेंगे तब तुम्हारी सत्ता मेरे ही अधीन होगी। यह अहंकार नहीं है; भक्त का आराध्य के प्रति अद्भुत अपूर्व अनन्य ममता का उद्रेक ही ऐसी भावमयी गर्वोक्ति का मूल है। भगवान्

को भी ऐसी प्रेम-रस-भीनी अटपटी वाणियाँ ही प्रिय हैं। उदयनाचार्यजी कृत 'न्याय-कुसुमांजलि' वस्तुतः उनके भाव-दर्प के अनुकूल ही है। इस ग्रंथ में अनेकानेक दिव्य श्रुतियों के आधार पर अकाट्य तर्कों द्वारा उदयनाचार्यजी ने अनीश्वरवादी नास्तिकों के दर्प का दलन कर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा गया है—

'न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।'

अर्थात्, आत्म-दर्शन के उद्देश्य से सर्वप्रथम श्रवण ही कर्तव्य है, अहंकारादिकों का षड्विध लिंग से महातात्पर्य परब्रह्म में निर्धारण करना ही श्रवण है; तदनन्तर मनन अनिवार्य है; सुदृढ तर्कों द्वारा श्रुत विषय को सुव्यवस्थित करना ही मनन है; यही श्रवणानन्तरागता मननात्मिका उपासना है। उदयनाचार्यजी कहते हैं—

'इत्येवं श्रुतिनीति सम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते,
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः,
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ।।'

अर्थात्, हे नाथ ! मैंने श्रुतिरूप निर्मल जल से नास्तिकों के दुस्तर्क कलंक, मलिन पंक सने पंकज, मानस को धोने का प्रयास किया है; इतने पर भी जिनके हृदय में आप पर विश्वास नहीं जम पाता उनका हृदय वज्र का टुकड़ा **'शैलसाराशया'** है। हे नाथ ! खण्डन अथवा मण्डन दोनों ही हेतुओं से विद्वद्वर आपका ही चिन्तन करते हैं एतावता आप दोनों पर ही कृपा करें।

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुस्मरणं भक्तिरुच्यते ।।'

अर्थात्, अन्य अभिलाषा-शून्य एवं स्मार्त-कर्मादि से अनावृत्त होकर आनुकूल्येन स्मरण ही भक्ति है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं **'आनुकूल्येन अथवा प्रातिकूल्येन कृष्ण-स्मरणं भक्तिरुच्यते येनकेन प्रकारेण ।'** अनुकूल अथवा प्रतिकूल, जिस किसी भाव से भी किया गया भगवत्-चिन्तन ही भक्ति है। तात्पर्य कि येन केन प्रकारेण मन को श्रीकृष्ण में सन्निविष्ट करना ही भक्ति है।

'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।'

(श्री० भा० १०।२९।१५)

अर्थात्, काम क्रोध भय स्नेह ऐक्यादि किसी भी भाव से जो चित्त को भगवान् में लगाता है उसको अन्ततोगत्वा भगवत्-पद की ही प्राप्ति होती है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देवता, दानव, मानव सबके हृदय में वही एक परात्पर प्रभु विद्यमान हैं तथापि उनका प्राकट्य ही फलपर्यवसायी है।

'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'

(मानस, बाल०, २२।३, ४)

अनन्तकोटि सच्चिदानन्दघन, अविकारी, परात्पर, परब्रह्म, परमात्मा प्रभु हृदय में विद्यमान हैं तथापि जीव अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवी में निमग्न रहकर दुःखी रहता है। श्रुति-कथन है—**'स एनमविदितो न भुनक्ति'** (बृ० १।४।१५) जब तक देव का बोध, साक्षात्कार नहीं होता तात्पर्य कि जो भगवद्-भक्त हैं, जिनमें भगवत्-प्रकाश का प्राकट्य हो गया है उनसे समावृत होकर भगवान् भी सुशोभित होते हैं।

'विप्रप्रसादात् धरणीधरोऽहम्।
विप्रप्रसादात् कमलावरोऽहम्।
विप्रप्रसादात् अजिताजितोऽहम्।
विप्रप्रसादात् मम राम नाम॥'

अर्थात्, भगवान् कह रहे हैं—"विप्र-कृपा से ही मैं धरणी का धारण एवं कमला का वरण करता हूँ। विप्रकृपावशात् ही मैं 'राम' नाम से सम्बोधित होता हूँ।" इस उक्ति का तात्पर्य भगवत्-व्यंजना में है। वेदादि शास्त्रों का जिनके द्वारा भगवत्-प्राकट्य, भगवत्-व्यंजना होती है, पठन-पाठन एवं आचार्यत्व ब्राह्मणों के हाथ में रहा एतावता सदा-सर्वदा-सर्वत्र सर्वव्याप्त परात्पर परब्रह्म की अभिव्यंजना, बोधन, प्राकट्य भी ब्रह्मणाधीन ही है।

'उच्चैर्गतिर्जगति सिद्धयति धर्मतश्चेत्।
तस्य प्रमा च वचनैः कृतकेतरैश्चेत्।
तेषां प्रकाशनदशा च महीसुरैश्चेत्।
तानन्तरेण निपतेत् क्व नु मत्प्रणामः॥'

अर्थात्, सम्पूर्ण लौकिक महत्ता ब्राह्मणाधीन है; नित्या वेद-वाणी के द्वारा ही धर्म की प्रमिति है; इस वेद-वाणी का प्रकाशन करनेवाले ब्राह्मण से अन्य किसके सन्मुख मेरा मस्तक नत हो सकता है?

**'पुस्तके लिखितान् मंत्रान् दृष्ट्वा जपति यो नरः।
स जीवन्नेव चाण्डालः मृतः श्वा चाभिजायते ॥'**

अर्थात्, जो पुस्तक में लिखे मंत्र को पढ़कर उसके जप में अग्रसर होता है वह जीवनकाल में चाण्डाल तथा मृत्यूपरान्त श्वान होता है। तात्पर्य कि आचार्य-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया मन्त्र ही फलपर्यवसायी होता है। **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (छा० ६।१४।२) आचार्यवान् पुरुष ही उस परात्पर परमात्म-तत्त्व को जान सकता है। **'ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'** (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) अवेदविद् उस परमतत्त्व को नहीं जान पाता। **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** (बृ० ३।९।२६)। इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपनिषद्-गम्य ही परात्पर परब्रह्म हैं। जिससे परमतत्त्व का प्राकट्य, भगवत्-साक्षात्कार हो उनसे समावृत होकर परमतत्त्व भगवत्-तत्त्व भी समलंकृत हो जाता है। अस्तु, कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड, विधि-पर्यवसायिनी, निषेध-पर्यवसायिनी, विधि एवं निषेध मुख से परब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाली, अनन्य-परा, अन्य-परा आदि अनेकानेक दिव्य श्रुतियों से समावृत हो अच्युत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय शोभा को प्राप्त हुए।

'भगवानच्युतो वृतः' भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत हैं। जैसे चन्द्रमा असंख्यात जनों का तापापनोदन एवं आह्लादन करते हुए भी स्व-स्वरूप में अच्युत ही रहता है, उसमें कभी न्यूनता नहीं आती, वैसे ही, श्रीकृष्णचन्द्र-स्वरूप भी असंख्यात प्राणियों के शोक-संताप का उच्छेदन एवं परमानन्द प्रदान करते हुए भी स्वयं स्व-स्वरूप में सदा ही अप्रच्युत रहते हैं; श्रीकृष्ण-स्वरूप में कोई न्यूनता कदापि नहीं आती। उदाहरणतः कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि अनेकानेक प्राणियों की विभिन्न अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए भी स्व-स्वरूप में स्थिर एवं निर्विकार रहते हैं; इसी तरह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी सदा-सर्वदा स्व-स्वरूप में स्थिर एवं निर्विकार रहते हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्य के मतानुसार अविकृत परिणामवाद मान्य है। तदनुसार परब्रह्म में विकार नहीं होता तथापि जगदात्मना परिणाम हो जाता है। ब्रह्म को जगत्-कर्ता मान लेने पर ब्रह्म की निर्विकारता नहीं बन पाती। यदि यह मान लिया जाय कि स्वयं ब्रह्म ही जगत् में परिवर्तित हो जाते हैं तो फिर प्रश्न होता है कि ब्रह्म सम्पूर्णतः अथवा अंशतः जगत् में परिवर्तित होता है? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म ही जगत्-रूप में परिवर्तित हो जाता है तो मुक्ति निरर्थक हो जाती है; यदि ब्रह्म अंशतः परिवर्तित होता है तो ब्रह्म में सावयवता बन जाती है। अस्तु, सिद्धान्त है कि परब्रह्म परिणाम-मुक्त है फिर भी जगदात्मना अविकृत परिणाम भी हो जाता है जैसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि आदि अनेकानेक प्राणियों

की अनेकानेक अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए भी क्षीण अथवा विकारी नहीं होते, वैसे ही, अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड का आविर्भाव कर देने पर भी परब्रह्म स्वयं निर्विकार, अक्षीण, अखण्ड एवं अप्रच्युत ही रहता है।

अद्वैतवाद-मतानुसार भी विवर्तवाद मान्य है। तदनुसार अघटित-घटना-पटीयसी माया-शक्ति के द्वारा ब्रह्म का विवर्त होता है; परब्रह्म ही नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच-रूप जगत् में विवर्तित होकर प्रपंच-रूप में प्रतिभासित होता हुआ भी स्व-स्वरूप में निर्विकार, अनन्त अखण्ड अप्रच्युत रूप से ही अधिष्ठित रहता है। षड्विध भाव-विकारयुक्त पदार्थ में ही च्युति सम्भव है। **'जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति।'** जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश ही षड्विध भाव-विकार हैं। भगवान् षड्विध भाव विकार-विवर्जित हैं, अस्तु, अनंतानंत ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन एवं संहरण करते हुए भी, अनन्तानन्त भक्तों को अनन्तानन्त आनन्द प्रदान करते हुए भी, सहस्र-कोटि गोपाङ्गनाओं की विविध अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए भी आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-स्वरूप में ही अधिष्ठित, अप्रच्युत हैं। **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** (श्री० भा० १०/२९/४२) भगवान् आत्माराम हैं, सदा आत्मा में ही रमण करते हैं तथापि गोपाङ्गनाओं की अभिलाषानुसार उनके रमण के प्रयोजक हुए। भगवत्-वाक्य है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (श्री० भ० गी० ४/११) तात्पर्य कि भक्त की भावना का अनुसरण करते हुए भगवान् तदनुगत ही अभिव्यक्त होते हैं। अस्तु, अनंत, अखण्ड, अचिन्त्य, आनन्दमय, तेजोमय, अनन्त कल्याण-गुण-गणमय, स्वप्रकाश, सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधानिधि, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से सम्पूर्ण गोपाङ्गनाओं की स्वभावानुसार तत् तत् अभिलाषा की पूर्ति हुई तथापि भगवत् श्रीविग्रह अप्रच्युत ही रहा।

अद्वैतमतानुसार जीव एवं ब्रह्म अभिन्न हैं। **'तत्त्वमसि'** (छा० ६/८/७), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १/४/१०), **'सोऽहम्'** (कौषीतकि १/६) आदि महावाक्यों का तात्पर्य यही है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं अहंकार से रहित जीवात्मा भी स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ही है। **'पाशबद्धो हि जीवः पाशमुक्तः शिवः'** जीवात्मा स्वरूप से अच्युत होते हुए भी मायाजन्य पाश से बद्ध हो अपने विशुद्ध रूप से विस्मृत होकर प्रच्युत हो जाता है। 'योगशास्त्रकार' कहते हैं—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

(पा० यो० सू० १/३-४)

अर्थात्, चित्-शक्ति, असंग पुरुषरूप ब्रह्म में अधिष्ठित होते हुए भी वृत्तियों के संविधान से स्वरूप में अप्रतिष्ठित-सी प्रतिभासित होती है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति ये पंचविध क्लिष्टा वृत्तियाँ हैं; इन पंचविध वृत्तियों के सन्निधान में चिति शक्ति असंग पुरुष-स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी अप्रतिष्ठित-सी प्रतिभासित होने लगती है। जैसे सरोवर-तट के वृक्ष सुस्थिर एवं एकरस होते हुए भी जल की चंचलता एवं मलिनता के कारण चंचल एवं मलिन प्रतीत होने लगते हैं, वैसे ही, चित्-शक्ति भी वृत्तियों से प्रतिबिम्बित हो गुणदोषमय प्रतिभासित होती है। **'मलिने दर्पणे मलिनं मुखं दृष्ट्वा मलिनं मे मुखम्'** मलिन दर्पण में अपने मुख के मलिन प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब-रूप मुख में मलिनता का आरोप कर लेता है, वैसे ही, जीवात्मा मूलतः ब्रह्म-स्वरूप होते हुए भी इन्द्रियों एवं वृत्तियों के संयोग से बहिर्मुख होकर प्रच्युत हो जाता है। **'अनीशया शोचति मुह्यमानः'** (मुं० ३/१/२) अविद्या के कारण मोहित जीवात्मा नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता है। जीवात्मा लुप्त-भग है, भगवान् अलुप्त-भग हैं। जीवात्मा का ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है, परमात्मा का ऐश्वर्य सदैव अलुप्त ही रहता है। वेद-स्तुति है—

'क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः' (श्री० भा० १०/८७/१४) अर्थात्, अजा के साथ तादात्म्यापन्न होते हुए भी आप स्व-स्वरूप में ही लीन रहते हैं क्योंकि आप अलुप्त-भग हैं। ब्रह्मविद्वरिष्ठ-तत्त्वज्ञ की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् मृगमरीचिकामात्र ही है अतः अनन्तप्रपंचोपप्लुत व्यवहार-दशा में भी वह ब्रह्मज्ञानी सदा अप्रच्युत ही रहता है।

'पुरुषः शक्तिभिर्यथा' (श्री० भा० १०/३२/१०) जैसे शांति दांति कांति विरक्ति विज्ञप्ति आदि अनेकानेक शक्तियों से समावृत होकर परमानन्दघन परमात्म-स्वरूप पुरुष की शोभा अतुलित हो जाती है, वैसे ही, जीवों के शोक-संतापों का समूल उन्मूलन करनेवाली श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाओं से समावृत होकर अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण अधिकाधिक शोभा को प्राप्त हुए। तात्पर्य कि भगवान्-प्रज्ञप्ति, भगवत्-साक्षात्कार-सम्पादिका श्रुति ही जीव की शोभा है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी जीव ही हैं परन्तु विवेक-बुद्धिरहित होकर शोभाहीन हैं; मानवमात्र विवेक-बुद्धिसंयुक्त हैं परन्तु भगवत्-साक्षात्कार-सम्पन्न व्यक्ति ही सुशोभित होता है, उसकी आभा, प्रभा, कांति अतुलित होती है।

'व्यरोचताधिकं तात' (श्री० भा० १०/३२/१०) कोई उपमान ऐसा नहीं है जिससे गोपाङ्गना-समावृत भगवान् श्रीकृष्ण की अतुलित शोभा का सांगोपांग

उदाहरण दिया जा सके। व्रज-सीमंतिनी-जन-समावृत भगवान् स्वयं ही अपने उपमान हैं।

'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः' (श्री० वा० रा० ६/१०७/५१) जैसे आकाश का उदाहरण स्वयं आकाश और समुद्र का उदाहरण स्वयं समुद्र ही है वैसे ही कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओं द्वारा समावृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने ही उपमान हैं। यदि कहा जाय कि असंख्य तारिकाओं से समावृत चन्द्र की तरह ही सहस्रकोटि गोपाङ्गनाओं से समावृत श्रीकृष्णचन्द्र की शोभा हुई, तो वह भी संगत नहीं बनती क्योंकि चन्द्रमा वियोगी जनों का उपतापक है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सर्वतापापनोदनकर्ता हैं; चन्द्र सकलंक है, श्रीकृष्णचन्द्र निष्कलंक हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सम्पूर्ण प्राणियों के सम्पूर्ण पाप-ताप, शोक-सन्ताप-निवर्तक तथा सर्वाह्लाद-जनक हैं। जहाँ अनंतानंत शक्ति-स्वरूपा गोपाङ्गनाओं से समावृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हों वहाँ शोक-मोह का संस्पर्श भी अकल्पनीय है। सहस्ररतिसमावृत कन्दर्प से भी श्री भगवान् की उपमा नहीं दी जा सकती; कन्दर्प योगियों का अध्येय, अप्रिय है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सम्पूर्ण चराचर ध्येय-ज्ञेय एवं प्रेय हैं। योगर्षियों से परिपूर्ण योगानन्द भी गोपाङ्गना-समावृत श्रीकृष्णचन्द्र का उपमान नहीं हो सकता क्योंकि योगानन्द का अनुभव केवल योगी ही कर सकता है परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन-जन्य आनन्द का अनुभव सर्व-सामान्य के लिए भी सुलभ है। **'पुरुषः श्रीकृष्णः सदाऽन्यावृतोऽपि शक्तिभिः समावृतो यथा अधिकं विरोचते तथैव एताभिः श्रुतिभिः सर्वाभिर्विधूतशोकाभिः संगतो भूयः शोभासमन्वितः सगुणः निर्गुणो वा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रोधिकं व्यरोचत।'**

उन विधूत-शोका गोपाङ्गनाजनों से समावृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अनौपमेय शोभा अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त हुई।

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उन गोपाङ्गनाओं के संग यमुना-पुलिन में प्रविष्ट हुए। उस समय कुन्द-मन्दार आदि विकसित पुष्पों की सुगन्ध से सुरभित शीतल, मन्द वायु चल रही थी; उस सौरभ से मतवाले हो भ्रमर गुञ्जार करते हुए मँडरा रहे थे।

पूर्व-प्रसंगों में यह बारम्बार कहा जा चुका है कि गोपाङ्गनाएँ परम शुद्ध भगवत्स्वरूपभूता ही हैं तथापि लीला-हेतु नित्य-प्राप्त में भी दुर्लभत्व, वामत्व

आदिकों को स्फूर्ति स्वीकृत है। रसाभिव्यक्ति-हेतु रस की लौकिक मर्यादा के निर्वाहार्थ ही लोक-दृष्ट्या पूर्वराग, विप्रयोग-संप्रयोग आदि का वर्णन हुआ है।

'ताः समादाय' वे सब गोपाङ्गनाएँ एक समूह में एकत्रित हुईं; उनकी संख्या सहस्र कोटि थी; वे सभी विविध भाववती थीं। सामान्यतः ऐसी स्थिति में सामंजस्य का स्थापित होना असम्भव ही है; परन्तु गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के विप्रयोग-ताप से दग्ध थीं; इस ताप से दग्ध हो उनके हृदय विशुद्ध हो गये अतः उनमें सामञ्जस्य स्थापित हुआ और वे एक समूह में उपस्थित हुईं। व्यवहारतः भी देखा गया है कि कठिन अवसर उपस्थित होने पर सम्पूर्ण मतभेद स्वभावतः ही विस्मृत हो जाते हैं, फलतः उपस्थित कठिनता के निवारण का प्रयास भी सामूहिक हो जाता है।

भगवान् ही सर्वान्तरयामी एवं सर्वाधिष्ठान हैं अतः उन्हींमें सम्पूर्ण शक्तियाँ समन्वित होती हैं। भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसम्'** इत्यादि रूप से सम्पूर्ण गुण-गणशून्य अशेष-विशेषातीत भी हैं, सर्व गंध, सर्व रस, सर्व काम, सत्य-संकल्प आदि स्वरूप में सर्व-शक्ति-सम्पन्न भी हैं; भगवत्-स्वरूप **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** हैं। तात्पर्य कि विविध-प्रकार की सम्पूर्ण शक्तियों का समन्वय भगवान् में ही होता है। अस्तु, **'ताः समादाय'** शक्तिरूपा वे सब गोपाङ्गनाएँ एक समूह में एकत्रित हुईं।

'कालिन्द्याः निर्विश्य पुलिनं विभुः' एक समूह में एकत्रित हुई उन सहस्र-कोटि गोपाङ्गनाओं को लेकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यमुना-पुलिन पर पधारे। गोपाङ्गनाएँ तो पूर्वतः ही यमुना-पुलिन पर विराजमान थीं; अतः इस उक्ति से प्रतीत होता है कि वे पूर्वतः किसी ऐसे स्थान पर थीं जो निर्जन, नीरव एवं सम्पूर्ण उद्दीपन-सामग्री से शून्य था। अनन्य चिन्तन-हेतु ऐसे ही स्थलों की आवश्यकता होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के विप्रयोग-जन्य तीव्र संताप से संत्रस्त गोपाङ्गनाएँ भावोद्रेक में रुदन करने लगीं। उनका वह सस्वर रोदन स्वर-ताल-मूर्च्छनासंयुक्त संगीतरूप में प्रस्फुटित हुआ, वह गीत ही 'गोपी-गीत' है। भावोद्रेक होने पर भगवान् का प्राकट्य हो जाता है; भगवत्-प्राकट्य से सम्पूर्ण आनन्दमय हो जाता है।

'विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्।' यमुना-पुलिन पर कुन्द-मन्दार उपलक्षित नाना प्रकार के पुष्प विकसित हो रहे थे। उन पुष्पों की सौरभ से सुरभित शीतल मन्द पवन चल रहा था। साक्षात् मन्मथ-मन्मथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आविर्भूत होकर एक समूह में संगठित हुई उन सहस्र कोटि गोपाङ्गना-जनों को यमुना-पुलिन जैसे सुरम्य स्थान पर ले गये जहाँ सम्पूर्ण

उद्दीपन-सामग्री पूर्णतः विकसित हो रही थी। ऐसे समय में ही रासलीला का प्रारम्भ हुआ। सांगोपांग सम्पूर्ण प्रकृति ही भगवल्लीला का उपकरण है।

वृन्दावन-धाम एवं वहाँ हुई रासलीला के सम्पूर्ण उपकरणों का प्राकट्य ही भगवान् की योगमाया द्वारा हुआ एतावता वृन्दावन-धाम में सहस्र कोटि गोपाङ्गनाओं की स्थिति अमान्य नहीं। वृन्दावन-धाम में की गई भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाओं का ऐतिहासिक प्रमाण हो अथवा न हो, प्रस्तुत प्रसंगानुसार उनके सैद्धान्तिक पक्ष की ही व्याख्या वांछित है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति के तेज में ही रासलीलान्तर्गत सम्पूर्ण भावों का ध्यान है। शरीर की बहुसंख्यक नाड़ियों में इड़ा एवं पिंगला ही विशेष महत्वपूर्ण है; इनके मध्य सुषुम्ना नाड़ी है; सुषुम्ना नाड़ी के मध्य ब्रह्मनाड़ी और ब्रह्मनाड़ी के मध्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म तेजोमय कुण्डलिनी शक्ति विराजमान है; यह कुण्डलिनी नाड़ी **'बिसतन्तु तनीयसी'** बिसतन्तु से भी अधिक सूक्ष्म है। कमलनाल से निकलनेवाले श्वेत-सूक्ष्म तन्तु ही बिसतन्तु हैं। **'विवस्वदयुतभास्वरप्रकाशी'** यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म कुण्डलिनी दस हजार सूर्यनारायण के समान प्रकाशमय तेजोमय है; **'शतसुधा-मयूखशीतला'** शत-शत चन्द्रमा के तुल्य अत्यंत शीतल है; **'विद्युत् पुञ्जपिंजरा'** विद्युत् द्युतिरू पुञ्ज के समान पिंजरवर्ण है। इस अद्‌भुत रूपा कुण्डली में ही चतुर्दल, षट्‌दल, दशदल, द्वादशदल, चतुर्दशदल एवं सहस्रदल कमल अन्तर्गत विद्यमान हैं; इसमें ही ब्रह्मरन्ध्र है; ब्रह्मरन्ध्र में सुधा-समुद्र है; सुधा-समुद्र के अन्तर्गत मणिद्वीप; मणिद्वीप के अन्तर्गत मन्दार-कला आदि नव-वाटिका हैं; इन सबके मध्य चिन्तामणि मन्दिर है; इस मणिमय मन्दिर के मध्य मणिमय सिंहासन पर सपरिकर भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य होता है। व्यवहारतः भी, स्वप्न-काल में इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों में ही आकाशादि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्-प्रपंच का दर्शन होता है। अस्तु, भाव एवं उपासनादृष्ट्या वृन्दावन-धाम में सहस्रकोटि गोपाङ्गनाओं का अपने-अपने परिकर से संयुक्त होकर विद्यमान होना कदापि असंगत नहीं कहा जा सकता।

'तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥'

(श्री० भा० ११/१२/११)

अर्थात्, गोपाङ्गनाओं को अपने प्राणनाथ, प्राणवल्लभ, प्रियतम मदन-मोहन श्यामसुन्दर के संग रासलीला करते हुए अनन्त ब्राह्मी रात्रियाँ बीत गईं तथापि उनको भगवान् श्रीकृष्ण के सन्निवेश में क्षणार्धवत् ही प्रतीत हुईं। एक ब्रह्मरात्रि अनन्त कोटि सामान्य रात्रियों के तुल्य होती है। तर्क-सिद्ध है कि

स्वभावानुसार अति स्वल्प काल में अत्यन्त दीर्घता का और अति दीर्घ काल में भी अत्यन्त स्वल्पता का भान होता है। दुःख में जो काल दीर्घतम होता है वही सुख में अल्पतम प्रतीत होने लगता है। गोपाङ्गनाओं के लिए भगवद्-विप्रयोग में क्षणार्द्ध भी **'कल्पसमा बभूवुः'** कल्पतुल्य हो जाता है, परन्तु भगवत्-सन्निवेश में अनेक ब्राह्मी रात्रियाँ भी क्षणार्द्धवत् व्यतीत हो गईं। योगियों, तार्किकों और मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तानुसार भी संकल्प की पूर्वकोटि विस्मृत हो जाने पर ही संकल्पित पदार्थ की याथातथ्येन प्रत्यक्षानुभूति होती है। आगम एवं पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि संकल्प की पूर्वकोटि विस्मृत होने पर ही संकल्पित पदार्थ का साक्षात्कार संभव है।

'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥'

(श्री० भा० १०/२९/१)

रासलीला का प्रारम्भ ही योगमाया के उपाश्रयेण है; योगमाया अघटित-घटना-पटीयसी है; असम्भव को भी सम्भव कर दिखाना ही योगमाया का चमत्कार है। परम ऐश्वर्यशालिनी वृन्दा शक्ति भी भगवल्लीलोपकरण-संपादन में प्रतिक्षण प्रस्तुत है। जहाँ सर्वशक्तिमान्-सर्वज्ञ, सर्व-ऐश्वर्यपरिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का नित्यनिकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी श्री राधारानी का सन्निधान है, जहाँ अनन्त ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी भी सेवा के लिये उपयुक्त अवसर की निरन्तर बाट जोहती रहती है उस व्रजधाम में शतकोटि व्रजाङ्गनाओं की उपस्थिति में संदेह ही निर्मूल है। अघटित-घटना-पटीयसी योगमाया के द्वारा ही यमुना-पुलिन पर सहस्र कोटि प्रविस्तर गोपाङ्गनाएँ, उनके पृथक्-पृथक् निकुञ्ज, किसलय-तल्प, गीत-नृत्यादि के उपकरण, विविध उपभोग-सामग्रियाँ सांगोपांग प्रस्तुत हो गईं।

महारास-लीलान्तर्गत भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रत्येक गोपाङ्गना के साथ नृत्य किया। तात्पर्य कि एक ही पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सहस्र कोटि स्वरूप में अभिव्यक्त हो तत्-तत् गोपिका के संग रास में सम्मिलित हुए। यह चमत्कार अघटित-घटना-पटीयसी मंगलमयी योगमाया का ही है। इसी तरह तत्-तत् गोपिका-स्वरूप में नित्य-निकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी श्री राधारानी का ही प्राकट्य भी मान्य है।

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥१२॥

शरत्कालीन चन्द्र-रश्मियों के सन्दोह से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया तथा परम कल्याणमय शिवमय प्रकाश प्रादुर्भूत हुआ; कृष्ण-सखी भगवती यमुना, कालिन्दी ने अपने हस्त तरल तरंगों से अपने पुलिन को रास-लीला-हेतु मार्जित किया; भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अष्ट पटरानियों में एक भगवती कालिन्दी भी हैं।

सप्तकुल पर्वतों में एक कलिन्द पर्वत है; **'कलिं द्यति खण्डयति इति कलिन्दः'** जो कलि, कलह का खण्डन कर दे वही 'कलिन्द' है। कुल-पर्वत कलिन्द की पुत्री कालिन्दी हैं। कालिन्दी-पुलिन का ही यह प्रभाव है कि उसमें प्रविष्ट होनेवाली सहस्र कोटि गोपाङ्गनाएँ परस्पर विरोध एवं मतभेद को भूलकर, सम्पूर्ण कठोरता एवं विषमता को भूलकर अविरोधेन संघटित हो रासलीला में सहयोगिनी बन सकीं।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपाङ्गनाओं के हृदय में जो ताप, हृद्रोग-रूप कामादि, कन्दर्पादि थे उन सबका विधूनन हो गया। भगवत्-स्वरूप-चिन्तन से ही साधक के सम्पूर्ण मनोविकारों का प्रशमन हो जाता है। भगवद्दर्शन से प्रादुर्भूत होनेवाले लोकोत्तर आह्लाद द्वारा साधक के हृद्गत सम्पूर्ण काम-कन्दर्पादि मनोविकार एवं ताप प्रकम्पित हो जाते हैं। जैसे, मनोरथ का अन्त होने पर श्रुतियाँ मौन होकर 'नेति नेति' वचनों के द्वारा अतद् व्यावर्त्तन द्वारा परम तत्त्व में पर्यवसित होती हैं, वैसे ही, विभिन्न मनोरथों का अन्त हो जाने पर साधक के भी सम्पूर्ण पाप-ताप शोक-सन्ताप का समूल उच्छेदन तथा परमानन्द का आविर्भाव होता है। मनरूप रथ ही मनोरथ है। इस मनरूप रथ की गति जहाँ समाप्त हो जाय।

'तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे' (श्री० भ० गी० २/७०) सम्पूर्ण काम जिसमें प्रविलीन हो जायँ।

'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (श्री० भा० गी० २/७०) वही शान्ति को प्राप्त कर सकता है; अनेक मनोरथयुक्त काम-कामी कदापि शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

उन गोपाङ्गनाओं ने अपने कुच-कुंकुम से अंकित दिव्य, सुन्दर, मनोहर उत्तरीय से अपने आत्मस्वरूप आत्म-बन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लिए आसन बनाया।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥

उस आसन पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हुए। भाव-योग से परि-मार्जित परिष्कृत हृत्-सरोज में ही भगवान् का प्राकट्य सम्भव है। गोपाङ्ग-नाओं की परिषद् में विराजमान भगवान् उनसे पूजित होकर विशेषतः शोभाय-मान हुए। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक प्रपंच में जो भूः भुवः स्वः, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रैलोक्य हैं उनकी अधिष्ठात्री शक्ति महालक्ष्मी के एकमात्र आस्पद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उन कुचकुंकुमांकित दिव्य उत्तरीयों से बने हुए आसन पर विराजमान हो अतिशय शोभा को प्राप्त हुए।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४/३/३२) आनन्दकन्द परमानन्द भगवान् के आनन्द कणमात्र से ही सम्पूर्ण-भूत आनन्द को ग्रहण करते हैं।

'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।' (श्री० भा० ११/१/६) उस लावण्यामृत सुधा-सिन्धु के बिन्दुमात्र से ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणी लावण्य-समर्थित होते हैं।

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

उन गोपाङ्गनाओं ने अनंग को भी प्रकाशित करनेवाले, अनंग का भी उद्दीपन करनेवाले साक्षात् मन्मथ-मन्मथ सांग-श्यामांग भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का विशेष सम्मान किया। किसी गोपिका ने अपनी मन्द-मन्द एवं विलासपूर्ण मुस्कान से उनका स्वागत किया तो किसीने उनके चरण-कमलों को अपने अंक में रख लिया; भगवदंग-प्रत्यंग सम्मिलन से आनन्दित हुई वे कहने लगतीं—"हमारे प्रियतम कितने सुकुमार, कितने मधुर हैं।" साथ ही, भगवत्-विप्रयोगजन्य तीव्र सन्ताप की स्मृति के कारण कभी-कभी रूठकर उलाहना भी देने लगतीं ताकि भगवान् स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लें। ऐसी भावनाएँ अनन्य प्रेम की अद्भुत लोकोत्तर उत्कर्ष की ही परिणति है।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥२१॥

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गोपाङ्गनाओं के प्रति कह रहे हैं कि हे सखियो ! यह प्रत्यक्ष ही है कि तुम लोगों ने मेरे लिए लोक-मर्यादा, वेद-मार्ग एवं बन्धु-बान्धवों का त्याग किया और मैं अन्तर्धान हो गया। हे प्रेयसीजनो ! मैं भी तुमको परोक्षतः सदा ही भजता रहता हूँ। मुझमें तुम्हारी प्रीति सदा ही अनन्य एवं अखण्ड बनी रहे, इसी हेतु मैं प्रत्यक्षतः अन्तर्धान होते हुए भी परोक्षतः सदा ही तुमको भजता रहता हूँ। तुम मेरे प्रेम में दोषानुसन्धान न करो, मैं सदा ही तुम्हारा हूँ और तुम लोग सदा ही मेरी हो।

वृषभानु-कुँवरि राधारानी एवं गोपाङ्गनाओं में अनन्यता एवं रसिकता दोनों ही है परन्तु भगवान् में रसिकता है, अनन्यता नहीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही कह रहे हैं **'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्'** (श्री० भाग० १०/३२/२२) हे गोपाङ्गनाओ, मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता। वल्लभाचार्यजी कहते हैं—"भगवान् में जीव का प्रेम स्वाभाविक है परन्तु जीव के प्रति भगवान् का प्रेम मायिक है, स्वाभाविक नहीं। जैसे मरु-मरीचिका से परिलक्षित सिन्धु भी जल-बिन्दु के तुल्य नहीं हो सकता, वैसे ही, जीव के प्रति भगवान् का मायिक प्रेम भी भगवान् के प्रति भक्त जीव के स्वाभाविक प्रेम-बिन्दु की तुलना करने में असमर्थ है।" एतावता भक्त कहता है कि भगवान् में यह दोष है कि उनमें अनन्यता नहीं है। आराधना करते हुए भक्त पृथु कहते हैं, हे प्रभो ! यदि महालक्ष्मी और आपके भक्तों में मतभेद हो जाय तो आप निश्चय ही भक्तों का साथ देंगे क्योंकि आप आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, आत्माराम, सर्व-निरपेक्ष हैं। विचित्र भाव-लहरियाँ हैं भक्तों की।

अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त जीव भगवदाश्रित हैं परन्तु भगवान् ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त जीवों के एकमात्र आश्रय हैं। तुलसीदासजी कहते हैं, **'जीव अनेक एक श्रीकंता।'**

यथार्थतः भगवान् अनन्य भी हैं। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—

'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' (श्री० भाग० ९/४/६८) जो भक्त मुझसे अन्य कुछ नहीं जानते मैं भी उन भक्तों से अन्य कुछ नहीं जानता। भगवान् सर्वज्ञ-शिरोमणि, सर्वव्याप्त, सम्पूर्ण गुण-गणों के आस्पद हैं अतः उनमें अनन्यता गुण का अभाव असम्भव है। अपने अपकर्ष को दिखाते हुए अपने प्रति गोपाङ्गनाओं के प्रेमोत्कर्ष की स्पष्टतम अभिव्यंजना ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अन्तर्धान हो जाने का हेतु है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, **'प्रेम्णावत वयं जिताः अतएव वयं धन्याः'** प्रीति की रीति निबाहते हुए पराजित होने की इच्छा रखनेवाले अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय प्रभु को हम जीत लेती हैं अतः हम धन्य-धन्य हैं।

सिद्धान्ततः लोक, वेद एवं स्व का परित्याग अनर्थमूलक है परन्तु श्रीकृष्ण-सम्बन्ध से यही परम पुरुषार्थ है; प्रस्तुत संदर्भ में ऐसी उक्तियों का तात्पर्य सर्वथा भिन्न है। नवीनमतानुसार यह भी कहा जा रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी लीलाओं एवं उपदेशों द्वारा वेदों की अवमानना ही की है। अपर्याप्त ज्ञान तथा असमीचीन दृष्टि ही ऐसी अनर्थात्मक आलोचना का मूल है। उदाहरणतः श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य है—

'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' (२/४५) हे पार्थ ! वेद-वाद-रत जन की प्रशंसा नहीं होती। तात्पर्य कि **'वेदेषु वादाः अर्थवादः'** वेदों में जो वाद हैं अर्थात् वेदों में जो अर्थवाद हैं उसमें निरत जन नहीं जानते कि **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'** (जै० सू० १/२/१) आम्नाय-पद वाच्य समस्त वेद-राशि का क्रिया अर्थ है अतः जो अतदर्थ है, क्रियार्थक नहीं हैं उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता; अस्तु, जो ब्रह्म-पर्यवसायी वेद का अभिप्राय विध्यर्थ को न समझते हुए केवल मात्र अर्थवाद में ही निरन्तर संलग्न रहते हैं, वे स्तुत्य नहीं होते।

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' (श्री० भ० गी० २/४५) हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य-विषय हैं, तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'** अर्थात् **'कर्मकाण्डपरा वेदाः'** कर्मकाण्ड-परक वेद त्रैगुण्य-विषय संसार का प्रतिपादन करते हैं। साध्य-साधनात्मक जगत् ही त्रैगुण्य विषय है। उदाहरणतः अग्निहोत्रादिक साधन हैं, स्वर्गादि साध्य हैं। कर्मकाण्ड-परक वेदों का भी महातात्पर्य ब्रह्म में ही है यद्यपि अवान्तर तात्पर्य साध्य-साधनात्मक जगत् में भी है। गीता-वाक्य है—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (श्री० भ० गी० १५/१५) सम्पूर्ण वेदों के द्वारा एकमात्र मैं ही वेद्य हूँ। उपनिषद्-वाक्य है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १/२/१५) सम्पूर्ण वेद जिसका निरूपण करते हैं। कर्म-काण्ड-परक वेदों का भी महातात्पर्य अन्तःकरण-शुद्ध्यादि द्वारा ब्रह्म-निरूपण में ही है; उपासना-काण्ड-परक वेदों का भी महातात्पर्य चित्त-विक्षेप-निवृत्ति द्वारा स्वप्रकाश, परब्रह्म, परमात्मा में ही पर्यवसित होता है। अवान्तरतात्पर्य विधया कर्मकाण्ड एवं उपासना-काण्ड-परक, वेदों का त्रैगुण्य-संसार में अभिप्राय हो सकता है परन्तु महातात्पर्य विधया तो कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड एवं ज्ञान-काण्ड-परक वेदों का महातात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में ही है।

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, गोपाङ्गनाओ ! आप लोगों ने सम्पूर्ण वेदों

के महातात्पर्य विषयीभूत मेरे लिए लोक एवं स्व का परित्याग किया। **'लोकाः पामरजनाः। मदर्थ उज्झिता लोकाः पामरजनाः, वेदाः पामरजननिर्णीतार्थक-वेदाः'** अर्थात्, पामर-जनों द्वारा निर्णीत किया गया है अर्थ जिसका ऐसे वेदार्थ को तथा स्व को आप लोगों ने मेरे लिए त्याग दिया है। जाति-कुल आदिकों के सम्बन्ध में उपस्थित विविध प्रकार के धर्म ही 'स्व' हैं। सिद्धान्त है कि **'मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः'** (बृ० १/१५/१६) पुत्र-जन्म से मनुष्य-लोक, **'कर्मणा पितृलोकः'** (बृ० १/५/१६) वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त कर्म से पितृ-लोक तथा **'विधया दैवलोकः'** (बृ० १/५/१६) वेदोक्त दहर, शांडिल्य, वैश्वानर आदि विधाओं की आराधना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। श्रुति-कथन है—

'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० ४/४/२२)

येषां नः अस्माकं अयं अपरोक्ष आत्मा एव लोकः फलं लोक्यते दृश्यते प्राप्यते इति लोकः फलम्।

अर्थात्, हमको अपरोक्ष, आत्म-स्वरूप लोक ही अभीष्ट है; जिसको अप-रोक्ष आत्मस्वरूप लोक ही अभीष्ट हो उसको मानुष एवं देव द्विविध वित्त से क्या प्रयोजन ? तात्पर्य कि जैसे वेदान्ती संन्यास का आश्रय करके कर्मकाण्ड-परक वेदों का परित्याग कर देता है, वैसे ही, गोपाङ्गनाओं ने भी अपरोक्ष भगवत्-साक्षात्कारस्वरूप लोक के लिए अन्य त्रैगुण्यात्मक लोकों तथा तद्वत् तदनुगुण स्व का भी परित्याग कर दिया। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—"हे प्रेयसी जनो ! आप लोगों ने वेदराशि के महातात्पर्य विषयीभूत मेरे लिए सर्वस्व का त्याग कर दिया; एवंभूत उत्कृष्ट त्याग करनेवाली आप लोगों की स्वाभाविक वृत्ति-परम्परा को **'स्थूला-निखनन-न्यायतः'** अधिकाधिक दृढीभूत करने के हेतु ही हम कुछ काल के लिए अन्तर्धान हुए; इस अन्तर्धान-काल में भी हम परोक्षतः आप लोगों को भजते ही रहे हैं।"

गोपाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रिय थे; जैसे प्राण के बिना प्राणी का अस्तित्व ही असम्भव है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बिना उनका जीवन ही असंभव हो गया था। वस्तुतः तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से उनका वियोग कदापि होता ही नहीं तथापि विप्रलम्भ की प्रतीति होती है। जीव की परा प्रकृति अथवा विभिन्न अन्तरंगा शक्तियों से भगवान् का विप्रलम्भ कदापि नहीं होता।

'आनंद सिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कत मरत पियासा॥'

भगवत्-विप्रलम्भ की प्रतीति भ्रान्ति-जन्य है; जैसे कण्ठ में विद्यमान मणि में भी भ्रान्ति के कारण अप्राप्ति की प्रतीति हो जाय, वैसे ही, जीव भी भ्रान्तिवश सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तरयामी प्रभु से भी विप्रलम्भ का अनुभव करने लगता है।

एक अत्यन्त मधुर लीला का वर्णन मिलता है, भगवान् के वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि विद्यमान है; इस मणि के दिव्य-स्वरूप में वृषभानु-नंदिनी राधारानी ने अपने मुखचन्द्र का दर्शन किया, अपने ही प्रतिबिंब को देखकर वे विचार करने लगीं कि मेरे प्रियतम प्राणवल्लभ के वक्षःस्थल पर यह अन्य कौन विराजमान है ? अथवा मेरे प्रियतम प्राणनाथ कहाँ हैं ? अब उनको श्रीकृष्ण-विप्रयोग का अनुभव होने लगा। विप्रयोग-जन्य अत्यन्त तीव्र संताप के कारण उनके मुखारविन्द से दीर्घ, उष्ण उच्छ्वास आविर्भूत हुआ; इस उच्छ्वास से मणिरूप दिव्य दर्पण धूमिल पड़ गया; दर्पण के धूमिल पड़ते ही वह दिव्य प्रतिबिम्ब लुप्त हो गया; प्रतिबिम्ब के अदृष्ट हो जाने पर भगवान् के वक्षःस्थल पर विराजमान नारी की प्रतीति का भी अन्त हो गया। अतः राधारानी ने एक बार पुनः भगवत्-संयोग का अनुभव किया। नेत्र-निमीलन-काल में विप्रयोग तथा उन्मीलन-काल में संप्रयोग का अनुभव क्षणे-क्षणे संप्रयोग एवं विप्रयोग की तीव्रानुभूति से रस की निष्पति होती है। रस-विशेष की वृद्धि एवं विशेषानुभूति हेतु ही संप्रयोग एवं विप्रयोग की पुनः-पुनः प्रतीति होती है।

रासलीला में गोपाङ्गनाओं को बाह्य-रमण प्राप्त हुआ; श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द के मधुर, मनोहर, मंगलमय स्वरूप का सर्वांगीण दर्शन एवं आश्लेष ही बाह्य रमण है। बाह्य-रमण, आन्तर-रमण का साधन है; बाह्य-रमण द्वारा अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठा उद्बुद्ध हो जाने पर स्वभावतः ही आन्तर-रमण होने लगता है। जैसे, द्रवित लाक्षा में ही रंग का स्थायी-भाव सम्भव है, वैसे ही बाह्य-रमण द्वारा द्रवीभूत चित्त में स्थिरता एवं एकनिष्ठता प्रस्फुटित होती है; सुदृढ़ एकनिष्ठा के फलस्वरूप आन्तर-रमण होने लगता है।

> **न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां**
> **स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।**
> **या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः**
> **संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥**

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे प्रिय सखीजनो ! आपने मेरे लिए देह-गेह की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है जिनको योगीजन भी नहीं तोड़ पाते; मुझसे तुम्हारा यह मिलन अत्यन्त साधु-कृत्य है; देवताओं के जीवन से भी,

तात्पर्य कि अमर होकर अनन्तकाल तक भी मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता; अपने सौम्य-स्वभाव के कारण तुम मुझको उऋण भी कर दो तो भी मैं तो अपने-आपको सदा ही तुम्हारा ऋणी मानता हूँ।

विशिष्ट अर्थ-गाम्भीर्य के कारण यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं से कह रहे हैं, हे गोपाङ्गनाओ, तुम लोगों के इस साधु-कृत्य, उत्तम अनुरक्ति से हम कदापि उऋण नहीं हो सकते। सर्वस्व-त्याग-पुरस्सर भगवत्-अधिगमन ही साधु-कृत्य है; विश्व-प्रपंच का समूल परित्याग कर सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश परब्रह्म का अनुसरण करना ही सर्वोच्च साधु-कृत्य है।

'अन्यानि कृत्यानि केनचित् हेतुना सुसाधुकृत्यानि भवन्ति'

अन्यकृत किसी कारणविशेष से साधु-कृत्य होते हैं परन्तु भगवत्-अधिगमन **'स्वेनैव सुसाधुकृत्यं'** है। वेद-विहित सम्पूर्ण शुभ-कर्म वेद-विहितत्वात् साधु-कृत्य हैं परन्तु सर्वस्व त्यागपूर्वक भगवत्-चरणारविन्दों की शरण ग्रहण करना ही सर्वनैरपेक्ष्येण स्वाभाविक साधु-कृत्य है। **'मां एकं अद्वितीयं परमात्मनं शरणं आश्रयं'** अथवा **'मामेकं अद्वितीयं परमात्मनं शरणं रक्षितारं अवगच्छ निश्चिनु'** आदि शरणागति के अनेक प्रकार हैं। पूर्वप्रसंगों में शरणागति के विभिन्न प्रकारों की विशद व्याख्या की जा चुकी है।

सामान्यतः प्राणी अपने दुःख-निवृत्ति हेतु ही भगवान् को पुकारता है; सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् अकारण-करुण करुणा-वरुणालय भगवान् शरणागत की सम्पूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए भी स्वयं उसके ऋणी हो जाते हैं।

एक कथा है, महाराज धृतराष्ट्र बड़े कूटनीतिज्ञ थे। उन्होंने संजय को अपना दूत बनाकर धर्मराज युधिष्ठिर के पास भेजा; धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति महाराज धृतराष्ट्र का सन्देश देते हुए संजय कह रहे हैं—"धर्मराज युधिष्ठिर! तुम योग्य पुत्र हो, दुर्योधन तो अयोग्य पुत्र है। योग्य पुत्र से ही आशा की जा सकती है अतः हम तुम्हींसे कह रहे हैं कि जैसे तुमने इतने दिवसपर्यन्त वनवास करते हुए अपना जीवन व्यतीत किया, वैसे ही अवशेष जीवन भी बिता दो। हे पुत्र! राज्य के लोभ में आकर युद्ध के लिए तत्पर न होओ; युद्ध होने पर सम्पूर्ण बन्धु-बान्धवों का विनाश हो जायगा अतः सबके हित में राज्य त्याग-कर तुम महान् यश के भागी बनो।" धर्मराज युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा थी कि वे भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा का सतत अनुसरण करेंगे। अस्तु, संजय द्वारा दिए गये संदेश को सुन लेने पर धर्मराज ने अपनी प्रतिज्ञा संजय को कह सुनाई।

संजय भगवान् श्रीकृष्ण के यहाँ पहुँचे। श्रीकृष्ण अन्तःपुर में आराम कर रहे थे, उनका सिर रुक्मिणी की गोद में तथा चरणारविन्द-युगल अर्जुन एवं द्रौपदी की गोद में विराजमान था। भगवत्-आदेश प्राप्त कर संजय ने महाराज धृतराष्ट्र का संदेश तथा धर्मराज की प्रतिज्ञा कह सुनाई। उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—"हे संजय! भरी सभा में जब पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महाराज धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन आदि सब हों तब तुम मेरा संदेश कह सुनाना—

'ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥'

(म० भा० ५/५९/२२)

अर्थात्, हे कौरवो! सावधान होकर सुनो; मुझ पर एक ऋण है जो प्रतिक्षण काल की गति के साथ बढ़ता जा रहा है। एक क्षण के लिए भी मुझको वह ऋण भूलता नहीं; जिस समय कौरवों की भरी सभा में दुष्ट दुःशासन ने द्रौपदी का चीर-हरण करने का प्रयास किया था उस समय अत्यन्त उद्विग्न, संतप्त होकर मेरी सखी द्रौपदी ने 'हे गोविन्द! हे द्वारिकावासिन्' कहकर मुझको पुकारा था। सखी द्रौपदी की उस आर्त पुकार का ऋण मुझ पर बना हुआ है। वस्तुतः तो भगवान् श्रीकृष्ण वस्त्र-स्वरूप में आविर्भूत हुए थे अतः दुःशासन साड़ी खींचते हुए थक गया परन्तु द्रौपदी की लाज को आँच नहीं आयी। कवि कहता है—

'नारी बीच सारी है कि सारी बीच नारी है।
कि नारी ही की सारी है कि सारी ही की नारी है॥'

निष्कर्ष यह कि भगवत्-स्वभाव ही विचित्र है:

'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ।
केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'

(मानस, ७/१२३/४)

शरणागत की अभीष्ट-सिद्धि तथा रक्षा करते हुए भी प्रभु उसके ऋणी हो जाते हैं। रामावतार में भगवान् राम हनुमन्तलाल के ऋणी हुए; महर्षि वशिष्ठ को युद्ध में सहायक हुए बन्दर-भालुओं का परिचय देते हुए उनको अपना 'सखा' कहते हैं; इतना ही नहीं, भगवान् राम कह रहे हैं, "महाराज! जैसे नाव के सहारे समुद्र पार किया जाता है, वैसे ही अपने इन सखाजनों के सहारे हमने युद्धरूप समुद्र को पार किया; इन्हींकी सहायता से बड़े भयंकर-भयंकर दानवों

को मारकर हम जयी हुए।" क्या यथार्थतः ही भगवान् राम को शत्रु-हनन के लिए उन बन्दर-भालुओं की सहायता की अपेक्षा थी ?

'किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः।'

(श्री० भा० ९/११/२०)

'पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर॥'

(वा० रा० ६/१८/२३)

अर्थात् जो अंगुलि के अग्रभाग से सम्पूर्ण दानव एवं गुह्यकों के हनन में समर्थ है; इतना ही नहीं, केवल संकल्पमात्र से सृष्टि-रचना, पालन एवं संहार में समर्थ है, वह सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान प्रभु भी शरणागत हनुमन्त-लाल को, बन्दर-भालुओं को अपना उपकारक मानते हैं; हनुमन्तलाल के तो वे चिर ऋणी हैं।

भगवान् राम स्वयं ही कह रहे हैं—

'प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥'

(मानस, ५/३१/६, ७)

नित्य-मुक्त भगवान् भी भक्त-प्रेम के ऋणानुबन्ध हैं; यह ऋणानुबन्ध ही भगवान् को सर्वाधिक प्रिय भी है।

अस्तु, स्वभावानुसार ही भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं के भी ऋणी हो जाते हैं। ब्रह्मा भी कह रहे हैं—

'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥'

(श्री० भा० १०/१४/३५)

अर्थात्, हे प्रभो ! इन गँवार व्रजवासियों के ऋण से आप क्योंकर अनऋण हो पायेंगे यह सोचते-सोचते हमारी बुद्धि परिश्रांत हो जाती है। जिनके सम्पूर्ण देह-गेह, अर्थ, सुहृत्, प्राण, अन्तःकरण, रोम-रोम आप ही में समर्पित है, जिनके अन्यार्थ का ही पूर्णतः बाध हो गया है उन भक्तों से, उन व्रज-सीमन्तिनी-जनों से आप क्योंकर अनऋण हो सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भी यही कहते हैं—

'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं।'

'निरवद्यो दोषरहितः संयुक् संयोगः यासां ताः निरवद्यसंयुजस्तासाम्।'

अर्थात्, हे गोपाङ्गनाओ! तुम लोगों का जो संयुक्त संभोग है वह निर्दोष है क्योंकि **'काममयत्वेन प्रतीयमानोऽपि वस्तुतः प्रेममय एव संयुक् संयोगः।'** काममयत्वेन प्रतीयमान, काम-क्रीड़ा-तुल्य प्रतीत होते हुए भी वह वस्तुतः प्रेममय है। भगवदाकाराकारित निश्चल-वृत्ति ही निरवद्य संयुक्त निर्दोष संयोग है। कहा जा चुका है कि यथार्थतः जीव को भगवत्-विप्रलंभ होता ही नहीं तथापि जीव द्वारा निर्व्यलीक, निष्कपट, निष्काम भाव से सर्वान्तरयामी सर्वाधिष्ठान प्रभु के समाश्रयण अनिवार्यतः अपेक्षित हैं।

'येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥'

(श्री० भा० २/७/४२)

अर्थात्, अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय प्रभु जिस पर दया करें वही इस दुस्तर देव-माया को तर पाता है; वही इस श्वान-शृगाल-भक्ष्य शरीर से अहंता-ममता का त्याग कर सकता है। निष्कपट, निश्छल भाव से अपने प्राण, अन्तरात्मा, अन्तःकरण, रोम-रोम को भगवत्-चरणारविन्द में समर्पण कर देने पर भगवत्-कृपा प्राप्त होती है। गोपाङ्गनाओं का निरवद्य, निष्कपट, कैतव-रहित सर्वतोभावेन भगवत्-अभिगमन, अभिसरण ही सुसाधु-कृत्य, सर्वोच्च साधु-कृत्य है। भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर भी गोपाङ्गना उनसे विमुख न होकर उन्हींका अभिसरण करती हुई उनके ही गुणगान में तन्मय हो रहीं; आत्मसमर्पण ही सर्वोच्च साधु-कृत्य है; सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु भी इस आत्म-समर्पण के ऋणी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही कह रहे हैं, **'विबुधायुषापि किमुत मानुषायुषा'** हे गोपाङ्गनाओ! मनुष्य की आयु की तो चर्चा ही क्या, देवताओं की आयु पाकर भी यदि हम तुम्हारी सेवा करें तो भी तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकते। अथवा **'विगतः बुधः गणनाभिज्ञः यस्मात् असौ विबुधः तथाविधायुषा अनन्तयुषा'** अर्थात्, गणना-विज्ञ जिसकी गणना में निरस्त हो जायँ ऐसी अनन्त आयु प्राप्त कर आपकी सेवा करने पर भी हम आपसे उऋण नहीं हो सकते, आपके इस साधु-कृत्य का परिष्कार नहीं कर सकते।

व्यवहारतः प्रयोजन-सिद्धि ही मूल्यांकन का आधार है। 'महाभारत' में एक कथा है। धर्मराज युधिष्ठिर ने महान् यज्ञ किया। इस यज्ञ में एक नेवला

आ गया। यह नेवला अत्यन्त विचित्र था। उसका आधा शरीर सोने का था और आधा सामान्य नेवले जैसा था। वह नेवला यज्ञ-भूमि में बारम्बार लोटने-पलोटने लगा। थोड़ी ही देर में वह अत्यन्त खिन्न हो उठा। उपस्थित लोगों ने उसके इस अजीब कृत्य एवं भाव-परिवर्तन का अभिप्राय जानना चाहा। नेवले ने उत्तर दिया—"किसी स्थान में एक अत्यन्त दीन-हीन ब्राह्मण रह रहा था। एक दिन उसको कहीं से थोड़ा-सा सत्तू मिल गया। उस सत्तू से बलि-वैश्वदेवादि कर जैसे ही वह स्वयं भोजन के लिए अग्रसर हुआ कि एक अतिथि आ पहुँचा। उस अतिथि ने प्रार्थना की कि यह सत्तू हमको दे दो। ब्राह्मण ने उस अतिथि को वह सत्तू दे दिया। सत्तू खाकर अतिथि ने मुँह-हाथ धोया। वह धरती अभी गीली थी। मेरे शरीर का जो भाग उस गीली धरती के संस्पर्श में आया वह सोने का हो गया, शेष भाग पूर्ववत् बना रहा। अस्तु, यह जानकर कि महाराज युधिष्ठिर ने महान् यज्ञ किया है, अतः यहाँ अनेकानेक ऋषि-महर्षियों ने भोजन कर हाथ-मुँह धोये होंगे। मैंने आशा की थी कि यहाँ की गीली धरती के संस्पर्श से मेरे शरीर का शेष भाग भी स्वर्ण-विभूषित हो जायगा। परन्तु बारम्बार इस यज्ञ-भूमि में लोट लगाने पर भी मेरी आशा अपूर्ण हो रही, अतः मैं अत्यन्त खिन्न हो रहा हूँ।"

लोक-दृष्ट्या महाराज युधिष्ठिर का यज्ञ महतातिमहत् अनुष्ठान था परन्तु तप-त्याग-दृष्ट्या उस ब्राह्मण द्वारा किया गया थोड़े-से सत्तू का वह तुच्छतम दान भी दिव्य पुण्यशाली था। निष्कर्ष यह कि केवल मात्र प्रयोजन-सिद्धि ही नहीं, परन्तु भावमय तप-त्याग ही मूल्यांकन का सम्यक् आधार है। भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्-समर्थ, निरतिशय, सच्चिदानन्दघन हैं। सम्पूर्ण गुण-गण अपनी गुणत्व-सिद्धि-हेतु ही निर्गुण भगवान् को भजते रहते हैं। प्रयोजन एवं उत्कर्षापकर्ष की भावना से रहित प्रेम ही फल-पर्यवसायी होता है। श्रीदामा का उदाहरण कई बार दिया जा चुका है। भक्त का प्रेम प्रयोजनानपेक्ष उत्कर्षापकर्ष भाव-रहित एवं निरुपाधिक होता है।

भगवत्-वाक्य है—

'तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्' (श्री० भा० ११/२०/३५)

ऐसे ही आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम भक्तों के भगवान् भी ऋणी हो जाते हैं। मैं निरपेक्ष हूँ अतः कोई निरपेक्ष ही मेरी भक्ति कर सकता है; समान में ही वास्तविक प्रेम संभव है। वेद-स्तुति है—

'न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥'

(श्री० भा० ११/२०/३४)

'अपवर्गमपि न परिलसति' जो अपवर्ग की भी अपेक्षा नहीं करते ऐसे भक्त के लिए भगवान्-कृत कोई प्रयोजन-सिद्धिकर कर्म अपेक्षित नहीं। न भगवान् को अपेक्षा है, न भक्त को वांछा है; सम्पूर्णतः स्वार्थ-रहित हृदय ही प्रेमपूरित हो सकता है। अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि प्रयोजन-सिद्धि के आधार पर नहीं, अपितु शुद्ध एवं दृढ़ भावना, अनुराग की दृष्टि से ही भक्ति का मूल्यांकन किया जा सकता है। भगवान् ही प्रेमीजन-शिरोमणि हैं–**'जानत प्रीति रीति रघुराई'** उनसे अधिक प्रीति की रीति कौन जान सकता है? **'प्रीत की रीत रँगीलो ही जाने।'** सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर्यामी सर्व-समर्थ प्रभु भी सर्वस्व त्याग-कर सर्वनैरपेक्षेण, सर्वतोभावेन अपने अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण एवं रोम-रोम को भगवत्-पादारविन्द में समर्पित कर देनेवाले भक्तों के बन्धक, ऋणी होते हैं। सख्य-भाववती गोपाङ्गनाएँ सर्व-त्यागिनी सर्व-निरपेक्ष हैं; यहाँ तक कि स्वयं श्रीकृष्ण के दिव्य श्रीअंग-संस्पर्श की भी कामना नहीं करतीं; ऐसे सर्व-त्याग-पुरस्सर अखण्ड निष्ठा, अनन्य भक्ति का पुरस्कार स्वयं भक्ति से अन्य और हो ही क्या सकता है? एतावता भगवान् श्रीकृष्ण भी इन गोपाङ्गनाओं को परोक्षतः भजते हैं, इनके प्रति सदैव ऋणी रहते हैं। जैसे, निम्न प्रदेश में जल का प्रवहण स्वाभाविक है, वैसे ही, सम्पूर्ण विधिनिषेधातीत, सर्व-कल्पना-शून्य, निरुपाधिक, स्वाभाविक अनुराग स्वयं ही अपना पुरस्कार है। इस स्वाभाविक प्रीति का तदभिन्न अन्य कोई पुरस्कार देने में सर्व-समर्थ सर्वेश्वर प्रभु भी समर्थ नहीं होते एतावता वे भी इस रागानुगा प्रीति के बन्धक हो जाते हैं।

'या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना'

(श्री० भा० १०/३२/२२)

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'हे गोपाङ्गनाओ! आप लोगों ने कुलांगनासुलभ देह-गेह की सम्पूर्ण श्रृंखलाओं को छिन्न-भिन्न कर मेरा अनुगमन किया, मेरा भजन किया।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

(श्री० भ० गी० ४/११)

जैसी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तो मुझको भी आपका तद्वत् ही अनुसरण करना चाहिए परन्तु हम ऐसा न कर सके।

एतावता हमारा अनृणित्व भी आप लोगों के सौशील्य पर ही निर्भर है।

प्रीति स्वभावतः पूर्ण है; एतावता, विशुद्ध भावना के कारण भगवान् की अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा जीव की देहेन्द्रि-

यादिक-नायकता, अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता आदिकों का कोई पृथक् महत्त्व नहीं रह जाता। निरपेक्ष प्रीति उत्कर्षापकर्षभावशून्य है। इस उत्कर्षापकर्ष-भावशून्य निरपेक्ष प्रीति की विचित्र गति है; तदनुसार स्वभावतः ही प्रेमी के मन में प्रेमास्पद का लोकोत्तर उत्कर्ष एवं अपना अपकर्ष भासित होने लगता है। जैसे, भक्त-हृदय में अपने आराध्य के प्रति लोकोत्तर उत्कर्ष का भाव उद्बुद्ध होता है, वैसे ही भगवान् भी भक्त के उत्कर्ष का अनुभव करने लगते हैं। अपना अनन्त माहात्म्य, सर्वेश्वरता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता को तथा भक्त की अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता, अनीश्वरता को भुलाकर तादात्म्यभाव से अवस्थित होना ही भगवत्-सौशील्य है। **'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।'** (मानस, १/२९)

इस सौशील्य से प्रेरित हो भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-पगी गोपालियों के ऋणी-बन्धक बन रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्त-प्रेमामृत के रसास्वादनशील हैं परन्तु अनन्य नहीं; अनन्यता जीव-धर्म है। जैसे, तरंग समुद्र से अनन्य है तथापि समुद्र तरंग से अनन्य कदापि नहीं हो सकता, वैसे ही, तरंग स्थानीय जीव अपने अधिष्ठान-भूत परमात्मा से अनन्य हो सकता है परन्तु परमात्मा सर्व-व्याप्त ही रहता है।

'हरिरेव जगत् जगदेव हरिर्हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति॥'

अर्थात्, हरि ही जगत् हैं; **'हरिर्व्यतिरिक्तं जगन्नास्ति'** हरि से अतिरिक्त जगत् नहीं है। **'जगदेव हरिः'** जगत् ही हरि है—**'जगत्व्यतिरिक्तो हरिर्नास्ति'** जगत् से अतिरिक्त हरि नहीं हैं। यह उक्ति सर्वथा असंगत है। जैसे, तरंग-व्यतिरिक्त समुद्र का अथवा प्रतिबिंब-व्यतिरिक्त बिम्ब का अस्तित्व है परन्तु समुद्र-व्यतिरिक्त तरंग किंवा बिम्ब-व्यतिरिक्त प्रतिबिम्ब का अस्तित्व ही सम्भव नहीं, वैसे ही, जगत्-व्यतिरिक्त हरि हैं परन्तु हरि से अन्य जगत् कुछ नहीं है। सूत्र है–**'विकारावर्ति च'** (ब्र० सू० ४/४/१९) अर्थात्, भगवान् विकार के भीतर भी हैं, बाहर भी हैं। **'त्रिपादस्यामृतं दिवि'** उनके एक पाद में सम्पूर्ण ब्रह्मांड एवं तीन पाद में अमृत है।

भक्तमतानुसार भगवान् अनन्य भी हैं। वे कहते हैं—

'श्री राधामेव जानन् व्रजपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते' नित्य-निकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र राधारानी से अन्य किसीको जानते ही नहीं। **'नारदादींश्च भक्तान्'** नारदादि भक्तों को भी कदापि दर्शन नहीं देते। श्रीदामा

आदि सखाजनों से भी नहीं मिलते। वे तो केवल नित्य-निकुञ्जेश्वरी, मन्दिराधीश्वरी राधारानी को ही जानते हैं। मथुरानाथ श्रीकृष्ण, द्वारिकानाथ श्रीकृष्ण, व्रजेन्द्रचन्द्र श्री परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीमद् वृन्दावनचन्द्र सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्र तथा नित्य-निकुञ्ज-मन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र —ये पाँच विभिन्न श्रीकृष्णस्वरूप मान्य हैं। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार भी ब्रह्म जगत्-कर्ता नहीं। जगत् का उत्पादन, पालन एवं संहरण ईश्वरीय शक्ति का कार्य है।

स्वयं भगवान् कहते हैं—**'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि'** (श्री० भा० ९/४/६८) अर्थात् मैं भी भक्तों को छोड़कर और कुछ नहीं जानता, एतावता भगवान् में रसिकता एवं अनन्यता दोनों ही है। वेदान्तदृष्ट्या भी इस कथन की उपपत्ति सम्भव है। यथार्थतः वेदान्त-सिद्धान्त में अनेक पक्ष हैं; उनमें एक पक्ष वाचस्पति मिश्र का है। इनके मतानुसार प्रत्येक जीव का भगवान् भिन्न-भिन्न है। **'तत्तदविज्ञात ब्रह्म एव ईश्वरः'** अर्थात् तत्-तत् जीवों से अविज्ञात ब्रह्म ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्व का कारण है। विश्व-कारण ही ईश्वर है। जीवाश्रयता अविद्या का दूषण है। जैसे, तत्-तत् दर्शकों से अविज्ञात मायावी ही मायावी-निर्मित तत्-तत् वस्तुओं का कारण होता है, वैसे ही, तत्-तत् जीवाश्रित अविद्या का गोचर होकर स्वप्रकाश परब्रह्म अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का उपादान होकर ईश्वर होता है। अस्तु, प्रत्येक भक्त का अपना भगवान् होता है। वह भक्त में वैसे ही अनन्य होता है जैसे भक्त अपने आराध्य में अनन्य होता है। करमाबाई की खिचड़ी की कथा ज्वलन्त उदाहरण है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

'जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥'
(मानस, २/२९०/२)

अर्थात्, वह योग ही कुयोग तथा ज्ञान ही अज्ञान है जिसके कारण प्रेम-प्राधान्य में न्यूनता सम्भव हो। उदाहरणतः बालकृष्ण ने मिट्टी खाई; वात्सल्य-भाव-पगी परम हितैषिणी माता यशोदा ने छड़ी उठाई; माता की कोपरूपी सूर्य-रश्मियों से भगवत्-मुखारविन्द खिल गया; अपने बालक के मुखारविन्द में अनन्त ब्रह्माण्ड को देखकर माता को ज्ञान हुआ; ज्ञान के कारण वात्सल्यमयी लीला का अन्त हो गया। तत्-क्षण लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी वैष्णवी माया का विस्तार किया, **'वैष्णवी व्यतनोन्मायां।'** (श्री० भा० १०/८/४३) ताकि नन्द-गेहिनी यशोदा रानी में पुनः वात्सल्य का संचार हो और तज्जन्य माधुर्यभावपूर्ण लीलाएँ सम्भव हों। वैष्णवी माया से प्रभावित वात्सल्यमयी

अम्बा पुत्र-सुरक्षा की कामना से **'गोपुच्छभ्रमणादिभिः'** (श्री० भा० १०/६/१९) अपने बालक श्रीकृष्ण के शरीर पर से गोपुच्छ आदि उतारने-झारने लगीं। इस भाव के उदाहरणस्वरूप अनेक भक्तों की कथा उद्धृत की जा सकती है।

'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि'

(श्री० भा० १०/१४/२)

'स्वेच्छामयस्य स्वीयानां भक्तानां या इच्छा सा स्वेच्छा तन्मयस्य भगवतः।'

भगवत्-स्वरूप भक्त की इच्छा का ही रूप है।

'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्॥'

(श्री० भा० ३/९/११)

'यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।'

(श्री० भा० ३/९/११)

अर्थात्, भाव-योग परिभावित हृत्सरोज में भगवान् विराजमान होते हैं। **'श्रुतेक्षितपथो पूर्वं श्रुतः उपनिषद्भ्यः वेदेभ्यः शास्त्रेभ्यः पूर्वं श्रुतः'** प्रथमतः वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रों द्वारा भगवान् के मधुर मनोहर मंगलमय दिव्य स्वरूप का श्रवण, तदनन्तर **'ईक्षितपथः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।'** उपासना द्वारा भगवदागमन की प्रतीक्षा होने पर भक्त-भावानुसार ही भगवत्-स्वरूप भक्त-हृदय में प्रस्फुटित हो जाता है।

इसी आधार पर प्रणाम करते हुए तुलसीदास कह उठे—

'कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुषबाण लो हाथ॥'

उत्तरमीमांसान्तर्गत बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद-विचार में भी यही कहा गया है; उपाधि-संयुक्त बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है। जैसे घटोपाधि भंग हो जाने पर घटाकाश एवं घटाकाशगत जल का भी अन्त हो जाता है; घट-जल का अन्त हो जाने पर बिम्ब सूर्य का प्रतिबिम्ब भी समाप्त हो जाता है। अर्थात् प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही पुनर्विलीन हो जाता है। बिम्बत्व ही ईश्वरत्व है; सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब के समाप्त हो जाने पर ही बिम्ब की समाप्ति सम्भव है।

एक प्रतिबिम्ब के मिट जाने पर तत् प्रतिबिम्ब में बिम्बापत्ति आ जाती है परन्तु बिम्बत्व तब तक बना रहता है जब तक सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब पुनः उसीमें

प्रविलीन न हो जाय। **बिम्ब बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्वोभय भावानुक्रांत है,** प्रत्येक बिम्ब का प्रतिबिम्ब तथा प्रत्येक प्रतिबिम्ब का बिम्ब पृथक् है एतावता प्रतिबिम्ब विशेष की परिसमाप्ति हो जाने पर स्वापेक्षया बिम्बत्व समाप्त हो जाता है तथापि अन्यापेक्षया बिम्बत्व बना ही रहता है। अस्तु, प्रत्येक भक्त का भगवान् विशेषतः उसका अपना होते हुए भी सर्वसम्भजनीय, सर्व प्राणि-परमप्रेमास्पद भी है। एतावता जिस अनन्यता से भक्त अपने आराध्य को भजता है वैसी ही अनन्यता से आराध्य भी भक्त को भजता है। अस्तु, भगवान् में भी रसिकता एवं अनन्यता दोनों ही सांगोपांग रूप से सम्पादित होती है। तब भी, भगवान् श्रीकृष्ण अपने अतिशय शैथिल्य के कारण ही अपने अपकर्ष एवं प्रेम-विह्वल गोपाङ्गनाओं का उत्कर्ष स्थापित करते हुए स्वयं को उनका अनुबन्धक बना लेते हैं।

'इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः॥'

(श्री० भा० १०/३३/१)

अर्थात्, भगवान् श्रीकृष्ण की उपर्युक्त मधुर एवं मनोहरा वाणी को सुनकर गोपाङ्गनाएँ विरहजन्य समस्त शोक-संताप से मुक्त हो गईं; साथ ही अपने सौन्दर्य-माधुर्य-निधि, परमप्रेमास्पद, प्राणवल्लभ के अंग-संग को प्राप्त कर सफल-मनोरथ हुईं।

'वाचः श्रुत्वा जहुर्विरहजं तापम्' भगवान् के सुपेशल वाक्यों को सुनकर गोपाङ्गनाओं ने भगवत्-विरह-जन्य ताप को त्याग दिया। इस उक्ति का विश्लेषण करते हुए आचार्यगण कहते हैं कि गोपाङ्गनाओं को यह निश्चय हो गया कि **'विभ्रमादेव विरह आसीत्'** हमारे विभ्रम के कारण ही हमें देव-विरह हुआ था। यहाँ शंका होती है कि **'कथं वाङ्मात्रेण विभ्रमनिवृत्तिः ?'** वाणीमात्र से विभ्रम-निवृत्ति क्योंकर सम्भव है ? **'भगवतो वाचः'** भगवान् की वाणी होने के कारण उसके श्रवणमात्र से ही विभ्रम की निवृत्ति हो गई। **'समस्त पुंदोष शंका कलंक विनिर्मुक्त'** अर्थात् भगवद्-वाणी पुरुषजन्य समस्त दोष, शंका एवं कलंक से विनिर्मुक्त है। **'न हि सन्देहः शब्दस्वाभाव्यात् भवति।'** शब्द-स्वाभाव्य से सन्देह नहीं होता, किन्तु **'मनसो विचिकित्सायां सन्देहो भवति'** मन की विचिकित्सा के कारण ही सन्देह होता है। विप्रलम्भ करणा-पाटवादि दूषण की सम्भावना न होने पर शब्द (वाणी)-श्रवण से विभ्रम की निवृत्ति हो जाती है; **'प्रामाण्यं श्रुतस्य'** श्रवण की प्रामाणिकता के कारण श्रवणानन्तर विभ्रम-निवृत्ति स्वाभाविक है; प्रत्येक ज्ञान स्वभाव से ही स्वार्थ

का प्रकाशन करता है एतावता प्रमा को अपनी उत्पत्ति में ही प्रमाण की अपेक्षा होती है; उत्पन्न हो जाने पर ज्ञान स्व-कार्य में स्वतन्त्र है। जैसे दण्ड, चक्र, कुलालादिक व्यापारों से उत्पन्न हो जाने पर घट स्वकार्य जलाहरणादि में अन्य की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति में भी विभिन्न साधनों की अपेक्षा है परन्तु एक बार ज्ञान उद्‌बुद्ध हो जाने पर स्वकार्य हेतु ज्ञानान्तर की अपेक्षा मान लेने पर अनवस्थादोष होता है अतः ज्ञान स्वतःप्रमाण ही मान्य है। शब्द स्वभाव से ही स्वार्थ का अवलाक्षन करता है। शब्द की महिमा से ही शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है।

'अत्यन्ता सत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि' (श्लो० वा० चोदना सूत्रं ६) अत्यन्त असत् अर्थ में भी शब्द से ज्ञान ही उत्पन्न होता है। अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यह कि शब्द स्वभाव से ही ज्ञान का अवभासक है अतः शब्द से सन्देह नहीं होता; मन में विचिकित्सा होने पर ही विभ्रम होता है।

'सुपेशला मनोहरा वाचः' मन हरण करनेवाली, मनोहरा सुन्दरवाणी। मनोहरा भगवद्‌वाणी-श्रवण से ही मन का हरण हो गया; मन के न रहने पर तन्मूलक संदेहादि स्वयं ही नष्ट हो गए। संक्षेप में इतना ही कहना है कि श्रीमद्‌वल्लभाचार्यकृत अर्थानुसार भगवान् श्रीकृष्ण की मनोहरा वाणी को सुनकर गोपाङ्गनाओं के स्वकल्पित विरह एवं तज्जन्य तीव्र तापानुभूति की निवृत्ति हो गई। वेदान्तसिद्धान्तानुसार भी जो सम्बन्ध घटाकाश का महाकाश से है वही सम्बन्ध जीवात्मा का परमात्मा से है। जीवात्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध अनन्त, अखण्ड, अविच्छेद्य है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसार जीवात्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध विशेषण-विशेष्यभावमूलक है; तात्पर्य कि चित् एवं अचित् दोषों का शरीरी एवं शरीरभाव अविच्छिन्न, अनादि, अनन्त है। उसमें कोई बाधा कदापि नहीं आती। निम्बार्काचार्य के मतानुसार चिदचिद् भेदाभेद स्वाभाविक भेदाभेद भाव है। **'सुवर्णं कुण्डलं इति सामानाधिकरण्येन सुवर्णे विज्ञातेऽपि कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा दृश्यते'** जैसे सुवर्ण और कुण्डल का सामानाधिकरण्यव्यपदेशात् अभेदज्ञान होता है; सुवर्ण-विज्ञान के अनन्तर भी कुण्डल-विषयिणी प्रतिपत्ति की जाती है। प्रश्न होता है **'किमिदं'** यह क्या है? एतावता जान पड़ता है कि सुवर्ण-विज्ञान के अनन्तर भी कुछ अविज्ञात अंश भी है। यह अविज्ञात अंश ही सुवर्ण से भिन्न सुवर्णभिन्नाभिन्न कुण्डल है। सप्ताभास्कर के मतानुसार भी सोपाधिक भेदाभेद मान्य है। तात्पर्य कि जीवात्मा एवं परमात्मा में मूलतः भेद न होते हुए भी सोपाधिक उपाधि विशेष के संसर्ग से जीवात्मा भिन्नतः प्रतीत होता है। मध्व-मतानुसार द्वैतवादान्तर्गत

भी जीव एवं ब्रह्म का नियम्य नियामक भावमूलक सम्बन्ध अत्यन्त द्वैत होते हुए भी अनाद्यंत है; नियामक अन्तरात्मा रूप से जीवान्तर्गत सदा विद्यमान है। अन्ततोगत्वा तात्पर्य यह कि सर्वान्तरयामी परमात्मा एवं जीवात्मा का सम्बन्ध सदा सर्वदा अविच्छेद्य, अभिन्न, अखण्ड एवं अनन्त है तथापि अनादिकाल से जीव दीनता, दरिद्रता, परतन्त्रता, आधि-व्याधि प्रपंचरत हो सर्वाधिष्ठान सर्वान्तरयामी से भी विप्रयोग की परिकल्पना कर भ्रान्तिवश शोक-संताप का अनुभव करने लगता है। इस भ्रान्ति की निवृत्ति-हेतु श्रौत-स्मार्त्त धर्म-कर्म, अनुष्ठान एवं उपासना की अवान्तर विभिन्न क्रियाएँ अनिवार्यतः अपेक्षित हैं। उपासना-विधि से शुद्धि, भूत-शुद्धि, नव-दिव्य देह-निर्माण, तत् देह में प्राण-प्रतिष्ठा, अन्तर एवं बाह्यमात्रिका न्यास, मंत्राक्षर-न्यास, अथवा कर्मकाण्डदृष्ट्या

'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (म० स्मृ० २/२८) यज्ञों के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति-योग्यता उद्बुद्ध की जाती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, प्राकृत किंवा भौतिक शरीर से अप्राकृत, अभौतिक परात्पर, शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म का संस्पर्श कदापि सम्भव नहीं होता। परब्रह्म-संस्पर्श हेतु साजात्य अनिवार्य है। जैसे, ग्राहक चक्षु एवं ग्राह्य रूप दोनों ही तेजस् हैं। अतः रूप तेजस् चक्षु तेजस् द्वारा ग्राह्य हो जाता है परन्तु अन्य इन्द्रियों द्वारा समान-गुण-राहित्य के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता; तात्पर्य कि साजात्य में ही ग्राहक-ग्राह्य भाव सम्भव है। एतावता, भजन, जप-तप एवं उपासनादि विभिन्न उपचारों द्वारा प्राकृत भौतिक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादिकों में दिव्यता प्रादुर्भूत की जाती है; दिव्यता के प्रादुर्भूत हो जाने पर भगवत्-संस्पर्श की योग्यता उद्बुद्ध होती है।

'गोप्यः' अर्थात् **प्रेमपंथ गोपनशीलाः** प्रेममार्ग का रक्षण ही गोपाङ्गनाओं का स्वभाव है। वे प्रेम-मार्ग की आचार्या हैं। उनमें ही महत् परिमाण-परिमित प्रेम है। अन्यत्र सर्वत्र ही मध्य परिमाण-परिमित प्रेम होता है। जैसे, स्वयं नाच-कर ही नाचना सिखाया जाता है, वैसे ही, स्वयं प्रेम-समुद्र में निमग्न होकर ही प्रेम-मार्ग का आचार्यत्व प्राप्त किया जा सकता है; उपदेश एवं व्याख्यानों से प्रेम-मार्ग का दिग्दर्शन संभव नहीं। एतावता गोपाङ्गनाओं के ध्यान से ही प्राणी प्रेम-मार्ग में प्रवृत्त होता है, उसके हृदय में प्रेम-तत्त्व का संचार होता है। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एवं रासेश्वरी राधारानी की आराधना हेतु अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदायानुसार राधारानी की परमान्तरंगा अष्ट सखियों में से किसी एक का अनुगमन अनिवार्य है।

प्रेम-मार्ग-रक्षण-परायणा गोपियाँ आनन्दकन्द परमानन्द, सच्चिदानन्दघन

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सुधासिन्धु की वीथि-स्थानीया, स्वरूपभूता तथा रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी राधारानी माधुर्य-सार-सर्वस्व की अधिष्ठात्री शक्ति-स्वरूपा है। श्री राधारानी की अनेकानेक अन्तरंग सखियाँ स्वयं उन्हींके अंग की रश्मिरूपा, चरणारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका रूपादि काय-व्यूहस्वरूपा हैं। योगशास्त्र, वेदान्तशास्त्र एवं पुराणों में काय-व्यूहस्वरूप रचना प्रसिद्ध है। सिद्धान्त है कि शुभाशुभ, पुण्यापुण्य, कर्मफल भोग द्वारा कर्म का क्षय होने पर ही मुक्ति संभव है। योगी काय-व्यूह का निर्माण कर अपने विभिन्न देहों से सम्पूर्ण पुण्यापुण्य, शुभाशुभ, कर्मफल को भोगकर अन्ततोगत्वा विनिर्मुक्त हो जाता है। इसी तरह गोपाङ्गनाएँ भी राधारानी की काय-व्यूह स्वरूपा ही हैं। तात्पर्य कि औत्सुक्यातिशयात् भक्त की प्रत्येक इन्द्रिय '**अहम-हमिकया अहं पूर्वं अहं पूर्वं**' भाव से प्रभु के महामहिम सौंदर्य का रसास्वादन की कामना करती है। जिस समय राधारानी अपने मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर की आराधना में संलग्न होती हैं उस समय वे कोटि-कोटि रूप धारण करती हैं क्योंकि औत्सुक्यातिशयात् वे एक रूप से संतुष्ट नहीं होतीं। '**आराधयतीति राधा**', आराधना का मूर्त रूप ही राधा है, '**साधनं, आराधनं संराधं**' आराधना का सांगोपांग, साकार रूप ही राधा-रानी हैं। औत्सुक्यातिशयात् राधारानी ने संकल्प किया और तत्क्षण अनेक रूपों में प्रस्फुटित हो गईं। यही कारण है कि सख्य-भाववती गोपाङ्गनाओं को स्वतन्त्र रूप से भगवत्-रमण की कामना भी नहीं होती। जैसे, वृक्ष की जड़ को सींचने से ही वह पुष्पित, पल्लवित, हरी-भरी रहती है, वैसे ही, कल्पलतास्वरूपिणी राधारानी की शाखा-उपशाखा, पत्र-पुष्प-फलादिस्वरूपा उनकी काय-व्यूहात्मिका सख्य-भाववती अन्तरंगा सखीवृन्द गोपाङ्गनाओं को भी स्वतन्त्र रूप से भगवत्-सम्मिलन की अपेक्षा ही नहीं होती।

'तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥'

(श्रीमद्भा० १०/३३/२)

अर्थात्, परस्पर आबद्धबाहु उन अनुव्रता प्रेम-रस-पगी स्त्री-रत्नों के साथ परमानन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने रासलीला का प्रारम्भ किया।

'अन्योन्याबद्धबाहुभिः' अतिशय प्रीति के कारण उन स्त्री-रत्नों ने परस्पर एक-दूसरे के हाथों को पकड़ रखा था। अन्यत्र अपेक्षित लीलोपयोगी प्रातीतिक ईर्ष्यादि भावनाओं की भी रासलीला के पूर्व परिसमाप्ति अनिवार्य है। सर्वतो-भावेन एकमत, अनन्य एवं अभिन्न होने पर ही रासक्रीड़ा का प्रारम्भ होता है।

'**अनुव्रतैः**' जिसके संकल्प में सत्यता एवं दृढ़ता हो वही अनुव्रत है। गोपाङ्गनाओं का संकल्प है कि एकमात्र-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द आनन्दघन ही हमारे ध्येय, ज्ञेय एवं परमाराध्य हैं। '**एवंभूतैस्तैः अनुव्रतैः स्त्री-रत्नैः**' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को अनुलक्षित कर ऐसा असाधारण संकल्प किया है जिन्होंने उन स्त्री-रत्नों के संग श्रीकृष्ण ने रासक्रीड़ा का प्रारम्भ किया। श्रीकृष्णचन्द्र का काराकारित आनुकूल्य चित्त-वृत्ति होने पर ही रासक्रीड़ा का सन्निवेश सम्भव है। पूर्वप्रसंगों में भक्ति के विभिन्न स्वरूपों पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार येन-केन-प्रकारेण श्रीकृष्णचन्द्रकाराकारित स्निग्ध अन्तःकरण की परिणति ही भक्ति है। विभिन्न भावों के आधार पर चित्त-द्रवता सम्भव है; द्रवीभूत अन्तः-करण से आविर्भूत भगवत्-स्वरूप स्थायी एवं अविच्छिन्न हो जाता है; स्थायी अविच्छिन्नता ही शुद्ध रस है; एतावता विभिन्न भाव-प्रेरित जनों के लिए भी भगवत्-पद-प्राप्ति सम्भव हुई। उदाहरणतः भयप्रेरित कंस, विरोधप्रेरित शिशुपाल, कामप्रेरित कुब्जादिकों को भी अविच्छिन्न चिन्तन के कारण अन्ततोगत्वा परमपद की प्राप्ति हुई तथापि रासलीला में उनका प्रवेश सम्भव न हो सका। रूप गोस्वामी कहते हैं—

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुस्मरणं भक्तिरुच्यते॥'

भुक्ति-मुक्ति स्पृहा पिशाची के बन्धन से विनिर्मुक्त तथा श्रीकृष्णचन्द्र-व्यति-रिक्त अन्याभिलाषारहित आनुकूल्य-भावसंयुक्त निरन्तर श्रीकृष्ण-स्मरण ही भक्ति है। जैसे, प्रतिबिम्ब सर्वतोभावेन बिम्ब का ही अनुसरण करता है, वैसे ही, अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण एवं रोम-रोम से अपना अनुगमन, अनुसरण एवं अनुस्मरण करनेवाली उन अनुव्रता स्त्री-रत्न गोपाङ्गनाओं के संग आनन्द-कन्द परमानन्द सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने रासक्रीड़ा का प्रारम्भ किया।

'**प्रीतैः प्रकर्षेण इताः प्राप्ता आनन्दा यैः तैः प्रीतैः आनन्दमयैः**' अर्थात् आनन्दप्राप्त, आनन्दसंयुत राजस एवं तामस भावों की शून्यता ही प्रसन्नता, आनन्दमयता है। जैसे, रजादिक से रहित होकर जल निर्मल एवं प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही व्रज-सीमन्तिनी-जन भी स्वधर्मानुष्ठान द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र का आनुकूल्येन संस्मरण तथा उनके विप्रयोगजनित तीव्र ताप से दग्ध होकर लौकिकता एवं प्राकृततारूप रज से '**ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्याऽक्षीणमङ्गलाः**'

ध्यान से प्राप्त भगवदाश्लेषजन्य अतुलित आनन्दप्रेरक रसस्वरूपता एवं रसात्मकता को प्राप्त हुईं ।

भगवत्-विप्रयोगजनित तीव्रताप-दग्ध हृदय में भगवत्-स्वरूप स्वभावतः प्रस्फुटित हो जाता है; यदि ऐसा न हो तो भक्त का जीवन ही असम्भव हो जाय । श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं—

'कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात् ।'

(तै० २/७)

अर्थात्, कौन प्राणन करता, कौन चेष्टा करता, कौन प्राणों को धारण करता यदि परमानन्द, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण का आश्लेष न प्राप्त होता; तात्पर्य कि यदि भक्त को ध्यान से भी अचिन्त्य, अदृश्य आनन्दस्वरूप आराध्य आश्लेष प्राप्त न हो तो उसके प्राण ही प्रयाण कर जावें ।

उन सखीजनों के हृदय में यही शल्य था कि भले ही श्रीकृष्ण-वियोग से प्राण प्रयाण कर जावें तथापि मृत्यु के पूर्व उनके मुखचन्द्र का दर्शन मिल जाय ।

कागा सब तन खाइयो, खाइयो चुन-चुन मांस ।
दोउ नैना छांडि दीजो, पिया दरस की आस ॥

सर्व-समर्थ, सर्वेश्वर प्रभु भी इस आतुरभाव को सहने में असमर्थ हो भक्त के सन्निधान में दौड़े चले आते हैं । मुमुक्षु को मोक्ष तथा आर्त को अभिलाषा-पूर्ति करनेवाले प्रभु स्वयं ही सर्वकामविनिर्मुक्त, आतुर विह्वल प्रेमी भक्त के विप्रयोगजनित तीव्र-ताप-दग्ध हृदय में आविर्भूत हो जाते हैं । सिद्धान्त है कि **'आतप्ततनूः न तदामो अश्नुते दिवं ।'** अर्थात् जिसका तनु तप्त नहीं हुआ वह भगवदाश्लेष प्राप्त नहीं कर सकता । वैष्णव-परम्परानुसार तप्त शंख, चक्र, गदा, पद्मादि चिह्नों को भुजाओं पर अंकित कराने एवं चान्द्रायण, एकादशी आदि व्रतों को करने का विशेष महत्त्व है; ऐसे तप्त चिह्नों से अंकित किंवा कठोर व्रतों से कृश साधक भी तप्त-तनु कहलाता है । यथार्थतः भगवत्-विप्रयोग-जन्य तीव्रताप से दग्ध तनु ही भगवदाश्लेष का अधिकारी है; जिसके स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों ही शरीर दग्ध हो गये हैं, वही दग्धतनु है । मानसिक भगवदाश्लेषजन्य आनन्दोद्रेक से भक्त के रसात्मक-स्वरूप से ही भगवदाश्लेष सम्भव है ।

'प्रीतैः स्त्रीरत्नैः आनन्दप्रायैः रसप्रायैः रसमयस्वेप्रायैः ।'

प्रीति एवं आनन्दसंयुक्त स्त्रियों के संग उस अद्भुत रास-क्रीड़ा का प्रारम्भ

हुआ। यह रासक्रीड़ा अत्यन्त अद्‌भुत है; अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्या- धिष्ठात्री देवी भगवती महालक्ष्मी भी इस अद्‌भुत रासलीला के सन्निवेश के लिए सदा उत्कंठित रहती हैं।

वेदान्तदृष्ट्या भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तानन्त सुख भी वस्तु- भूत ब्रह्म-सुख का प्रतिबिम्ब मात्र है। भक्ति-सिद्धान्तानुसार कोटिब्रह्माण्डान्त- र्गत अनन्तानन्त सुख-स्वरूप अनन्तानन्त प्रतिबिम्बों के मूल एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्द ही हैं; समूहात्मक होने से रासरूप हैं, **'रसानां समूहो रासः'** रसों के समूहात्मक, बिम्बात्मक होने के कारण भगवान् रासरूप हैं। **'स्वरूपात्मिकां रासक्रीडां आरब्धवान् सुस्वरूपभूता रासलीला'** स्वरूपभूता, तदभिन्ना रासलीला का प्रारम्भ हुआ। श्री वल्लभाचार्यजी के मतानुसार 'क्रीड़ा' मन से और 'रास' देह से अभिव्यक्त रस हैं; मन एवं देह से अभि- व्यंजित दोनों ही रसों का पूर्ण सामंजस्य, अभेद अभिन्नता ही रासक्रीड़ा है। विभिन्न लीलाओं द्वारा भगवान् स्वरूपात्मक रस को भक्तजनों के अन्तःकरण में सन्निविष्ट करते हैं; भक्त-हृदय में स्वरूपात्मक रस का सन्निवेश ही सम्पूर्ण लीलाओं का उद्देश्य है। सिद्धान्त है, **'न हि सिकतासु तैलोत्पत्तिः सम्भवति'** सिकता-समूह से तैल की उत्पत्ति सम्भव नहीं, एतावता ही कहा गया है **'प्रीतैः स्त्रीरत्नैः अन्यतः प्रीतैः अन्योन्याबद्धबाहुभिः'** अर्थात्, **'प्रीतैः परमानन्द- स्वरूपैः स्त्रीरत्नैः'** अर्थात् वे गोपाङ्गनाएँ साक्षात् प्रीत्यात्मिका, प्रीतिरूपा परमानन्दस्वरूपा हैं। नित्य निकुञ्जेश्वरी रासेश्वरी श्री राधारानी तो श्री- कृष्णचन्द्र परमानन्द सुधा-सिन्धु की माधुर्य-सार-सर्वस्व हैं, राधारानी की काय-व्यूहात्मिका गोपाङ्गनाएँ परमानन्द सुधा-सिन्धु की तरंग हैं; साधन-सिद्धा गोपाङ्गनाओं के भी लौकिक तनु का **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'** यज्ञ, महायज्ञ, भूशुद्धि, भूत-शुद्धि के द्वारा नव दिव्यनिर्माण, प्राणप्रतिष्ठा आदि क्रमेण अभ्यास एवं प्रीतिपूर्वक भजन एवं सर्वोपरि विप्रयोग-जन्य तीव्र- ताप से दाह हो पूर्णतः बाधित हो गया, साथ ही मानसिक भगवत्-संप्रयोग- जनित रसोद्रेक से रसात्मक दिव्य स्वरूप का प्रादुर्भाव एवं परिपोषण हुआ। वेदान्तदृष्ट्या भी

'चिदेव चित्तं जानीयात् तकाररहितं यदा' चित् ही चित्त हो जाता है। चित् शब्द का अर्थ है ब्रह्म, चित्त शब्द का अर्थ है मन; चित् शब्द में 'त्' हलन्त है, चित्त शब्द में चित् शब्द के हलन्त त् के साथ एक और 'त' संयुक्त हो जाता है; यह 'त' ही विषय है। स्वप्रकाश, अखण्डबोध चित् में विषय 'त' का अध्यास-संसर्ग ही मन, चित्त है; अस्तु, 'त' विषय-राहित्य से पुनः चित्त

चित् हो जाता है; तात्पर्य कि वेदान्तदृष्टया भी निरन्तर अभ्यास से चित्त अतिरिक्त 'त' विषय को त्यागकर अपने मूलभूत 'चित्' रूप, ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।

'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥'

(श्री० भा० १०/१४/३६)

अर्थात् जब तक प्राणी भगवद्-भक्त नहीं हो जाता तब तक ही रागरूप तस्कर आत्मानन्द-घन को चुराते हैं।

'यं दृष्ट्वा सर्वे प्राणिनः नटन्ति' जिसको देखकर प्राणी मात्र नाच उठते हैं। अतिशय आनन्दोद्रेक से प्राणी स्वभावतः नाच उठता है; 'आनन्द से नाच उठना' मुहावरा सीमातीत आनन्द का ही परिचायक है। माता के मणिमय प्रांगण में अपनी ही बालस्वरूप की छवि निहारकर भगवान् स्वयं भी नाच उठते हैं, **'नार्चहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी'** प्रेमोन्मादजन्य नृत्य ही यथार्थतः नृत्य है। सामान्यतः शिष्टाचारपरक नियम है कि वर्णाश्रमी को नृत्य करना तो दूर, देखना भी नहीं चाहिए। इस कथन की यथार्थता सीमा-पुरस्सर लोक-व्यवहारदृष्टया ही है। भगवान् के लोकोत्तर प्रेम में उन्मत्त होकर भगवान् की मधुर मनोहर मंगलमयी मूर्ति का ध्यान कर उनके मंगलमय श्रीअंग की लोकोत्तर मधुरता, सुन्दरता, सरसता का आस्वादन करते हुए प्रेमोन्माद में नाच उठना विशिष्ट उन्नत मनःस्थिति का ही परिणाम है।

भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ स्वयं नटराज हैं। उनके अलौकिक नृत्य को देखने के लिये भगवान् विष्णु स्वयं पधारते हैं। दक्षिण में प्रथा है कि प्रदोष-काल के पूर्व ही वैष्णव-मन्दिरों के पट बन्द हो जाते हैं क्योंकि भगवान् विष्णु भूत-भावन विश्वनाथ सदाशिव के ताण्डव-नृत्य के दर्शनार्थ चले जाते हैं।

'चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः॥' (मुक्तावलिः १)

अर्थात्, चन्द्रमा का चूड़ामणि, वासुकि नाग का कंकण तथा हस्ती के चर्म का परिधान धारण कर गौरवर्ण तेजोमय, प्रकाशस्वरूप लीला-विशारद भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ ताण्डव करते हैं; यह अद्‌भुत नृत्य राजराजेश्वरी गौरी पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के सम्मुख होता है। सम्पूर्ण देवगण ही उस नृत्य के परिषद् हैं। प्रेमोन्मादजन्य नृत्य लोकोत्तर दिव्य एवं महामहिम है।

भगवान् श्रीकृष्ण नटवर हैं : **'नटेभ्योऽपि नटराजेभ्योऽपि नटराजराजेभ्योऽपि वरं वपुर्यस्य'** नट, नटराज, नटराजराज सबमें सर्वश्रेष्ठ वपु है जिसका, वे श्रीकृष्णचन्द्र ही नटवर वपु हैं। ऐसे नटवर वपु श्रीकृष्णचन्द्र का रासलीला-नृत्य

अद्भुत अलौकिक एवं दिव्य है; **'यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसंकुलम्'** उस अद्भुत रासलीला के दर्शनार्थ ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, वरुण आदि देवाधिदेवगण भी अपने-अपने विमानों में बैठकर आकाश में मँडराने लगे; उन देवाधिदेवों को भी उस अद्भुत रहस्यात्मक रासलीला का सम्पूर्णतः दर्शन नहीं हुआ; **'यावत् द्रष्टव्य यावत् विषयगोचर'** जिसके लिए जितना द्रष्टव्य था उसने तावदंश का ही दर्शन किया। **'मध्ये मणीनां हैमानामहामरकतो यथा'** जैसे बहुत-सी सुवर्ण-मणियों के बीच नीलवर्णा महामरकत मणि देदीप्यमान होती है, वैसे ही, गोपाङ्गनाओं के मध्य में श्रीकृष्ण देदीप्यमान हुए। प्रत्येक गोपाङ्गना ने यही अनुभव किया कि अपने विचित्र नृत्य-कौशल के कारण ही परमानन्द योगेश्वर श्रीकृष्ण यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रतिभासित होते हुए भी यथार्थतः मेरे ही सन्निधान में, मेरे ही आलिंगन में आबद्ध हैं। **'अघटितघटनासामर्थ्ययोगः'** अघटित-घटना-सामर्थ्य ही योग है; योग का नियामक सर्वान्तरयामी ही ईश्वर है; भगवान् श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं।

बारम्बार कहा जा चुका है कि साक्षात् परात्पर परब्रह्म ही आनन्दकन्द परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप में आविर्भूत है, नित्य निकुञ्जेश्वरी रासेश्वरी राधारानी श्रीकृष्ण परमानन्द सुधा-सिंधु की माधुर्य सार-सर्वस्व हैं, गोपाङ्गनाएँ उस सिंधु की तरंग हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। **'आत्मा तु राधिका प्रोक्ता'** राधिका ही श्रीकृष्ण की आत्मा हैं। एतावता तद्भिन्न की कल्पना भी सम्भव नहीं होती, तथापि **'रसधो रसनीया'** इस रीति से ही रस का आस्वादन सम्भव है। ऐश्वर्यानुभूति से माधुर्य-भाव प्रावरित हो जाता है, फलतः स्वाभाविक गूढ़ानुरागरस अनभिव्यक्त रह जाता है अतः आनुगुण्य सम्पत्ति हेतु ही तत्त्व में भी अत्यन्त लौकिकता की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। श्रीमद्भागवत-वाक्य है,

'ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः' (१०/१५/१९)

उन ग्रामीण गोपालियों के मध्य में आनन्दकन्द, परमानन्द, सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भी तद्वत् ग्रामीण गोप-कुमार-स्वरूप में ही आविर्भूत हुए। अपनी अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वेश्वरता, सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप को भूलकर निकृष्टातिनिकृष्ट प्राणी के साथ तादात्म्यापन्न हो अभेद व्यवहार के अधिष्ठान बन जाना भगवत्-सौशील्य की ही अभिव्यंजना है। भक्तिसंयुक्त निर्मल चित्त से ही भगवद्-लीला के वास्तविक रस का आस्वादन सम्भव है।

●

भ्रमर-गीत

प्रवचन
अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

संकलन
श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला

सकल शास्त्र-पारावारीण, निगमागम-पारदृश्वा, ब्रह्मीभूत, अनन्तश्री विभूषित पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज का नाम भारतीय संस्कृति के प्रत्येक उपासक के मानस-पटल पर सुअंकित है। पूज्य-चरण का वाङ्मय सौरभ आस्तिक हृदय को निरन्तर सुवासित कर रहा है। वे सर्वतो विसरत्प्रतिभा के धनी, वाङ्मिता कला के मूर्तिमान रूप तथा विविध शास्त्रों के मर्म-प्रकाशक थे। 'रासपंचाध्यायी', 'भ्रमरगीत' एवं ऐसे ही अन्य मार्मिक प्रसंगों की जो व्याख्या उन्होंने की और अपने ग्रन्थ 'भक्तिरसार्णव' में भक्ति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों का जो प्रस्तुतीकरण किया उसके आधार पर समकालीन समालोचकों ने उन्हें 'भक्ति' को दसवें रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया।

प्रस्तुत पुस्तक 'भ्रमर-गीत' की संकलयित्री श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला महाराजश्री के शरण में आयीं। इनके विशेष अनुरोध पर पूज्यवर ने 'श्रीमद्भागवत' के दो अंश 'गोपी-गीत' और 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन किया। 'गोपी-गीत' का प्रवचन तीन चातुर्मास्य में सम्पन्न हुआ, 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन एक ही चातुर्मास्य में सम्पूर्ण करते हुए उन्होंने यह कहा था कि 'समय बहुत कम है अन्यथा इस पर बहुत विशद व्याख्या हो सकती है।' पद्माजी ने सम्पूर्ण प्रवचनों को टेप कर लिया था। महाराजश्री के आदेश से ही इन प्रवचनों को लिपिबद्ध करके उन्हें प्रस्तुत रूप में दिखाया गया था। यह संकलन उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्हीं के आदेश से इनको छपवाने की व्यवस्था की गयी।

'भ्रमर-गीत' के प्रत्येक पद की व्याख्या में सहृदय-हृदय द्रावक सरसता व्याप्त है। 'पिवत भागवतं रसमालयम्' भागवत-रस का लय पर्यन्त पान करना चाहिए यह सन्देश, यथार्थ रूप से इसमें निहित है। प्रत्येक सहृदय व्यक्ति को परम सरस, परम रसिक श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज की रसमयी वाणी का आस्वादन स्वयं करना चाहिए। साथ ही, इस संकलन-ग्रन्थ, 'भ्रमर-गीत' के प्रचार-प्रसार द्वारा जन-जन के हृदय में इस रसमयी दिव्यवाणी का संचार कर अपने पावन कर्तव्य का पालन करना चाहिए। पूज्य चरणों के आशीष से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। पूज्य चरणों का सत्-साहित्य जन-जन में प्रचारित होता रहे, यही भगवान् से प्रार्थना है।

योग, अध्यात्म तथा संत चरित

भ्रमर-गीत	*अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज*
जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
वेद व विज्ञान	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
वेदान्त और आइन्सटीन	*अनिल भटनागर*
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा	*भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द*
परलोक तत्त्व	*भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द*
मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक	*भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द*
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	*भरत झुनझुनवाला*
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	*डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल*
सौन्दर्यलहरी : तन्त्र-दृष्टि और सौन्दर्य-सृष्टि	*प्रभुदयाल मिश्र*
योग और आरोग्य (साधना और सिद्धि)	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार)	*प्रो० कल्याणमल लोढ़ा*
हिन्दी ज्ञानेश्वरी / श्रीमद् एकनाथी भागवत	*अनु० : ना०वि० सप्रे*
तुकाराम गाथा(संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद)	*अनु०: ना०वि० सप्रे*
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन)	*डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	*नन्दलाल गुप्त*
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस	*अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न*
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा	*म० म० पं० गोपीनाथ कविराज*
भारत के महान योगी (14 भाग : 7 जिल्द)	*विश्वनाथ मुखर्जी*
बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग	*बच्चन सिंह*

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति * दीक्षा
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 300.00
ISBN:978-81-7124-874-2

www.vvpbooks.com